

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

धर्म प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

उत्तम क्षमा

आज से दशलाक्षणी पर्व प्रारम्भ हो रहा है। ये दशलाक्षणी पर्व प्रतिवर्ष आते हैं। मान लो धर्म की याद दिलाते रहते हैं, इनका पयुषण भी होता है, अर्थात् आत्मा की प्रीतिपूर्वक सेवा करना सो आत्मसेवा का दिन है। वैसे तो प्रत्येक मनुष्य को आत्मसेवा के इस नर-जीवन रूप पर्वपर ध्यान रखना चाहिये। फिर भी कुछ कारणों से इन भादों के १० दिनों में गृहस्थ लोग अपना अधिक समय दे पाते हैं, इसलिए इन दिनों में ऐसी स्पीड कर ली जाय कि वर्ष भर को एक नया नियम बन जाय। यह पर्व भादों सुदी पंचमी से लगता है। इसमें एक कल्पना हो सकती है कि जब भी प्रलयकाल होता है तो किसी वर्ष के अन्त में अर्थात् आषाढ़ के अन्त में वर्ष समाप्त होता है और सावन के महीने से नया वर्ष लगता है।

यद्यपि अनेक प्रकार से और अनेक सम्बन्धों के आधार से कोई चैत सुदी से वर्ष मानते हैं और कोई आषाढ़ से ही मानते हैं। अंग्रेजी में अन्य तिथियों से मानते हैं, पर प्राकृतिक वर्ष का प्रारम्भ सावन से होता है। जब प्रलय-काल होता है सो आषाढ़ सुदी पूर्णिमा को वर्ष मानते हैं और सावन बंदी से नया वर्ष मानते हैं। सावन से लेकर ४६ दिन तक ये सुवर्षिये चलती हैं और ४६ वां दिन समाप्त होता है भादों सुदी चौथ को। जब सुवृष्टि हो चुकती है तब जीव को उल्लास होता है और धर्म के वास्ते विशेष प्रभावना जगती है। यह पयुषण पर्व भाद्र सुदी पंचमी से माना गया है। यह दशलाक्षणी धर्म क्या है, कौन-कौन है, इसको अंग पूजा में क्षमा धर्म से पहिले बताया है।

उत्तमखम महउ अज्जउ सच्चउ पुण सउच्च सज्ज सुतउ।

चाउ वि आकिच्चणु भवभय बंचणु बंधचेर धम्मजु अखउ ॥

दशलाक्षणधर्म व प्रथम उत्तमक्षमाधर्म—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य तथा ब्रह्मचर्य—ये १० धर्म हैं। धर्म कहते हैं स्वभाव को। यह आत्मा का स्वभाव है। उन दसों उपायों द्वारा हम आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति कर सकते हैं। इसलिए यह दश धर्म कहलाता है, इसका वर्णन प्रतिदिन एक का आयगा। आज उत्तम क्षमा का दिन है इसलिए उत्तम क्षमा के विषय में यह वर्णन आ रहा है। आज उत्तम क्षमा का दिवस है। क्षमा आत्मा का गुण है। आत्मा में विकार न आकर सत्य शांति रहना क्षमा है। क्षमा क्रोध

के कितने ही साधन हों उनके निमित्त से हृदय में विकार भाव नहीं आने देती। ऐसी क्षमा का धारण करना क्षमा है और इसका धारण सम्यग्दर्शनपूर्वक हो तो वह उत्तम क्षमा है। ऐसा न समझना कि गृहस्थों की क्षमा, क्षमा है और साधु संतों की क्षमा उत्तम क्षमा होती है। साधु जनों के सर्वांग जैसी उत्तमक्षमा होती है, उस जाति की सम्यग्दृष्टि गृह जाल में पड़े हुए गृहस्थ जनों के एकदेश उत्तम क्षमा होती है।

उत्तमखम तिल्लोयहिंसारी, उत्तमखम जम्मोदतिहारी ।

उत्तमखम रयणत्तयधारी, उत्तमखम दुग्गइदुहहारी ॥

उत्तमक्षमा की त्रिलोकसारता—उत्तमखम तिल्लोयहिंसारी—उत्तम क्षमा तीन लोक का सार है। जगत के अनेक संकट मिटाने का कोई शरण है तो विषय कषायों का अभाव है। कषाय चार प्रकार के हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। जो क्रोध के अभाव में क्षमा गुण प्रकट होता है, मान के अभाव में मार्दव, माया के अभाव में आर्जव और लोभ के अभाव में शौच धर्म प्रकट होता है। यहाँ उत्तम क्षमा के सम्बन्ध में वृत्त है कि यह गुण तीन लोक में सार है। क्षमा सम्यग्दर्शनपूर्वक निष्कषाय आत्मस्वभाव की दृष्टि रखकर स्वयं सहज स्वरूप हो जाना सो उत्तम क्षमा है। यह क्षमा अपने आपके कल्याण के लिये आती है, दूसरे के कल्याण के लिए नहीं आती है।

परमार्थतः स्वयंपर क्षमाकी शक्यता—वास्तव में अपने आपपर ही यह क्षमा कर सकता है। लोक में दूसरी आत्मा को न कोई क्षमा कर सकता है और न दूसरे के क्षमा करने से उत्तम क्षमा आ सकती है। यह तो खड़ि है कि हमसे कोई अपराध बन जाये तो हम उससे क्षमा मांग लें, झूटी पूरी कर लें, तो क्षमा हो गई, परन्तु भैया ! जरा विचारो तो सही कि क्या तुम्हें कोई अन्य क्षमा कर सकता है एक द्रव्य जब दूसरे द्रव्य का कुछ कर ही नहीं सकता तो क्या तुम किसी को क्षमा कर सकते हो ? अरे क्षमा तो आत्मा का निज धर्म है। मेरा जिस मनुष्य से कुछ बिगाड़ हो गया, उससे मैं क्षमा मांगू अथवा किसी ने मेरा अपराध किया तो मैं उसको क्षमा दे दूँ तो मेरा धर्मका मार्ग आगे चल सकता है, नहीं तो नहीं चल सकता, ऐसा अटकाव धर्म के लिए नहीं होता। हम दूसरे को क्षमा ही क्या कर सकते हैं अथवा दूसरा हमें क्या क्षमा कर सकता है ? क्षमा तो निजका परिणाम है। कोई द्रव्य किसी परद्रव्य का परिणमन नहीं कर सकता। क्षमा तो सच्ची यह है कि यदि कोई अपराध किया गया तो इस अपराध को ही क्षमा कर दें। निरपराध ज्ञानस्वभाव के अभिमुख होकर अपराध को फिर न होने दें।

अपनी भलाई के लिये दूसरों पर क्षमा की कृति—परमार्थ से जो पुरुष दूसरों को क्षमा कर देता है वह अपना ही भला करता है। इस जगत में अनन्त जीव हैं। ऐसा नहीं है कि गृहस्थ की क्षमा तो क्षमा कहलाती है और साधुकी क्षमा और कुछ कहलाती है। किन्तु जो सम्यक्त्वसहित क्षमा है उसको कहते हैं उत्तम क्षमा और जो सम्यक्त्वरहित क्षमा है उसको कहते हैं लौकिक क्षमा। यह अपना उपयोग अपने आपके ज्ञानमय प्रभुपर कितना संकट डाल रहा है ? पंचेन्द्रिय के विषयों में लगकर बाह्य पदार्थों में दृष्टि देकर यह अपने आपका कितना विनाश कर रहा है ? जिस विनाश के फल में जीव मरकर ८४ लाख योनियों में परिभ्रमण करता है। तो इस अपने आपके प्रभुपर महान् अन्याय हो रहा है, इस अन्याय को मिटाना और इन निरपराधों की क्षमा करना, शुद्ध शांतस्वरूप ज्ञानात्मक आत्मतत्त्व की दृष्टि करना यही सर्वोत्तम क्षमा है। इस क्षमा के होनेपर जब बाह्य जीवों से व्यवहार चलता है तब उन सब जीवोंपर यह क्षमा व्यवहार कहलाता है। दिखावटी क्षमा से आत्मा को लाभ नहीं है। एक ज्ञानघन प्रभु की आपत्तियां दूर करने के लिये, दूसरे जीवों का संक्लेश परिणाम हटाने के लिए जो लौकिक और पारमार्थिक उपाय किया जाता है वह वास्तव में क्षमा है। यों तो कोई सोचे कि क्षमा या क्षमा के दस्तूर को कोई निभा वे तो कुछ आत्मा की उन्नति हो जाय, सो नहीं हो सकता है।

अपने उपशम भाव में ही वास्तविकी क्षमा—हमारा किसी ने अपराध किया, उसे हमने क्षमा कर

दिया, ऐसा भाव करे तो परमार्थ से इस भाव में भी विकल्प ही तो किया। यदि हम दूसरे से क्षमा मांगने में ही रहे और पुनः पुनः वही अपराध हम करते रहे तो वह क्षमा की दिशा भी नहीं, बच्चों का खेल है और भाई आजकल प्रायः ऐसा ही होता है। वहां हम समझ बैठते हैं कि हमने व इसने क्षमा मांग ली, चलो, छुट्टी हुई। दूसरे से क्षमा मांगो, दूसरे को क्षमा करो या दूसरे के प्रति क्षमा याचना करो इत्यादि विकल्पभावों का उद्दाना भी तो उत्तम क्षमा का लक्षण नहीं है। विकल्प को तो धर्म नहीं कहते। इसमें तो विकल्प भाव छिपा हुआ है। अतः क्षमा क्या है, यह जाने बिना क्षमा करने कराने के विकल्प अवस्था में भी क्षमा की शैली नहीं आती। हां, यह बात अवश्य है कि जिसके ज्ञानदृष्टि हुई, अपराध से अरुचि होकर ज्ञानाराधना की रुचि हुई, उनके विकल्प होता है तो वे क्षमा मांगने जाते ही हैं। वहां भी उसके क्षमा कर देने से क्षमा गुण प्रकट नहीं हो जायेगा, किन्तु मेरे निमित्त से इन्हें ध्वेष नही रहा। इस भाव के बाद परिस्थितियों का सहयोग मिल लेता है, जिनके अनन्तर क्षमा प्रकट हो लेती है।

क्षमा के रस्म-रिवाजमात्र में क्षमा के तथ्य का अभाव—एक बुढ़िया थी, अपने घर को गोबर से लीप रही थी। कच्चा घर था, गोबर को खूब पतला कर लेती है किसी बर्तन में, और उससे लीपती है। वह बुढ़िया बेचारी जैन थी। सो क्षमा तो पालना था ना, सो वह गोबर से लीपती जावे घर, और कहती जाये कि 'चीटी-चांटी चढ़ो पहाड़, तुमपर आयी गोबर की धार। तुम न चढ़ो तो तुमपर पाप, हम न कहें तो हमपर पाप।' यह तो बुढ़िया ने जीवों के प्रति निभाया किन्तु अंत में जीवकी प्रभुतापद रुचि आये तो वह सद्भावपूर्वक जीवों की दया कर सकती है। मुख्य बात यह है कि आत्मा में यह गुण होना चाहिये कि अपने आपकी दया के लिए दूसरों के द्वारा सताये जाने पर भी अपने उत्थान के लिए उन बातों को अपने हृदय में रखो और जानो कि यह संसार मायामय है। ये दिखने वाले लोग मायामय हैं, विनाशीक हैं, इनसे मेरी आत्मा का नाता नहीं है। न ये मेरे गले हमेशा के लिए पड़ गये हैं। ये तो मुसाफिर हैं, एक क्षण का संयोग है। यह यदि किसी के बर्तावपर उससे बदला चुकाने का मनमें आशय रखे तो उस बदले का प्रभाव दूसरों पर पड़े, चाहे न पड़े, पर बदला लेने का आशय होनेपर खुद का अकल्याण हो जाता है। उसे फिर सन्मार्ग नहीं मिलता है। यह उत्तम क्षमा तीन लोक में सारभूत है।

स्वयंपर ही क्रोध की व स्वयंपर ही क्षमा की शक्यता—परमार्थ से तो अपने स्वभाव का घात न होने देना सो उत्तम क्षमा है। किसी ने कोई कषाय चेष्टा की, जिसे हमने अपने बिगाड़ रूप में देखा तो हमें क्रोध आ गया तो हमने उसपर कुछ क्रोध नहीं किया, अपनेपर ही क्रोध किया, तब उस क्रोध के संताप को दूर करने में लिये इच्छा होती है कि इसका बिगाड़ हो जावे या मुझसे क्षमा मांगे। देखो भैया मोह में क्षमा की कैसी अटपटी सूरत बना ली जाती? भैया क्रोध तो तुमने किया तो उसके क्षमा मांगने से क्षमा होगी या तेरे ही सत्य पुरुषार्थ से क्षमा होगी। अपने इस एकाकी चैतन्य भाव को ही देखकर अपने निज ज्ञानस्वभाव की आराधना में लगे तो उत्तम क्षमा प्रकट होती है। क्रोध नहीं करने को उत्तम क्षमा कहते हैं। जीव किसी पर क्रोध नहीं करता। यह तो स्वयंपर ही क्रोध करता है, स्वयं को वरबाद करता है, स्वयं की हानि करता है। इस प्रकार क्रोध न करने की बात तो मुख्य हुई, किसी भी प्रकार का विकार न आने देना आत्मगुणों का घात न होने देना, सो अपने आपको क्षमा करना है।

उत्तमक्षमा से जन्मोदधिनिस्तरण—उत्तमखम जन्मोदहितारी—यह उत्तम क्षमा जन्म रूपी संसार समुद्र में तार देने वाली है। जो समागम मिले, जो वैभव मिला, उसमें मद नहीं आना चाहिए। कर्मों से लिप्त हैं सो अपने को गरीब समझना चाहिये। आज किसी सेठ ने अगर अनाप-सनाप बर्ताव कर लिया तो कुछ पुण्य का उद्वेग है इसलिए जितनी सामर्थ्य है अपपट किया, पर मरण के बाद तो कला न चलेगी। नये जीवन में पशु-पक्षी कीड़े मकोड़े बन जाना ही पड़ेगा, इसलिए इस चार दिनों की चांदनी को देखकर एकदम मस्त नहीं होना चाहिए। कुछ अपने आपपर भी दया करना चाहिए, अपने आपकी भी क्षमा करना चाहिये। ऐसा उपाय करो जिससे तुम्हारा

यह संसार झूट जाय। उन उपायों में प्रधान उपाय है यह उत्तम क्षमा। कोई समझे कि मैं अपने घर में स्त्री सहित बड़े प्रिय से रहता हूँ, मेरे में बाहर वालों का कोई जिगाड़ नहीं होता, बाहर के किसी पुरुषपर या अन्य किसी पर गुस्सा ही नहीं करता, फिर हम तो क्षमावान ही हैं, हमको कहां से क्रोध का बन्ध लगेगा, परन्तु ऐसा नहीं है। स्त्री से प्रेम करते हैं और मोह बढ़ा रहे हैं, तभी वे अपने आपपर खूब क्रोध कर रहे हैं। अपने को क्षमा करो। विकार व विकल्प की रचि मत रखो, खुदके विकार-परिणाम से आत्मा के गुणों का घात होता है। अपनी दया करो। देखो तो ज्ञाता द्रष्टा मात्र-की परिस्थिति रूप शांति का भंडार यह चैतन्यस्वरूप भगवान् इन पर्यायों के रूप से नष्ट (तिरोहित) हो रहा है, जिससे तुम दुःखी हो रहे हो। इस चैतन्यस्वरूप से क्षमा मांगो, किसी से और कुछ न मांगो। हे चैतन्यस्वरूप ! तेरे में परस्पर विरुद्ध दो बातें पाई जा रही हैं। एक तो अंतःप्रकाशमान त्रिकाल में रहने वाला ज्ञानस्वभाव और ऊपर व्यक्त हुआ उससे उल्टा क्रोध भाव। क्रोध भाव परका उपयोग रखाने वाला है। जिससे इसने संकिलिष्ट अज्ञानी बनकर इस सरल महान् चैतन्यस्वरूप पर अन्याय किया है। अतः हे जीव ! ज्ञानस्वभाव का जिसमें तादात्म्य है, ऐसी आत्मा से तू क्षमा मांग। हे व्यवहार ! तू निश्चय से मनफी मांग। व्यवहार कहता जा रहा है कि तू ऐसा सोच अथवा व्यवहार में ग्रस्त अपने को, ऐसा सोचना युक्त है।

प्रतिकूल वचनों को अनसुनासा कर देने में लाभ—एक पुरुष समुलल गया। पहुंच गये दामाद साहब। सास भी बड़ी कंजूस। उसने सोचा कि लो अब दो चार रुपया रोज बिगड़ेंगे, जब तक यह रहेंगे। सो कहा लाला जी आपको मैं ऐसा बढ़िया खाना बनाऊंगी जिससे आपका भला होगा, शरीर स्वस्थ रहेगा। यदि बूंदी के सद्दू बना दिया या हलुवा आदि बना दिया तो उससे स्वास्थ्य ठीक न रहेगा। उनके अवगुण बता दिया। कहा तुम्हें हम बढ़िया चीज खिलायेंगी, जिससे आपका शरीर सवाया हो जाय। वही बढ़िया भोजन बनाया। क्या? खिचड़ी। अब वह खिचड़ी जीमने बैठ गया। उसमें धी न डाला। वह दामाद खिचड़ी का एक-एक दाना चुगे। सासने कहा दामाद जी क्यों खिचड़ी का एक-एक दाना चुगते हो। कहा—क्या कर बिना धी के खिचड़ी पेट में नहीं जाती। और कुछ न हो तो केवल धी की हवा तो खिला दो, तो खाकर चले जायेंगे। सो कुछ जाड़े के दिन थे। एक चौड़ी मुँह की डबुलिया में पावधर धी रखा था, सो उसको लाकर सास ने औँघा दिया और थाली भर में फिरा दिया और हवा खिला दिया। अब दामाद सोचता है कि कला तो खूब खेली, पर फेल हो गया। अब क्या कला खेलना चाहिए सो खाते हुए में पानी के लोटे में टेहुनी लगा दी। पानी ढरक गया। पानी जरा दूर से लाना था, सो सास पानी लेने चली गयी। पानी दूर से लाने में लगभग १०-१२ मिनट लग ही जायेंगे सो उतने में दामाद ने डबुलिया को आग में धी पिचला लिया और वैसे ही डबुलिया को रख दिया। इतने में सास आयी। फिर दामाद एक-एक दाना खाने लगा। सासने कहा दामाद जी क्यों खिचड़ी का एक-एक दाना खाते हो? कहा बहुत देर हो गई, कुछ धी की हवा फिर लगा दो। उसने फिर डबुलिया को औँघा दिया तो सारा धी थाली में गिर गया। सास सोचती है कि मैंने बहुत उपाय किया, मगर फेल हो गई। बोली दामाद जी मुझे तुमसे बड़ा प्रेम है। हम तुम्हारी थाली में खाना चाहती हैं। अब वह सारा धी अपनी तरफ करने के लिए उस बातों में लगाया। थाली में अंगुली से लकीर करके सास कहे कि—तुम्हारे पिताजी हमारी लड़की को ऐसा कहते हैं, तुम्हारे भैया हमारी लड़की से यों बोलते हैं। तुम्हारी बहिन हमारी लड़की को यों कहती है, तुम कुछ नहीं बोलते हो। इतने में सारा धी अपनी तरफ अंगुली से कर लिया। दामाद ने सोचा कि हमारी सारी हिकमतें फेल हो गई। सो वह कहता है सास जी तुम्हारी लड़की से कोई कुछ कहे, मगर तुम्हारी लड़की को वे सब बातें यों पी जाना चाहिए यह कहता हुआ दामाद सारा धी एक चुल्हू में लेकर पी गया। इसी तरह भैया ! हमें भी प्रतिकूल बात पीकर उन्हें अलग कर देना चाहिए।

शुद्धात्मतत्त्व से उपेक्षापराध की क्षमा याचना—भैया ! हमारा लक्ष्य तो जब तक विकल्पावस्था

उत्तम क्षमा

हैं, निश्चय के विषयपर अथवा शुद्ध आत्मापर ही रहना चाहिए, परन्तु हम व्यवहार में इतने उलझ जाते हैं कि उसे ही सब कुछ समझ बैठते हैं। जहाँ हमें पहुँचना है वह बिल्कुल भूल जाते हैं। कुछ मलिनता कम हुई या मंद कषाय हुआ तब शुभोपयोग रूप राग होता है। वहाँ दृष्टि गई या वहाँ तक पहुँचे तो उस शुभोपयोग को ही उपादेय समझ बैठते हैं। यह निज चैतन्यस्वभावपर अन्याय नहीं तो क्या है? अतः हे श्रेष्ठ मन वालो! अब हमारा कर्तव्य है कि उस शुद्धात्मा अथवा निश्चय से क्षमा मांगें, जिसको हम आज तक गुलाये हुये हैं और क्षमा मांगना ही क्या, हम उस शुद्ध तत्त्व की ओर अपना लक्ष्य रखें, यही उत्तम क्षमा होगी। हे वर्तमान पर्याय! तू द्रव्य से क्षमा मांग कि मैंने तेरा बड़ा अनर्थ किया। मैं क्रोध में आकर तुम्हारा अब तक अनर्थ करता रहा। क्षमा के बारे में यह बड़ा ध्यान रखना चाहिए। क्षमा एक तप है। अगर कोई गाली देता है या छोटे वचन कहता है तो फिर उसे सहन कर जाय, यह बहुत बड़ा तप है, यदि उस समय नहीं सहन कर सकते तो कुछ बाद ही सही, अपने ज्ञानमात्र एक अमूर्त भावात्मक आत्मा के स्वरूप को जानकर मेरी क्षण तो यही है। अगर कोई दूसरा विगड रहा है तो कहीं वह मेरी क्षण तो नहीं है, वह मेरे आत्मा के परिणामन को पूरा पाड़ तो नहीं देगा। सब विनाशिक हैं भिन्न हैं, पौद्गलिक हैं। उनसे अपने आपके चित्त में एक क्रोध संस्कार न बने, यह है आत्मा की उत्तम क्षमा। उन सब बर्तवियों को यो हीं पा जावो और उनके ज्ञाताद्रष्टामात्र रह जावो, यह परिणाम इस जीव को इस संसार समुद्र से तारने वाला होगा।

उत्तम क्षमा में रत्नत्रय का विकास—उत्तमक्षम रयणतयधारी—उत्तम क्षमा रत्नत्रय का धारण करने वाली है, क्रोध सर्व गुणों को फूँक देता है। अग्नि की ज्वाला से अधिक भयंकर क्रोध की ज्वाला होती है, आत्मा का यथार्थ विश्वास, आत्मा का यथार्थ ज्ञान और आत्मा में ही रम जाना—इस रत्नत्रय की पूति साधना क्षमागुण से होती है। जिसके क्षमा नहीं है, जिसके अनन्तानुबंधी कषाय है उनके सम्यक्त्व नहीं रह सकता है जिनके प्रत्याख्यानावरण कषाय है, उनके संयम नहीं रह सकता है और ज्ञान के दोनों साधनों में लगा होना सारतत्त्व है। इसकी शोभा तो उत्तम क्षमा के धर्म से होती है। हे चैतन्यप्रभो! तू अनादि से प्रगट है, परन्तु मैंने अब तक मुझे ढका ही रखा। जैसी जैसी पर्याय मिली वैसा ही मैं अपने को समझने लगा। मनुष्य की देह पाई तो मैं अपने उपयोग में निज द्रव्य को, निज पदार्थ को मनुष्य समझा, देव का शरीर मिला, मैं अपने को देव समझने लगा। जरा शरीर गर्म हुआ तब समझा मुझे बुझा हुआ। इस तरह अपने को पर्यायमात्र समझा, परन्तु उन सब पर्यायों में सामान्यरूप सदा एकसा रहने वाला शुद्ध, निर्विकार, निरंजन, ज्योतिर्मय, सर्व से भिन्न निज परमात्मद्रव्य उसकी मुद्र भी न ली। अहो! वही तो मैं हूँ। तब मेरा, विकृतपर्यायों का, विकार का कितना निष्ठुर व्यवहार रहा! हे निजचैतन्य प्रभो! इससे बढ़कर तुझपर और कोई अन्याय क्या हो सकता है? इस इस तरह अपने आपसे क्षमा मांगो। हे चैतन्य भगवान्, मैंने तेरा अपमान किया। तेरी खबर भी नहीं ली। अब मैं क्षमा चाहता हूँ। अब मैं तेरी भक्तिपूर्वक सेवा करूँगा। मैं क्रोध, मान, विषय, कषाय आदि भावों में अपने आपको नहीं लगाऊँगा। इस तरह के भाव से क्षमा मांगना उत्तम क्षमा है। ऐसी उत्तम क्षमा के धारी ज्ञानी जीव बाह्य में किसी भी तरह का अहित, विकल्प नहीं करते। उनका जब जो व्यवहार होता है उससे परको पीड़ाकारी योग नहीं होता। यदि कोई पर्याय बुद्धिभ्रम से दुःखी हो तो यह दुःखी होने वाले का ही दोष है। ज्ञानी व्यवहार में विरुद्ध नहीं और सत्य क्षमाशील है। किसी दुष्ट के द्वारा पीड़ा दिये जानेपर भी वह मध्य जीव कभी क्षामाभाव को नहीं छोड़ता।

उत्तमक्षमा की दुर्गतिदुःखहारिता—उत्तमक्षम दुग्गद्दुहहारी—उत्तमक्षमा दुर्गति से दूर करने वाली है, यहाँ की दुर्गति और परलोक की दुर्गति दोनों से ही दूर करने वाली यह क्षमा है। दोनों ही दुर्गतियों से दूर करने की सामर्थ्य इस क्षमा में है। जिसे कहते हैं गम खाना। क्रोध की वृत्ति जो बना रहे है उनको जगह जगह दण्ड मिल जाता है। जिनको क्षमा की प्रकृति आयी है उन्हें सब जगह सत्कार या सद्व्यवहार होता है, तो इस लोक में भी

दुर्गति नहीं हो पानी, जो क्षमा अंगीकार करता है और पृथ्वी में भी उसकी दुर्गति नहीं होती, खांटी पर्यायों में जन्म नहीं होता। गृहस्थ को दो ही बातों से तो प्रयोजन है, एक तो आजीविका और दूसरा आत्मकल्याण। पर ऐसी व्यर्थ की बातों में क्यों उद्योग फंसाया जाय, जिससे न कोई अजीविका के साधन में सहायता मिलती है और न आत्मकल्याण के साधन में। ऐसे व्यर्थ के बोल बर्ताव के व्यवहार से इस जीव को क्या लाभ मिलेगा? अपनी दुर्दशा यदि समाप्त करना है तो सम्यग्दर्शनरूप उत्तम क्षमा को धारण करो और सब जीवों में विकास को ही निहारकर उनकी लगन रखो। यह उत्तम क्षमा ही समस्त दुर्गतियों को मेटेगी क्षमा करने के कितने ही प्रयोजन हैं। जैसे किसी का किसी बन्धनान से मुकाबिला हुआ। वह बलवान का कुछ बिगाड़ नहीं सकता है, अतः गम खाने की सोचता है। नहीं तो हड्डी और पसली टूट जायगी। अच्छा जाओ उसे क्षमा करो। इस प्रकार की क्षमा या गम खाना उत्तम क्षमा नहीं। बलवान का मुकाबिला नहीं कर सकते। इसलिए झक मारकर गम खाना पड़ रहा है और भीतर अनिष्ट बुद्धि ही है, यह उत्तम क्षमा नहीं है। क्योंकि मुकाबिला न होने पर भी उसके विरोध का भाव नहीं मिट रहा, उसके अनिष्ट करने की बुद्धि विद्यमान है। इसलिए इसे क्षमा नहीं कहा जा सकता। हां, यदि आक्रान्ता बलवान भी हो, फिर भी अनिष्ट बुद्धि न होकर सहजवृत्ति से जो गम खाय वह उत्तमक्षमा हो सकती है, क्योंकि अनिष्ट बुद्धि में क्रोध तो अंतरंग में भड़मड़ाया करता है, परन्तु कायरतावश कुछ नहीं कर सकता। तब क्या वह शांति का लेश भी अधिकारी है? अतः जो गम अथवा क्षमा आत्मा को सुख देवे वही पास्तव में क्षमा है।

उत्तमखम गुणगणसह्यारी, उत्तमखम मुणिविदपियारी।

उत्तमखम बुहयणचितामणि, उत्तमखम संपञ्जइ धिरमणि ॥

उत्तमक्षमा से गुण का विकास—उत्तमखम गुणगण सह्यारी—उत्तम क्षमा अनेक विकास के गुणों की सहकारी है। उत्तम क्षमा से सब गुण शोभा पाते हैं। किसी में उदारता हो, समाज का जो उपकार करता हो, सबके काम में आया हो, अन्तरङ्ग में किसी के प्रति कोई मायाचार न रखता हो, किसी भी प्रकार का घमंड न हो किन्तु क्रोध की प्रमुखता हो तो वे सब गुण मानो क्रोध अग्नि में भस्म हो जाते हैं। आप किसी की कितनी ही सेवा करें, हर तरह से सेवा करें और जरा दुर्वचन बोल दें कुछ अपना क्रोध जाहिर कर दें तो उन सब सेवाओं पर पानी फिर जाता है। भैया! इसी तरह कोई यह सोचे कि क्षमा करो, क्योंकि क्षमा से लोक में बड़ी प्रतिष्ठा होती है, बहुत आराम मिलता है आदि। इस तरह की क्षमा भी उत्तम क्षमा नहीं है। इससे तो राग द्वारा आकुलता ही तो मची रहती है। उस क्षमा में अपनी लोकप्रतिष्ठा की ही तो बुद्धि आई, उसने आराम बढ़ाने के लिये ही तो क्षमा की। इस प्रकार प्रतिष्ठा में, आराम में उसको राग हुआ। यह तो आत्मा को बरबाद करता है। इसी तरह कोई कोई साधु यह तो चाहता है कि वह क्षमा करे, किन्तु यदि वह क्षमा यह समझकर कर सकता है कि इनसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो इस प्रकार के भाव से क्षमा करना भी उत्तम क्षमा नहीं है, क्योंकि इससे तो उसने मिथ्यात्व को ही बसाया, संसार ही बढ़ाया, अभी तो भ्रम भी दूर नहीं किया, उत्तम क्षमा तो दूर ही है। उत्तम क्षमा में अनादि, अनन्त, अहेतुक, ज्ञानस्वभाव का विशुद्ध विकास है। इस उपादान का विचार करके इस ज्ञानस्वभाव में क्षमा परिणति रूप उपयोग को स्थिर रखने से रागादि भाव नहीं आयेगा। ऐसी स्थिति को उत्तम क्षमा कहते हैं। जहां मिथ्यात्व की स्थिति नहीं है, फिर भी क्रोध आये तो सोचो, क्या यह क्रोध मेरे स्वभाव से बना है? नहीं, क्रोध व्यवहारिक पर्याय है, मेरे स्वभाव में नहीं है, मैं उसका ज्ञाता मात्र हूँ, इस प्रकार क्रोध का ज्ञान होनेपर भी क्रोध के बिना ज्ञान-स्वभाव की जागृति रखना वहां उत्तम क्षमा आंशिक है।

उत्तम क्षमा से संवर व निःश्रेयस—दशलक्षण धर्म से संवर होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से ही तो संवर होता। दशलक्षण धर्म अंतरंग चारित्र है, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का अविनाभावी है। धर्म

तत्पूर्व ही है, अतः जहाँ सम्यक्दर्शन का लेश नहीं वहाँ उत्तम क्षमा का आभास नहीं हो सकता। उत्तम क्षमा में ही यह सामर्थ्य है कि समस्त गुणों के विकास को बढ़ा देती है। यह उत्तम क्षमा अनेक उपद्रवों को लीला मात्र में हटा देती है। एक साधु था। उसके उपसर्ग आया। उसके भक्त ने उसके उपसर्ग को दूर किया, बचा लिया, परन्तु उपसर्ग में व उपसर्ग के बाद साधु को वह विकल्प ही नहीं था कि यह तो उसका भक्त है और यह उसका दोषी है। उसके यह जानने का विकल्प ही नहीं आया कि कितने मेरा उपसर्ग दूर किया? जिसके मन में मित्र और शत्रु का विकल्प ही नहीं उठता ऐसे साधुओं का वह उत्तम क्षमा धर्म है। भगवान् पार्श्वनाथपर कमठ ने तरह-तरह के उपसर्ग किये। भगवान् के उन उपसर्गों का धरणेन्द्र पद्मावती ने निवारण किया, परन्तु भगवान् का यह लक्ष्य ही नहीं था कि कमठ तो उपसर्ग का करने वाला है और धरणेन्द्र, पद्मावती रक्षा करने वाले हैं। इसी वीतरागमय उत्तम क्षमा से अंतर्मुहूर्त में केवल ज्ञान हो गया।

रागद्वेष के प्रतिषेध में उत्तम क्षमा का अभ्युदय—उत्तम क्षमा वह कहलाती है जिसका न इष्ट में राग जाय और न अनिष्ट में द्वेष ही जाय। जगत में जितने भी झगड़े होते हैं वे राग भाव से होते हैं, द्वेषभाव से नहीं होते। द्वेषभाव से जितने झगड़े हो रहे हैं, उन द्वेषों की जड़ क्या है? उत्तर मिलता है कि अमुक चीजपर राग था तब उसमें बाधा देने वाले को हमने द्वेषी समझा। अर्थात् उस द्वेष की जड़ राग ही हुई। यदि मूल बात विचारो तो यही सिद्ध होता है कि क्रोध राग से किया जायगा, द्वेष तो क्रोध है ही। इस प्रकार राग ही क्रोध है, परन्तु यह चैतन्यस्वभाव तो स्वयं एकाकी है, यह किसी से राग क्यों करेगा? ऐसे चैतन्यस्वभाव का अवलोकन करने वाले ज्ञानी मुनि ही होते हैं। उन्हीं के उत्तम क्षमा होती है, वहाँ न राग है; न द्वेष है। यदि उनकी विषयों में प्रवृत्ति होती तो वे राग का त्याग नहीं कर सकते थे।

उत्तमक्षमा की सज्जनप्रियता—उत्तमखम मुर्णिविदपियारी—यह उत्तम क्षमा मुनियों को प्रिय है। अहिंसा की पूति इस उत्तम क्षमा से होती है। अहिंसा का पालन भी क्षमा का अंग है। धर्म का पालन किसी के ठेके में नहीं है। कोई भी पुरुष हो जो अहिंसा में रुचि रखता है उसको लाभ मिलता है। कुछ समय पहिले की एक घटना है कि एक नवाब की लड़की किसी अच्छे धनी मुसलमान के घर ब्याही गयी थी। पाप का उदय आया, गरीब हो गई। उसका पति मांस खाने, मदिरा पीने और अन्य सब प्रकार के व्यसनों में रहने लगा। निर्धन भी हो गया। कोढ़ भी उसके निकल आया। इतने पर भी लोगों ने उस लड़की को समझाया कि दूसरा विवाह कर लो, पर उसने कहा कि यह नहीं होगा। वह पति की सेवा करे और शिक्षा भी दे कि मांस-मदिरा के हिंसामय प्रयोग से यह तुम्हारी अवस्था हुई। इन सबको त्याग दो। वह गरीब स्त्री जैनी लोगों के यहाँ से रोटियां मांग लाये व अपने पति को खिलाये और अपना पेट भरे। मगर दुर्व्यसन और दुराचार का उसका मन नहीं होता था। अहिंसा की श्रद्धा हुई। कुछ समय बाद अपने आप ही पति का कोढ़ मिटा और अहिंसा व्रत का नियम लिया। तो धर्म जो पात्रेगा उसी को लाभ है। उत्तमक्षमा सहज स्वभाव से उदय में आती है।

क्षमागुण की सहज सिद्धि—मैं क्षमा करूँ तो अमुक लाभ होगा, इस भाव से उत्तम क्षमा नहीं होती। एक राज्य में राजाज्ञा हुई कि कोई चोरी न करे और १०, ००० से अधिक सम्पत्ति न रहे। तो जो राजाज्ञा से चोरी नहीं कर सकता था, जिसने १०, ००० से अधिक सम्पत्ति का त्याग कर दिया तो क्या वह परिग्रहत्यागी बन गया? नहीं, राजाज्ञा से उसने सम्पत्ति का त्याग किया, परन्तु हृदय में तो तृष्णा है। सम्पत्ति से उसका राग तो नहीं गया। अतः तृष्णा और राग होने के कारण वह परिग्रहत्यागी नहीं हुआ। इसी तरह उत्तम क्षमा भी जबर्दस्ती से नहीं होती है। अहेतुक स्वभाव की दृष्टि में क्रोध स्वतः नहीं रहता। क्रोध के करने से दुर्गति में चले जावेंगे, यह समझकर क्रोध न होने देने का परिश्रम करना भी उत्तम क्षमा नहीं कहला सकती। ऐसे धर्म मानने के अभिप्राय

पर्यायबुद्धियों के ही होते हैं, परन्तु ज्ञानी इमलिये क्रोध नहीं करता, उसके तो क्रोधरहित राग भाव रहित ज्ञान-स्वभावपर ही लक्ष्य रहता है, ऐसा ही आत्मीय स्वलक्षण जहाँ समझा गया, वहाँ क्रोधभाव स्वतः नहीं होता। ऐसा उत्तम क्षमा का स्वरूप ज्ञानस्वभाव है। ज्ञानी के कदाचित् यदि क्रोधभाव भी रहता तो भी भेदविज्ञान के बल से अन्तर में उत्तमक्षमा के अंश रहते ही हैं। हमको तो यह चाहिये कि कहीं से कुछ भी बात आये, कुछ भी उपसर्ग आये, उससे लक्ष्य हटायें, वह भेदविज्ञान का सहारा लें और उपयोग के शुद्ध लक्ष्यपर हीने के वाद अभेदस्वभाव में स्थिर होकर क्षमाशील रहें।

क्षमाप्रयोग से शान्ति का लाभ—कोई बाघु बम्बई जा रहे हों और पड़ौस की स्त्रियाँ आकर कहें कि हमारे बाबू को खिन्नी का हवाई जहाज ले आना, कोई स्त्री कहे कि हमारे बाबू को खेलने का रेल का इञ्जन ले आना और कोई गरीब बुद्धिया आकर यह वहे कि बाबूजी हमारे पास ये दो पैसे हैं इन्हें लो और हमारे बबुवा को एक मिट्टी का खिन्नी ला देना। तो बबुवा कितना खेलेगा? बबुवा उस गरीब बुद्धिया का ही खेलेगा। तो गपो-दियों ने लाभ नहीं होना, किन्तु गुप्त ही अपने आप छिपे हुए अपने उद्धार के लिए संसार के जन्म मरण के चक्रों से छूटने के लिए अपने आपके ज्ञानस्वभाव की आराधना हो तो यही उत्तम क्षमा है। यह उत्तम क्षमा चिन्तामणि की तरह है। जैसे चिन्तामणि से जो विचारो सो मिल जाये। इसी तरह उत्तम क्षमा का सद्भाव करे उसके परिणाम से शान्ति उसे तुरन्त मिलेगी। शान्ति का बड़ा प्रभाव होता है। घर में रहने वाले पुरुषों में एक मुख्य पुरुष यदि शान्ति का स्वभाव रखना हो तो घर के सब परिवार जनों का उस शान्ति में ढलने का व्यवहार बन जाता है।

शान्त पुरुष की वृत्ति का सत्प्रभाव—एक सेठ सेठानी थे। सेठानी क्रुद्ध थी और सेठ शांत था। बजाजी की दूकान करता था। दूकान में बहुत काम करना होता था। रात दिन वहीं रहे। समयपर भोजन खाने घर आये। सो उम सेठानी को और कोई सम्य न मिले कि वह सेठ से कुछ कह सके। जब सेठ जी भोजन करने आते तो उमी समय वह अपना क्रोध निकालती, मुझ अमुक चीज बनवा दो, मुझे कभी बनवाकर नहीं देते और दो-चार गालियाँ भी मुना दे, वह बेचारा आराम से मुन ले और भर पेट भोजन करके अपना चल दे। एक दिन भोजन करके सीढ़ियों से नीचे उतर रहा था। सेठानी को बड़ा गुस्सा आया तो जो दाल चावल का धोवन होता है उसे सेठ की पगड़ीपर डाल दिया। सेठ के कपड़े भीग गये। सेठ सीढ़ियों से ऊपर चढ़कर सेठानी से कहते हैं कि सेठानी जी! तुम गरजती तो बहुत थीं पर बरसी आज हो। बड़ी शान्ति से उन्होंने जवाब दिया। तो सेठानी शर्म के मारे गड़ गई कि हमने कितना उग्रव किया, मगर इनकी क्षमाशीलता को धन्य है। अब वह सेठ के पैरों में गिर गई और बोली—अब मैं कभी क्रोध न करंगी। वह क्षमा विद्वानों का आभूषण है। विवेकी पुरुषों को यह क्षमा अन्तरङ्ग में रखनी चाहिये। जैसे मान लो कोई तुम्हें मार रहा है, वहाँ तुम यह समझ लो कि यह मुझे तो नहीं मार रहा है इस शरीर को ही मार रहा है, परन्तु शरीर तो मैं नहीं हूँ, इस विवेक से क्षमा आ ही जायनी। मान लो व्यवहार में यदि कोई गाली-गलाज अथवा घुरा भला कह रहा है तो समझ सकते हो कि यह मुझ तो नहीं कह रहा, जिसने कुछ किया है उसे कह रहा होगा। जिसको कह रहा हो कह ले, यह उसके कषाय का विपाक है। वह इस चतन्यस्वभाव को तो नहीं कह रहा है, यह समझकर उन बुरे वचनों को भी पी जाये अर्थात् उपेक्षित कर दे, इसी को उत्तम क्षमा कहते हैं, क्योंकि ऐसा विचार करने से उसे अवसर मिलता है कि वह अनन्तर निर्विकल्प तत्त्व को अवलोकन करे। इस प्रकरण में उसके दिल में क्रोधभाव उत्पन्न ही नहीं होता।

क्षमा से मन की स्थिरता—उत्तमखम संपज्जइ खिरमणि—यह क्षमा मन को स्थिर रखने में समर्थ है। क्रोध को रखते हुए हृदय स्थिर नहीं हो पाता है। भैया मनकी स्थिरता तो सभी चाहते हैं, किन्तु मनकी स्थिरता रखने का अच्छा उपाय है क्षमा करना। एक घर में एक गांव था। जब उस घरमें बच्चे को दूध पीने के

लिए कटोरा भर दिया जाता तो वह सांप आये और उस दूध को पी ले। बच्चा उस सांप को हाथ से मारता जाय, मगर उस सांपने क्षमा ब्रत लिया था, सो वह खूब आराम से रहे। एक दिन दूसरे सांपने देखा कि यह तो दूध पी आया है और मस्त है। कहा यार तुम तो बड़े मस्त हो, दूध से मुख भंडा है, आप कहां दांव मारा करते हो? हम तो बच्चे के पास से दूध पी आते हैं। हमें बता दो, हम भी पी लिया करें। तुम नहीं पी सकते हो। क्यों? बोला दूध वही पी सकता है जिसमें क्षमा हो। वह बच्चा थप्पड़ मारता है। जिसको थप्पड़ सहने की शक्ति हो वही दूध पी सकता है, अरे तो हम भी सह लेंगे। कहा—नहीं सह सकते हो। द्वितीय सांपने संकल्प किया कि अच्छा तो लो १०० थप्पड़ तक हम जरा भी नहीं क्रोध करेंगे। उसने १०० थप्पड़ तक सहने का नियम ले लिया। सो वह दूध पीने गया। बच्चा थप्पड़ मारे। जब ८०, ६०, ६५, ६७, ६६ और १०० थप्पड़ हो गये तब तक कुछ न कहा पर जब १०१वां थप्पड़ बच्चे ने मारा तो उसने फुंकार मारी, बच्चा डर गया, चिल्ला पड़ा। घर के लोग दौड़े, सांप को देखा और मार आला। तो सुख और शांतिपूर्वक अपना जीवन चलाने के लिये क्षमा का गुण होना चाहिए।

क्षमागुण से सर्वत्र उत्थान—घर में भी, समाज में भी, देश में भी जिसका उत्थान होता है वह क्षमा-गुण के कारण होता है। बड़े-बड़े नेताओं को देखो—उत्तम क्षमा सम्पूर्ण गुणों के साथ रहने वाली है। ऐसा नहीं होगा कि कोई सोच ले कि मैं उत्तम क्षमा रख लूँ और गुण रहूँ या न रहूँ। उत्तम क्षमा वहां ही रहती है जहां और सब शुद्ध गुण भी रहते हैं। इसके आते ही और गुण भी प्रगट होने लगते हैं। मुनिजन उत्तम क्षमा को नहीं छोड़ते। जरा भी अवसर क्षीम भाव के पैदा होने का आवे तो स्वामाविक सत्य शांति के लिए वे बहुत विह्वल रहते हैं। उनकी आकुलता तब तक है जबतक वे क्षामाभावको नहीं पालेते। जब वे क्षमाको प्राप्त करनेके लिये ऐसा अन्तरंग तप करते हैं तब हमें तो, जिनको सदा क्रोध की संभावना रहती है बहुत ही सावधान रहना चाहिये। हमारी तो विजय इस सत्य श्रद्धापर है कि “मैं परका कुछ नहीं कर रहा हूँ” फिर मुझे क्रोध कहां? “मैं परको करता हूँ” इस प्रकार का मिथ्यात्व ही उस व्यक्ति के लिए क्रोध बन गया, जिसने ऐसा विचार किया कि मैं परका कर्ता हूँ। अतः आत्मा से इस क्रोधभाव को मिटाओ।

उत्तमक्षम महणिज्ज सयलजणि, उत्तमक्षम मिच्छत्त तमोमणि।

जहि असमत्थहि दोस खमिज्जइ, जहि असमत्थहि ण उ रुसिज्जई ॥

उत्तमक्षमा की सकलजनमहनीयता—उत्तमक्षम महणिज्ज सयलजणि—यह क्षमा समस्त पुरुषों के द्वारा पूज्य है, सब इसकी आराधना करते हैं। क्षमा नाम पृथ्वी का भी है। संस्कृत शब्द है क्षमा। इन पृथ्वी को क्षमा क्यों कहते हैं कि पृथ्वीपर लोग टट्टी करें, पेशाब करें, कूड़ा जलायें, फिर भी यह पृथ्वी अचल स्थिर रहती है। इस प्रकार एक क्षमा का परिणाम ही ऐसा गुण है कि बड़े-बड़े उपद्रव और उपसर्ग भी आयें तो भी उनमें अपने मन में कषाय नहीं बांधते। यह क्षमा समस्त जनों के द्वारा पूज्य भाव है।

उत्तमक्षमा से मिथ्याभाव का विहंडन—उत्तमक्षम मिच्छत्त विहंडणू—यह उत्तमक्षमा मिथ्यात्वरूप अंधकार को नष्ट करने के लिए मणि समान है। है ना ऐसा? क्रोध में अपना सन्मार्ग अथवा आत्मस्वभाव या परमात्मा का स्वरूप—ये सब भूल जाते हैं और पर्यायबुद्धि घर कर लेती है। मिथ्यात्व न आ पाये ऐसी शक्ति क्षमा गुण में है। क्षमा गुण के प्रसाद से मिथ्यात्व अंधकार नहीं आता। जहां वस्तु का, स्वरूप का बोध हो जाता है वहां यह सोचता है कि परपदार्थ चाहे जैसे परिणामो, इससे मेरा कोई सुधार बिगाड़ नहीं है। यदि कोई उपसर्ग भी हमपर करे, कोई गाली भी देवे तो एक उपाय यह करे, यह समझे कि यह हमारी परीक्षा करने के लिए तो नहीं कह रहा है। एक पाकेटमार किसी की पाकेट में से नोट निकाल रहा था। नोट निकालता हुआ वह पकड़ा गया तो बोसता

है कि मैं तो आपकी परीक्षा कर रहा था कि आपको ध्यान भी रहता है या नहीं। आप सावधान भी हो या नहीं। अतः यदि किसीने गालीगलौज दी भी तो सोच लो वहीं यह परीक्षा तो नहीं कर रहा है। पहले ही क्रोधी बन जाओगे तो जब वह यह कह देगा कि मैं तो परीक्षा कर रहा था तो तुम्हें नीचा देखना पड़ेगा अथवा क्रोध करनेपर वह यह कह सकता है कि मैं तो परीक्षा कर रहा था कि आपमें क्रोध भी आ सकता है या नहीं। बहुत से सचमुच हमारी परीक्षा लेने के लिए क्रोध कराने का प्रयत्न करते हैं। अतः परीक्षा को ठीक रखना और मन में क्षोभभाव को नहीं लाना। अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभाव को कारणरूप से उपादान करके ज्ञानोपयोग का परिणाम होना सो उत्तम क्षमा है। अपनी दृष्टि निर्मल बनाओ, विशुद्ध एक ध्येय बना लो, फिर स्वव्यवसाय चल उठेगा, फिर कोई शक्ति विचलित नहीं कर सकेगी।

असमर्थ प्राणियों के दोषों की क्षमा को महनीयता—जहं असमर्थहं दोष खमिज्जई—दोष वहां नहीं है जहां असमर्थ पुरुषके दोषोंको क्षमा कर दिया जाता है। एक बार कोई बादशाह शिकार खेलने जंगलमें गया। साथ में मन्त्री भी गया। एक हिरणी के पीछे उसने दौड़ लगाना शुरू कर दिया। हिरणी कुछ तो दौड़ी और बाद में उसने सोचा कि हम बच थोड़े ही सकती हैं, सो एक दयाभरी निगाह से बादशाह को देखने लगी, खड़ी हो गई, वहां से न हटी। बादशाह मंत्री से कहता है कि देखो यह हिरणी अपने प्राण गंवाने के लिये यहां खड़ी हुई है। मन्त्री बोला—महाराज यह हिरणी आपसे दया चाहती है। यह निवेदन कर रही है कि मेरे बच्चे दो दिन से बिना दूध पिये हुये भूखे पड़े हुये हैं। उन्हें मैं दूध पिला आऊं और फिर इसी जगह अपने प्राण देने के लिये आ जाऊंगी। बादशाह बोला—यह कैसे हो सकता? मन्त्री ने कहा महाराज एक बार देख लो क्या हर्ज है? बहुत से शिकार हैं, दूसरे को मार डालना। देख तो लो कि आखिर भाव ठीक हैं कि नहीं? कहा—जाओ, अपने बच्चों को दूध पिला आओ। दौड़कर अपने बच्चों के पास पहुंची। अपने बच्चों से कहा—ऐ बच्चों! जल्दी दूध पियो, मैंने शिकारी से वायदा किया है, तुम्हें दूध पिलाने के लिए शिकारी ने छोड़ दिया है। बच्चों ने कहा—जाओ, जल्दी जाओ, हमें दूध नहीं पीना है, तुम जल्दी जाओ, कहीं तुम्हारा बचन भंग न हो जाय। एक दिन हमने दूध पी लिया तो उससे क्या होगा? तुम जल्दी से शिकारी के पास पहुंचो। हिरणी तुरन्त उसी स्थानपर शिकारी के पास पहुंची। बादशाह ने यह देखकर अपने हथियार डाल दिये और यह प्रण किया कि अब किसी भी प्राणी को न सतायेंगे। जहां असमर्थ व्यक्तियों पर द्वेष नहीं किया जाता है उसे उत्तम क्षमा कहते हैं। यह तत्त्व आत्मा में भर लिया जाय तो बहुत काम देगा।

उपशम भाव से भव्य सृष्टि—इन लौकिक जीवों को इस जगत से मरण होने के बाद कौन रचना करता है कि मनुष्य बन जाय या पशु पक्षी बन जाय? ये भाव ही रचना करते हैं। जीवन में सद्भाव हो, क्षमा का परिणाम हो तो उससे ऐसी सृष्टि होगी कि जहां मन भी गायब हो जायगा। असंज्ञी जीवों में जन्म होगा। यह अपने सद्ब्यवहारों पर निर्भर है। देखो भैया! क्रोध से कर्म बंध होता और अपने आपमें आकुलता बढ़ाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता, किन्तु क्षमा से स्वयं और अन्य भी सुखी रहते हैं। यह उत्तम क्षमा तो क्रोध के अभाव से ही पैदा होती है। क्रोध करके कोई चाहे कि मैं क्लेश से छूट जाऊं यह असम्भव है, उत्तम क्षमा ही जन्म-मरणरूपी संसार से छुटकारा दिलाने वाली है। कोई क्रोध करके इस संसार से तिरने वाला नहीं है। क्रोध तो ब्रत, संयम, तप, चारित्र्य सब गुणों पर पानी फेर देता है, ब्रत, संयम, चारित्र्य दुनिया का परोपकार आदि सर्व गुण क्रोध के साथ नहीं रहते। इसके विपरीत उत्तम क्षमा दुर्गति के दुःखों को हरने वाली है और रत्नत्रय की रक्षा करने वाली है।

जहि आकोसण वयणि सहिज्जइ,
जहि परदोसु ण जणि भासिज्जइ ।
जहि चैयणगुणचित्ता धरिज्जइ,
तहि उत्तमखम जिणें कहिज्जइ ॥

आक्रोशवचन सहन व परदोषाभाषण में उत्तमक्षमा की ज्योति—उत्तम क्षमा वहां होती है जहां दूसरों के गालीगलौज के वचन भी सह लिये जाते हैं। उत्तम क्षमा वहां पर है जहां दूसरों के दोषों को कहीं मनुष्यों में कहा नहीं जाता। जब इतनी आत्मा की तैयारी होती है तब यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना अस्तित्व लिये हुये हैं। उनके गुण पर्याय उन्हीं में हैं। किसी पदार्थ से किसी अन्य पदार्थ में कोई बाधा नहीं पहुंचती है। कोई पुत्र इस विविक्त आत्मा को दुःख नहीं पहुंचाता है। किसी आत्मा में किसी भी दूसरी आत्मा का कोई दखल नहीं है। हम अपने आपमें ही रहते हुए अपने परिणामों को, अपनी तकदीर को बनाते रहते हैं। जिसको पदार्थों के सत्यस्वभाव का ज्ञान हुआ वह मनुष्य अपनी उन्नति के काम का प्रयोजन रखता है। वह दूसरों की प्रवृत्तियों से अपने आपके उद्देश्य को नहीं बदलता। भैया! हमें चाहिये कि कोई हमें कुछ कहे, गाली दे, हमें सब बातों को पी जाना चाहिए अर्थात् उपेक्षा कर देनी चाहिए अर्थात् अब लोगों की प्रवृत्ति की उपेक्षा कर देनी चाहिए या फिर इस तरह से पी जाना चाहिए कि फिर यहां परिणाम द्वेष को प्राप्त नहीं हो सकें। कुछ दिनों का ही यह जीवन है। फिर किसी से विरोध क्यों पैदा करना? इस थोड़े से नर-जीवन को पाकर चैतन्य भगवान, जो निर्मल आत्मा में विराजमान हैं, उसको निर्मल बनाओ। जिनके किसी भी पदार्थ का विषय लेकर क्रोध भाव रहता है, ऐसी जगह भगवान का स्वरूप कभी विराजमान नहीं होता। क्रोध अग्नि के समान माना गया है। वह अग्नि के समान नगरियों तक को भी जला दिया करता है। वह क्रोध महती आग है। जो भी उसके तेजस्व के रूप में आता है, उसको वह भस्म कर देता है। साधु में रहने वाले क्रोध का स्वरूप बताया गया है कि चाण्डाल जैसी चीज साधु में कोई है तो वह क्रोध है। साधु अपने आपकी सुध नहीं रखता, यदि क्रोध उसके पास हो। अतः जिस प्रकार भी अपने चैतन्यस्वभाव की सुधपूर्वक जो क्षमा आवे वही उत्तम क्षमा है। ऐसी क्षमापरिणति को धारण करो।

परदोष के अभाषण में विपदा का परिहार—एक किसान और किसानिन थे। किसान तो उजड़्ड और किसानिन थी शांत। १०-१२ वर्ष दोनों को घर में रहते हुए हो गए थे, पर किसान उसे पीट न सका था। उसके मन में यह चाव सदा रहता था कि कभी तो इसके दो चार मुक्के लगायें। पर उसे कभी मौका नहीं मिल सका। एक बार आषाढ़ के दिनों में दोपहर के समय किसान खेत जोत रहा था, और वह स्त्री रोज रोटी देने उसी समय आती थी। किसान ने जोतना बंद कर दिया और एक बैल को पूरब की तरफ मुंह करके जोत दिया और एक बैल को पश्चिम की तरफ मुख करके जोत दिया और हल को फसा दिया। सोचा यह अनहोनी घटना को देखकर स्त्री कुछ न कुछ तो कहेगी ही। ऐसे ही बच्चों का पालन-पोषण हो जायगा, ऐसे ही काम चल जायगा, कुछ न कुछ तो बोलेंगी ही, बस हमें पीटने का मौका लग जायगा। वह स्त्री रोटी लेकर आयी और दूर से ही देखकर समझ गई कि आज हमें पीटने के ढंग हैं। वह आयी और बोली चाहे सीधा जोतो चाहे आँधा, हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं है। हमारा काम तो केवल रोटी देने का था सो लो। यह कहकर रोटी देकर वापिस चली गई। फिर भी किसान पीट न सका, सोचता ही रह गया। भैया! हमें भी ऐसा सोचना चाहिये कि कोई भी पदार्थ चाहे उसके अनूकूल परिणामे चाहे प्रतिकूल, हम उसमें क्या कर सकते हैं और मेरा उससे सुधार बिगाड़ ही क्या? वह तो अत्यन्ताभाव वाला पदार्थ है। इस प्रकार की श्रद्धा रखने वाले ज्ञानी जीव कठिन से कठिन उपसर्ग आनेपर भी अपने ज्ञानस्वभाव में सन्मुख रहता है, मैं भी तो ज्ञानस्वभावी ही हूँ। अतः कोई कितना भी उपसर्ग करे, मैं निज ज्ञानस्वभाव से क्यों

चिन्तित तथा हमारी ओर से यदि शान्त प्रवृत्ति रहेगी तो उसका भी क्रोध हमपर रह नहीं सकता। तत्तन्ज्ञानपूर्वक शान्ति होना उत्तम क्षमा है। ज्ञानी जन अपनी उत्तम क्षमा को नहीं खोते। जहाँ क्षमाभाव आ गया, वहाँ उसे चिन्तामणि मिल गया। जिसके होते जो विचारो सो मिल जाये वह चिन्तामणि कहलाता है। जिसके होते जो सोचे वही मिल जाये ऐसा चिन्तामणि कोई पत्थर है क्या? नहीं। चेतन्यभाव की दृष्टि का नाम ही चिन्तामणि है। ज्ञानस्वभावदृष्टि होनेपर जगत में कोई इच्छा नहीं होती, तब सभी मिल गया, सो यह उत्तम क्षमा चिन्तामणि है।

उत्तमक्षमा से मन की स्थिरता व सम्मान्यता—उत्तम क्षमा से ही स्थिर मन होता है। क्रोध होनेपर मनमें स्थिरता नहीं रहती है। तभी तो कहते हैं—कहींका कोई ऐसा पत्र आवे कि जिसको पढ़ने से क्रोध पैदा हो जावे तो उसका उत्तर कल लिखो। इसका कारण यह है कि क्रोधभाव में योग्य क्रिया नहीं हो सकती। क्रोधभाव मनको स्थिर नहीं होने देता। क्रोधी का कोई सरकार नहीं करता। उसको सब लोग टालते हैं, उपेक्षा करते हैं और सम्मान नहीं करते। दृष्ट अनिष्ट बुद्धि ही क्रोध लाती है अतः किसीको दृष्ट मत समझो, क्योंकि कुछ दृष्ट समझनेपर उसके बाधकपर क्रोध आया करता है। जब किसी भी पदार्थ में दृष्टबुद्धि ही न करोगे फिर क्रोध आयेगा कैसे? अर्थात् दृष्टबुद्धि न रखने पर क्रोध आयेगा ही नहीं। क्रोध से इहलोक परलोक दोनों में ही हानि होती है, किन्तु क्षमा से दोनों लोकों में शान्ति रहती है और लोकप्रमण से जल्दी ही छूट जाता है। उत्तम क्षमाशील लोगों की तीनों लोकों में पूजा होती है। यह उत्तम क्षमा मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सर्व ज्ञानधारी मुनि की तरह है। जिसमें उत्तम क्षमा है उसमें मिथ्यात्व का अन्धकार नहीं रहता।

विवेक से निर्मलता का लाभ—अपनी आत्मा को जगत में एकाकी समझो, मित्रता-शत्रुता की कल्पना मत करो, किसी को दुःख आपके निमित्त से हुआ हो तो चाहे वह छोटा ही हो, उसके पास जाकर उसका दिल साफ कर दो। कहो कि मेरे से बड़ी गलती हुई है मुझे क्षमा कर दो और अपने विषय में ऐसा सोचो कि यदि कोई मेरा दोष बखानकर सुखी होना चाहता है तो सुखी रहे। कोई गालीगलौज देकर सुखी होना चाहता है या धन लेकर सुखी होना चाहता है, होवे। किसी भी प्रकार वह जीव सुखी हो, परन्तु मेरे निमित्त वह दुःखी नहीं होना चाहिये। यदि किसी आधार से ज्ञात हो—कोई पीठ पीछे हमारी बुराई भी कर रहा था तो करे, परोक्ष में ही तो कर रहा था, सामने तो नहीं कर रहा था। जिस परिवार में सब ही लोगों की ऐसी प्रवृत्ति हो वह परिवार सुखी ही रहता है। क्षमाशील व्यक्ति का हर एक कोई सम्मान करता है। आगरे के भगवतीदास जी थे। उन्हें एक आदमी ने आकर कहा कि आपके लिए अमुक आदमी ऐसे कह रहा था। उन्होंने उत्तर दिया कि वह कह रहा था या नहीं, कह रहा था मुझे पता नहीं, परन्तु तुम तो मेरे सामने ही कह रहे हो। अतः सोचना चाहिये कि कोई कुछ भी करे, परोक्ष में ही तो करता है, सामने तो नहीं करता। सामने भी कहे तो अपनी जीभ ही तो चला रहा है, पीटता तो नहीं, यदि पीटे भी तो उससे शरीर का ही तो आघात है प्राण तो नहीं लेता, प्राण भी ले तो सोचते हैं मेरे रत्नरथ रूप अंतरंग का तो आघात नहीं करता अर्थात् भावप्राण तो नहीं ले रहा है, द्रव्यप्राण ही तो ले रहा है, जो त्रिकाल रहते नहीं हैं। इस तरह ज्ञानी शुद्ध अन्तर्ज्ञेय में ही परिणमते रहते हैं। वह मेरे अन्तर्ज्ञेय को तो कुछ क्षति नहीं पहुंचाता। यह बात सुनकर कोई भाई मनमें हंस भी सकते हैं, परन्तु भैया जी जब ज्ञानदृष्टि हो जाती है तो ज्ञान-स्वभाव की निर्मलता ही प्रिय होती है।

कष्टे प्राणानुपेक्षन्ते ज्ञानं रक्षन्ति योगिनः।

ज्ञानं स्ववृत्तित्ता तस्मात्स्यां स्वस्मं स्वे सुखी स्वयम् ॥

असमर्थ के अपराधों की क्षमा से अपना विकास—उत्तम क्षमा वहाँ प्रगट होती है जहाँ असमर्थों के दोषों को भी क्षमा कर दिया जाय। असमर्थ ने यदि दोष किया है तो उसको भी क्षमा कर देवे। यहाँ भी बड़े-बड़े

लोगों की ऐसी ही प्रकृति होती है कि छोटे-छोटे लोगों से, सेवकों से अपराध बन जाय तो उसे क्षमा कर देते हैं। आज वैसे ही आजानी है। नौकरपर गुस्सा करोगे तो वह कहेगा बाबू जी लो यह रखी आपकी नौकरी, और यदि आप उसे क्षमा कर दो तो वही तुम्हारा सेवक हो जायगा। असमर्थ तो वह है ही, अब उसके दोषों को क्या अपने में लगाए रखना? उसको क्षमा कर देना। बनारसीदास जी राजदरबार में जा रहे थे। वह रास्ते में पेशाब करने बैठ गये। वहां पर पहरा देने वाले सिपाही ने उनके एक थप्पड़ लगा दिया। बनारसीदास ने उसे कुछ नहीं कहा और उन्होंने अपना नम्र नोट कर लिया। फिर दरबार में जाकर राजा से कहा कि अमुक नम्बर के सिपाही को बुलाओ। सिपाही आया तो उसने बनारसीदास जी को दरबार में देख लिया और थर-थर कांपने लगा। सोचा अरे ये तो वे ही हैं जिनको मैंने थप्पड़ लगाया था, पता नहीं आज मेरा क्या होने वाला है? बेचारा कांपने लग गया। बनारसीदास जी ने उससे पूछा, “तुम्हें कितना वेतन दिया जाता है?” उसने समझा, अवश्य मेरा वेतन कम किया जायगा। उसने डरकर कहा, “१० रुपये।” तब उन्होंने राजा जी से कहा कि राजन्! इसके दो रुपये बढ़ा दीजिये। सिपाही ने सोचा कि कहीं ये मजाक तो नहीं कर रहे हैं। बनारसीदास जी ने फिर कहा कि यह सिपाही बड़ा ईमानदार है। मैं रास्ते में लघुशंका करने बैठा तो अपनी ड्यूटी का पक्का निकला और मुझे रोक दिया। क्षमाशील पुरुषों की ऐसी बातें होती हैं। एक जयपुर का किस्सा लीजिये। अमरचन्द जी दीवान थे। ऐसा ऐलान राजदरबार से हुआ कि शेर को वे खाना खिलायेंगे। शेर मांस खाता था और अमरचन्द जी जैन थे, इसलिये मांस खिला नहीं सकते थे। उन्होंने जलेबी से भरा थाल मंगवाया और थाल लेकर पिंजड़े में खुद ही घुस गये और शेर से बोले—हे बनराज? यदि आपको मांस ही खाना हो तो मैं आपके सामने खड़ा हूँ, खा लो और पेट ही भरना है तो जलेबी को खा लो। यह कहनेपर शेर ने वे जलेबी ही खा लीं। दर्शकों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

आत्मदर्शी तत्त्वज्ञ पुरुष के क्षमा की सुरम्यता—जिन्होंने आत्मस्वरूप जाना और उसी को सबमें निरखा, उनसे सबकी मित्रता ही रहती है। इसलिये ही कहा है कि क्षमाशील पुरुष हमेशा सुखी रहते हैं और जिनके क्षमा नहीं है वे सदा दुःखी रहते हैं। ऐसे क्रोध से कोई लाभ नहीं जो स्वयं को दुःखी करे। क्षमा वह कहलाती है जहां अक्षमर्थों पर भी क्रोध नहीं किया जाता। उपद्रुत होनेपर भी ज्ञानस्वभाव से चिगना नहीं हुआ वह कहलाती है उत्तम क्षमा। अन्य के दोषों को क्या देखते हो, जो क्रोध हो रहा है इस अपने महान् दोषों को क्यों नहीं देखते? स्वयं में जो औषाधिक दोष है, उसे दोषरूप समझ लेना क्षमा की अनुग्रहपूर्वक दृष्टि पाने का मंगलाचरण है। क्षमा वहां मिलती है जहां चैतन्य गुण में चित्त बसा रहता है। अतः उत्तम क्षमामें भगवान् का वा-ना है। उसकी आराधना करो और मोक्षमार्ग में लगे। अपने आपमें चैतन्यस्वभाव की दृष्टि रखे रहो। उत्तम क्षमा धारण करने वाले के आत्मस्वभाव में स्थिरता होने से स्वभाव का निरुषाधिक स्वच्छ विकास होता है और पूर्ण विकास होनेपर स्वयं शांत बुद्ध शिवस्वरूप भगवान् हो जाता है। यह उत्तम क्षमा आत्मा का रूप है। इस स्वरूप में यह आत्मा है। इसी आत्मा की वह क्षमा पर्याय है। उत्तम क्षमा कहीं बाहर से लाने की चीज नहीं, अपने स्वरूप में रहि व लक्ष्य करो, विभाव से मुख मोड़ो, क्षमा सुतरां आवेगी। ऐसी उत्तम क्षमा को धारण करो। जिसके उत्तम क्षमा होती है उसे मनुष्य भी, देव भी सभी नमस्कार करते हैं। यह तो मात्र लौकिक चमत्कार है, तात्त्विक फल शाश्वत सत्य शान्ति है। ऐसी क्षमा सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होती। अतः तत्त्वज्ञानपूर्वक सम्यग्दृष्टिको उत्तम क्षमावान् रहना चाहिये।

गुणग्राहिता का महत्त्व—भैया! परवस्तुओं के परिणमन को निरखकर उनके ज्ञाता दृष्टा रहने का साहस बन जाय, यह बड़े ऊँचे महत्त पुरुषों का काम है। पर ये महत्त पुरुष कहीं से टपककर नहीं आते। एक अपने स्वरूप का पता होने से ही महत्त पुरुष बनते हैं। हम अपने सब गुणों का आदर करें तो महान् बन सकते हैं और ऐसे महान् बनने के लिये अपने जीवन में एक साधन करना होगा भैया, कि हम प्रत्येक मनुष्यों के गुणों को तो निहारें

और उनके गुणों को देखकर अपने में अमोघ भावना बनायें कि हे भाई ! आप अपने गुणों को देखकर महान् बन गये हो, हमें भी अपने गुणों को पहिचानकर महान् बनना है जिसकी रचि होती है उसकी उसपर ही शक्ति पहुँचती है । जिस मनुष्य के दोषों का परिणाम है वह सर्वत्र ही दूसरों के दोषों को तकेगा और जिसके गुणों का परिणाम है वह सर्वत्र दूसरों के गुणों को ही तकेगा । यह अपने उद्धार का एक मूलमंत्र है । लोटा किस किसका छानोगे ? एक अपने ही परिणाम को उत्तम दृष्टि में बना लो तो अपना उद्धार हो जायगा ।

चित्त में आत्मगुणों का वास होनेपर उत्तम क्षमा का अम्युदय—जहं चेतनगुण चित्त धरिज्जहं—उत्तम क्षमा वहां होती है जहां चेतन गुण अपनी चेतना में धारण किया जाता है । नई ही तो कथा थी भैया—भगवतादास जी आगरा के ही रहने वाले थे । उनसे यदि कोई कहे कि आपको देखो अमुक आदमी इस इस तरह से गाली दे रहा था । तो वे उत्तर देते थे कि वह गाली देता हो या न देता हो, पर तुम तो हमारे सामने ही गाली दे रहे हो । उत्तम क्षमा वहां होती है जहां चित्त में आत्मगुण बसता है ।

इह उत्तमखमजुय णरसुरखगणुय केवलणाणु लहेवि थिरु ।

हुय सिद्ध णिरंजण भवदुहभंजणु अगणिय रिसिपुंगव जि थिरु ॥

इम प्रकार उत्तम क्षमा से युक्त मनुष्य, देव और विद्याधरों से वंदित होता हुआ, भव को नाश करने वाले केवल गुणों को प्राप्त करता है और सदा के लिए संसार से मुक्त हो जाता है ।

आत्मा के नाते धर्म, चर्या आदि के निर्णय के यत्न में सत्य निर्णय की संभवता—संसार का प्रत्येक प्राणी सुख शान्ति चाहता है और जितने भी प्रयत्न करता है वह सुख शान्ति के लिए ही करता है, किन्तु सुख शान्ति अब तक मिली नहीं उसका कारण क्या है ? सुख शान्ति कैसे प्राप्त हो यह विषय सबको भली-भांति समझ लेना चाहिए । जो कुछ बात हो, चर्चा हो, अध्ययन हो सबको आत्मा के ही नाते से सुनो तो आत्मा में बात बनेगी और यदि ऐसे नाते लगाकर सुनें कि मैं अमुक हूँ, मुझे सुनना चाहिए, मैं अमुक जाति का हूँ, अमुक कुल का हूँ, ऐसी पोजीशन का हूँ आदि, तो उससे कुछ लाभ न मिलेगा । भीतर में एक ऐसी बुद्धि रखकर सुनें कि मैं जीव हूँ, सुख दुःख पाता रहता हूँ, मुझे तो ऐसा उपाय जानना है कि मेरे दुःख दूर हों, मैं सुखी होऊँ और मुझे वास्तविक शरण की प्राप्ति हो । यह उद्देश्य यदि बन गया तो सब बातें बड़ी सुगमता से समझ में आ जायेंगी । आज अनेक प्रयत्न करनेपर भी सुख शान्ति नहीं प्राप्त कर पा रहे तो उसका कारण क्या है ? उसका कारण है ५ प्रकार के परिणाम—भ्रम, क्रोध,मान,माया, लोभ । भ्रम के मायने यह है कि जो बात जैसी नहीं है उसे वैसी न मानें । ये सारे दुःख इस भ्रम के ऊपर डटे हुए हैं । भ्रम दूर हुआ कि दुःख भी दूर होने लगता है । यह अपनी बात है, अपने आपके अन्दर-समझ में आने वाली बात है । खुद के भीतर खुदको निरखना है इस ढंग की तैयारी करके अपनी बात समझिये । दुःख का कारण है भ्रम । भ्रम क्या ? जैसे कि यह देह तो मैं नहीं हूँ, मैं तो हूँ एक चैतन्यस्वरूपमात्र आत्मा, पर मानें कि यह मैं हूँ, बस यही भ्रम सारे दुःखों का कारण बन जाता है । ऐसी ही और-और भी बातें मानें कि मैं ऐसी पोजीशन का हूँ, ऐसा ठाठ-बाठ झाला हूँ आदिक, ये सब भ्रम की बातें हैं । मैं एक ज्ञानमय पदार्थ हूँ । सुख शान्ति प्राप्त करने के लिए एक बद्धा ही साहस बनाना होगा कि मेरा इस संसार में कहीं कुछ नहीं है । ये दिखने वाले बाह्य पदार्थ सब मायारूप हैं, इनसे मेरा कोई सम्बंध नहीं, इनसे मेरा कुछ भी सुधार बिगाड़ नहीं । मुझे ये कोई भी बाह्य पदार्थ न चाहिए । मुझे तो बस एक अपने आत्मा की शान्ति चाहिए । ऐसा जिसने महान संकल्प किया हो वही शान्ति पा सकेगा । तो समस्त दुःखों का सर्वप्रथम कारण है भ्रम । इस भ्रम के कारण यह जीव अपने आपका कुछ भी सही निर्णय न कर पायगा, और जब तक अपने आपका सही निर्णय नहीं होता तब तक

ये क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक धर्म टिक नहीं सकते। तो अपने आपमें इस क्षमाभाव को विराजमान करने के लिए सर्वप्रथम अपने आत्मा के अस्तित्व का निर्णय करें।

जीव के अस्तित्व के निर्णय के आधारभूत छह साधनों का निर्देशन—मैं एक जीव हूँ, इसका पहिला एतद् यही निर्णय है कि जितने शब्द हैं, जितने पद हैं उनका वाच्य-अवश्य है। चाहे वह बाहर हो, कहीं हो, कोई कहे कि आकाश का फूल कहां है? अरे आकाश तो है, फूल तो है। अरे आकाश न होता, फूल न होता तो ये शब्द कहां से आ जाते? जितने शब्द ये कहे जाते हैं वे यह साबित करते हैं कि हां है कुछ। जीव को समझने के लिए अधिक क्या कोशिश करना? बड़ी आसानी से समझ में आ जाता है। समन्तभद्राचार्य स्वामी ने आप्तमीमांसा में कहा है कि जीवशब्दः स बाह्यार्थः संज्ञत्वाद्धेतु शब्दवत्। जीवशब्द बाह्य अर्थसहित है याने जीव शब्द जीव अर्थ का वाचक है, क्योंकि यह संज्ञा है हेतु शब्द की तरह। तो पहिले शब्द ही बताते हैं कि हां है जीव। यह बात इसलिए कही जा रही है कि हम अग्य लोग दुःखी तो होते जाते, पर यह नहीं जान पा रहे कि वास्तव में दुःखी कौन हो रहा और क्यों हो रहा? एक बाहर-बाहर ही अपना उपयोग करके दुःख भेटने का प्रयत्न कर रहे हैं। सबसे पहिले तो आप इस बात का निर्णय कर लीजिए कि मैं एक जीव हूँ या नहीं? जीव भी कोई चीज है या नहीं? ...अरे जिसे यह समझ बन रही, बस वही तो जीव है। ये पत्थर खम्भा आदिक चीजें पड़ी हैं, ये तो ऐसा नहीं सोच पाते कि मैं दुःखी हूँ। तो पहिले यह सोच लो कि मैं हूँ या नहीं। मैं जीव हूँ या नहीं? जीव भी कोई चीज है क्या? अरे इस प्रकार का कुछ भी जो सोच रहा हो वही जीव है। जीव को समझने में कोई अधिक कठिनाई नहीं है, किन्तु समझना न चाहे तो उसके लिए कठिन है और असम्भव है। हम जब देखते हैं दुनिया में पशु पक्षी आदिक अनेक शरीर तो हम अंदाज लगा लेते कि यह जीव है। कौन नहीं समझता कि यह जीव है? देखो जब किसी कुत्ते को या गाय, भैंस आदिक को कोई मारता है तो लोग कहने लगते कि अरे क्यों मारते हो इस बेचारे को? और कोई भीत को मार रहा हो उससे कोई नहीं कहता तो क्या उसकी समझ में यह बात नहीं है कि यह जीव है? जीव की बात समझना कोई कठिन बात नहीं है। अच्छा चलो—जो यह कहते कि मैं जीव नहीं हूँ तो कहने वाला कौन? जो मना कर रहा वही जीव। जीव को सिद्ध करना भी क्या कठिन है? कठिन तो थोड़ा यह है कि भली-भांति जान लें कि यह मैं जीव अपने आप सहज कैसा हूँ? वह समझ में आ गया तो समझ लीजिए कि परमात्मा समझ में आ गया, ईश्वर समझ में आ गया, सारी समस्याएँ हल करने की विधि आ गई। वह बात कही जायगी अवसर पाकर, पर यह ध्यान दीजिए कि जीव जरूर है और यह मैं जीव हूँ। इस मुझको अपने दुःख दूर करना है, इसमें ही हमारा हित है। यदि इन मोह ममता की ही बातों में पड़ें रहे तो यह ही जन्म मरण उसका फल है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अपनी मानी हुई इज्जत की कुर्बानी करनी होगी। कोई अपन चित्त में ऐसा समझे कि मैं अमुक हूँ, ऐसी पोजीशन का हूँ, लोक में मेरा ऐसा स्थान है, ऐसी बातपर जो ध्यान देता हो उसे भीतर का परमात्मा दिख नहीं सकता। बड़ी कुर्बानी के साथ अपने आपके मोक्ष के मार्ग में आयेगे तो ऐसा रास्ता मिलेगा कि सदा के लिए हमारा दुःख दूर हो जायगा। जीव की बात कह रहे। जीव को कौन नहीं जानता? भला जो बड़े-बड़े वैज्ञानिक लोग हैं वे इस जीव के द्वारा जो अश्वु बहाने आदि के कार्य दिखते हैं उन्हें बनाकर दिखा तो दें। यद्यपि मूर्तियां तो ऐसी ऐसी बना देते हैं कि वे सचमुच के मनुष्य (स्त्री, पुत्र, बालक आदिक) लगते हैं, पर उनके निकट जाकर देखो तो वे पत्थर की जैसी अचेतन, जड़, नजर आती हैं। तो इस जीव को कौन नहीं पहिचानता? अब अपने आपके जीव को पहिचनना है और यह समझना है कि मैं वास्तव में जीव कैसा हूँ? यदि यह बात भली-भांति समझ में आ गई तो समझ लो कि हमें दुःखों से दूर होने की एक दिशा मिल गई।

जीव के अस्तित्व के निर्णय के आधारभूत अन्य तीन साधनों का प्रकाशन—भैया ! अपना ऐसा

ही उद्यम करना है कि कोई ऐसा काम बना लें कि फिर भविष्य में बड़े आराम से रहें, कोई तबलीफ न उठानी पड़े, इसके लिए क्या आप तैयार बैठे हैं? अपनी यात्रा तो देखो—कोई मनुष्य—जिन्दगी ही पूरी यात्रा नहीं है। एक यह मनुष्यभव भिट गया तो क्या आप भिट गए? अरे अभी तो अनन्त कालकी यात्रा सामने लगी है। जो है उसका अभाव नहीं है, ऐसा तो सभी लोग कहते हैं। अस्तु का कभी रुद्धभाव नहीं होता और स्तु का अभाव नहीं होता। तो यह मैं आप जीव कभी मिटेगा नहीं। तो मेरे को भविष्य में किस तरह रहना चाहिए? यहां तो लोग इस १०-२०-५० वर्ष के जीवन के लिए सब प्रकार की सुविधायें बनाने की चिन्ता करते, उतने ही जीवन को अपना जीवन समझते, उसके आगे के अनन्तकाल के लिए जो समय पड़ा हुआ है उसका कुछ भी नहीं सोचते। देखिये अब दशलक्षण धर्म के दिन हैं, इन दिनों और सब बातों की तो उपेक्षा कर दीजिए, एक धर्मपालन की ओर मुद्यता से ध्यान दीजिए। धर्मपालन की विधि ही ऐसी है कि उसकी धुन अच्छी बने, सत्संग में रहें, स्वाध्याय करें, मनको संयत बनायें तब यह बात मिल पायगी कि ये दुःख न रहेंगे। हां तो पहिले जीव की बात देखो, जीव का अस्तित्व ऐसे भी लोग समझ सकते जो जाति स्मरण की बातें अनेक जगह सुनते हैं, देखते हैं। अखबारों में तो ऐसी बहुतेसी घटनायें निकला करती हैं कि अमुक ने अपने पूर्व भव की बातें बतायीं। आप लोगों ने भी ऐसी अनेक घटनायें देखी भी होंगी। तो वह बात क्या हो नहीं सकती? अरे हो सकती है। यह जातिस्मरण की बात भी यह सिद्ध करती है कि जीव है। अच्छा आप यह बतलावो—अगर पूर्वभव में जीव न होता तो ये जो बच्चे उत्पन्न होते हैं वे उत्पन्न होने के साथ ही अपनी मां का स्तन चूसने लगते हैं। उन्हें यह बात किसने सिखा दी? अरे उनके पूर्वभव में भी ऐसी आहार करने की संज्ञा थी इसलिए वह तुरन्त ही बिना सिखाये ही सारी क्रियायें करने लगता। यहां तो किसी को कोई काम सीखना होता है तो उसे सीखने में काफी समय लगता है। बड़े काम सीखने की तो बात छोड़ो, छोटे-छोटे काम सीखने में भी काफी समय लगता है। जैसे गुरु जी (धुल्लक गणेशप्रसाद वर्णा जी) सुनाते थे कि बहुत से लोग लोटे में पानी भरकर लोटे को बिना मुख में अड़ाये, यों ही ऊपर से पानी की धार मुख में डालते रहते हैं और पीते रहते हैं, उससे लोटा जूठा नहीं होता। तो हमने (धुल्लक गणेशप्रसाद वर्णा जी ने) सोचा कि हम भी इस तरह से पानी पीना सीखें, तो उसे सीखते-सीखते एक माह लग गया था। बताओ इतने बड़े पुद्ग को और इस छोटीसी बात को सीखने में एक महीना लगा, तब फिर उस पैदा हुए बच्चे को दूध मुख से पीने, उसे घूँटभर पेट तक ले जाने की कला सीखने में कितना समय लगना चाहिए था? पर कहां अधिक समय लगता, वह तो तुरन्त ही अपनी मां के स्तन से दूध पीने लगता है। तो इससे यह निर्णय करलो कि जीव है और उसके साथ पिछले भवों के संस्कार लगे हैं। इस जीव का (आत्मा का) निर्णय किए बिना कोई धर्म के मार्ग में आ नहीं सकता। भले ही कोई कोई थम बढ़ा अधिक कर डाले, प्रयत्न बहुत-बहुत कर डाले। इस तरह से धर्मपालन करने का पर उससे कुछ वास्तविक लाभ न मिल पायगा, मोक्षमार्ग न मिल पायगा, संसार के दुःखों से छूटने का उपाय न मिलेगा जब तक मैं अपने आत्मा के सत्यस्वरूप को न समझूँ। वैसे तो यदि कठिन विपत्ति की स्थिति आ जाय तो झट समझ में आयेगा कि हां है भगवान और भगवान को पुकारने लगेगा, अपने में क्लेश अनुभव करने लगेगा। पर जरा आराम में, शान्ति से ही आत्मा को जान लो। आत्मा का निर्णय कर लेना एक बड़े महत्त्व की चीज है। जो बड़े-बड़े दार्शनिक ग्रन्थ हैं उनका भी माध्यम यही है। आत्मनिर्णय करने के बाद आत्महित की बात अधिक सोची जा सकती है।

क्षमा से आत्मगुणों का विकास—आज उत्तम क्षमा का दिन है। क्षमा क्या चीज कहलाती है और उस क्षमा का इस आत्मा के कल्याण के लिए कितना सहयोग है? जिसने आत्मतत्त्व का निर्णय किया, वास्तव में क्षमा बही कर सकता है और जिसने नहीं जाना आत्मा को फिर भी अपनी शक्तियों के अनुसार क्षमा का अगर वातावरण उसके रहता है तो उसका जीवन शान्त और सुखी रहता है। क्षमा कहते हैं क्रोध न होने को। किसी जीव

ने अवरतः क्रिया, तुरन्त क्रिया हो या पहिले क्रिया हो, विकार न आ सके चित्त में, उसके विनाश की भावना न आ सके चित्त में, ऐसे परिणाम को क्षमा कहते हैं। देखो क्षमा करने में तत्काल भी आत्मा में आनन्द आ जाता है। जो कोई जो कुछ करता है वह अपने लिए करता है। यदि आप क्षमा की आदत बना लेंगे तो उससे आपको भी सुख मिलेगा और दूसरा भी सुखी हो जायगा। क्षमा वीरों का आभूषण है, कायरों का नहीं। क्षमा करने से फायदा मिलेगा खुद को। आत्मनिर्णय करने के बाद यह सोचें कि मेरे आत्मा की भलाई किस बात में है? क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चारों कषायों के दूर करने में अपनी भलाई है। यह बात कोई अधिक समझाने के लिए नहीं है, क्योंकि सब समझते हैं कि क्रोध में कितना अनर्थ हो जाता है। जो क्रोध करता है उसके क्रोध में पसीना तक आ जाता है, स्वयं आकुलित हो जाता है, दुःखी हो जाता है। तो अपना दुःख दूर करने के लिए, अपने पर दया करके इस क्षमाभाव को अपनाना चाहिए, अपनी ऐसी प्रकृति बतावें। वस्तुतः देखो—मेरेको तो कोई जानता ही नहीं, मैं तो एक चैनन्यस्वरूप हूँ, हम मुझको तो कोई जानता भी नहीं। कोई इस शरीर को देखकर अगर गाली देगा या प्रशंसा करेगा तो उससे मेरे में बिगाड़ क्या अथवा सुधार क्या? प्रशंसक अथवा निन्दक दोनों के प्रति समता की दृष्टि रहे। बल्कि उस निन्दक को तो अपना परममित्र समझ लो, क्योंकि वह बेचारा तो अपना खुद का सारा बिगाड़ करके, नुकसान करके मेरे दोषों को निकाल रहा है। तो सब जगह यही भावना रहे कि मेरे लिए सब जीव एक समान हैं, न कोई मेरा शत्रु और न कोई मेरा मित्र। सब जीवों के प्रति सुखी होने की भावना रहे। आप इस बात का अन्दाज कर लें कि यदि आप किसी जीव को दुःखी करने का विचार करते हैं तो आप स्वयं ही पहिले दुःखी हो जाते हैं तब कहीं उस दूसरे को दुःखी कर पाते हैं। आपके दुःखी करने से दूसरा दुःखी हो अथवा न भी हो। तो सबके प्रति अपना यही भाव रहे कि जगत के सभी जीव सुखी हों। यदि ऐसा भाव आपने बना लिया तो इससे आपका भला ही होगा, बुरा न होगा, पर दूसरे को दुःखी करने, सताने के परिणाम में आप पायेंगे कुछ नहीं, खुद दुःखी होंगे। यहां तो कोई कुछ भी कहे पर उन सब बातों को यों पी जावो कि मानो किसी ने कुछ कहा ही नहीं। चित्त में ऐसी बात न बसाये रहें कि इसने मुझे यों क्यों कह दिया? अरे क्यों के कहने वाले लोगों! यह संसार दुःखमय है, अपने को सावधान बना लो, यह संसारसागर दुःखमय है। मैं कैसे सुखी-हो सकता हूँ, शान्त हो सकता हूँ, इसका यत्न करलो। तो जीवन में एक क्षमा की आदत बन जाय, दूसरों को क्षमा करें, बड़प्पन इसी में है।

क्षमा में वीर की भूषणरूपता—क्षमा को वीरों का भूषण कहा गया है। किसी बलवान ने मुझ सतया और मैं कुछ न कह सका, भीतर ही भीतर उसके प्रति बड़ी बेचैनी बनी रही तो वह हमारी क्षमा नहीं कहलायी। क्षमा का फल है शान्ति, आनन्द। क्षमा करना कायर का काम नहीं। कायर वह कहलाता है जो विषयों का लोभी हो, और उस विषय के सुझाने के बल पर उसे क्रोध उदरान्न होता है। तो कायरों से क्षमा नहीं बन सकती। वह कायर तो सोचता है कि इसने मुझे गाली दी और ये इतने लोग मुझे क्या कहेंगे? अरे तुम्हें कोई कुछ कह दे तो उसमें तुम्हारा बिगाड़ क्या हो गया? तुम तो अपने आपको सम्हालो। इन बाहर बाहर की बातों का ध्यान रखकर तो वह अपना ही पतन कर रहा है, उसे अपने आपके स्वरूप का कुछ पता नहीं। ज्ञानी पुरुष किस तरह का विचार करता है—इसका चिन्तन समाधिस्तत्र के एक श्लोक में देखिये—मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः। मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ ये दिखने वाले लोग, मायामयी पदार्थ, ये कोई मेरे कुछ नहीं लगत, इनसे मेरा कुछ सम्बंध नहीं कोई नाता नहीं, न कोई मेरा शत्रु, न मित्र। इनसे न मेरा कुछ सुधार है न बिगाड़ है। यहां तो जितना जो व्यवहार है वह इस मूर्त शरीर को देखकर किया जा रहा है। माया की माया से पहिचान है। इस मुझ आत्मतत्त्व को तो ये कोई जानते ही नहीं हैं। मैं तो एक गुप्त तत्त्व हूँ। गुप्त का अर्थ है सुरक्षित

होना। यहां जो लोग गुप्त का अर्थ "छिपा हुआ" करते हैं, पर संस्कृत जानने वाले लोग जानते होंगे कि इस गुप्त का अर्थ है गुप्त सुरक्षणे सुरक्षित होना। तो मेरा वह आत्मतत्त्व सुरक्षित है, उसको तो कोई जानता ही नहीं। हां वह आत्मतत्त्व आज इस देह में फंसा हुआ है, इसलिए खाने पीने आदि की क्रियायें करनी पड़ रही है, सभी से व्यवहार करना पड़ रहा है। ज्ञानी पुरुष व्यवहार की समस्त क्रियाओं को करता हुआ भी श्रद्धा यही बनाये रहता है कि ये मेरे वास्तविक कर्तव्य नहीं, ये मेरे कोई कुछ नहीं।

क्रोध से अन्तरङ्ग बहिरङ्ग दोनों सौन्दर्यों का विनाश—देखो—जब कभी किसी को क्रोध आता है तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उसके सारे गुण समाप्त हो जाते हैं। जब कभी कोई क्रोध करता है तो उस समय उसके चेहरे की शकल भी बिगड़ जाती है। जरा आपके पास कैमरा हो और आप उस क्रोध करने वाले का फोटो ले लें तो देखिये कितना बुरा चेहरा बन जाता है उसका? लोग कहा करते हैं कि देखो यह स्त्री अथवा यह पुरुष कितना सुन्दर है, तो उसकी सुन्दरता कब है जबकि वह शान्त है। यदि वह जरा-जरासी बात में क्रोध करे तो देखिये उस क्रोध करते हुए समय में उसकी सुन्दरता खतम हो जाती है। क्रोध करने वाला पुरुष अथवा स्त्री कोई हो, वह किसी को नहीं सुहाता। तो इस सुन्दरता में सहयोग देते हैं समता, सद्बिचार, और सद्बिबेक। कोई मूर्ख भी हो और कहा जाय कि भाई तुम यहां विश्राम से बैठ जाओ तो विश्राम से बैठे हुए में उसमें सुन्दरता रहती है तो भाई यह क्रोध बैरी इस जीव का शत्रु है, इससे दूर रहने में ही आत्माका हित है। तो अपने अन्दर क्षमाभाव रहना चाहिए, क्षमा करें हृदय से, अपने आपपर दया करके कि मुझे तो सुखी होना है इसलिए मुझे क्षमाभाव करना चाहिए। मानव मानव के प्रति, मानवसमाज के प्रति एक रस बन जाओ, जो मैं हूँ सो ये हैं। जो मेरा स्वरूप है सो इनका है। किसी के प्रति रंज भी बैर विरोध न रखो, सबको अपने ही स्वरूप के समान समझकर सबके प्रति क्षमाभाव धारण करी। खुद के भी सुखी रहने की भावना रखो और दूसरों के भी सुखी रहने की भावना रखो।



उत्तम मार्दव

दस लाखणी धर्म के भौगोलिक प्रसंग में आज दूसरा दिन है, और दसलाक्षणी में मार्दव धर्म का दिवस है। मार्दव का अर्थ है कोमल परिणाम रखना। कोमल परिणाम होते हैं जब मानकषाय नहीं रहता है। मान कषाय की तीव्रता और मंदता की शास्त्रों में कठोरता से व नम्रता से रूपमा दी है।

मार्दव स्वरूप का विवरण—“मृदोर्भावः मार्दवम्” कोमलता के परिणाम को मार्दव धर्म कहते हैं। परिणामों में वास्तविक कोमलता का आविर्भाव सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता। वस्तुस्वरूप के बोध बिना परस्पर सम्बन्धबुद्धि कर्तृत्वबुद्धि आदि अभिप्राय से भाव कठोर ही कहलाते हैं, जिसमें शुद्ध चैतन्यानुभवामृत का प्रवेश नहीं होता। जिसने उत्तम मार्दव को भले प्रकार समझ लिया है, जिसकी दृष्टि में “उत्तम मार्दव हमारा चैतन्यस्वभाव है” इस ङकार का विचार व श्रद्धान आ गया है, उस महात्मा के उत्तम मार्दव का चैतन्यस्वभाव में भान होते ही मानकषायें अपने आप निकल जाते हैं। मानकषाय के न होने को ही उत्तम मार्दव कहते हैं। इसी का आज विवेचन है। मैं इसको करने वाला हूँ व मैंने इसको बनाया, पाला आदि मिथ्या अभिप्रायवश जीव का अहंकार बना रहता है और इस अहंकार भाव से यह जीव चाहता है सम्मान और होता रहता है अपमान। ऐसे मान का आदर ही संसार है। यह मार्दव संसार का मर्दन करने वाला है, औपाधिक व परकीय अवस्था करने रूप संसार को नष्ट कर देता है, मान कषाय का सर्वथा नाश कर देता है। मार्दव और मान कषाय—दोनों आत्मा की पर्याय हैं। इसमें एक स्वभाव पर्याय है और दूसरी औपाधिक पर्याय है। जिस काल में मान कषाय रहता है उस काल में आत्मा में मार्दव धर्म नहीं रहता और जिस काल में मार्दव धर्म रहता है उस काल में आत्मा में मानकषाय नहीं रहता। यह मार्दव दयाधर्म में चित्त को दृढ़ करता है। मार्दव गुणधारी अन्य को दुःखी देखकर दयार्द्र हो जाते हैं। घमंडी पुरुष दया धर्म नहीं कर सकते। यह मार्दव धर्म आत्मा का अविनाशी गुण है। मार्दव आत्मा का स्वभाव है। अतः मानकषाय रहनेपर भी शक्तिरूप व यथायोग्य विकासरूप यह रहता ही है। इसी से सब जीवों का हित होता है। जैसे पत्थर, लकड़ी, बज्र बेंत आदि जो जितने कड़े हैं वे उतने ही घमंडी हैं। है तो मृदोर्भावः मार्दवः किन्तु कठोरता को मार्दव कहते हैं, कोई ऐसी हंसी कर दे तो, कि भैया कल तो क्षमा थी, आज मार दो। क्या समझें? मार दो। क्षमा तो कल ही थी और आज क्या, मार दो? कल क्षमा थी तो आज क्षमा बनी रहे और मार्दव धर्म की शोभा बढ़ायें। इस दस लाखणी में ऐसा नहीं सोचना कि क्षमा का समय कल था। आत्मा का स्वभाव तो सदैव विकसित होना चाहिये उस ही में आनन्द है। आज मार्दव धर्म के विषय में वर्णन किया जा रहा है।

महवमवमद्गु माणणिकदणु दयधम्हु मूलजु विमलु।

सम्बहं हिययारउ गुणगणसारउ तिसहु वउ संजम सहलु ॥

मार्दवधर्म की भव मर्दनता—यह मार्दव धर्म संसार का मर्दन करने वाला है। विनय परिणाम से, कोमलता से संसार के सब संकट दूर हो जाते हैं। यह मार्दव धर्म मानको दूर करने वाला है। मान होता है कर्तृत्वबुद्धि के साथ—मैं यह काम करता हूँ, मैंने यह किया, मैं ऐसा कर दूँगा, मुझमें ऐसी सामर्थ्य है। परवस्तुओं के परिणामन के सम्बन्ध में कुछ कर्तृत्व की बात सोचना यही तो मानकी जड़ है। यह आत्मा जो अमूर्त है, ज्ञानानन्दभावमय है वह अपने ज्ञान और आनन्द के परिणामन के सिवाय अन्य क्या कार्य कर सकता है? पर मोह में ऐसा मूर्खता है कि मैं ऐसा-ऐसा कर दूँ।

कर्तृत्वबुद्धि व अहंकार की व्यर्थता—एक सेठ के चार लड़के थे। बड़ा लड़का तो कमाऊ था, उससे छोटा जुवारी था, उससे छोटा अया था और सबसे छोटा पुजारी था। पूजा भक्ति में उसका बड़ा मन रहता था।

बड़े लड़के की स्त्री रोज लड़े कि तुम्हीं तो सब कमाते हो और ये तीनों बैठकर खाते हैं, न्यारे हो जावो ना, तो सब तुम्हारा ही हो जाय। बहुत दिनों के बाद पिताजी से कह बैठे कि पिताजी अब स्त्री नहीं मानती है, न्यारा होने का तकाजा करती है। सेठ जी बाने बेटा कुछ डर नहीं, हो जावो न्यारे, पर यात्रा सब लोग मिलकर कर लो, फिर न जाने किसका कैसा भाग्य होगा? सो सब यात्रा करने चले। एक शहर के बाहर चार दिन के लिए डेरा डाल दिया। पहिले तो कमाऊ पूत को सेठ ने १० रु० दिये और कहा बेटा जाओ भोजन की सामग्री ले आओ। वह सोचता है कि १० रु० का क्या लाये? एक बाजार से कुछ खरीदकर दूसरे बाजार में बेच दिया। एक रुपया मुनाफे का मिल गया। अब वह ११ रु० की भोजन-सामग्री लेकर आया। दूसरे दिन जुवारी को १० रु० देकर कहा जावो भोजन-सामग्री ले आओ। तो वह शहर में गया, रास्ते में कहीं जुआ हो रहा था। उसने १० रु० दांव में लगा दिये, समय की बात वह जीत गया। तो वह २० रु० की भोजन-सामग्री ले आया। तीसरे दिन अंधे को १० रु० देकर कहा जावो भोजन सामग्री ले आओ। अंधे के साथ उसकी स्त्री भी चली, अंधे को रास्ते में एक पत्थर की ठोकर लगी। सोचता है कि हम जैसे और अंधों को भी ठोकर लगेगी तो दुःख होगा। इसलिए उस पत्थर को निकालकर बाहर कर दिया। तीन घंटे में तो वह पत्थर निकला। निकलनेपर स्त्री देखती है कि ओह! यहां तो अशर्फियों का भरा हंडा निकला। खूब भोजन सामग्री लाये और सैंकड़ों अशर्फियां उड़ेल दीं।

चौथे दिन पुजारी को १० रु० देकर कहा—जावो भोजन सामग्री ले आओ, वह गया। उसे एक सराफि का दूकान मिली, सो वहां से एक चांदी का कटोरा लिया, घी वाले के यहां से घी लिया, माचिस लिया और देवालय में जाकर आरती लेकर बैठ गया। शाम के चार बज गये। वह भक्ति में है। उस मन्दिर का अधिष्ठाता देव देखता है कि इसके घर के लोग भूखे हैं, इसमें तो धर्म की अप्रभावना है, सो खुद ही बच्चे का रूप बनाकर गाड़ियों पर गाड़ियां भोजन सामग्री ले जाकर वहां दे आया। सबने खूब खाया और गांव की खिला दिया। अब जब शाम के ७ बज गए, पुजारी रोनी सूरत लेकर अपने पिता के पास पहुंचा, कहा—पिताजी आप भी भूखे हैं सब लोग भूखे हैं, रोने भी लगा। पिताने कहा—क्या हुआ बेटा! क्यों रोते हो? तुमने तो खूब खिलाया और सबको बांट दिया। चार दिन के बाद कमाऊ पूत से पूछा—बेटा बतलाओ तुम्हारी सकदीर से कितने की भोजन-सामग्री आयी? बोला ११ रु० की, और जुवारी तुमसे दूने का लाया, अंधा तुमसे हजार गुने का लाया और पुजारी-पुत्र के विषय में कहता है कि यह तो तुमसे अनगिनते गुने लाया। इसके गुने का कुछ हिसाब ही नहीं है। इसके तो देव भी दास बन गये। तो बेटा तुम्हें न्यारा होना है? बोला नहीं पिताजी, मैंने सब बातें समझ ली हैं। हम पद-पदपर कर्तव्य का अभिमान कर रहे हैं, इसी से बीसों झगड़े हैं और झगड़े बाहर में हैं कहां?

कलह का मूल अमादवता—जितनी लड़ाइयां आज जगत में दिखती हैं वे सब मान कषायकी लड़ाइयां हैं। ये मुसलमान हैं, ये हिन्दू हैं, यह हमारे धर्म का है, इसलिए इसका उद्धार करो (अन्य में तो मानो चेतना भी न हो), इस प्रकार की मान्यताएं ही लड़ाई का कारण हैं। कहीं तो सिरफुटौवल भी हो जाती है। यह सब मान-कषायों का ही तो फल है। सब जीवोंपर एक समान चित्त रखो, द्रव्यदृष्टि द्वारा कभी तो दृष्टिपात करो, कर्मकृत विविधता में क्यों सीमित हुए जा रहे हो? खेद है 'पाकिस्तान में ऐसी बाढ़ आई कि गांव के गांव बह गए' यह खबर अखबारों में पढ़कर हिन्दुस्तान के कुछ लोगों का दिल फूल गया और यहां से गजट पाकिस्तान में जाये कि बिहार में बाढ़ आई तो पाकिस्तानी फूले नहीं समाते। यह मेरा है इसलिए अच्छा है और यह परका है इसलिए बुरा है ऐसी कुबुद्धि है। प्राणियों का अपमान दुःख आदि अनिष्ट तन, मन, वचन की प्रवृत्तियों से होता है। जिनके वस्तुत्व का श्रद्धान है और इसी कारण ममत्व न होने से हृदय स्वच्छ हो गया है, उनकी प्रवृत्तियां स्वपर की बाधक नहीं होतीं। जिनके परद्रव्य में आत्मीयता की मान्यता नहीं, क्रोधादि विभावों में आत्मीयता की श्रद्धा नहीं, मान

नहीं, मानका भान नहीं, उस विवेकी के कर्तृत्वबुद्धि नहीं हो सकती और कर्तृत्व न होने से वह शान्त, योग्य प्रवर्तक तथा कल्याणस्थियों के लिये आदर्श हो जाता, किन्तु इसके विपरीत जिनके भाव मिथ्यात्व मानके ग्रस्त हैं उनको व भी शांति प्राप्त नहीं हो सकती। उनसे सर्वदा विसंवाद ही बढ़ता है।

निभ्रान्त होकर आनन्दलाभ लेने का अनुरोध—यह आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र केवल अपने ज्ञानानन्द के विकार या विकास को ही करने में समर्थ है, परपदार्थों का यह कुछ परिणमन नहीं करता है। उसका समस्त परसे अत्यन्ताभाव है। देखो भैया ! जो कुछ भी सम्पर्क में आया है वह रहता जाता जरा भी नहीं, परन्तु उन विषयक अनेक मान्यताओं के कारण, इस प्रकार की पर्यायबुद्धि के कारण, ममत्वबुद्धि से ही अनादि से यह जीव संसार में भटक रहा है और महान् दुःखी हो रहा है। इसका इतना कड़ुवा फल चख रहा है फिर भी आँख नहीं खुलती। अरे भाई ! निगोद से निकलकर व अनेक दुर्गमन से निकलकर यह नरजन्म पाया तो विवेक करलो—मैं आत्मा सबसे न्यारा अपने ही परिणामों में परिणमने वाला हूँ, वेह, कर्म आदि की क्रिया मेरी परिणति के बाहर है, फिर मेरा जगत में क्या है ? मानकषाय छोड़ो और आनन्द का अनुभव करो।

मार्दव भाव की दयामूलता—यह मार्दव परिणाम दया धर्म का मूल है और निर्मल है। जिसके अभिमान है उसके दया कहां ठहर सकती है ? वह तो अपने गर्से चकचूर है। जो विनयशील है, कोमल परिणामी है उसमें ही दया हो सकती है कहते भी है लोग कि तुम बड़े कठोर हो गए। जो कठोर है उसके चित्त में दया का प्रवेश नहीं होता। तो जिसमें मान भरा है उसमें दया नहीं आती। यह मार्दव धर्म समस्त जीवों का हित करने वाला है। और समस्त गुणों में सारभूत इस मार्दव धर्म से ही व्रत और संयम की सफलता है। यह मान कितना बेहूदा परिणाम है कि तन से सेवा भी कर लो और धन भी खर्च कर लो और एक अभिमान भरा वचन बोल दो तो सारी शान धूल में मिल जाती है और चाहे कुछ भी दूसरों का उपकार न हो सके किन्तु विनयशील है तो सबसे बड़ा दान एक यही दान हो गया। यह मार्दव धर्म समस्त गुणों में सार है और इस मार्दव धर्म से व्रत और संयम सब सफल हो जाते हैं। यह जीव मान किसलिए करता है ? केवल इसलिए कि लोग मुझे कुछ अच्छा कह दें। किसी को सबने कभी अच्छा कहा है ? गांधी जी के विषय में कितने ही मनुष्य डटकर बोलते हैं कि उन्होंने देश का ऐसा हित किया। जिसने गांधी जी को गोली से मारा था उसके अदालत में बयान हुए, कुछ संकेत में आया तो उसने यों बताया कि इनसे देश का अहित हो रहा है। कुछ लोग ऐसे भी हैं। भगवान के कई लोग समर्थक हैं और कई लोग विरोधक हैं। कहते हैं कि जो व्यर्थ में भगवान की रटन लगाते हैं इन्होंने देश को बरबाद कर दिया। कहते नहीं बनता, भगवान-भगवान चिल्लाते हैं ऐसा भी कहने वाले बहुत से लोग हैं। किससे अपने को अच्छा कहलाने की मन में रखते हो ?

मानकषाय से अनुल आत्मनिधि का विनाश—मानकषाय से इस लोक में भी सुख नहीं है और परलोक में भी सुख नहीं है। यहां तो मानी को हर कोई नीचा दिखाने की घात में रहता ही है और परलोक में भी मानकषाय के द्वारा बंधे कर्म के उदय को निमित्त पाकर उसे कुगति के अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। मानकषाय को अपने हृदय से निकाल दो और यह तभी निकाल सकते हो जब आत्मा के स्वभाव को पहचानो। अरे, किस चीज पर मान करते हो ? धन, वैभव, सम्पदा, पुत्र, मित्रपर ? अरे न मालूम कितनी बार तो सम्राट हो लिये, कितनी बार महाराज हो लिये, कितनी बार देवों में जाकर पुण्य के ठाठ भोगे, यहां जरासी सम्पदापर जो कि पूर्व भोगी हुई सम्पदा के सामने न कुछ ही समझो—क्यों इतराते हो ? काहें को मान करके दुखी हो रहे हो ? और भैया ! जरा सोचो तो तुम्हारी आत्मा तो अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, कीर्त्य स्वभाव वाली है, फिर इन थोड़े से चांदी सोने के टुकड़ों को पाकर, कुछ पुत्र पुत्रियों को पाकर क्यों अपने को कुछ समझ बैठे हो ? अरे, अपने निज गुणों का विकास

करो, त्रिलोक के पदार्थ तुम्हारे चरणों में आ पड़ेंगे। इसके लिये अधिक मुमीबत सहने की आवश्यकता नहीं। मात्र हंसी से खुशी से उत्तम मार्दव धर्म का पालन हो सकता है।

हठ से अपनी बरबादी—एक घटना है टीकमगढ़ शहर की। गुरुजी सुनाया करते थे। वहां एक सुनार सुनारिन थे। सुनारिन के यह हठ हो गया कि मुझे तो मुजा में पहिनने को ४० तोला सोने के बखौरे चाहिये, तब हमारी शोभा है, हठ कर लिया। किसी तरह से कर्ज लेकर सुनार ने बखौरे बनवा दिये। बखौरे ठोस सोने के बनते हैं जिसे बेचा जाय तो उनमें ही बिक जायें। अब वहां मोटी धोती पहिनने का रिवाज और समस्त अङ्ग ढककर चलने का रिवाज था। किसी ने न देखा तो प्रशंसा ही कौन करदे? उसके मन में बड़ा दुःख हुआ, सोचा बड़ा हठ करके तो बखौरा बनवाया और कोई पूछता भी नहीं है। सो उसके गुस्सा इतनी बड़ी कि उसने अपने घर में आग लगादी। अब घर जलने लगा तो उसे चिन्ता हुई, लोगों को बुलाने लगी हाथ फटकार-फटकार कर, अरे वह कुवां है, वह बाल्टी है, अब जब हाथ थोड़ा-सा निकल गये तो एक स्त्री ने बखौरा देख लिया। बाली, अरी जीजी ये बखौरे कब बनवाये, ये तो बड़े ही सोने हैं। तो वह सुनारिन कहती है कि अरी रांड इतनी बात तू पहिले ही कह देती तो हम घर में आग ही क्यों लगाती? देखो उसने अपने को अच्छा कहलाने के लिए घर में आग लगा दी। अरे किनमें अपने को अच्छा कहलवाना चाहते हो? इन मोही जन्ममरण के चक्र में फंसे हुये जीवों से अपने को अच्छा कहलवाने की धुन इस अभिमानी पुरुष के लग गई। जिसके अभिमान है उसने व्रत किया, संयम किया, धर्म किया तो भी उससे फायदा कुछ भी नहीं है।

मानमर्दन से प्रभुभक्ति व अनन्त आनन्द का लाभ—जब मार्दवधर्म होता है तभी अर्हत भगवान में भक्ति होती है और जिसके घमंड हो गया वह कैसे भक्ति कर सकेगा? घमंड का मर्दन हो तभी भगवान की भक्ति हो सकती है। यदि भक्ति चाहते हो तो मानकषाय को हृदय से बिल्कुल निकालो। चक्रवर्तियों के भी इतनी बड़ी भारी विभूति थी, वह भी उनके साथ नहीं रही तो मैं उनके आगे क्या हूँ? हम यहां कितनीसी सम्पत्ति पाकर मान करें? किनको पाकर मान किया जावे? भगवान को देखो, सब कुछ उन्हें वैभव प्राप्त है और वे हैं कि आंख उठा कर भी इधर नहीं देखते, अपनाना तो बहुत दूर की बात है। यहां भी देखो तो बड़े-बड़े विद्वान् मिलेंगे हमसे बड़े-बड़े कर, बड़े बड़े धनी मिलेंगे हमसे अधिक, बड़े बड़े कीर्तिशाली मिलेंगे हमसे कहीं अधिक, कुटुम्ब में भी ज्यादा हमसे मिलेंगे—तो फिर हम उनके सामने किस बात का मान करें? यह मान तो हमें बहुत ही दुःखी करने वाला है। मान हमें दूर करना ही होगा। इस मान के मर्दन से ही हमें अनन्त सुख मिल सकेगा।

महूँ माणकसाय विहडणु महूँ पंचिदियमणदंणु ।

महूँ धम्मं करुणावल्ली पसरइ चित्त महीहि णवल्ली ॥

मानकषाय में अपमान का प्रसङ्ग—यह मार्दव धर्म मान कषाय का नाश करने वाला है। कषाय बढ़ती है कब? जब दोनों ओरसे मानकी बातें चलती हों। भाव के कारण ऐसे झगड़े खड़े हो जाते हैं कि उन झगड़ों का मूल तो कुछ भी नहीं है और इतना बड़ा रूप हो जाता है कि फिर उन्हें सुलझाना कठिन हो जाता है। यह मार्दव धर्म उन समस्त विसम्बादों को मिटा देने वाला है। जैसे पहाड़ की चोटीपर खड़ा हुआ पुरुष नीचे रहने वाले सब आदमियों को छोटा देखता है, कीड़े की तरह ये चले जा रहे हैं और ये नीचे जासे वाले हजारों आदमी ऊपर वाले पुरुष को देख लेंगे कि यह भी कीड़े के बराबर दिखता है। यहां मन तो एक है। वह पुरुष अकेला ही सबको छोटा देखता है पर ये पुरुष उस एक मानी को छोटा देखते हैं। दुनियादारी का ज्ञान और यह सब दृश्यमान चीजें नष्ट हो जाने वाली हैं, इनसे बुद्धि हटाकर एक चैतन्यस्वभाव को देखो, उसी को निरखो और उसी में प्रसन्न (स्थित)

रहो। यह मार्दव चित्त में कुबुद्धि को नहीं आने देता। बातचीत में दूसरों के प्रति अनिष्ट की बात निकल जाये, यह घमंड ही की तो बात है। यदि मान न हो तो सर्व हित के ही वचन मुंह से निकलेंगे। मार्दव धर्म घमंड का नाश करता है। दर्शन, ज्ञान, चरित्र ये रत्नत्रय मार्दव धर्म से ही बढ़ते हैं। जिसके मानकषाय नहीं होती, उसकी दुनिया में बुराई नहीं होती तथा मालीकी सदा निन्दा होती है और उसे अपमान सहना पड़ता है। कहा भी तो है "मानी का सिर नीचा" ये बड़े-बड़े नेता इसी मार्दव के कारण तो बड़े बन गए। मानसे तो कुछ भी नहीं मिलता। मार्दव धर्म से तो अनेक लाभ हैं, परन्तु मानकषाय से तो कोई लाभ नहीं है। मानकषाय से तो जीव दूसरों का अपमान करके मान चाहता है, परन्तु परका अपमान करके स्वयं का मान त्रिकाल में भी नहीं हो सकता।

संसार संकटों के लाभ में मान का मुख्य हाथ—अब तक जो संसारमें चलते चले आये हैं। इसमें इस मानका बड़ा हाथ है। एक छोटे बच्चे को भी गोद से नीचे उतार दो तां वह भी यह महसूस करता है कि हमें ऊपर से नीचे पटक दिया। मिखारी लोग भी मान कषाय में आकर अपनी गोष्ठी में बड़-बड़ बातें किया करते हैं। मान कषाय को चूर करने वाला धर्म मार्दव है। यह मार्दव धर्म पंचेन्द्रिय और मानको नाश करने वाला है। यह मार्दव अर्थात् विनय परिणाम इन्द्रियों के विषय को भी हटा देता है। यह मोटर रखना, आरम्भ को बढ़ाना, दो-दो चार-चार मित्र खोलना, बंगला बनवाना, सिपाही पहरेदार रखना, बाग बगीचे बनवाना, अपने महलों को सुन्दर सजाना—ये सब बातें जो बढ़ती हैं वे एक दूसरे की देखादेखी बढ़ती हैं, क्योंकि उनमें होड़ हो जाती है कि मैं अमुक पड़ोसी से कम क्यों रहूँ? विषय बढ़ने लगते हैं तो इन्द्रिय विषयों का दलन करने वाला एक मार्दव धर्म है। अभिमान तब होता है जब चित्त में यह बात रहती कि मैं सबसे महान् हूँ। ऐसा सोचना अमृत भी है और विष भी है। आत्म-कल्याण की दृष्टि, स्वभाव में निगाह करके अपने आपका जाने कि मेरे लिये तो यह मैं ही महान् हूँ, तो वह अमृत है और पर्यायबुद्धि करके इन पर्यायबुद्धि जीवों में इन पर्यायों का बड़प्पन बनाने के लिए भाव होता है कि मैं महान् हूँ तो वह भाव विष है। कहीं भी कुछ भी देखो अन्त में अपने को यह निर्णय होगा कि मेरे लिए मैं ही महान् हूँ, मैं ही उत्तरदायी हूँ, मैं ही अपने भविष्य का निर्मापक हूँ।

खुद के लिये खुद का महत्त्व—सुना होगा एक पुरुष परस्त्रीगामी था। स्त्री ने बहुत समझाया, न माना तो कुछ विशेष सेवा करके एक बार कहा कि तुम और कुछ नहीं कर सकते तो लो, बटरिया देकर कहा कि लो रोज इनकी पूजा कर लिया करो और फिर २४ घंटे को यह पाप त्याग दिया करो। कहा अच्छा कर लेंगे। वह रोज उन बटरियों को पूजकर २४ घंटे को उस पाप को छोड़ दे। पाप तो छूट गया। अब वहाँ क्या हाल हुआ कि उस देवता पर चढ़े चावलों को चूहा खा जाया करे। सोचा अरे इससे तो बढ़कर यह चूहा है। सो उस चूहे की ही वह पूजा करने लगा। एक दिन एक बिल्ली चूहेपर झपटी तो सोचा—अरे इस चूहे से तो बड़ी बिल्ली है। सो बिल्ली की पूजा करने लगा। बिल्लीपर कुत्ता झपटा तो समझा कि बिल्ली से तो कुत्ता बड़ा है। सो उस कुत्ते की पूजा वह करने लगा। एक दिन कुत्ता रसोई घरमें घुसने लगा, स्त्री ने बेलन फँककर मारा। उसने सोचा अरे इस कुत्ते से तो मेरी स्त्री बड़ी है। वह रोज स्त्री की पूजा करने लगा, रोज चावल चढ़ाकर पौर छुए। एक दिन स्त्री भोजन बना रही थी सो दाल में नमक अधिक गिर गया। कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि नमक डालने के बाद भी यह ध्यान हो जाता है कि अभी नमक नहीं डाला। सो नमक ज्यादा हो गया दाल में। पूछा—दाल में नमक कैसे ज्यादा हो गया? स्त्री बोली—ज्यादा हो गया तो क्या करें? पानी मिलाकर पी लो। वह तो गर्व में थी, क्योंकि उसका वह पूजा करता था। उसने तीन चार तमाचे स्त्री के मार दिए। स्त्री रोने लगी। अब उसने सोचा कि अरे मैं ही सबसे बड़ा हूँ। दुनिया में बहुत भटका अपने से बड़ा देखने को, पर बड़ा पाया अपने आपको ही। खूब देख लो, दुनिया में

अपने आपसे बड़ा कोई न मिलेगा। यह दुनिया की चमचमाहट कब तब साथ निभायेंगी ? अपने विराट स्वरूप की प्रतीति करो।

दया, नम्रता की वल्ली—मार्दव धर्म विनय की बेल है और यह चित्तस्वी भूमि में फैलती है। जैसे बेल भूमिपर फैलती है इसी प्रकार जिसके मान नहीं है, मार्दव धर्म से ओतप्रोत है उसमें दया, क्षमा भर जाती है। मार्दव गुणधारी की प्रवृत्ति कभी भी अन्याययुक्त नहीं होती। अन्याय तो तभी हो सकता है जब अपने को लोक में ऊँचा दिखाने की बात हो। इस मार्दव धर्म से लोक में अनेक तरह के विरोध और शत्रुता समाप्त होती है। मार्दव से ही परिणाम निर्मल होते हैं। जिस जीव को अपने विषय में यह ज्ञात है कि मैं आत्मा एक त्रैकालिक तत्त्व हूँ, सदैव रहने वाला हूँ, कभी नष्ट नहीं होऊँगा और सब तो नष्ट होने वाली चीजें हैं और इसी तरह से जगत के सारे पदार्थ नष्ट होने वाले हैं, ऐसी जिनको श्रद्धा है वे मानकषाय नहीं करते और मान करें भी तो किस चीज का, जब सभी चीजें नष्ट हो जाने वाली हैं। मैं बड़ा बलवान हूँ, चिबेकी हूँ, चतुर हूँ, मानकी यह श्रद्धा आत्मा को नष्ट करने वाली है। यह पर्याय बुद्धि है। पर्याय सदैव नाशवान है, उनमें अपनत्व मानकर उनके नाश होनेपर दुःखी होता है। समझ रहा है कि मैं बलवान हूँ, कल को शरीर में कमजोरी आ जाती है, दुःखी हो जाता है। आज धनी है, धन नष्ट होनेपर या उसमें कमी आ जानेपर महान् परेशान होता है इत्यादि। इस प्रकार पर्यायबुद्धि सदैव दुःख देने वाली है और यह पर्यायबुद्धि मानके उदय में होती ही है और ऐसी बुद्धि से ज्ञान का मरण हो जाता है। मार्दव के बिना आत्मा के परिणाम निर्मल नहीं होते। जब आत्मस्वभाव की पहिचान हुई, विषयों से मन हटा, परपदार्थों से अर्हति हुई कि मार्दव धर्म प्रकट हुआ।

मद्दु जिनवर भक्तिपयासइ मद्दु कुमईपसरु गिण्णासई।

मद्द्वेण बहु विणय पवट्टइ मद्द्वेण जणवइरु उहट्टइ ॥

मार्दवधर्म से प्रभुभक्तिप्रसार—मार्दव धर्म जिनेश्वर/देव की भक्ति को प्रसारित करता है। अभिमानी पुरुष तो भगवान को भी नहीं पूज सकते। औरों से नम्र बात कहने की बात दूर रही, प्रभु के आगे भी अपना सिर नहीं नवा सकते। यों ही खड़े-खड़े चूँकि सभी भगवान की पूजा में रहते हैं तो हाथ जोड़ लिया, लज्जा आती है क्योंकि मान कषाय ! ना कि मैं ऊँचा हूँ, अफसर हूँ, अमुक हूँ। मार्दव हो, मान का अभाव हो तो उससे प्रभु की भक्ति विस्तृत होती है। जब तक मानकषाय रहता है तब तक बुद्धि बिगड़ी रहती है, मान कषाय से कुबुद्धि का प्रसार होना है, पर मार्दव धर्म से मानका अभाव होता है तो कुबुद्धि का प्रसार रुक जाता है। मानकषाय में ही ती हठ बढ़ा लेते हैं और हठ का परिणाम यह निकलता है कि कोई उससे विशिष्ट बली और हठी हुआ तो उसकी बुद्धि ठिकाने आ जाती है।

मार्दव की कुमतिप्रसारनिर्नाशिकता—यह मार्दव धर्म सब मान कषायों का नाश करने वाला है और पांच इन्द्रियों और मन का नियंत्रण करने वाला है। इन्द्रियविषयों के सेवते हुए अज्ञान भाव में मान आया करते हैं। रस गौरव तो बहुत संभावनीय है। किसी वस्तु के स्वाद की वजह से भी मान नहीं करना चाहिये। परके लक्ष्य होने पर कोई न कोई जाति की मानवृत्ति हो जाती है। देखो भैया, और तो जाने दो कभी त्याग करके भी तो पदार्थों को नहीं खा रहे हैं, ऐसा सोचने में मान आ जाता है। काजू और मूँगफली दोनों के स्वाद में खास फर्क नहीं, किन्तु मूँगफली के मुकाबिले में काजू बहुत महंगी है, इसलिए काजू का स्वाद अच्छा लगने लग गया, इस आसक्ति को मान कर रहा है। परकी रुचि अपने आपमें मान कषाय बनाये बिना कैसे होगी ? जिसने निर्मानस्वभावी निजको देखा उसे स्वाद में क्या आसक्ति होगी ? वैषयिक बात सोचना ही मान से हो पाता। इसी तरह की प्रक्रिया पाँचों इन्द्रियों में आ जाती है। मानसिक विषय का मान तो बड़ा ही भयंकर है। महायुद्ध का मूल मानसिक मान है। मानसे

दुनिया में सब लोगों का बिगाड़ भी होता और अपना भी बिगाड़ होता है। कोई सोचता हो मैं चतुर हूँ, मेरा हठ रहना ही चाहिए तो वह चतुर नहीं है, उससे सवाया कोई मजा चखाने वाला मिल ही जाता है।

मानकी प्रतिक्रिया में विडम्बना—एक घर में पति-पत्नी थे। पत्नी हठीली थी। स्त्रियो के एक तो स्वभाव से हठ होता है पर वह बहुत हठीली थी। उसके एक दिन ऐसा मनमें आया कि हमारी बात तब रहेगी जब मैं अपने पति की मूँछ मुँडवा के रहूँ। पहिले समय में मूँछ मुँडवाना बुरा माना जाता था। उसने पेट दर्द व सिर दर्द का बहाना कर लिया, लेट गई। पतिदेव ने डाक्टर बुलाया, वैद्य बुलाया। किसी तरह से ठीक न हुआ। पति कहता है कि देवी जी ! किसी तरह से ठीक होगा ? स्त्री आंखें मीचती हुई कहती है कि लो हमको देवता लोग बता रहे हैं कि तुम्हारी बीमारी तब ठीक होगी जबकि तुमसे जो प्यार करता हो वह मूँछ मुँडाकर सुबह होते ही दर्शन दे तो ठीक हो सकती हो, नहीं तो तुम्हारे प्राण चले जायेंगे। पति झट गया सैलून की दूकान में, मूँछ सफाचट्ट करवाकर आ गया। लो देवी जी देख लो। इतने में तबियत ठीक हो गई। हो गई चंगी। सुबह चक्की पीसे तो गाना गाये। अपनी टेक चलाई, अरु पति की मूँछ मुँडाई। यह भजन बन गया। चार-छः दिन यही सुनकर हैरान हो गया। उसने सोचा कि इसे भी मजा चखाना चाहिये। ससुर जी को झट चिट्ठी लिखी कि तुम्हारी लड़की बहुत बीमार है। देवताओं ने बताया है कि सवेरा होते ही गुजर जायगी, और बच तब सकती है जबकि इसके मां-बाप, भाई, बहिन, बुवा आदि जो इससे प्यार करते हों वे मूँछ मुँडाकर या जिसके जो बाल हों मुँडाकर सवेरा होते ही दर्शन दे जायें तो ठीक हो सकती है। ममता ठहरी। घर भरने सिर मूँछ मुँडवाया और सवेरा होते ही बिटिया के घर पहुँचे। उस समय वह स्त्री वही गाना गा रही थी। अपनी टेक चलाई अरु पति की मूँछ मुँडाई। पति कहता है कि पीछे देख लुगाई मुँडो की पल्टन आई। उसने देखा तो कहा बड़ा गजब हो गया। तो यह मान कषाय जब हृदसे ज्यादा हो जाता है तो फिर स्नेह छूट जाता है ! यह मार्दव धर्म कुबुद्धि के प्रसार को दूर करता है।

मार्दव से विनय व विद्यालाभ—मार्दव धर्म से बड़ी विनयहीन शिष्य विद्या प्राप्त नहीं कर सकता। कितना ही धन खर्च करके अध्यापक रखते हो, अध्यापकों की ड्यूटी दिलाते हो, कितना भी व्यय करें, यदि हृदय में विनय भाव नहीं है तो विद्या नहीं आ सकती। कदाचित् लौकिक विद्या आ भी जाय, मगर धार्मिक विद्या, आध्यात्मिक विद्या विनय के बिना नहीं आ सकती। बिना विनय के धार्मिक विद्या का ज्ञान कैसे आ सकता है ? बनारस में एक पंडित थे, उनके पास १०-१२ लड़के पढ़ते थे। उनमें से एक लड़के को बहुत अधिक पढ़ाते थे, अधिक समझाते थे। गुरुजी ने स्त्री बोली कि तुम इस एक लड़के को अधिक पढ़ाते हो और बाकी सब लड़कों की उपेक्षा कर देते हो। पंडित जी बोले कि हम तुन्हें सब समझा देंगे कि क्यों मैं अधिक समझाता हूँ। हाँ बतलाओ पंडित जी ! कहा अच्छा। पंडित जी ने एक छोटासा पका आम अपनी मुजा में बांध लिया और ऊपर से कपड़े से लपेट दिया। सब लड़कों को बुलाया। गुरुजी बड़ी तकलीफ में हैं, उनके फोड़ा हो गया है, वे बड़े बेचैन हैं। बच्चों ने पूछा, गुरुजी कैसे मिटेगा ? डाक्टर बुला दें ? वैद्य बुला दें ? गुरुजी ने कहा—बेटा किसी दवा से न मिटेगा। इसकी सरल औषधि यह है कि कोई अपने मुख से इसे चूस ले तो अभी ठीक हो जायगा। सब लड़के बगली झांकने लगे। फोड़ा, इसकी पीप, मुख से कैसे चूसी जा सकती है ? किन्तु उस एक बालक ने चूस लिया। इस घटना को देखकर स्त्री समझ गई, वाह, यह बालक तो अधिक विनयशील है और इसमें विद्या पाने की योग्यता है। इस कारण इसको अधिक पढ़ाते हैं। विनय के बिना प्रगति नहीं हो सकती। इस मार्दव धर्म से मनुष्यों का बैर भी समाप्त हो जाता है। विनय से बोल दो तो सारा बैर भी खतम हो जाता है। इस छोटे से जीवन में किसी से बैर रखने से क्या प्रयोजन है ? न यह रहेगा और न ये रहेंगे, किन्तु जो कषाय भाव बना लेता है उसको फल जरूर भोगना होगा। इस मार्दव धर्म से समस्त बैर समाप्त हो जाता है।

मददवेण परिणामविशुद्धि, मददवेण विहु लोयहं सिद्धी ।

मददवेण दोविहु तउ सोहह, तिजगु विमोहह मददवेण गरु ॥

मार्दव से परिणामविशुद्धि व मान्यता— मार्दव धर्म के कारण परिणामों में निर्मलता होती है, मानी घमंडी पुरुष के परिणाम कभी निर्मल हो सकते हैं क्या ? नहीं नहीं । वह तो तनी हुई छाती से सबको तुच्छ देखा करता है । कितना अंधेर है ? यह पड़ा तो है महान् संकट में, कर्मों का जाल है, शरीर का फंसाव है, विभावों की परेशानी है और भविष्य का कोई ठिकाना नहीं, कितने तो संकट इस जीवपर छाये हैं, पर भ्रम से पर्यायों में अहंकार रखकर यह अपने ही पर्यायों को श्रेष्ठ मानता है और दूसरों को तुच्छ समझता है । चाहे कंसी ही चपटी नाक हो, घुसी हो, छोटी आंख हो, कंसी शकल-सूरत हो, पर जब दर्पण हाथ में लेता है, चेहरे को देखता है तो एक बार घमंड तो भ्र ही जाता है । इस पर्यायपर इतना अभिमान है, जिसमें कोई सार नहीं है, मिट जाने वाली चीजें हैं । जब तक मान रहता है तब तक परिणामों में निर्मलता नहीं रह सकती है । एक गुरु शिष्य थे । चलते-चलते शाम हो गई । तो पास में राजा का बगीचा था वहां जाकर ठहर गये । दो कमरे थे । उनमें बढ़िया तख्त पड़े हुये थे । एक कमरे में गुरुजी बैठे और दूसरे में शिष्य । गुरुजी ने कहा—बेटा ! तुम कुछ नहीं बना । हां गुरुजी हम कुछ नहीं बनेंगे । शाम को राजा के सिपाहियों ने उन कमरों में देखा कि एक-एक आदमी बैठे हैं । राजा से कहा—महाराज दो आदमी बैठे हैं । अच्छा, जावो पूछ आवो कि कौन हैं ? सिपाही शिष्य के पास गया, पूछता है कि तुम कौन हो ? शिष्य बोला देखते नहीं मैं साधु हूं । कहा महाराज वह तीर्थों कहता है कि देखते नहीं मैं साधु हूं । कान पकड़कर निकाल दो । सिपाही ने ठोका पीटा और कान पकड़कर निकाल दिया । दूसरे कमरे में गया । पूछा तुम कौन हो ? गुरु जी मौन थे । कहा—महाराज वह तो बोलते नहीं, आंख मीचे बैठे हुये हैं । राजा बोला, उनसे कुछ न कहो, वे कोई साधु महाराज होंगे । राजा तो घूमकर चला गया । अब शिष्य गुरु से क्या कहता है कि महाराज तुमने ऐसा ठहराया कि मेरी तो मरम्मत हो गई और कान पकड़कर बाहर निकाल दिया गया । गुरुजी कहते हैं तुम कुछ बने तो न थे । अरे महाराज मैं कुछ नहीं बना था । सिपाही ने पूछा था कि तुम कौन हो ? तो मैंने कहा कि अरे देखते नहीं, मैं साधु हूं । गुरु ने कहा, बनना यही तो हुआ ।

मार्दव से लोकद्वयसिद्धि— जब मान कषाय होता है तो परिणामों में निर्मलता कहां से रहेगी ? इस प्रकार की कल्पनायें मान कषाय में होती हैं । मार्दव धर्म के द्वारा तीनों लोकों में सिद्धि होती है । इस लोक में भी साता रहती है और परलोक में भी सुगति प्राप्त होती है । हस्तिनापुर के मन्दिर पर बनवाने वालों का नाम तक भी नहीं है । कितने निर्मल परिणाम थे उनके ? भैया ! मानकषाय का परिणाम अपने मन में रहा तो कुछ आत्मलाभ नहीं हो सकता । पर पदार्थ भी दिया तो वह तो अपना था ही नहीं, फिर किस बात का घमंड ? सम्पदा के रहते हुए, भोगते हुए, दान करते हुये किसी बात का घमंड नहीं होना चाहिये । मार्दव धर्म से दोनों लोकों का सुधार होता है कौवे भी क्वार बदी १ से क्वार बदी १५ तक घमंड करते हैं परन्तु उसके बाद उनके घमंड कुछ नहीं रहता । इस प्रकार घमंडी चाहे कुछ दिन इतरा ले, परन्तु अन्त में झुकना ही पड़ेगा । इसलिये हमें तो घमंड बिल्कुल नहीं करना चाहिये । मार्दव धर्म से यह मनुष्य तीनों जगत को मोहित कर लेता है । मार्दव धर्म के द्वारा दोनों प्रकार के तपों की शोभा होती है । आभ्यंतर तप और बहिरङ्ग तप । १२ प्रकार के तप भी तपें, बड़ी ऊंची तपस्या करें और मान कषाय बगरावें, एंठ जतावे कि मैं कितना तपस्वी हूं ऐसा तप क्या और कोई कर सकता है ? ऐसी मुद्रा दिखावे तो उससे तप की क्या शोभा रही ? ज्ञान की विराधना हो गई । तप का फल भी मिट गया । ज्ञान भी एक तप है । स्वाध्याय को तो तप लिखा ही है । यदि मार्दव धर्म हो तो इस ज्ञान की भी शोभा बढ़ती है ।

मान में आपदा—एक पया-पढ़ा-लिखा पुरुष बी० ए० पास होकर आया। रिजल्ट तुरन्त निकले तो मोज सूझती है। समुद्र के किनारे गया। नाविक से बोला, माझी तू मुझे समुद्र में सैरा करा दे। बाबू जी आठ आने लगे, चलो समुद्र की सैर करावो। जो ठलुवा होते हैं उन्हें गप्पों की सूझती है। वह बोला तुम कुछ पढ़ा लिखा है? नहीं मालिक। तू ए० बी० सी० डी० भी नहीं जानता। नहीं बाबू जी। बेवकूफ, नालायक, ऐसे लोगों ने ही भारत को बरबाद कर दिया। जब तीन-चार फर्लाङ्ग दूर नाव पहुँची, समुद्र में तूफान आया, नाव उगमगाने लगी। अब बाबू साहब हाथ जोड़कर नाविक से बोले—भैया जल्दी नाव ले चलो। तो माझी कहता है कि नाव तो डूब जायगी। हम तैरकर निकल जायेंगे। फिर हाथ जोड़ते हैं बाबू जी। माझी ने कहा, तुमने तैरना सीखा है? तैरना तो नहीं सीखा। उल्लू, नालायक, ऐसे ही लोगों ने तो भारत को बरबाद कर दिया। कल्पना करो कि अगर सब मैट्रिक पास हो जायें तो फिर गुजारा कैसे होगा? कलायें तो सभी तरह की होती हैं। कोई अपनी कला पर धमंड बगराये तो देखो भैया सब विधावों का निधान तो केवलज्ञान हुआ, इसके बाद सब विद्यायें छोटी होती हैं, उन विधावों में क्या मान करें? भैया! ज्ञानकी, उपकी, उपकार की, सबकी शोभा मार्दव धर्म से होती है। यह धर्म सब अमृत है। अपने जीवन में उतारो तो आनन्द भी पा लो। मार्दव धर्म के द्वारा यह तीनों लोकों को मोहित कर सकता है। जो विनयशील होगा वह अपरिचित भी हो तो भी आप मोहित हो जायेंगे, उसकी सेवा में लगा जायेंगे। यह घर में जो बाप बेटों में लड़ाई होती है या सास बहू की लड़ाई होती है उसमें बाप सोचता है कि यह मेरा वही बेटा है जिसको डाटते थे, सो वह हुकूमत चलाता है, पर वह नहीं जानता कि बेटा ओवरसियर हो गये। अब इसकी बात कौन सहेगा? तो यह मार्दव धर्म तीनों लोकों को मोहित कर देता है और फिर यहां धमंड करें किरा बात पर? सभी चीजें विनाशीक हैं।

अकिञ्चनता का एक कथाचित्रण—एक घटना है इसी भारत की, घटना पुरानी है। जब राजा मोज थे, बड़ा विद्वानों का आदर करने वाला यह राजा हुआ है। एक दिन रात्रि को पलंग पर लेटे वह कविता बना रहे थे और उसी दिन एक कवि के मन में आया कि कुछ चोरी कर लायें तो गुजारा चलेगा। तो चोरी और किसके यहां कर, राजा के ही यहां कर। राजा के ही यहां चोरी कर तो कुछ कष्ट भी उन्हें नहीं होगा अगर दो चार हजार ले आवेंगे तो। सो वह वहां गया और डरके मारे पलंग के नीचे पड़ गया। राजा कविता बनाता है। “वेतो-हरा युवतयः सुहोदोऽनुकूलाः, सद्धान्धवाः प्रणतिगर्भगिरश्च भृत्याः। गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलारतुरङ्गाः” क्या वह रहा कि मेरी स्त्री एक से एक मनोरम हैं, चित्त को हरने वाली हैं, मेरे मित्र मेरे अनुकूल हैं। मेरे भाई नम्रता से भरे हुये हैं। मेरे नौकर मेरी आज्ञा मानने वाले हैं। अश्वशाला में घोड़े हीसते हैं, हाथियों की शाला में हाथी गरज रहे हैं। राजा अपने वैभव का वर्णन कर रहा है। तीन चरण बन गए हैं, चौथा नहीं बन पाया। अब नीचे वाले से न रहा गया। जिसमें जो कला होती है उससे रहा नहीं जाता है। सो वह बोला “संभूलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति”। इसका अर्थ है कि सब कुछ है पर नेत्रों के मिच जानेपर यह कुछ भी नहीं रहता है। चौथा चरण भी बन गया। एक नो यह उस राजा को खुशी हुई और दूसरे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ यह खुशी। सो उस कवि को गले से लगा लिया, कवि बोला मैं तो चोर हूँ। राजा ने कहा तुम चोर नहीं, तो किस बातपर अभिमान हो, ये सब ठाठ विनाशीक हैं।

मद्दु जिणसासणं जाणिज्जइ, अप्पापरसरूवमासिज्जइ ।

मद्दु दोस असेम णिवारउ मद्दु जणणसमुद्दहं तारउ ॥

मार्दव से सम्यग्ज्ञान का लाभ—इस मार्दव धर्म के होने से समस्त जिन-शासन जान लिया जाता है। शासन का मर्म क्या है। ज्ञान, बिना विनय के नहीं आ सकता और विनय मार्दव धर्म का प्रधान अंग है। पहलवानी करके किसी शक्ति से कोई ज्ञान थोड़े ही बढ़ता है, वह तो विनय से ही बढ़ता है। यह आत्मा तो मार्दव

धर्म से ही ज्ञान को जानता। जैसे कहावत है बन्दर समुद्र को लांघकर लंका चले गये, परन्तु समुद्र में जो रत्न थे उनका उनको ज्ञान कहां था? इसी तरह मार्दव धर्म के बिना कुछ नहीं जान सकते कि इस जैन शासन में क्या-क्या रत्न भरे पड़े हैं? श्रैय, मार्दव धर्म के द्वारा ही आत्मा व परका सच्चा स्वरूप जाना जा सकता है। मार्दव धर्म समस्त दोषों का निवारण कर देता है। इस मार्दव धर्म द्वारा संसार-समुद्र से सुगमतया पार होकर निर्दोष आनन्द के भोक्ता हो सकते हैं। मार्दव धर्म में आत्मा और परका स्वरूप जानने में आ जाता है। और न मार्दव धर्म हो, घमण्ड हो तो स्वरूप की स्मृति की बात तो दूर जाने दो, यह अपनी किसी प्रकार से शान रखने में ही लगता है।

लोक में कोरी शान का नाटक—एक बार ऐसी ही बड़ी सभा बैठी हुई थी, राजा का दरबार था। राजा ने कहा कि कोई मनुष्य ऐसी कविता बनावे जो आज तक किसी ने न बनायी हो। एक पंडित जी ने अपनी जेब से एक कोरा कागज निकाला, जिसमें कुछ न लिखा था और यों देखकर कहा कि मान लो बांच रहे हैं। कहा महाराज यह कविता है इससे बढ़कर कोई कविता न कभी सुनी न देखी। मगर इस कविता में यह गुण है कि जो एक बाप का होगा उसको ही दिखेगी। अन्य की आंखों से न दिखेगी। कहते हैं ना, कि जो असल का होगा उसे ही इस कागज में लिखा हुआ दिखेगा। राजा ने देखा तो उसमें कुछ न लिखा था, मगर यदि कहते हैं कि इसमें कुछ नहीं लिखा तो नकली हुए जाते। इसलिए कहते हैं वाह कितनी सुन्दर कविता है? ऐसी कविता तो आज तक दिखने में नहीं आयी। पास में और भी पंडित बैठे थे उनको दिखाया। उसमें कुछ न लिखा था, पर शान तो रखनी थी ना। नकली न कहलायें इसलिए शान में आकर सभी ने यही कहा कि वाह कितनी सुन्दर कविता है? ऐसी कविता तो आज तक नहीं देखने में आयी। जो १०-५ लोग और बैठे थे, उन्होंने भी यही कहा। सो भाई जो कषाय में रहते हैं उन्हें अपने स्वरूप का क्या बोध हो? सबको अपने पर्यायों की शान निभाने की पड़ी है?

समागम की असहयोगिता का चित्रण—जिस समय सिकन्दर बादशाह मरने लगा तो उसने मंत्रियों से कहा कि भाई जिस समय मेरी अर्थां श्मशान भूमि को ले जाई जावे तो मेरे दोनों हाथ अर्थां से बाहर निकाल देना, ताकि दुनियां देख ले कि जब यह आया था तो मुट्ठी बन्द किये आया था और जब यह जा रहा है तो इतना वैभव होते हुये भी खाली हाथ जा रहा है। तो भाई, आना-जाना कुछ साथ नहीं है, व्यर्थ में मोह बढ़ा-बढ़ाकर दुःखी हो रहे हो। यह मोही प्राणी जीवनभर तो उनमें राग का संस्कार लगाता है और मरते समय छोड़ते हुए दुःखी होता है। वैभव की बात को भी छोड़ो, प्यारी स्त्री, प्यारा पुत्र, धन सम्पत्ति जिनको एक समय के लिये भी अपने से विलग नहीं करना चाहता था। सब कुछ मरते समय छूट जाता है। उस समय कोई साथ नहीं देगा। और की तो बात जाने दो, यह शरीर जो हर समय इसके साथ ही रहता है, जिसके पोषण में यह न्याय अन्याय कुछ भी नहीं देखता, वह भी इसका साथ निभाने में असमर्थ रहता है।

स्वजनों की स्वार्थान्धता का चित्रण—एक सेठ ने अपना सब धन अपने पुत्रों में बांट दिया। अपने हिस्से का धन उसने भीत में गाड़ दिया। मरते समय लोगों ने उससे कुछ दान पुण्य करने के लिए पूछा। उसकी जबान बन्द हो चुकी थी। इसलिए उसने इशारे से बताया कि सामने की दिवार में मेरे हिस्से का सारा धन है, वह सबका सब मैं दान करता हूं। पंच लोग कुछ समझे नहीं, उन्होंने लड़कों से पूछा कि भाई तुम्हारा पिता क्या कह रहा है? तो लड़कों ने उत्तर दिया कि पिताजी कहते हैं कि मेरे पास धन कहां है, वह तो इन बीवारों के बनाने में खर्च हो गया अर्थात् मकान आदि बनाने में तमाम धन लग गया। अब मेरे पास बचा ही क्या है? लड़कों को तथ्य का पता था और पिता के भाव भी जान गये, परन्तु लोभ में उनके भी भाव बदल गये। उन्होंने सोचा कि यदि यह धन दान में न दिया गया तो हमारे ही हिस्से में आ जावेगा। इस तरह मरते समय पुत्र हो चाहे कोई हो, हर एक के भाव बदल जाते हैं। जिन्दा कोई नहीं रहने वाला है, मरना तो है ही, जैसे चाहो मरो। मरते समय प्रिय से प्रिय

उत्तम मार्दव

आदमी के भाव भी बदल जाते हैं। वे सोचने लगते हैं कि मरने वाला तो मर ही जायेगा, काहे को धन बरबाद किया जाये ?

मार्दव धर्म के बिना अनेक आपदाओं का संपात—मार्दव धर्म के बिना संसार के सारे जीव दुःखी होते हैं और मान कषाय में लगे रहते हैं तथा परिणामों में निर्मलता नहीं आती। मानकषाय अज्ञानियों में ही सबसे ज्यादा रहता है, ज्ञानियों में नहीं रहता। उनके ही मार्दव धर्म प्रगट हो सकता है जिनके मोह नहीं है। मार्दव धर्म से यह लोक और परलोक दोनों लोक सिद्ध होते हैं। रावण का यह लोक और परलोक भी मानकषाय में ही मिटा। रावण को हुए १० लाख वर्ष के करीब हो गए और आज तक भी सबको उसका नाम सुनते ही घृणा सी होती है तो यह मानकषाय का ही तो प्रभाव है। वह स्त्री के लोभ से नहीं मरा, वह तो मरा मान से। पहले तो रावण के परिणाम यही थे कि मैं सीता को अपने यहां रखूँ, लेकिन जब बहुत कुछ समझाने बुझानेपर भी सीता तम से मस न हुई तो रावण ने विचार किया कि सीता तो वापिस करनी ही है। राम ने भी कहा कि भाई तुम सीता दे दो, चाहे तुम मुझसे कुछ भी संपदा ले लो। सीता के लौटाने के परिणाम होते हुए भी रावण को उस समय मान का उदय आ गया। उसने मान में कहा—सीता को दूँगा तो जरूर, परन्तु सीता को ऐसे नहीं दूँगा, रामको जीत करके ही दूँगा। उसमें सीता के लौटाने की उदारता तो आई, परन्तु ताकत से देने का मान भी रहा। इस मानकषाय के कारण ही वह मरा। इसके कारण वह नरक भी गया और उससे अपना यह लोक भी बिगाड़ा।

मार्दव व मान में प्रवृत्तियों का एक चित्रण—आजकल कई लोग मन्दिर बनवाते हैं, परन्तु इसलिये कि उनका नाम हो जाए। वह मन्दिर उनका कहलाए। इसके लिए किसी भी पंच का एक भी रुपया नहीं लेते तो जो कुछ भी लगे उसमें मेरा ही लगे, नहीं तो यह पंचायती कहलायेगा और मेरा नाम नहीं रहेगा। ये सब मान की बातें हैं। भाई इन बातों में क्या रखा है? मिल करके काम करो। अब भी कई लोग ऐसे हैं जो मड़ा मन्दिर बनाकर कह देते हैं कि यह तो पंचायती मन्दिर है। देखो—हस्तिनापुर क्षेत्र का मन्दिर है। जब यह पूरा बन चुका, कलश चढ़ना बाकी रहा तो उसके बनाने वालों ने पंचायत से कहा कि भाई मेरे पास धन समाप्त हो गया है, चन्दा करना है। सब भाइयों ने चन्दा किया और कलश चढ़ाया गया। कितनी निर्मलता की बात है? कहां-तो ये परिणाम कि सब कुछ बनवाकर भी उसमें अपनापन नहीं रखते थे और कहां यह परिणाम कि जरा कुछ बनवाते हैं और उससे बड़ा उसपर नाम का पत्थर लगवा देते हैं। मान से अनेक दोष अंकुरित होते हैं। यह मार्दव धर्म समस्त दोषों को दूर करता है। यह मार्दव धर्म जन्ममरण रूप संसारसे उत्तार देता है, किन्तु मान संसारमें परिभ्रमण कराता है।

मम्मदंसणुअंगु मद्दउ परिषाण जु मुणह ।

इमि परियाण विचित्त मद्दउ धम्म अमल थुणह ।

सम्यग्दर्शन के अद्भुत मानवधर्म के अनुसरण का अनुरोध—यह मार्दव परिणाम सम्यग्दर्शन का अंग है। मान न करो, एक सम्यग्दर्शन को पहिचानो, जगत के पदार्थों का जो सत्य स्वरूप है उसकी श्रद्धा करो तो जगत में कुछ बिगाड़ नहीं हो सकता। मार्दव धर्म और विनयभाव के द्वारा मन के सारे दोष दूर हो जाते हैं ऐसा जानकर हे भव्य जीवों! इस अद्भुत और निराले मार्दव धर्म की स्तुति करो। मार्दव धर्म जन्म-मरण से इस जीव को पार कर देता है। एक इस निर्मल मार्दव धर्म को धारण करो, और अपनी आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप में स्थिर रहो, इसको उत्तम मार्दव धर्म कहते हैं।

परमार्थ विनय में परमार्थ आराम—आज मनुष्य को विलक्षण आराम में रखने वाले मार्दव धर्म का वर्णन है। जो मनुष्य अभिमान करता है वह निरन्तर दुःखी रहता है। जिसके अभिमान नहीं, जिसकी अभिमान रहित

परमब्रह्म स्वरूप पर निगाह है वह अतुल आनन्दामृत का पान करता है। मार्ग पुरुष अपने आपको भले ही समझता है कि मैं बहुत ऊंचा हूँ। परन्तु और दुनिया की निगाह में तो देखो वे क्या सोचते हैं? वे मानी पुरुष को नीचा निरखते हैं। भले ही कोई पर्वत की चोटी पर चढ़ा हुआ पुरुष नीचे चलने वाले लोगों को छोटा समझता है परन्तु नीचे चलने वाले उन लाखों लोगों से तो पूछो उनकी निगाह में वह पर्वत के ऊपर चढ़ा हुआ व्यक्ति छोटा दिखाई देता है। मानी पुरुष की ऐसी कल्पना है कि मैं बड़ा हूँ, जो अपने को बड़ा मानकर चलता है वह तो खुद विपदा में है और घटनायें भी ऐसी बन जाती हैं कि जिससे उसे बुरी तरह से दुःखी होना पड़ता है। अभिमान करने से आज तक किसी ने कोई लाभ नहीं पाया। सच पूछो तो यह अहंकार इस आत्मा के पतन का कारण है। ये जो उपनिषद्, अध्यात्मिक ग्रन्थ बने हैं उनकी भूमिका ही यह है कि अहंकार न रहना चाहिए। अहंकार इस-जीव को कब होता है जबकि यद्भव पदार्थ, विनाशीक पदार्थ इसको प्राप्त होते हैं। असली चीजपर अभिमान (स्वाभिमान) करना तो अच्छा है, पर जो गंदी बातें हैं, दूसरों पर कन्ट्रोल करने की मन में बसी हुई बातें हैं, खोटी बातें सोचकर मान करे कोई तो यह गंदा भाव है। जब तक ये अहंकार के भाव, प्रलोभन के भाव दूर नहीं हो जाते हैं तब तक अपने आपमें बसे हुए परमात्म प्रभु का दर्शन न मिलेगा।

प्रलोभन समाप्त होनेपर ही अध्यात्मरस लाभ की पात्रता—ऋग्वेद उपनिषद् ग्रन्थ की भूमिका में बताया है कि नचिकेता का पिता वाजश्रवस सभी को सब कुछ धन सम्पदा आदिक बांट रहा था, तो उसके बेटे ने पूछा—पिताजी आप सबको सब कुछ दे रहे, मुझे किसको दोगे? तो पिता झुंझलाकर बोला—तुझे मृत्यु को (यम को) दूँगे। अब क्या था, वह बालक यम के पास गया। उस समय यम बाहर गये थे, तीन दिन बाद आये तो यम उस बालकपर यह जानकर कि तीन दिन से मेरी प्रतीक्षा में भूखा बैठा है, सो बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—बेटे तुमपर हम बहुत प्रसन्न हैं, तुम्हें जो मांगना हो मांग लो—३ वर मांग लो। दो तो उसने मांग लिये। जब तीसरे वरदान को कहा तो उस बेटे ने क्या वरदान मांगा कि आप मुझे यह दिखा दें कि मृत्यु के बाद मेरे आत्मा का कुछ अस्तित्व रहता है या नहीं? ... अच्छा तो लो समझ लो यमने तब ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, सब रचना उसे समझा दिया। तो वह बालक फिर बोला कि यह तो मैंने सब कुछ समझ लिया, पर अब यह तो बतलाओ कि इस सारी दुनिया में कोई मृत्यु से बचा भी है क्या? जिसकी कभी मृत्यु ही न हो ऐसा भी कोई स्थान है क्या? यमने बताया कि हों ऐसा भी कोई स्थान है। देखिये यह आत्मा मुक्त हो जाने पर फिर कभी मरण को प्राप्त नहीं होता, बाकी तो दुनिया में मृत्यु सब जगह चल रही है। वह मोक्ष ही अमृत है। ... तो बस महाराज, मुझे तो उस अमरत्वकी विधि बताओ यमने कहा—देखो राज्य लो, साम्रज्य लो, और बड़े-बड़े आराम के साधन लो, अनेक स्त्री लो—बहुत प्रलोभन देने पर भी इन्हें बालक उस यमके कहने में न आया, आखिर यम द्वारा उसे आत्मा का स्वरूप समझाया गया। अब आप समझ लीजिए कि आत्मा का स्वरूप समझने का वही पात्र होता है जिसको कि दुनिया में कोई प्रलोभन नहीं।

ज्ञानज्योति का प्रलोभनादि प्रलोभन की सामर्थ्य—प्रलोभन न सताये इसका उपाय पहिला यह है कि अपने इस देह में, इस पथीय में इस क्षणभंगुर काया में मोह को त्यागें। त्यागने वाले त्यागते हैं। जिनको आत्मा से अनुराग है, आत्मा का आनन्द ही जिनके लिए सब कुछ है उनको त्यागने में विलम्ब नहीं लगता। जैसे खूब अच्छा ताजा भोजन मिल रहा हो तो बासी भोजन त्यागने में किसी को विलम्ब तो नहीं लगता। यों ही समझिये कि जिसे स्वाधीन अनुपम आत्मीय आनन्द मिला हो उसको इन बाहरी विषयों के त्यागने में कौनसी अड़चन है? तो थोड़ी देर को अपना कुछ ऐसा उपयोग बनायें कि इन किन्हीं भी बाहरी चीजों में प्रीति न रखें। अपने मनको निष्पाप बना लें। तो आपमें यह बात बहुत जल्दी बन जायगी। लोग कहा करते हैं कि वह तो बहुत अच्छा समझाते हैं, पर

भाई समझाने वाले की क्या तारीफ़ ? समझने वाले की अधिक तारीफ़ है। जो हित चाहने वाला है वह अपने हित की बात को सुनकर षट् समझ जाता है। तो किसी बात के समझने में समझाने वाले की तारीफ़ खास त्त समझिये—किन्तु समझने वाले की तारीफ़ समझिये—यदि वह समझने वाला समझने लायक अपना हृदय बनायगा तो उसकी समझ में आयगा, न बनायगा तो न आयगा। वही बात एक बच्चा बोले तो वह षट् समझ जायगा और जिसका हृदय शुद्ध नहीं है उसे चाहे ऋषिराज भी कितना ही समझाये, पर उसकी समझ में नहीं आता। तो समझने वाले की तारीफ़ है। अपने को इस योग्य बनावे कि आत्मा को सारी बातें समझने में आयें। यह आत्मा स्वभाव से नम्र है, अपनी ओर जाने वाला है, अपनी ओर ढल रहा है। जैसे नदी में निम्नगां होने की प्रकृति है, वह नीचे की ओर ही बहने की प्रकृति रखती है। ऐसे ही अपना यह उपयोग भी अपनी ओर ही झुकने का स्वभाव रखता है। हां जैसे कोई यंत्र नदी के जल में डाल दिया जाय तो नदी के जल का प्रवाह विपरीत हो जाता है, यंत्र तब जल बहने लगता है, ठीक ऐसे ही हम आपमें ज्ञान और वैराग्य की प्रकृति तो आत्मा में रहने की ही है, पर रागद्वेष, क्रोध, मान, माया लोभादिक यंत्र उसमें लगा दिए जायें तो उसका उपयोग ध्वर उधर चलने लगता है। यह बहुत सुगम बात है कि अपने आपमें विनय आ जाय और अपने आपमें अपने को विलीन कर दे, यह सुगम बात है, लेकिन जब तक मिथ्यात्व न टले, मोह न टले, इस देह में 'यह ही मैं हूँ' इस प्रकार की विपरीत बुद्धि न भिटे तब तक यह बात कठिन है। तो सबसे अधिक बाधक क्या रहा इस कल्याणमार्ग के लिए ? यही अभिमान।

पर व परभाव की बुद्धि में गर्व करने की व्यर्थता—देखो जो कुछ यहां कर्म व कर्मफल हो रहा है यह प्रकृति के गुणों के द्वारा किया जा रहा है। आप लोग जानते हैं कि जब कर्म प्रकृति का अनुभाग बनता है तो उसके विपाक में ये सब ठाठ बनते हैं। तो हैं ये प्रकृति के धर्म, परकृत परिणाम, लेकिन इसमें जीव मानता है कि मैं करने वाला हूँ। तो देखो जो अपने को कर्ता मानता है वह कितना अपने को हैरान किए डाल रहा है ? जैसे कोई बेलगाड़ी जा रही हो, जिसमें ५०-६० मन बोझ लदा हुआ है तो उसके पीछे कुछ बच्चे लग जाते हैं, उस गाड़ी को ढकेलते हैं और अहंकार करते हैं कि मैं इसे चला रहा है। पर जब कभी वह गाड़ी खड़ी हो जाती तब फिर वे बच्चे यों ही खड़े रह जाते हैं, उस गाड़ी को ढकेल नहीं पाते। खड़े-खड़े दुःखी होते रहते हैं। यों ही ये संसारी प्राणी कुछ पुण्य का उदय पानेपर मानते यह हैं कि मैं ही तो परिवार का पालन-पोषण करता हूँ। मैं ही कमाता हूँ—पर जब कभी पापोदय आता तो फिर कुछ भी कर्तव्य नहीं चलता, यों ही दुःख रहा करते हैं। तो ऐसा अभिमान करना ठीक नहीं कि मैं परिवार का पालन-पोषण करता हूँ, मैं ही धन कमाता हूँ अरे जो कर्तापन के अहंकार में है उसे मृदु स्वभाव वाले इस परमब्रह्म स्वरूप का परिचय नहीं मिलता। नम्रता एक ऐसा गुण है कि जिसके प्रताप से इस लोक में भी सुख मिलेगा और परलोक में भी सुख मिलेगा। ज्ञानार्णव ग्रन्थ में लिखा है—“क्व मानो वाम संसारे जन्तुर्ब्रजविडम्ब के। यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्टामध्ये कृमिर्भवेत्”। अरे इस संसार में मान करने की क्या गुंजाइश ? जहां राजा होकर भी कीड़ा बन जाय। अरे और भव की तो बात जाने दो—एक इसी भव में ऊंचे पद से गिरकर यद्रि नीचा हो जाय तो दुनिया की निगाह में वह तुच्छ कहलाता है। जिस समय कोई मान कर रहा है उस समय सारी दुनिया उसे तुच्छता की निगाह से देखती है। इस मान से इस जीवन में भी नुक्सान है और परभव में भी नुक्सान है। इस जीव के लिए यहां का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो कि हितरूप हो, सब अधेरा है, माया जाल है, धोखा है, कर्णों पदार्थों के पीछे अपने आपको बरबाद किया जा रहा है ?

खुद में खुद की महत्ता प्राप्त करने का संदेश—भैया ! इन समस्त परपदार्थों से अपनी कुछ महत्ता न समझो। ज्ञानी पुरुष तो किसी दूसरे से अपने को महान नहीं बनाना चाहते, वे तो खुद में खुद की महान बनाना चाहते हैं। परपदार्थों में अपनी महत्ता बनाना यह तो अभिमान है और अपने आपमें अपनी महत्ता बनाना यह वास्त-

विक महानता है। दुनिया में सब जगह ढूँढ़ने जाइये—आपको कौन बड़ा मिलेगा? बस खुद ही खुद में महान मिलेगा। अरे भाई आपको जैसा करना हो कर लो, मगर तात्त्विक बात समझ लीजिए। खुद खुदका सहारा है। खुद खुदका धारण है, दूसरा कोई धारण नहीं। अपने आपको देखो—अपने आपमें गुणकारी बनो। और यह बात तब हो सकती है जब हम खुद नम्र बन जायें। अपने लिए नम्र बन जायें। नमने के मायने झुकना, नम गए मायने झुक गए। यदि यह जीव अपने आपके लिए नम्र हो जावे और दूसरों के लिए भी नम्र हो जावे तो यह अवश्य ही अपना अनुपम आनन्द प्राप्त करेगा। देखो—पुराणों में भी बताया है कि भाई किसी के सामने तुम अभिमान भरी बात मत करो। नम्रता का व्यवहार करो, अपने आपके प्रभु को प्रसन्न करो। इस मान कषाय के रहते हुए अपने आपमें बसा हुआ परमात्मतत्त्व निर्मल नहीं हो सकता। एक कवि की कल्पना में एक बात बताई गई है कि जब मनुष्य अहंकार में चलता है तो उसके चलने से जमीन में कुछ गड्ढासा हो जाता है, तो कवि की कल्पना में मानो वह पृथ्वी उस अहंकारी पुरुष से कटती है कि ऐ अभिमानी मनुष्य, तू मेरे खाक का पतंग होगा, तू मेरे इस गड्ढे को भरने वाला मसाला बनेगा याने मिट्टी में मिला जायगा, तू अकड़कर क्यों चल रहा है?

पर में अहंकार छोड़कर निज ब्रह्मस्वरूप में निविष्ट होने का संदेश—एक मूल बात समझ लीजिए कि समस्त परकी याद भूल जाय तो सारे गुण आने सरल हैं, और सारे अवगुण दूर हो जाने सरल हैं। परमात्मतत्त्व यही है कि यह ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने आपके स्वरूप में ज्ञानस्वरूप के अनुरूप हो जाय। यह काम कोई कठिन नहीं है। देखो सभी आत्माओं की बात है। आत्मा के नाते से अपने आत्मा की बात विचार लो, इसमें कल्याण मिलेगा। यह शरीर पिण्डोला देखकर कोई माने कि मैं तो यह हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, मनुष्य हूँ आदि, तो यह अंधेरा है। भीतर में देखो तो सबका एक समान स्वरूप है। सब ज्ञानमात्र हैं, सब चैतन्यस्वरूप हैं। तो जब स्वरूप सबका एक-सा है तो सबपर जो बात गुजरेगी वह एक विधि की, होगी। जो मेरा नहीं है उसकी निगाह छोड़ें और जो मेरा स्वरूप है उसको निगाह में ले लें। जो भी ऐसा करेगा उसका भला होगा। जो देह मिला है उसमें देहाध्यवसाय न रहे तो इसको अपने आत्मा का जीहर, रत्न, अनुपम ज्ञानप्रकाश इसको स्वयं प्रकाश में आ जायगा। तो मान करने से इस जीवन में भी कुछ लाभ नहीं और परभव में भी कुछ लाभ नहीं। लोग तो कह्य भी करते हैं कि जब तक यह नाक रहेगी तब तक परमात्मा के दर्शन नहीं होते। तो उनका कहना ठीक ही है। यहाँ नाक का अर्थ है मानसे, अहंकार से। जब तक यह अहंकार है, अभिमान है तब तक प्रभु के दर्शन नहीं हो सकते। अभिमान दूर हो तो मेरे आत्मा का जो सही ज्ञानप्रकाश है उसके दर्शन होंगे। लोग कहते हैं ना—तमसो मा ज्योतिर्गमयः। अर्थात् हे प्रभो मुझे अंधकार से हटाकर मुक्ति में ले जावो—पर जरा सोचो तो सही—क्या कोई दूसरा भगवान किसी को उठाकर मुक्ति में ले जा सकेगा? अरे खुद ही जब उस मार्ग में लगकर ज्ञानप्रकाश पाऊंगा तो खुद ही खुद को मुक्ति में ले जा सकूंगा। इस लोक में भी और परलोक में भी जितना बिगाड़ है वह इस अहंकार के कारण है। अरे अहंकार किस बातपर करते? कितने दिनों की जिन्दगी है? आखिर भरना तो होगा ही।

बेहनिर्मम होकर सत्सङ्ग, ज्ञान व वैराग्य द्वारा विकासोन्मुख होने का संदेश—गीता के भी दसवें अध्याय के २२वें छन्द में एक उदाहरण दिया है—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि श्लक्ष्णानि नरोऽपराणि तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ अर्थात् जैसे एक वस्त्र जीर्ण हो जानेपर लोग उसे छोड़कर नवीन वस्त्र धारण कर लेते हैं, इसी प्रकार ये जीव एक शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण कर लेते हैं। समाधि तन्त्र में बताया है कि जीर्ण वस्त्रे यथात्मानं न जीर्णं मन्यते व्यथा। जीर्णं स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते तथा। यह शरीर कितना ही जीर्ण हो जाय, पर ज्ञानी पुरुष उससे अपने को जीर्ण नहीं समझता। जैसे कि कोई जीर्ण कपड़ा कसी ने पहन लिया तो उससे कहीं कोई अपने को जीर्ण तो नहीं मानता देखो जब तक इन्द्रियां ठीक हैं, बल

है, सब प्रकार के ठीक साधन हैं तब तक खूब धर्मपालन का कार्य कर लो, नहीं तो जिन्दगी तो बीती ही जा रही है एक दिन निकट काल में ही मरना सभी को होगा। यदि धर्ममय अपना जीवन रहेगा तब तो यह सब भी ठीक रहेगा और आगे का भविष्यकाल भी ठीक रहेगा और यदि इन विषय कषायों से ही भरा हुआ जीवन व्यतीत किया तो उससे तो आत्मा का पतन ही है। छान्दोग्य उपनिषद की भूमिका में बताया है कि नारद ने सनत्कुमार के पास जाकर कहा कि महाराज मुझे कोई ऐसी विद्या सिखा दो जिससे कि मेरा कल्याण हो जाय तो गुरु ने पूछा कि तुमने अभी तक क्या सीखा...ज्योतिष, आयुर्वेद, साहित्य, व्याकरण, संगीत, नृत्य आदि। ऐसा सब कुछ बताते हुए उसने अन्त में यही कहा कि महाराज अब तो मुझे ऐसी विद्या सिखाओ कि जिससे जीवन में शांति प्राप्त हो, इन किन्हीं भी विद्याओं से मुझे शान्ति न मिली। अब देखिये—सन्तोष प्राप्त होता है एक इस अध्यात्म विद्या से। सब विद्याओं में श्रेष्ठ को एक इस अध्यात्म विद्या का उपयोग करें। जब भीतर में एक रटन बन जायगी कि मुझे तो संसार के इन संकटों से छूटने का उपाय बनाना है तो फिर उसे वह उपाय मिल जायगा, और जिन्हें संसार ही रुच रहा है ऐसे अबोध बालकवद् जीवन बिताने वालों को संकटों से छूटने का उपाय नहीं मिल सकता। तो हम आपको चाहिए कि इस संसार से विरक्त हों और मन में यह भाव हो कि मुझे मोहियों के संग में नहीं रहना है। मुझे तो सत्संगति में रहना है। इन मोहियों के संग में रहकर तो कष्ट ही कष्ट सहना होगा। सत्संग ही करना है। सत्संग से सुवासित हृदय में मोहान्धकार नहीं ठहर सकता। देखो जो पुरुष ज्ञानीजनों का अभिवादन करते हैं, ज्ञानियों का संग चाहते हैं, जिनको ज्ञानियों की प्रशंसा रुचती है उनका कभी पतन नहीं होता।

मार्गवधर्म की उपासना से अपने को निराकुल रखने का संदेश—देखो इस मनुष्य में कितना बल है, कितनी बुद्धि है? एक बड़े हृष्टपुष्ट भैंसे को मनुष्य का एक छोटासा ८ वर्ष का बच्चा गाड़ी में ६०-७० मन बोझ लादकर जहाँ चाहे ले जाता है, मनचाहा पीटता है, मनचाहा नचाये-नचाये फिरता है, उतनी बड़ी ताकत वाला भैंसा भी मनुष्य के एक छोटे से बाकक के भी वश में हो जाता है। तो ऐसे ही जो अहंकारी पुरुष होता है उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उसका मनोबल घट जाता है। एक बात यह भी है कि आप दूसरों के प्रति नम्रता का व्यवहार करेंगे तो दूसरे लोग भी आपके आज्ञाकारी बन सकेंगे, और यदि आप ऐसा करेंगे कि मान न मान, मैं तेरा महिमान, तो भला बताओ आपसे इस परिणाम में आपको निरन्तर कितनी शल्य बनी रहेगी। तो ऐसा अहंकारी पुरुष दुनिया की निगाह में भी तुच्छ है। यदि विनय से आप किसी दूसरे की प्रशंसा करने चर्धें तो आपके चित्त में कोई कष्ट न होगा, आप खुश होकर प्रशंसा करते जायेंगे और यदि आप किसी की निंदा करने बैठें तो पहिले भीतर में आपको अनेक प्रकार के विकल्प करने होंगे, अपने आपको दुःखी बना लेना होगा तब कहीं आप किसी दूसरे की निन्दा की बात बोल सकेंगे। यही तो अभिमान और विनय में अन्तर है। विनय में तो आनन्द ही आनन्द है। आज की विशिष्ट उपासना का विषय है मान न करना, हठ न करना, हठ न करना। हठ भी मान में ही शामिल है और हठ करने वाला जब कुछ समर्थ होता है तब तो उसकी हठ चल जाती है, मगर जब सेर को सवा सेर मिल जाता है तब उसे पता पड़ता है कि मैंने व्यर्थ ही हठ किया था। अब बान हठ छोड़कर वस्तुस्वरूप को जानकर अपने आपमें विरक्ति उत्पन्न करें, खुद में खुद की महत्ता धकट करें यही अपना वास्तविक बड़प्पन है। बाह्य में अपनी महत्ता दिखा देना कोई बड़प्पन की बात नहीं है।

—: ५ :—

उत्तम आर्जव धर्म

आर्जव धर्म की सेवा करके प्रसन्न रहने का अनुरोध—वस्तु स्वरूप को जानकर सरल ज्ञानमय निज ब्रह्म की अभिमुखता पाना, समस्त वक्र-विभावों से दूर होना सो वास्तविक आर्जव है। इस स्थिति में माया का अभाव होता है। यह आर्जव धर्म उत्कृष्ट लक्षणों पर आधारित है। सरलता कितनी अच्छी जीज है? सरल पुरुषों की कितनी उत्कृष्ट बुद्धि रहती है। आर्जव धर्म का उत्कृष्ट लक्षण सरलता है। आर्जव का अर्थ है कपटरहितता याने सरलभाव। कपटी मनुष्य को सदैव चिन्ता बनी रहती है कि कहीं मेरा कपट प्रगट न हो जाये। यदि कभी एक बार कपट प्रगट हुआ कि लोगों की दृष्टि में वह कपटी मनुष्य गिर जाता है तथा वह जिन्दगी भर दुःखी रहता है। जब लोगों की दृष्टि से कपटी गिर जाता है तब एकान्त में कहीं पड़ा सड़-सड़कर उसको मरना पड़ता है। जिसका आदर नहीं, उसका जीना भी मरणतुल्य है। कपट महान अचर्म है। माया अर्थात् कपट तो शल्य है, यह तो कांटे की तरह सदा चुभती रहती है, एक क्षण भी चैन नहीं लेने देती। जगत् का स्वरूप जानकर कपट का त्याग करो। पड़ोसियों के, कुटुम्ब के लोगों के, सगे सम्बन्धियों के सबके विश्वासपात्र बनो और सबसे बड़ी चीज अपने विश्वासपात्र बनो। जो मन में हो सो वचन में हो और जो वचन में हो वही काय की चेष्टा हो। कभी किसी के प्रति अहित की भावना न रखो, इसी से आर्जव धर्म होता है। वह धर्म सब पापों का क्षय करने वाला है। जिसके हृदय में यह धर्म है या कुटिलता जिसके हृदय में वह नहीं घुस सकी, उसके नहीं हृदय में जैन-शासन सरलता से समझ में आ जाता है। अपने हृदय को सरल बनाना चाहिये। जिसका हृदय सरल है वह जैन-शास्त्र का ज्ञान आसानी से कर सकता है। मानी अथवा कपटी का चित्त स्थिर नहीं रहता। आर्जव धर्म की सेवा करो। इस धर्म का पालन करो और आत्मा के ध्यान से सुखी होओ।

धम्महं वर लक्खणु अज्जउ थिरमणु दुरियविहंडणु सुहजणणु ।

तं इत्यु जि किज्जह तं पालिज्जइ तं णिसुणिज्जइ खयजणणु ॥

आर्जवशून्य पुरुष की हीनवशा—आर्जव धर्म, धर्म का श्रेष्ठ लक्षण है। आर्जव कहते हैं सरलता को। सरलता के परिणाम को आर्जव कहते हैं। इस लोक में कौन से पदार्थ ऐसे हैं जिनकी प्राप्ति में आत्मा सदा संकटों से मुक्त हो सके? कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है। जब कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है तब किसके अर्थ अपने परिणामों में कुटिलता करें? कुटिलता परिणाम करने से कोई सिद्धि नहीं होती। यहाँ के वैभव, ठाटबाट तो जो अपने पूर्वभव में आर्जव धर्म किया, उपासना किया, सरलता का परिणाम किया तो उसके पुण्यबंध से ये ठाटबाट मिले हैं। कहीं मायाचार से ये नहीं मिलते हैं। कपट से धन नहीं जुड़ता। धन तो धर्म के साथ लगे हुये शुभ अनुराग के फल में मिलता है। आर्जव धर्म से मन स्थिर हुआ करता है। जो जीव जैसा अपने में विचार करता है वैसा ही दूसरों के लिये कहे और वैसा ही करे तो उसे कहते हैं आर्जव धर्म। आर्जव धर्म का पालन नहीं करने वाले, कपट को बनाने वाले लोग आप अपने प्रति कपट करते हैं। दूसरों के लिये कपट करने वाले अपने आप खुद कपट के गड्ढे में गिर जाते हैं। जो दूसरों के लिये गड्ढा खोदता है वह स्वयं दुःख के गड्ढे में गिर जाता है। उसका कोई बचाने वाला नहीं होता। उसका यह पाप, कपट उसका विश्वास खो देता है। कपटी को बहुत बातें बनानी पड़ती हैं। कहीं कुछ और कह दिया तथा कहीं कुछ और कह दिया। सामने भला कह दिया और पीठ पीछे बुरा कह दिया, यह ही तो कपट है। कपट बहुत दिनों नहीं निभता, कभी एक साथ ही उसका कपट प्रगट हो जायेगा। फिर लोक में उसका विश्वास नहीं रहेगा। कपट से मनुष्य को इस लोक और परलोक दोनों लोकों में दुःख उठाना पड़ता है।

कपट से खुद की ठगवाई—भैया ! इस लोक में तो जगजाहिर है कि कपटी के जिस समय से उसके कपट के परिणाम होते हैं वह बहुत संविलष्य रहता है और कपट प्रगट होने पर तो जो उसकी दशा होती है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह जीता भी मरे के समान हो जाता है। कहीं आदर नहीं, कहीं पूछ नहीं और परलोक में “माया तैर्यंग्योनस्य” माया तिर्यञ्च गति का साक्षात् कारण बताया ही गया है। जो तिर्यञ्च गति के दुःख मायाचारी को भूगतने पड़ते हैं वह भी किसी से छिपे नहीं हैं। इसलिये सरल पुरुष ही धर्म का अधिकारी है। धर्म को सरल परिणति से जल्दी ही जाना जा सकता है। कपटी मनुष्य धर्म को क्या जानेगा ? वह तो धर्म के जानने में भी कपट ही करता है। लोग समझते हैं कि यह तो सुबह प्रजा करता है, शास्त्र स्वाध्याय करता है, घंटों मन्दिर में लगाता है, परन्तु भैया ! कपटी दूसरों को तो धोखा दे सकता है, परन्तु अपने आपको तो धोखा नहीं दे सकता अथवा दूसरों को तो क्या धोखा देगा, कपटी अपने को ही धोखा देता है। फल तो उसे अपने परिणामों का भोगना ही पड़ेगा। बिना सरलता के धर्म के मार्ग पर नहीं चला जा सकता। धर्म के मार्ग पर तो सरल पुरुष ही चल सकेगा।

सरल भावों के द्वारा आजबधर्म की प्राप्ति—आर्जवगुण कपट करके नहीं, बल्कि सरल प्रकृति से पाया जा सकता है। कपट से किया कोई काम, कपट से कमाया हुआ धन, छल से बनाई इज्जत और कपट से किया हुआ धर्म सब बेकार है। कपट को छोड़कर सरलता के मार्ग से चलो तो अपने आपको शान्ति मिलेगी और बनना होगा तो उस मार्ग से अपने आप ज्ञानी बन जायेगा, परन्तु कपटी मनुष्य का चित्त तो हमेशा व्यकुल रहता है। उसके चित्त में तो धर्म की गंध भी नहीं आ सकती। सरल पुरुषों में आज्ञाकारिता, बड़ों का सत्कार आदि गुण सहज ही ही जाते हैं। बड़े शास्त्रज्ञ धर्म का हृदय नहीं पा सकते और सरल मनुष्य कुछ भी करते हुये वक्रता के अभाव में शान्ति पाते रहते हैं। कपटी पुरुष शास्त्र का विशेष जानकार भले ही हो जाये, परन्तु जो शास्त्र स्वाध्याय का फल सुख-शान्ति होना चाहिये वह उसको छू तक भी नहीं जाता और मायाचार से रहित पुरुष को चाहे शास्त्रज्ञान थोड़ा हो, परन्तु सरल चित्त होने से उसमें शान्ति बनी रहती है और भैया, धर्म भी तो इसी को बताया है।

कपट के कारण निरंतर सक्लेशरूपता—कटिल आदमियों के हृदय में तो कोई चीज प्रवेश कर ही नहीं सकती, धर्म तो दूर की चीज है, उसके पास कोई गौरव नहीं और यह निरंतर दुःखी रहता है। इसलिए कहा जाता है कि हे भव्य जीवो ! माया को हृदय से निकाल दो। मायाचारी प्राणी करता तो प्रयत्न दूसरों के बिगाड़ का है, हीं जाता है स्यय का बिगाड़। एक कथा है:—एक शेर कीचड़ में जा फसा। एक गीदड़ किनारे पर खड़ा था। उसने गीदड़ से कहा कि तुम मेरे पास आ जाओ। तब गीदड़ ने कहा—मामा, तुम खा जाओगे, इसलिये मैं तो नहीं आता। तब शेर बोला कि जो खाये उसकी सन्तान मर जाये, इसलिये मैं तुम्हें नहीं खाऊंगा, तुम आओ तो सही। अगर मैं तुम्हें दगा दूँ तो मेरी सन्तान मर जायेगी। गीदड़ फिर भी नहीं आया। तब शेर उसके ऊपर झपटने के लिए उछला। उसका पेट पास खड़े हुये ठूठ में धंस गया। तब गीदड़ हंसने लग गया। शेर ने पूछा कि तुम हंसते क्यों हो ? गीदड़ बोला—मामा, तेरे बाप ने किसी को दगा दी होगी, इसीलिए तू मर रहा है। गीदड़ उसके छल को जानता था, इसीलिए उसकी तो जान बच गई और वह शेर खुद ही मरने लगा। सो भैया ! छल कपट का तो भयानक परिणाम होता ही है। छल से कोई काम नहीं चल सकता। इसके फल से दुःख पैदा होगा। माया और छल को हृदय से निकालो, कपट को हृदय से निकालो। थोड़ी सी मायाचारी भी बहुत अनर्थ करने वाली है। चाहे भित्तनी कठिनाइयाँ हों, परन्तु छल कपट को मन से निकाल दो। जिसके प्रति कभी कपट उसके पास जाकर उससे ही निवेदन कर दो कि भैया तुमसे ऐसा कपट हुआ। ऐसा विचार कर माया कपट को अपने मन से निकाल कर आर्जवधर्म को अपने मन में बसा लो। धर्म के बड़े-बड़े काम कपटरहित हीकर हीं तो बड़े फल प्राप्त हों।

कपट के कपटी की दुर्गति—पीराणिक वृत्त है कि एक मुनिराज एक गांव में चार मास का कठिन उपवास करके विहार कर गये। उसी समय दूसरे मुनिराज उस गांव में आये। लोगों ने कहा कि ये कितने बड़े तपस्वी हैं, जो चार महीने का उपवास किया। मुनि ने इन बात से इन्कार नहीं किया और मौन से वे उनकी बात सुनते रहे। उसका फल उनको अनन्त कपट का लगा। वहां मिथ्यात्व हो गया, क्योंकि उन्होंने अपनी असली स्थिति नहीं बतायी। सबसे बड़ा कपट अपने आपको धोखा देना है दूसरे को धोखा कोई नहीं दे सकता, जो धोखा देता है सो खुद को धोखा देता है। हम भले ही समझें कि हमने इनको धोखा देकर खूब उल्लू सीधा किया, परन्तु भैया ! जरा विचारोगे तो पता चलेगा कि तुमने उसे धोखा नहीं दिया, परन्तु अपने आपको धोखा देकर अपना बहुत बड़ा अहित किया है। तुमने अपने स्वभाव से विपरीत कार्य किया। सबसे बड़ा धोखा तो अपने ही आत्मा को धोखा देना है। आत्मा का स्वभाव परम आनन्दमय चैतन्यमात्र स्वभाव है। मनुष्य कपट से अपनी ही आत्मा के स्वभाव को धोखा देता है। यह कपट मिथ्यात्व का द्योतक है। न राग मेरा स्वभाव है, न द्वेष मेरा स्वभाव है और जितने भी बाह्य पदार्थ हैं वह भी तो मेरे कुछ नहीं हैं। उनसे भी तो मेरा कुछ सुधार बिगाड़ नहीं है, फिर किसके लिये कपट और किसके लिये मायाचारी करना ? ऐसा सोचकर ज्ञानी जीव से कपट नहीं होता। व्यवहार में भी सीधे तो वह कपटी तो अपनी ही आत्मा को धोखा दे रहा है। आज्ञव धर्म तो कपट के छूटने पर ही मिलेगा।

मायाचार न होने से विराम व आराम—जिसके मायाचार न हो तो विकल्पों को विराम होता है। कुटिलता न हो तो मन स्थिर रह सकता है। कुटिलता से कोई सिद्धि नहीं है, फिर भी मोह का ऐसा ऊधम है कि यह जीव नाना गुन्तारे लगाया करता है और कपट करके किसी को छका दिया, दगा दिया तो उसमें वह अपनी रुद्धिमानी मानता है। पर लोग तो हम आपसे भी ज्यादा गुणी, बली, कर्मठ हैं। हम किसको दगा देते चले जायें। जो दूसरों को धोखा देते हैं वे खुद ठगये जाते हैं। सरल पुरुष की तो कुटिल लोग भी सेवा किया करते हैं। पर कुटिल का सेवक लोक में कोई नहीं होता।

कोई १०० साल के करीब की बात होगी जब यहाँ गदर हुई थी। लोग घरों को लूटने लगे। दिल्ली में एक सेठ जोहरी थे वे सरल परिणामी थे। सेठ ने सोचा कि लुटेरे आयेंगे तो वे भी तकलीफ पायेंगे और हमको भी तकलीफ देंगे। तो सब वैभव निकालकर आंगन में लगा दिया। अब लुटेरे लोग आये, देखकर दंग रह गए। अरे, ऐसा तो कहीं हुआ ही नहीं। सेठ जी यह तुमने क्या किया है कि सारा धन आंगन में रख दिया। सेठ बोला भैया यदि यह धन नहीं निकाल देते तो तुम्हारे समय की बरबादी होती और तुम्हें तकलीफ होती। इसलिए हमने इकट्ठा करके रख दिया। सेठ की सरलता को देखकर उन लुटेरों के मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। धन लूटना तो दूर रहा, चार पहरेदार दरवाजे पर उस धन की रक्षा के लिए खड़े कर दिये और दूसरों का घर लूटने चले गये। सेठ का धन सुरक्षित रह गया। तो जो होना है होता है, मायाचार का परिणाम रखने से कोई लाभ नहीं है।

कुटिल हृदय में धर्म का अप्रवेश व सरल हृदय में धर्मपुत्रता—यह आज्ञव धर्म पापों का नाश करने वाला है और सुख को उत्पन्न करने वाला है। जैसे जाप बनती है अर्थात् कांच की गुरिया, जिनसे माला बनती है, उनमें से किसी गुरिया में यदि टेढ़ा छेद हो तो उसमें लाख उपाय करो, माला में वह गुरिया नहीं फंस सकती। उसमें सूत्र नहीं प्रवेश हो सकता। इसी तरह जिसका हृदय टेढ़ा है, कुटिल है, मायाचार से पूर्ण है उसमें धर्म की बात प्रवेश नहीं कर सकती। सरल पुरुष उसको तुरन्त ग्रहण कर लेता। सरलता एक बड़ा गुण है। एक कोई धामनी गांव है, वहां कोई पंडित पहुँचे। मन्दिर में रात्रि को सब जैन श्रावक पहुँचे। पंडित जी ने उपदेश दिया कि देखो भैया ! रात्रि को पानी नहीं पीना चाहिये। रात्रि को पानी पीना खून के बराबर दोषकारी है। मनुस्मृति में भी ऐसा लिखा है। श्रावकों ने कहा, हाँ महाराज नहीं पियेंगे। रात्रि जल ग्रहण का त्याग कर दिया। दूसरे दिन सभा में एक-दो ही पुरुष आये। पहिले बहुत आते थे। तीसरे दिन पंडित जी ने पूछा—**भई भाई तुम**

सब कल रात्रि को क्यों नहीं आये थे ? कहा महाराज तुमने रात्रि को पानी छुटा दिया था सो महागज हम पूटे मुह तो मन्दिर न आते । क्या मतलब ? खाना तो खाते थे । भाई पानी रात्रि का छूटा, पर खाना तो नहीं छूटा । वे पानी न पीवें । जूठे मुंह मन्दिर कैसे आते ? अरे भाई जहाँ पानी का त्याग कर लिया वहाँ भोजन का त्याग स्वयमेव सिद्ध होता है । यह जानकर कि यहाँ के लोग नती, त्यागी तो हैं सो ऐसा समझकर वहाँ पंडित जी और ठहर गये । फिर वहाँ पर जैसा त्याग पंडित जी ने चाहा सबने स्वीकार किया । सरलता के आगे अगर कोई बाधक भी पहुँचे तो वह बाधक पुरुष भी नष्ट हो जाता है । यह मार्दव धर्म कर्मों के क्षय वा करने वाला है । इसी भाव का आचरण करो । दमलाक्षणी पर्व की सेवा असनी यह है कि इस धर्म को अपनी शक्तिभर हिम्मत करके पालन करने में लग जावो । अब तक तुमने क्या किया ? जो हुआ सो हुआ, किन्तु अब तो धर्म मार्ग में अपने कदम बढ़ाओ । क्रोध को त्यागो, मान को त्यागो, और आज है मायात्याग दिवस । सरलता के आचरण में रहें, आर्जव का पालन करें और आर्जव के महात्म्यका श्रवण करें ।

तारिसु गिजयशित्त वित्तिज्जह, तारिसु अण्णहु पुण भासिज्जह ।

किज्जह पुण तारिसु सुससंचणु, तं अज्जवगुण मुणहु अवंचणु ॥

सरलता के कारण हानि का अभाव—जैसा अपने मन में विचार करें वैसा ही दूसरों को कहें और वैसा ही कार्य करें, यह सुखदायी निश्चल आर्जव धर्म है । बनारसीदासजी के मकान में एक चोर चोरी करने आया । उसने चोरी का सामान बटोर लिया और उसकी पोटली बांध ली । वह पोटली इतनी भारी हो गई कि उस चोर से उठी नहीं । सेठ जी ने क्या किया कि आये और चोर से कहा कि भाई, तुमसे यह उठती नहीं है, चलो मैं इसे उठाकर पहुँचा दूँ और यह कहकर वे उस पोटली को उठाकर साथ जाकर पहुँचा आये । चोरने गठरी ले जाकर अपनी मां को बताई । मां ने कहा आज इतनी बड़ी गठरी कहाँ से मार लाया ? चोर बोला कि बड़ा माल मार लाया, इसके मालिक ने इस गठरी को उठाकर स्वयं ही यहाँ तक पहुँचा दी, यह कितने आश्चर्य की बात है ? मां समझ गई और बोली अरे, यह माल बनारसीदास का होगा । वह बड़ा धर्मात्मा है, उसका धन तुझे नहीं पचेगा, तेरी बड़ी दुर्गति होगी । जा, मारा का सारा उसे वापिस करके आ । चोर को वह धन वापिस लाकर दे देना पड़ा । तो भैया, सरल पुरुषों की तो रक्षा करने वाला उसका सरल आर्जव परिणाम ही होता है और इसके विपरीत जो ऐसा सोचते हैं कि देखो हमने उसे कैसा चकमा दिया, कैसा छकाया तो ऐसे लोग तो प्रायः धोखा ही खाते हैं ।

कपटी का पराजय—व्यवहार में देख लो, जो अपने को कुटिलता और कपट में लगाये रखता है, उसकी क्या दशा होती है और जो सरल रहता है उसका सब आदर करते हैं । मायावी पुरुष का पूजा पाठ आदि धर्म करना सब निष्फल होता है । 'मुंह में राम बगल में छुरी' ऐसी दशा उनकी होती है, फिर धर्म कहाँ ? आर्जव धर्म मोक्ष मार्ग के पथ का सहयोगी है । मोक्ष को जल्दी प्राप्त करना चाहते हो तो आर्जव धर्म को अपने भाव में रखो । बस धर्म के साथ रहने से मोक्ष पथ पर जल्दी पहुँच सकते हो, नहीं तो चतुर्गति में थटकर ही रहना पड़ेगा । जो दूसरों से कपट करता है उसे स्वयं लज्जित होना पड़ता है । एक मजाकिया आदमी रास्ते में कहीं जा रहा था । सामने से एक स्त्री कमर पर घड़ा रखे और उसको हाथ से संभाले हुए पनघट से आ रही थी । उसने मजाक से, कपट से, छल से उस स्त्री से कहा कि—

किं मां निरीक्षसि घटेन कटस्थितेन, वक्त्रेण चारुपरिमीलितलोचनेन ।

अन्यं प्रपश्य पुरुषं तव कर्मयोग्यं, नाहं घटाङ्किततनुं प्रमदां स्पृष्टामि ॥

अपनी कमर पर घड़ा रखे हुये हे ब्राह्मणी ! तू गौर से मुझे क्यों देखती है ? इन अपने लोचनों से मुझको तू क्या देखती है ? अपने काम के योग्य किसी दूसरे पुरुष को देख । जिसके शरीर पर घट रहा हो उसे मैं छूना भी नहीं हूँ । अब वह स्त्री जवाब देती है कि—

सत्यं ब्रवीषि मन्त्ररध्वजवाणपीड, नाहं त्वदर्थं मनसा परिचिन्तयामि ।

दासोऽद्य में विघटितस्तव तुल्यरूपी, सो वा भयेन्न भवेदिति मे वितर्कः ।:

कामदेव के व्यसन से पीड़ित हे वारक पुरुष ! तू बिल्कुल सत्य बोल रहा है । मगर मैं मन से तेरे लिये नहीं विचार रही, परन्तु मेरा नौकर जो तेरी ही जैसी सकल का था, वह आज कहीं चला गया । मैं उसे देख रही थी कि वह नौकर तू ही है या और है । इस प्रकार सेर के लिये सवा सेर मिल गया । वह मजाकिया क्षम के मारे लज्जित होकर चला गया । कपटी को तो भैया ऐसा ही नीचा देखना पड़ता है, पग-पग पर निरावर सहन करना पड़ता है ।

कपट के कारण चित्त में उधेड़पन का कष्ट—कपट से कोई बात कही तो सोचते रहना पड़ता है कि तुरन्त वहाँ से जवाब न मिल जाये, नहीं तो लज्जित होना पड़ेगा । इस लज्जित न होने के लिये कपट को त्यागो । हमारे गुरुजी (पूज्य श्री १०५ भुल्लंक गणेशप्रसाद जी वर्णी) कहा करते थे कि हम तो सबकी बात जानते हैं कि किसके मन में क्या भाव है, परन्तु कहते इसलिये नहीं कि क्यों उसका जी दुखावें । इसलिये यह समझना चाहिये कि कहीं ऐसा नहीं है कि कोई मेरे कपट का कहीं पता नहीं लगा सकता । कपट को सब पहिचान लेते हैं, हाँ सज्जन उनकी उपेक्षा कर जाते हैं । आप कपट करके यह न सोचें कि भाई हमारा काम तो निकल जाता है, किसी को हमारे कपट का पता नहीं चलता, परन्तु ऐसा नहीं है । पता तो अवश्य चलता है, परन्तु सज्जन पुरुष उस कपट को प्रगट करके आपका दिल नहीं दुखाना चाहते । कुटिल परिणामों का त्याग करने में ही आर्जव धर्म है । आत्मा में जो भी सम्यग्दर्शन के भाव प्रगट होते हैं वे सब आर्जव धर्म से प्रगट होते हैं भैया, धर्म ही और क्या है ? अपने स्वभाव में आ जाना और विभाव परिणाम हट जाना, यही तो धर्म है । कपट के त्याग करने पर आत्मा स्वयं आर्जव रूप रह जाती है । बस, जहाँ विभाव हटा धर्म स्वयमेव हो गया । आवश्यकता तो विभाव हटाने की है । इसलिये कपट मत करो ।

मायाचार द्वारा स्वयं की बञ्चना—अपनी रात दिन की चर्या को देख लो कि मायाचार करके कौनसा नफा पा लिया जाता है ? तुम्हारी दूकान भी ठप्प हो जाय, रोजगार न चले, वहाँ यह झूठा भ्रम है कि मायाचार करके दूकान चलती है । अगर ग्राहकों को यह पता चल जाता है कि यह दूकान पर मायाचार करता है तो उस दूकान को ग्राहक छोड़ देंगे । जब तक ग्राहक दूकानदार को सही समझते हैं तब तक ही दूकान चलेगी, मन में हो-सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सो करिये । बस यही आर्जव धर्म है । सो ऐसे आर्जव गुण को हे भव्यो, पालन करो । आर्जव धर्म से खुद की भलाई है, ठगई नहीं है । एक बार चिरोंजाबाई जी गुरु जी से बोली कि तुम जहाँ चाहे ठगाये जाते हो । १० आने सेर अनार मिलता है और तुम १२-१३ आने सेर खरीदते हो । तो गुरु जी बोले, मां ठगाये जाते हैं पर दूसरों को ठगते तो नहीं है । दूसरों को ठगने में पाप है, स्वयं ठगाये जाने में कोई पाप नहीं है । हम ठगाये गये तो हममें क्रूरता तो नहीं आती, पापब्रह्म तो नहीं हुआ, भविष्य का मार्ग तो साफ रहा । अगर दूसरों को ठगना चाहें तो लुटिया डूब जाती है और दूसरे अपने को ठग लें तो अपने ऊपर कोई पाप नहीं लगता है ।

प्रवञ्चना की अपेक्षिता—एक बार जगल में सन्यासी बैठा था । भूला भटका एक सेठ का लड़का वहाँ पहुँच गया । वह लड़का खूब सोने रत्न के आभूषण पहिने हुए था । सन्यासी को यह देखकर लोभ आ गया । सब गहने उस सन्यासी ने उतार लिये और उसकी जान से मारने लगा । हीगा कोई वैसा ही सन्यासी । लड़के ने कहा—मुझे जान से मत मारो, नहीं तो तुम्हारी यह बात छिपी नहीं, कोई न कोई कह ही देगा । अरे यहाँ कौन है कहने के लिए ? एक चिड़िया तक भी तो नहीं है । ये पानी के बबूले उठ रहे हैं और यहाँ कौन है ? तो

लड़का बोला कि ये बबूले ही वह दैंगे। खैर मार डाला, गाड़ दिया। शहर में बेचैनी फैली। सी. आई. डी. लम गई। होते-होते एक पुरुष उस साधु के पास पहुँचा और बड़ा भक्त बन गया। बड़ी सेवा करे हर प्रकार से। सो जब १०-११ महीने हो गए, गुरु को बड़ा विश्वास हो गया उस शिष्य पर। एक दिन गुरु जी की सेवा कर रहा था, पैर दाब रहा था वह। गुरु जी तो खूब मस्त थे, बरसात के दिन थे पानी के बबूले देखकर गुरु जी को हंसी आ गई। शिष्य ने पूछा, महाराज क्यों हंसी आई? इसका कारण तो बतलावो? जब कोई भक्त होता है तो उससे कहने में कोई हिचक नहीं होती। बोला—वह बेवकूफ लड़का कहता था कि ये बबूले ही बात कह दैंगे। सारी बात बता दी। बस वह तो सी. आई. डी. का आदमी था जो बड़ा भक्त बनकर रहता था। अब झट कोतवाली गया बता दिया कि सेठ साहब के बच्चे को मारते वाला यह संन्यासी है। उसे मिरफतार करा दिया। लो, बबूलों ने कपट बता दिया। जिस समय यह जीव पापों के परिणाम करता है उसी समय कर्मबंध हों जाता है, और कर्म बंध जाना यह सबसे बड़ा दण्ड है। यह अर्जव धर्म अचक्रक है। इसका मन से पालन करो।

मायासल्लमणेहु शिष्यारहु, अज्जउ धम्म पवित्त पियारहु।

वउ तउ मया वियउ शिरत्थउ अज्जउ सिव्वपुर पंथ सत्तथउ ॥

मायासल्य के निवारण का आदेश—हे शिष्यजनों! मायासल्य को मन से निकालो। शल्य तीन होते हैं—(१) शिष्यात्व, (२) निदान और (३) माया। कषाय शल्यों से अलग है। कषायों को शल्य में नहीं लिया। मायाच्यूर ऐश्वर्य होता ही है। समने कुछ कहें और परोक्ष में कुछ कहें। ये सब मायाचार की ही बातें हैं। ऐसी बात जब हृद्य में रहती है तब शल्य बन जाता है। जैसे कांटा कमीनी आदि लग जाये तो दुःख देते हैं, इसी प्रकार मायाचार क्लृप्त में धर कर जाये तो यह महान दुःख देता है। सो मायाचार शल्य को निकालें यही आर्जव धर्म का पालन है। इस आर्जव धर्म की उपयोगिता पर सदा विचार करो। आर्जव धर्म से नरभ्रम की सफलता है। मायाचारी जीव का व्रत करना, तप करना, धर्म करना यह सब निरर्थक है।

कपट की अस्थिरता—एक गीदड़ को कहीं शेर की खाल मिल गई और एक कागज का टुकड़ा कहीं से मिला गया। वह उस खाल को पहिनकर जंगल के सब जानवरों के पास गया और उनसे कह-कागज का टुकड़ा दिखाते हुये कहने लगा कि मुझे भगवान के यहाँ का यह परवाना मिला है कि तुम आज से जंगल के राजा हो गये। इसलिये आज से तुम सब मेरी आज्ञा में चला करो। सब उसको आज्ञा में रहने लगे। वह बड़ा सम्मान पाने लगा। आषाढ़ के महीने में जब पानी बरसने लगा तो उसकी जाति के सब गीदड़ 'हुआं-हुआं' करने लगे। अपनी बोली होने के कारण वह भी 'हुआं-हुआं' चिल्लाने लगा। शेर ने उसे 'हुआं-हुआं' बोलते हुये सुन लिया और उसे कपटी समझ लिया। अतः इसे तुरन्त मार दिया। इसी तरह जो आदमी कपट करता है उसका कपट अधिक दिन टिक नहीं सकता। जो चीज यथार्थ नहीं होगी वह कभी नहीं टिकेगी। सदा टिकने वाली चीज तो कपट रहित ही है। कपटी अपनी शान बढ़ाने वाला जीवन में छोखा छाता है। कपट से तो बड़ी-बड़ी वेश्यायें भी धनी बन जायें, पर उनके धर्म नहीं होता। कपट से कमाया हुआ धन न दान में और न भोग में लग सकता है। न्याय से कमाया धन ही धर्म में लग सकता है।

कपटाजित धन का सत्कर्म में, चर्म में उपयोग होने का अभाव एवं अपव्यय—एक वेश्या थी, उसने बहुत धन कमाया। अब उसने सोचा कि मैंने पाप तो बहुत किये, चलो अब इस पाप से कमाये हुए धन को दान करके आंवें। दान करने के लिये उसने गंगा के किनारे जाने की विचारी। एक ठग ने देख लिया और उसका विचार भी किसी तरह जान गया। वह गंगाजी के तट पर बदन में भस्म रमाकर समाधि में बैठ गया। वेश्या वहाँ जाकर देखने लगी कि कौन से महात्मा उसके दान के योग्य हैं ताकि बड़े अच्छे महात्मा को दान दे दूँ।

वही ठग महात्मा उसे पमन्द आये। बहुत देर हाथ जोड़े खड़े रहने के बाद महात्माजी ने अपनी समाधि धीरे-धीरे आँख खोलकर भंग की और वेश्या से पूछा कि तुम कौन हो? तब उसने बताया कि मैं वेश्या हूँ और दान देने आई हूँ। वे बोले कि तू वेश्या हो फिर हम इतने बड़े महात्मा से बात करती है? इसका तो बड़ा प्रायश्चित्त होता है। तू क्या दान करती है? महाराज मैं अपनी सारी सम्पत्ति दान करना चाहती हूँ। महाराज ने स्वीकार किया। उसने सारी सम्पत्ति दी और खीर-खांड के भोजन कराये। ठग महाराज ने उसकी सम्पत्ति लेकर कई तरह से सकला कराये, फिर अन्त में एक दोहा पढ़कर आशीर्वाद दिया— “गंजाजी के घाट पर खाई खीर अरु खांड। पीका धन पी ही गया तुम वेश्या हम भांड।” अर्थात् पाप का धन पाप में ही चला गया। भैया! यह बात सयुक्तिक है कि कपट से कमाया धन, दया धर्म आदि में भी नहीं लग सकता। उसे तो ठग ही ठग ले जायेंगे। इसलिये कपट को मन से निकालो। अपनी श्रद्धा करो। अपने चैतन्य स्वभाव पर विश्वास करो। अपने भाइयों के साथ, मां बापों के साथ, छोटे बड़े सबके साथ सरलता का व्यवहार रखो। कपट करने की क्या आवश्यकता है? कपट भाव को मन से बिल्कुन निकालकर शुद्ध आर्जव धर्म को धारण करना चाहिये।

आर्जव का परमार्थस्वरूप—निश्चय से आर्जव का क्या स्वरूप है? जगत के बाह्य पदार्थों आदि में राग, द्वेष, आदि व्यवहार के परिणाम से जो नहीं रहता है, ऐसे अनादि अनन्त, अहेतुक ज्ञानस्वभाव की आराधना से जो अपने आपका अनुभव आये ऐसे अनुभवस्वरूप परमात्मा के अवलोकन को ही वास्तविक सरलता कहते हैं और यही आर्जव का वास्तविक स्वरूप है। बाह्य लक्ष्य से कुटिलता उत्पन्न होती है। जहाँ बाह्य लक्ष्य ही नहीं है, वहाँ कुटिलता की आवश्यकता क्या है? किसी वस्तु से राग हुआ, किसी से द्वेष हुआ, किसी को इष्ट समझा, किसी को अनिष्ट समझा तभी तो कपट का परिणाम हुआ। अपने स्वरूप को समझो, मैं तो एक शुद्ध निर्विकार, निरंजन ज्ञानस्वभाव ही हूँ जिसका, ऐसा आत्मा है। इसी प्रकार की श्रद्धा करो, कुटिलता का परिणाम रहेगा ही नहीं। सरलता अवश्य आ ही जावेगी। जो माया करता, वह तिर्यञ्च योनि में जाता है ‘माया तैर्यग्योनस्य’ ऐसी-ऐसी दुःखमय पर्यायों इस माया के परिणाम से हुआ करती है, जिनको सुनकर भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। सरल और सत्य व्यवहार प्रत्येक मनुष्य से करना चाहिये। कपट किसी से नहीं करना चाहिये। वास्तविक आर्जव धर्म तो यही है कि सर्व जगत् के बाह्य पदार्थों का लक्ष्य त्यागना और अपने आप में पाप की प्रवृत्ति नहीं करना। बात वह बोलो जिससे कपट करने की इच्छा ही नहीं रहे और फिर किसी प्राणी से क्षमा न मांगनी पड़े, अर्थात् प्रत्येक प्राणी के हित की ही बात सोचना। ऐसा आर्जव धर्म का वास्तविक स्वरूप है। कपटी पुरुष यह सोचता है कि मेरा कपट प्रकट ही नहीं हो सकता, परन्तु कपटी का दिल स्वयं निर्बल होता है। जिससे कपट प्रकट हो ही जाता है। प्रच्छन्न पाप भी कभी छुपता नहीं है। लोक में भी कहते हैं कि कुएं में किया हुआ भी पाप प्रगट हुए बिना नहीं रहता।

निर्माय होकर आत्मदर्शन के पौरुष का आदेश—भैया! मनुष्य जीवन पाया है तो चाहे गृहस्थ हो, चाहे त्यागी हो, चाहे साधु हो, एक ही उद्देश्य होना चाहिये कि मैं जिस किसी प्रकार समस्त कुटिलताओं से रहित सरल ज्ञानानन्दस्वरूपी अपने आत्मा को देख लूँ, और मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। जैसे कोई निष्कपट प्रभु का भक्त होता है तो वह केवल निःस्वार्थ प्रभुभक्ति चाहता है। इसी प्रकार जो आत्मदर्शी पुरुष होता है वह निश्चल निःस्वार्थ केवल एक ही उद्देश्य रखता है कि मुझे आत्मदर्शन हो। केवल ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा मेरा ध्यान बने, यही धर्म का उत्कृष्ट पालन है। तो हमें इन मायाचारी परिणामों को तो अपनाना नहीं चाहिये। आपत्तियाँ आती हों उन्हें सहन कर लें, दरिद्रता आती हो आये, धन विगड़ता हो विगड़े, ये सब साधारण चीजें हैं किन्तु मायाचार का परिणाम होगा अंतरङ्ग से तो यहाँ अत्यधिक विकल्प मायाचार से गंदा और किसको कहेंगे? क्रोध होता है होओ,

मगर मूल में गंदगी न आयी, मान होना था हो गया, पर मूल में गंदगी न रही, पर मायाचार के मूल में तो गंदगी ही रही, मायाचार के मूल में तो गंदगी बसी है। लोगों को मालूम पड़ जाय कि बड़ा छली, कपटी, धोखेबाज है तो फिर लोग अपने पास भा नहीं बैठने देंगे। मायाशाल्य इतनी बुरी परिणति है। माया की बात ही क्या है ?

माया की मायाचारी द्वारा व्यक्तता—एक राजा था, वह अपने वगीचे में घूम रहा था। एक सेव पेड़ के नीचे सुखे गोबर पर पड़ा हुआ था। सेव लाल, पुष्ट और बड़ा अच्छा था। उस सेव को राजा ने उठा लिया और पोंछकर खा लिया। अब दोपहर को दरबार पहुँचे। दरबार बड़ा सजा-धजा था। नृत्य करने वाली का नृत्य गान हो रहा था। जो नर्तकी थी उसने कोई गाना गाया। दूसरा गाया, तीसरी बार उसने यह गाना गाया जिसकी टेक है, “कहि देहो ललन की बतियां” सो राजा ने यह सोचा कि इसने मुझे सेव उठाकर खाते हुए देख लिया है सो यह कह रही है कि कहि देहो ललन की बतियां। अभी तो यह मुझसे कह रही है शायद सबसे कह ही न दे, तो ऐसा सोचकर राजा ने उस गाने पर नर्तकी को एक सोने का आभूषण उतारकर दे दिया। उसने तीन-चार बार वही गाया। तीन-चार बार राजा ने गहने उतार कर दे दिए। नर्तकी सोचती है कि यह तो कोई बहिया राग नहीं है, कोई ठुमरी गाये। सो ठुमरी गाने लगी। इस पर राजा ने कोई इनाम नहीं दिया। फिर मोचा नर्तकी ने कि महाराज तो उस गाने पर ही खुश हैं। उसने फिर वही गाया। सो फिर राजा ने इनाम दिया। जब सेव गहने उतार गये तो कहा बता दे हैं। ललनकी बतियां। अरे यही तो कहेगी कि राजा ने गोबर परसे सेव उठाकर खा लिया।

आत्महितविराधक मायाचार को त्यागने का आदेश—अभी आज तक दमलाक्षणी पर्व के दिन हैं। शायद कोई हरी नहीं खाता होगा। बच्चे भी नहीं खाते हैं, और कोई लड़का ककड़ी खाकर आया हो और झूठमूठ ही उससे कह दें कि देखो यह क्या लगा है तो बच्चों हाथ फेरने लगेगा। लगा कुछ नहीं था, मगर ककड़ी खाई होगी तो हाथ जरूर मुख पर पहुँच जायगा। बहुतों की चोरी यों ही निकाल ली जाती है। मायाचार से आत्मा के हित की कोई सिद्धि नहीं है। लोग यह सोचते होंगे कि मायाचार से कुछ यश बढ़ा लेंगे, मायाचार से कुछ धन बढ़ा लेंगे। भाई अनन्त काल भटकते-भटकते कीड़े मकोड़े, वृक्ष आदि पर्यायों में रलते-रलते आज श्रेष्ठ मन वाला जन्म पाया है तो इ ; वैभव के पीछे मायाचार करके अपने संसार को न बढ़ाओ। इस संसार में कोई किसी का साथी नहीं है। केवल अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य का परिणाम ही रक्षक है। सो यह आजर्जव धर्म शिवपुर का सुन्दर मार्ग है। मुक्ति इष्ट है, संसार के संकटों से छूटना अभीष्ट है, शरीर और कर्मों के बंधन से रहित होकर कैवल्य अवस्था यदि अभीष्ट है तो इस आजर्जव धर्म को अंगीकार करो।

जल्य कुटिलपरिणाम चइज्जइ तहि अज्जउ धम्मजु संपज्जइ ।

दंसणणण सरूव अखण्डउ परम अतीन्द्रिय मुक्खकरंडो ॥

कुटिल परिणामों के कारण स्वयं पर अन्याय—जहाँ पर कुटिल परिणामों का त्याग होता है वहाँ ही आजर्जव धर्म उत्पन्न होता है। कोई पुरुष कुटिल परिणाम करके, मायाचार करके समझता है कि मैंने अमुक को खूब छकाया, खूब धोखा दिया, पर भैया कोई दूसरे को धोखा नहीं दिया करता है, खुद ही धोखा खाता है। अनन्त ज्ञान, दक्षान, सुख शक्ति के धारक इस निजनाथ को विकल्प आदि मायाचार परिणाम करके इसने आँखों से ओझल कर दिया ! इसे अब अपना आनन्दमय स्वरूप नहीं दिखता है। यह कितना बड़ा भारी अन्याय है अपने आपके प्रभु पर ? प्रभुपूजा करते हैं और अपने आप में यह समझ न बैठ पाये कि जो प्रभु का पद है, जैसा वह अनन्तज्ञान अनन्त सुखादिका धारी है इस प्रकार का परिणाम मेरे नियम से हो सकता है। इसमें रंच भन्देह नहीं। इतनी बात यदि नहीं समा सकती है तो बतलाओ कर्मों के क्षय का फिर उपाय कहाँ से प्रकट होगा ? धर्म में बसने वाले लोगों से धर्मानुकूल व्यवहार करो। जो आपकी दुकान की आय से बजट बने उस बजट में पोषण करो न उन्हें शान से

रख सकें तो भाई आप लोगों का उदय ही ऐसा है। जैसा मम्भव है धर्मानुकूल व्यवहार कर लो। कुटिलता से तो कार्य की सिद्धि नहीं है। कार्यों की सिद्धि तो शुद्ध भावों से है। शुद्ध भाव होंगे तो पाप खिर जायेंगे, पुण्य का रस बढ़ जायगा, अच्छे दिन सापने आ जायेंगे और नहीं तो तत्काल शान्ति तो रहेगी। मायाचारी पुरुष कब शांत रह सकता है? भैया, माया रहित शुद्ध परिणाम हों बालकवत्। बच्चों में कपटी की बात कभी नहीं देखी जाती है, और कभी देखी भी जाय तो समझ लो कि बाप का या बड़े भैया का असर पड़ गया है। छोटे बालकों में ऐसी बुद्धि कहाँ से आ जाये? वे कपट कैसे सीख सकते?

सरलता का अन्य पर प्रभाव—एक बार दो-तीन लड़के कालेज पढ़ने जा रहे थे। रास्ते में देखा अस्पताल के सामने एक बुढ़िया बैठी थी। बच्चों ने पूछा बुढ़िया माँ तुम यहाँ क्यों बैठी हो? कहा बेटा दवाई चाहिए। बड़े-बड़े लोग तो भीतर घुस जाते हैं और दवा ले आते हैं। पर हमें कौन घुसने दे? सरकारी अस्पताल है। बच्चों ने सोचा कि हमारा पढ़ना बेकार है। हम किसलिए पढ़ते हैं? हम एक ऐसा अस्पताल खोलेंगे कि जिसमें गरीबों को ही दवा मिलेगी। संकल्प कर लिया कि एक बहुत बड़ा अस्पताल खोलेंगे। सबने सलाह किया। एक बजट ५ लाख का बनाया। बातों से तो काम न चलेगा। इतना पैसा कैसे इकट्ठा हो? सबने सलाह किया कोई हर्ज नहीं। आपस में ही किसी नेता को सभापति बनाया गया, कोई मंत्री बनाया गया, किसी को कोषाध्यक्ष बनाया। सब गांव के बड़े-बड़े लोगों से मिले। बताया सारा हाल। किसी से कुछ दो चार हजार रुपया इकट्ठा किया। पर ५ लाख कैसे इकट्ठा हो? खैर, जो पाया सो जमा कर दिया।

एक पुरुष ने उन बच्चों से मजाक कर दिया—क्योंकि गांव के जो सबसे बड़े धनी थे मानो करोड़पति थे पर कंजूस थे सो कहा कि उनके पास जावो, उनसे दो लाख का सवाल करो। २-लाख मिल जायेंगे तो बाकी सब काम बन जायगा। पहुँचे वहाँ लड़के। सेठ से कहा हमारी यह स्कीम है, यह सभापति है, यह मंत्री है, यह कोषाध्यक्ष है, हमें आपसे और कुछ नहीं चाहिए, केवल २ लाख रुपये मिल जायें और बाकी २-३ लाख का प्रबंध हम कर लेंगे। सेठ ने नहीं दिया, लड़कों ने हठ ठान लिया कि हमें इनसे लेना ही है। उनकी हवेली के सामने बैठ गये। दो दिन हो गये, तीन दिन हो गये, भूखे बानक वृद्ध शुद्ध भाव से। सेठानी नीचे उतरी, बालकों से पूछा—क्यों बैठे हो? बालक बोले—हमें अस्पताल खोलना है उसके लिए हमें सेठ जी से २ लाख रुपये चाहियें। सेठानी ने कहा ठहरो, कोई बात नहीं, हम देंगे। लड़कों ने कहा हम तो सेठ जी से ही लेंगे। सेठ ने उन्हें बुलाया प्रेम से पूछा—क्या है बेटा तुम्हारी स्कीम? लड़कों ने बताया। तुम्हारा कुल बजट कितने का है? ५ लाख का। अच्छा तो २ लाख नहीं बेटा तुम और कहीं न मांगने जावो, हम से यह ५ लाख का चेक ले लो। सेठ बोले—हम तो सदस्य बनेंगे नहीं, तुम सब अपना काम करो।

सरलता में लाभ—सरल बच्चा हो तो बाप उसको कितनी जल्दी मुख सामग्री देता है? और यदि बच्चा कुटिल हो, चक्रमा देता हो तो बाप उसकी पूछ नहीं करता है। कोई जगह आपको सरलता से विजय मिल जायगी, पर मायाचार करके विजय नहीं मिलेगी। क्योंकि मायाचार झूठी और छोटी बातों को लिये है। छोटी बातों पर उतारू होना यह कार्य अच्छा नहीं है। बुरे कार्य के लिये कोई कदम बढ़ाये तो उसे कैसे सफलता हो सकती है? आर्जव धर्म वहाँ है जहाँ कुटिल परिणाम का त्याग हो जाता है। जहाँ ज्ञानस्वरूपी यह आत्मा उपयोग में हो, वहाँ आर्जव धर्म होता है। मुख के लिये बहुत उपाय तो किया और कहीं से मिला भी कुछ नहीं और सब अपने-अपने मन में अन्दाज लगा लो। इतनी उम्र तक कितनी ही सेवायें की, सब कुछ किया, पर दूसरों के हाथ कुछ नहीं लगा। एक उपाय और कर लो कि किसी क्षण दो-चार मिनट किसी स्थान पर बैठकर सबको एकदम भूल जावो। एक-दो को भी चित्त में मत रखो, एक साथ सम्पदा को, घर को, शरीर को सबको भूल जावो। किसी को

उपयोग में स्थान न दो। ऐसा दो मिनट भी तो कर लो। इतने से क्या बिगड़ता है? यदि भीतर से यह निजनाथ दर्शन दे देगा तो अनन्तकाल के लिए भला हो जायगा। यह बात, यह प्रयत्न तब हो सकता है जब परिणामों में कुटिलता न बसी हो, सरल वृत्ति हो। दर्शन ज्ञानस्वरूपी अखण्ड अतीन्द्रिय मुख का भण्डार आत्मा का दर्शन उसे ही जाता है जो कुटिल परिणामों को त्यागता है।

एक गृहस्थ के एक बछड़ा था, सो वह उसे दो पैसे का घास रोज खिलाता था। एक ऐसा गिरमा भी आता था जो घास बटोरकर ही बनता था। बछड़ा उस गिरमा को खाने लगा तो वह गृहस्थ बोला कि चाहे गिरमा खा लो, चाहे दो पैसे की घास खा लो। खच हम दो ही पैसे करेंगे।

अप्ये अप्पउ भवहतरंडो एरिसु चयणभावपयंडो।

सो पुण अज्जउ धम्मे लब्भइ अज्जवेण वैरियमण खुब्भइ ॥

आर्जव धर्म की भवतारणता—यह आर्जव धर्म अपने में ही अपने आत्मा को भव समुद्र से तराने वाला है। यह आर्जव भी तब ही होता है जब अन्तर में कषाय कम हों। ऐसा कोई जीव न मिलेगा कि जिसके क्रोध तो बिल्कुल न हो और मान हो, या मान बिल्कुल न हो क्रोध हो, माया और लोभ न हो ऐसा नहीं है। सभी जीवों के ये चारों कषाय रहती हैं। हम उस १६वें गुणस्थान की बात नहीं कह रहे हैं। हम तो यहाँ की बात कह रहे हैं। किसी में कोई कषाय मुख्य होती है, किसी में कोई कषाय। नरक गति में क्रोध कषाय मुख्य है, तिर्यञ्च गति में माया मुख्य है, मनुष्य गति में मान कषाय मुख्य है और देव गति में लोभ कषाय मुख्य है। मनुष्यों में लोभ की प्रबलता नहीं होती है, मान कषाय की प्रबलता होती है। अभी कोई नाम खुदाने की बात आये तो ले लो दो हजार, दस हजार, पच्चीस हजार। नाम की बात आये तो रण में प्राण दे दें। अपने प्राण गवां दें। यह नहीं कि मान ही मान हो, उसके साथ-साथ अन्य कषायें भी चलती हैं। वे अन्य कषायों से कषायों के पोषक बनते हैं। तो आर्जव धर्म में उसकी प्रगति हो सकती है जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ भी शांत हो रहे हों। भया जिनके कषाय शांत हैं वे भव से तिर जाते हैं। ऐसा प्रचण्ड जो चैतन्यभाव है वही एक आर्जव है। जीव परेशानियों से थक कर सन्मार्ग में चलने की चाह करता है, किन्तु विवेकी वह है कि किसी बात से थके बिना ही अपने आप ही वस्तु का सत्यस्वरूप जानकर अपने आप में अपने शरण के दर्शन करे।

परमार्थतः स्वके ही जानने को शक्यता—हम जितना भी जानते हैं यह सब अपने आपको ही जान रहे हैं। चौकी को हम नहीं जान रहे, पर कहते जरूर है कि हम चौकी को जानते हैं। हम इन भाइयों को नहीं जान रहे हैं। हम सदा अपने आपकी जानभूमिका में जो परिणमन होता है, ज्ञेयाकार परिणति होती है उसको ही जाना करते हैं। जैसे—हम दर्पण को देखकर पीछे खड़े हुए बच्चों की हरकतों को बताने सकते हैं कि अमुक ने हाथ उठाया, अमुक ने पैर चलाया, पर हम एक भी लड़के को नहीं देख रहे हैं। हम दर्पण को ही देख रहे हैं पर पीठ पीछे खड़े हुये लड़के देख रहे हैं। जिसका जैसा परिणमन है उस ही रूप छाया रूप परिणमन दिख रहा है। इसी प्रकार हम परमार्थ से अपने से बाहर एक वस्तु को भी नहीं जानते हैं, पर ये सब वस्तुयें जैसी हैं उस प्रकार के छाया रूप जानरूप से, ज्ञेयाकार रूप से परिणमे हुये अपने इस असंख्यातप्रदेशात्मक आत्मा को ही जानते हैं और इसको जानकर ही सारा बयान कर डालते हैं। यही एक धर्म है कि जो हम अपने सहज स्वरूप को जान जायें। सोचो यदि मेरे साथ ये कर्म न होते, शरीर न होता तो मैं किस हालत में होता? ऐसा अनुमान करके उस अनुमान में उतरे हुए परिणमन को ही उपयोग में लें तो इस उपयोग में वह सहज चैतन्यस्वभाव आत्मतत्त्व ज्ञात हो सकता है। ऐसा प्रचंड यह चैतन्यस्वरूप है।

निज प्रभुस्वरूप का तिरस्कार न करने का संदेश—आर्जव धर्म, जिसके पालने से भेरा मला है

इस ज्ञायकस्वरूप का यदि हम तिरस्कार कर दें, अपने को मलिन मायाचार परिणाम वाला बनाकर इस अपने प्रभु का तिरस्कार कर दें तो कर दें, क्या इस ज्ञायकस्वरूप प्रभु का तिरस्कार ही जायगा ? इसकी याद बड़े बड़े योगी-जन किया ही करते हैं। यदि मोहियों ने, मायाचार व छलके रोगियों ने इस ज्ञायकस्वरूप का तिरस्कार कर दिया, प्रभु के स्वरूप से दूर हो गये तो तिरस्कार उस प्रभु का नहीं हुआ, वह तो महान् ही रहेगा किन्तु तिरस्कार इन व्यक्तियों का ही होगा। इस जीव का ही होगा संसारभ्रमणरूप अपमान। एक बार राजदरबार में बहुत दिन ही गये, दो चार कवियों का राजा ने न विशेष आदर किया और न कुछ पारितोषिक दिया। तो कुछ दिन बाद जब राजा ने कहा कि तुम भी कुछ सुनावो तो एक कविता सुनाता है—**त्वं चेन्नीचजनानुरोधनवशादस्मासु मंदादरः,** का नो मानद मानहानिरियता स्यात्किं त्वमेकः प्रभुः। गुञ्जोपुञ्जपरम्परापरिचयादिभल्लीजनैरुद्विक्तं मुक्तादामनिधाम धारयति किं कण्ठे कुरङ्गीदृशाम् ॥ कवि सुना रहा राजा को ही कि हे राजन् ! तुम यदि तुच्छ व्यक्तियों के अनुरोधवश हम लोगों में यदि मंद आदरवाले हो गये तो हे मानके देने वाले राजन्, क्या तुम्हारी प्रवृत्ति से मेरी हानि हुई ? क्या इस लोक में केवल तुम ही प्रभु हो ? गुमची होती है ना, जिनसे सोना तोला जाता है उन गुमचियों के समूह से जिसका परिचय है ऐसे जो जंगली लोग हैं उनको यदि गजमुक्ता मिल जाय तो वह उन मोतियों का भी उपयोग पैरों के घिसने के लिये करता है। यदि ज्ञान न होने से मोतियों का तिरस्कार उसने किया तो क्या बड़ी-बड़ी रानियों के गले में वह रत्न शोभा को प्राप्त नहीं होता है ? कोई गृहस्थ पुरुष, मायाचार में बर्तने वाला यदि ज्ञायक स्वरूप प्रभु का तिरस्कार कर दे तो क्या यह नाथ उसके सन्मान किये से ही उत्कृष्ट होगा ? अरे बड़े-बड़े योगीजन, विवेकी पुरुष इस ज्ञायकस्वरूप प्रभु का आदर करते ही हैं। परिवार के आदर से क्या मिलेगा ? सारी जिन्दगी गुजार दिया, बुढ़ापा भी देख लिया, कितना हाथ आया है ? हमारी और आपकी ही बात नहीं, सभी की बात है। परमेष्ठी का आदर ही और आत्मस्वरूप का आदर ही तो इस आत्मबल के प्रसाद से इस ससारसमुद्र से तिर जायेंगे, सदा के लिये संकटों से छूट जायेंगे। अपने जीवन में संकटों का विस्तार एवं मायाचार नहीं करना है। मायाचार न करो, सरलता से रहनेपर यदि धनहानि भी होती है तो होने दो। इससे आत्मा की हानि नहीं है, पर कलुषित परिणाम हो जाने से ही आत्मा की दुर्गति है। इस कारण आर्जव धर्म की उपासना करो।

अञ्जउ परमप्यउ गयसंकपउ, चिम्मिति सासय अभयपऊ ।

तं गिरुजाजिज्जइ संसउ हिज्जइ पाविज्जइ जिहि अचलपऊ ॥

निरुपाधि सरल अंतस्तत्त्व की सेवा करके सत्य सरल बनने का अनुरोध—यह आर्जव धर्म परमात्मस्वरूप, संकल्पविकल्प रहित है, चैतन्यस्वरूप है, शाश्वत है, आगमरूप है। हे भव्यजनों ! जो इसका ध्यान करता है और निःशक होकर प्रालन करता है उसे नियम से मोक्ष म्द की प्राप्ति होगी। ऐसा मनोबल बढ़े, ऐसा आत्मबल बढ़े कि जो मन में है वही काय से किया जाय, वही वचन से बोला जाय। अपने ही परिणाम अपनी शरण हैं, दूसरों से पूरा नहीं पड़ सकता है। लोग कहते हैं कि आजकल कपट बिना गुजारा नहीं होता, ऐसा सोचना भ्रम है। अब भी कितने ही ऐसे-ऐसे व्यापारी देखे गये हैं जो निश्चय कर लेते हैं कि हमको एक रुपये पर केवल इतनासा ही नफा लेना है। वह चाहे आपसे झूठ बोलते रहें, फिर भी यदि कोई व्यक्ति उस सीमा से अधिक देवे तो उस वे लौटा देते हैं। भ्रान्त तो इसमें है जो थोड़ा भी असत्य आदि का बोझ भी न लादा जाय। अन्तरङ्ग की बात जो है वह साफ तौर पर बयान कर देनी चाहिये ताकि सब लोग तुम्हारा विश्वास करें। आत्मा के स्वभाव को देखो यह आत्मा अकेला ही जायेगा। कोई कपट वपट हमारा साथ नहीं देगा। कपट का त्याग करो, आर्जव धर्म की भावना करो, उसी से तुम्हारा कल्याण होगा। निरन्तर रागद्वेषादिक औपाधिक कुटिल भावों से रहित सरल ज्ञानमय स्वभाव के दर्शन करते रहो। इसी में कल्याण है।

विकास का स्रोत सरलता और कषायों से दूर रहना—लोग अपना विकास करने के लिए अनेक कूट नीतियां अपनाते हैं। मायाचार—बुद्ध, करना कुछ, अनेक दंदफंद बना-बनाकर चाहते यह हैं कि मेरा विकास हो लोक में, मेरा सम्मान हो, इतिच्छा हो, लेकिन वह तो सोचिये कि अन्याय, कूटनीति, मिथ्याव्यवहार करके लोगों के दिल में क्या किसी ने अपना घर बना पाया ? और अपने आपके आत्मा में किसने महत्त्व पा लिया ?

विकास का यदि स्रोत है कुछ तो यह है सरलता। सरलता का नाम आर्जव। आर्जव शब्द संस्कृत का शब्द है, यह शब्द मन्त्र से बना। सरल के भाव को आर्जव कहते हैं। अब आप सरलता और माया—इन दोनों में अन्तर देख लीजिए। माया है कषाय और माया का जो उल्टा है उसका नाम है सरलता। देखो कषायें चार होती हैं ना ? क्रोध, मान, माया, लोभ। रोष नाम क्रोध का है। यह रोष शब्द ही यह बतलाता है कि इसके उल्टे बनो तो तुम्हारा भला होगा। रोष का उल्टा है सरो। काम सरना, काम बनना, हित होना, इसी को कहते हैं अपना काम करना। रोष के उल्टा चलो तो उसमें आपको विकास मिलेगा। दूसरी कषाय है मान। मान शब्द ही कहता है कि यदि किसी को अपनी उन्नति करनी है, अपनी भलाई करनी है तो भुलसे उल्टे चलो, मान से उल्टा नमा—नम्रता। मान शब्द लिखकर इसका जरा उल्टा करना—नमा। नमा का अर्थ है नम्रता होना। इससे फायदा पावोगे। हमारे शब्द के अनुसार चलोगे तो फायदा न पावोगे। ये कषायें जग रही हैं तो इनसे कुछ लाभ न मिलेगा। तीसरी कषाय है माया। उसका उल्टा है यामा। अर्थात् जो यह है सो मुझ न चाहिए। जो यह माया है, जगत है, मायारूप है यह मुझे न चाहिए। मत हो मेरा, ऐसा कोई पौष करे तो भला पायगा, और जरा लोभ का उल्टा करो—बलो, बरे इस लोभ से उल्टे चलोगे तो भला हो जायगा। तो ये कषायें कहती हैं कि शकल सूरतपर आकर्षित मत हो, हम बड़े क्षतरनाक हैं, हमसे उल्टे तुम चलोगे तो भला पावोगे।

मायाचार और सरलता के हानि लाभ का दिग्दर्शन—अब माया और सरलता का अन्तर देखिये—माया में कितना कष्ट है, जो लोग मायाचारी हैं, चित्त में कितनी ही उघेड़बुन बनाये रहते हैं, अब क्या करना, कैसी बात करना, बाहिर न होने देना। जो मायाचार करता है उसका हृदय भली प्रकार क्यों नहीं बनता ? उसे चिन्ता रखती है, त्रिपके प्रति मायाचार किया है उसे यदि पता पड़ जाय या जिन दो के बीच में इतनी दरार डाल दी है, माया की है उसे यदि सही बात का पता पड़ जाय तो उसका क्या हाल होगा ? मायाचारी पुरुष चीन में नहीं रहता। लोभ कहते हैं कि जो सरल होता है वह ठका जाता है, पर भाई यह तो बसलाधो कि सरल पुरुष ठका जाता है या मायाचारी पुरुष स्वयं ठका जाता है ? सरल पुरुष के तो मान लो कुछ धन कम हो जायगा, पर जिसने ठगा वह तो बड़ा छोटा कर्मबन्ध करता है, संकल्ल करता है, और फिर असार चीकों में उसमें सिर रगड़ा। कितना नुकसान क्षिप ? तो सरल पुरुष ठगावा नहीं जाता, सरल व्यक्ति में देखो तो उसे एक लोक में भी विभूति का सम्बंध रहता है और परलोक में भी। धन की कमाई कोई हाथ पैर से नहीं करता। तो सरलता से चलने में लाभ है और मायाचारी से चलने में बड़ा कष्ट है। एक बात सोच लो कि लोभ मायाचार करते क्यों हैं ? असार बातों को पाने के लिए, असार में अपना माया रगड़ने के लिए मायाचारी की जाती है। धन वैभव आदिक सब सारहीन है। आत्मा को देखो—जो ज्ञानप्रकाशमय है उस आत्मा का भला किसी परबस्तु से कैसे हो सकता है ? त्रिकाल असम्भव है कि मेरे आत्मा की शान्ति, मेरे आत्मा की स्वच्छता किसी बाह्य प्रसंग से हो जाय। तो असार को पाने के लिए मायाचार किया। सार मेरे में क्या है ? मेरे आत्मा में सार है एक वह शुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप जिसका आत्मध्वन हो तो सारे संकट दूर हो जाते हैं। तो सार को बरबाद किया गया, मायाचार द्वारा। तो मायाचार से लाभ क्या है ? सरलता में देखो तो तत्काल भी लाभ है और आगे भी लाभ है।

सरल पुरुष से बैर की अनिष्पत्ति—सरल पुरुष के अधिक दुश्मन नहीं होते। आपको उदाहरण के लिए अपने इस नगर में ही ऐसे लोग मिल जायेंगे। जो वास्तव में सरल पुरुष है, जिसके चित्त में मायाचार नहीं है उसके दुश्मन, उसके विरोधी नहीं मिलते। सरलता में बड़े गुण हैं। एक 'टना है दिल्ली की, अबसे करीब १०१ वर्ष पहिले दिल्ली में एक गदर हो गया था तो वहां लुटेरे लोग धन लूट रहे थे। वहां एक सेठ ने क्या किया कि अपने घर का सारा धन (हीरा, जवाहरात, सोना, चांदी आदि) आंगन में निकालकर रख दिए। अब आये ५-६ लुटेरे तो जैसे ही घर में घुसे तो देखा कि सारा का सारा धन आंगन में पड़ा हुआ है। सेठ ने उन आने वाले लुटेरों का स्वागत किया। वे लुटेरे पूछ बैठे कि भाई तुमने सारा धन आंगन में क्यों निकालकर रख दिया? तो सेठ बोला— भाई मैंने सोचा था कि लोग लूटने आयेंगे तो उन्हें धन निकालने में एक समय तथा श्रम न लगाना पड़े, यही सोचकर हमने सारा धन पहिले से ही निकालकर आंगन में रख दिया। वे लुटेरे उस सरलतापर बहुत प्रसन्न हुए और धन लूटना तो दूर रहा, उल्टा अपने दो-तीन आदमियों को उस धन की रक्षा करने के लिए खड़े कर दिये। सारा धन बच गया। तो देखिये ऐसा होता है सरलता का परिणाम। जो मायाचार करता है उसे तो अनेक बातें झूठ सोचनी पड़ती हैं और उन्हें सोचने में उसे भीतर में कितना कष्ट होता है? तो यह कष्ट मायाचार के वश नहीं है।

मायाप्रपञ्चदोष से हानियों का लाभ—ज्ञानार्णव में बताया है "इहाकीर्ति समादत्ते, मृतो यात्येव दुर्गतिम्। मायाप्रपञ्चदोषेण जनोज्यं जिह्मिताशयः। जिसका कुटिल अभिप्राय है, हृदय छोटा है उसको इस लोक में भी बदनामी है, अपयश है और मरकर दुर्गति में भी जायगा। तो माया कषाय से इस जीव का अनर्थ ही होता है और देखो जगत में कुछ वैभव सम्पदा है इसके लिए ही तो लोग मायाचार करते हैं, तब ही तो लोग मायाचार करते हैं, तब ही तो देखो इस धन सम्पदा का ही नाम माया रख दिया है। उसके तो बड़ी माया है। अरे माया नाम तो कपट का है। धन वैभव का ही नाम कपट रख दिया। जैसे किसी केला बेचने वाले को देखकर लोग कहते कि ऐ केला यहाँ आओ, तो क्या वह केले वाला ऐसा कहने लगता कि ऐ केले तू वहाँ जा? अरे वह तो स्वयं ही आ जाता है। वह उपचार कथन कहलाता है। इस धन वैभव का नाम लोगों ने माया रखा है। इस माया में आप सार कुछ न पायेंगे। बृहदारण्यक उपनिषद् की भूमिका में यह लिखा है कि जिस समय याज्ञवल्क विरक्त हुआ और अपनी सारी सम्पदा पत्नी को देने लगा तो पत्नी पूछती है कि जो कुछ दे रहे हो सम्पदा इससे क्या मैं अमर हो जाऊंगी? तो उत्तर दिया कि नहीं। ... तो मैं जिस तरह अमर हो सकूँ मुझे तो वह चीज दीजिए। इस सम्पदा से मुझे क्या प्रयोजन? तब फिर उसे अध्यात्म का उपदेश दिया गया। अध्यात्मविद्या का कथन किया गया। तो यह सम्पदा पाकर मायाचार करके क्या कोई अमर हो जायगा? किसका भला हो जायगा? देखो—जगत में हम आप सब आत्मा के अलग अकेले हैं, अपने ही साथी हैं, अपने ही सहयोगी हैं। यहाँ किसी के कोई सहयोगी बनते हैं तो ये सही आचरण की बातें हैं, सभी संतों ने उनका आदर किया है। देखो जो कोई सीधे मार्गपर चला तो वह अपने लिए ही चला, और जो कोई भटक गया तो उस भटकने वाले ने अपना ही बुरा किया। उसका दुःख बटाने कोई दूसरा न आयगा सोच तो सही। जो हम करेंगे उसका बवाल बनेगा, विडम्बना बनेगी और वह मुझे ही भगनी पड़ेगी।

मायाबियों में धर्मप्रवेश की अपात्रता—जो मायाचार से भरा पूरा हृदय होगा उसमें धर्म की बात नहीं समा सकती। जैसे देखा होगा—कांच के दाने होते हैं ना, जिनसे माला बनती है, तो अगर किसी दाने में टेढ़ा छेद हो गया हो तो आप उसमें सूत पिरोयेंगे तो पिरेंगा नहीं, क्यों नहीं पिरता कि उसमें टेढ़ा छेद है। सूत सीधा छेद मांगता है, तो ऐसे ही जिसका हृदय टेढ़ा है उसमें धर्म का सूत नहीं पिरोया जा सकता क्योंकि धर्म सीधे हृदय को चाहता है। जो कुटिल है, मायाचार में बसा है उसमें धर्म नहीं टिक सकता। धर्म बिना मनुष्य जीवन क्या जीवन? सब काम होते रहें, एक धर्म न रहे तो फिर मनुष्य होने से क्या लाभ है सो तो बताओ—धर्मण हीनः

उत्तम आर्जव धर्म

पशुभि समान , धर्महीन मानव पशुओंके समान है , और कुछ बातों में तो ये पशु आदि तिर्यञ्च मनुष्योंसे बढ़कर हैं , तब ही तो मनुष्यों को शोभा के लिए पशुओं की उपमा दी जाती है । अगर किसी व्यक्तिकी कुछ विशेषताओं का वर्णन करना है , तो कवि जन उसकी तुलना ऐसे ही तो करते है ना, कि इसकी नाक तोते की तरह है, इसकी कमर शेर की तरह है , इसकी चाल हंसकी तरह है, अथवा इसकी चाल हाथी की तरह है, इसका कठ कोयल की तरह है, तो अब देखिये मनुष्यों से अच्छे हो गए ना ये सब पशु पक्षी वगैरह तिर्यञ्च, पर इन मनुष्यों में एक इस धर्मपालन की ही विशेषता है जिससे मनुष्य पशु से अच्छा कहलाता है, जिसके हृदय में कुटिलता है, मायाचार है उसके हृदय में धर्म टिक नहीं सकता । लोग मायाचार करते हुए में सोचते है कि मेरी बात को कौन जानता है, छिपी रहेगी, क्या हर्ज है, लाभ तो मिल जायेगा । काहे का लाभ ? इन असार वैषयिक सुख साधनों का । मगर यह मायाचारी छिप नहीं सकती मायाचार पुरुष, सो अपने मुख से ही अपती माया उगल देता है वह जरा जरासी बातों में घबड़ाता है जिससे मायाचारी की हो, वे दोनों अगर अपनी जगह खड़े हों तो वे घबड़ाते है । अरे रे रे अब तो आफत आ गई । तो इस माया कषाय से किसे शान्ति मिल सकेगी ?

अनेक प्रयासों से छुपाया जानेपर भी मायाप्रपञ्च की छुप सकनेकी अक्षय्यता—ज्ञानार्णव ग्रन्थ में लिखा है कि ब्राह्मणानामपि प्रायः कुकर्म स्फुटति स्वयम् । अलं मायाप्रपञ्चेन लोकद्वयविरोधिना ।" अरे कितना ही कपटकी छिपाओ, पर छिपेगा नहीं । प्रभु तो उस कपट की बातको जान ही रहा है । कौनसा प्रभु ? सर्वज्ञ प्रभुव खुदका भी प्रभु । आखिर जो यहां कपट कर रहा वह भी तो प्रभु है । आज यद्यपि अज्ञान में यह हालत है, मगर प्रभुता तो उसमें भी समायी प्रभु तो घट-घट में विराजमान है । आत्मप्रभु तो जान ही रहा है । एक गुरुजी ने दो-तीन शिष्यों की परीक्षा करना चाहा कि देखें तो सही की कौन शिष्य अधिक बुद्धिमान है ? जो शिष्य बुद्धिमान होगा उसी को अपना उत्तराधिकारी बनाया जायेगा । तो कोई एक चीज दे दिया, मानो कक (कागजकी) चिड़िया दे दिया और कहा कि जावो इसे वहां जाकर मार दो जहां कोई न देखे । एक शिष्य ने तो जंगल में जाकर कुकर्म कर दिया । दूसरा शिष्य जहां जाये वहीं से वापस आये । आखिर गुरु महाराज के पास आया और उस चिड़िया को बंसा हों सौंप दिया । गुरु ने पूछा, तुमने हुकम नहीं माना । "महाराज मुझे कोई जगह ऐसी नहीं मिली जहां कोई देखता न हो । आपका हुकम तो मान ही लिया । बोले—अरे ऐसे तो अनेक स्थान है । शिष्य बोला—महाराज मैंने बहुत जगह देखा, पर सर्वत्र मुझे प्रभु ही दिखे । मेरा जो प्रभु है वह तो देख ही रहा था । कहां करोगे मायाचारी, कहां छिपाओगे, मायाचारी छिपाये छिप नहीं सकती । पर ऐसी सरलता कैसे आयी शिष्य के ? उसे आत्मज्ञान था । देखो बात कोई कहीं की कहे, लेकिन अपना हित करना है तो बात आयगी आत्मा से । अपना आत्मसहारा दिए बिना परिज्ञान किए बिना गुण वास्तवमें प्रकट नहीं होते । भागवत में २४ अवतारों का वर्णन किया है । जिसमें एक ऋषभदेव को भी अवतार बताया है । ऋषभ अवतार को ज्ञान वैराग्य की मूर्ति कहा है, और बताया है कि ये नाभिके पुत्र नन् १०० लड़के थे उनका बड़ा लड़का भरत के ही नाम पर देश का नाम भारतवर्ष पड़ा । यह प्रकरण भगवत के ५ वें स्कंध के ५ वें अध्याय का है तो ऋषभदेवने १०० पुत्रों को पहिले उपदेश किया और उपदेश देकर उनमें ज्येष्ठ पुत्र भरतको राज्य सौंपकर दिगम्बर दीक्षा धारणकी उसमें दिगम्बरत्वकी महीमा बताया कि आकाश ही जिसका अम्बर है, और उनकी मुक्त संगता बताया, जहां मुक्तसंगता है वहां ज्ञान वैराग्य है, जहाँ बाह्य परिग्रहका परित्याग है वहां माया का अभाव है ।

मायाक्रियाओं से पराभव और देहबन्धनदाढ्य—ऋषभदेव ने जो उपदेश किया अपने १०० पुत्रों को उस उपदेश के प्रसंग में एक जगह यह बताया है, सुनिये यह छंद ५ वें स्कंध के ५ वें अध्याय का ५ वां छंद है भागवत में "पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वं । यावत्क्रियारतावदिवं मनो वै कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥" जब तक आत्मतत्त्व को नहीं जाना तब तक आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुआ पराभव सर्वत्र

रहेगा। माया में बड़ा अज्ञान बसा हुआ है। माया को शल्य कहा है। जैसे पैर में कौंटा लग जाये तो वह शल्य की तरह चुभता है, और तो जाने दो—यदि दाँतों के बीच कोई जरासी फाँस चुभ जाय तो वह कितनी चुभती है, तो इसी तरह मायाशक्त्य जिसके हृदय में पड़ी है उसको निरन्तर शल्य रहती। वहाँ अज्ञान बसा हुआ होता है। उस अज्ञान से उत्पन्न हुआ सबैय जहाँ चाहे पराम्भव होता है और इस मायाचार कषाय के कारण जितनी और क्रियायें होती हैं, न रहे माया तो वह भी माया के पेंतरेसे षष्ठी हुई बात है। जब तक ये मन, वचन, कायये कर्म निरन्तर तितर बितर चलते उठते रहते हैं तो उससे क्या होता है कि शरीर का संबंध होता है, नाना जन्म मरण रहते हैं तो भाई यह अपनी दयाकी बात कही जा रही है। अनेक बातें करते आये, अनेक बार समागम हुए, मगर उन धर्म समागमोंमें एक ही बार कुछ ऐसा निर्णय करके रह जायें मनुष्य कि मुझे तो कुछ न कुछ आत्मामें उतारना है, सीखना है और भला बतलाओ इससे बढ़कर विषादकी बात और क्या होगी कि जो बात अपने आनन्द के लिए है उसको तो हटा दें और जो अपने दुःख के लिए है उससे ममता करे तो इससे और विषाद की बात क्या होगी? सबको अनुभव है कि जितना यह माया का प्रसंग है यह सब दुःख के लिए है, अगर चित्त राजी होता है उस माया के प्रसंग तो यह विषाद की बात है। ज्ञान और वैराग्य आत्मा की भलाई की चीज है। तो आत्मज्ञान करें, आत्मा का बोध बनायें, यह सरलता अपने आप प्रकट हो जायेगी क्यों कि आत्मतत्त्व स्वयं सुख उसमें वक्रता नहीं है। सीधा साधा स्वच्छ ज्ञान प्रतिपाद्य मात्र है, उसमें वक्रता का काम नहीं। वक्रता तो बनाई गई चीज है। इस आत्मा का परिचय हो तो सरलता आ जायेगी और नहीं परिचय होता तो क्या स्थिति होगी? जिन्हें आत्मा बोध नहीं है और अनात्मा को आत्मा मान रहे हैं, जिन्हें देहाध्यवसाय हो है उनके मन में कुछ और है, वचन में कुछ और है, करते कुछ और हैं, यह नीति आत्मशक्ति की नहीं है, और आत्मतत्त्वका ज्ञान जिसे है वह जो मन में है सो वचन से कहता है वह करता भी। हाँ, यदि वैसा करने का पौरुष नहीं है तो भी वह मायाचार नहीं कहलाता। तो आत्मज्ञान होने पर सर्व निर्दोष हो गया।

मायाप्रपञ्च से हटकर ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व में मग्न होने का संदेश—समय सार में बताया है कि—“एदिम्ह रदो णिच्चं संतुधो होहु णिच्चभेदम्हि। एणेण होहु तिसो होहिदि तुह उत्तम सोवच्च।” अर्थात् जितना ही ज्ञान मात्र प्रकाश है यही दर्शन है, इसी में तुष्ट हो, यह ज्ञानमात्र प्रकाश है। यह अनुभव कर, यह ही सारभूत चीज है और इसी में तुष्ट होओ। जो अपने स्वस्थ को निरख लेता है और अपने ज्ञानस्वरूप में तुष्ट रहता है उसके आनन्द स्वयमेव है। जागरीशी टीका में एक कथान दिया है कि किसी एक नई बहू के बच्चा होना था तो उसने अपनी सास से कहा कि सासू जी! जब मेरे बच्चा पैदा हो तो मुझे क्या देना कही ऐंसा न हो कि मेरे लोते हुए में ही बच्चा पैदा हो जाय? तो सासू ने कहा—बरी बहू, तू इसकी चिन्ता मत कर। जब बच्चा पैदा होना तो तुझे जगता हुआ ही पैदा होगा। इस वृष्टान्त से इस बात पर दृष्टि देना है कि आत्मा में जब यह ज्ञानपुत्र पैदा होता है तब यह आत्मा में आनन्द उत्पन्न करता हुआ ही उत्पन्न होता है। आपको ब्रह्मज्ञान हो तो फिर किसी से पूछने की जरूरत नहीं है कि मेरे को आनन्द आया कि नहीं आया। आनन्द के अनुभव के साथ ही ब्रह्मका अनुभव होता है। ज्ञानानुभव कही एक ही बात है। हम आप मनुष्य हुए हैं, श्रेष्ठ मन पाया है तो आनन्द जीजिए उस तत्त्व का, आत्मस्वरूप का। उस ज्ञानानुभव से अपने आपको तुष्ट करिये—जो मायाचारी का परिणाम होता है वह होता है पर्यायबुद्धि से याने देह को जब माना कि यह मैं हूँ तो इस देह के पोषण की जो स्थिति है वह भी उतनी होनी चाहिए। तो उन साधनों के लिए मायाचार किया तो जो मायाचार किया तो जो मायाचार का कष्ट उठाना पड़ा वह देहाध्यवसान का परिणाम है।

निज ब्रह्मत्वके बोध में सर्व कौटिल्यों का परिहार—यदि ब्रह्मस्वरूप का बोध है, अहो, सबमें यही-

ज्ञानस्वरूप है एक समान, फिर किसको क्या छलना ? किसका विषय साधन जोड़ना और विषय साधन लेकर मैं कौनसा महत्व पा लूँगा ? ज्ञानी पुरुष वह है जो सर्व जीवों में समान रूप से आत्मतत्त्व को निरखता है, गीता के १३वें अध्याय के २७वें श्लोक में भी बताना पड़ा है कि "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥" जो समस्त प्राणियों में एक समान अन्तः प्रकाशमान परमेश्वर को देखता है जो विनष्ट होते हुआओं में अविनष्ट तत्त्व को देखता है वही सर्व प्राणियों में रहने वाले परमेश्वर को देखता है । देखिये— यहाँ दो-तीन मिनट के लिये एक अध्यात्म की बात कर रहा हूँ, सरल-सरल बोलने में मैं थक जाता हूँ, तो दो-तीन मिनट तक थोड़ा धैर्य रखना, अध्यात्म की बात सुनने में ऊब न जाना । देखो जो ये ज्ञान बनते हैं ना कि अभी कपड़े को जाना, अब भीत को जाना, अब चौकी को जाना, ऐसे ज्ञान जो सज रहे, बताइये—ये विनाशक हैं कि अविनाशी ? ये सब विनश्वर चीजें हैं । अब हम आपसे एक बात पूछते हैं कि बताओ आम का फल जो रंग बदलता है, कभी नीला, कभी हरा, कभी लाल, कभी पीला आदिक तो यह सब बदल किसकी हुई ? तो आम की हुई ना, अथवा जैसे अंगुली एक है तो उसमें सीधापन, टेढ़ापन, बोलपन किरकड़ा हुआ ? तो अंगुली का ही हुआ ना ? तो आपमें जिसकी बदल हुई है उसे कहते हैं रूप साधान्य । उसका नाव है रूपशक्ति । कोई कहे जरा दिखा तो दो, तो तो क्या वह रूपशक्ति दिखा देने की चीज है ? अरे वह तो ज्ञानबन्ध चीज है । इसी तरह जो हमारे ज्ञान बदलते रहते हैं, अभी कुछ जाना, अभी कुछ जाना तो कोई एक चीज तो है जिसकी बदल हुआ करती है, वह चीज क्या है ? वह है ज्ञानस्वरूप । वही है ब्रह्म, वही है परमेश्वर, वही है प्रतिभासमात्र । जरा उसे दिखा दो । तो क्या उसे कोई दिखा सकता ? अरे वह तो ज्ञानबन्ध है । हाँ सरलता के द्वारा कोई उसे पा ले तो वह अमर हो जायेगा, ऐसी अविनष्ट चीजों में जो परमात्मा को देखता है वह देखता है परमात्मा को । तो भाई सरल बनो और ज्ञान के लिए उत्साह जगाओ । मायाचार से कुछ मोड़ो । भुके तो ज्ञान का पोषण करना है । ऐसा संकल्प बनाओ, यह जितनी तो गुजर ही रही है, अन्त में बड़ा बिह्वल होना पड़ेगा, हाथ में इतना कमाया सब छूटा जा रहा है । अरे उसको कोई जानने वाला न होगा और पंस क्या हुआ, जंसा किया वैसा भोगना पड़ेगा । रहना यहाँ कुछ नहीं है, चाहे कितना ही मायाचार कर लिया जाय, मायाचार करके चाहे जितना जो जोड़ लिया जाय, पर रहेगा यहाँ किसी का कुछ नहीं । सब छूट जायेगा, हाथ लगेगा सिर्फ पापकर्मों का बन्ध ।



उत्तम शौच धर्म

सच्चुजि धम्धंगो तं जि अभंगो भिण्णंगो उवओगमई ।

जरसरणविणासणु तिजयपयासणु काइज्जइ अहिणिसुजि थुई ॥

शौच धर्म के अभाव में जीवकी अशुचिता—क्षमा अङ्ग, मार्दव अङ्ग और आर्दव अङ्ग का वर्णन हो चुका है। आज दसलक्षण पर्व का चौथा दिन है, शौच का क्रम है। कारण यह है कि कषाय ४ होते हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ और सबसे पहिले कषाय के अभाव की बात कही गई है। क्रोध के अभाव से क्षमा होती है, मान के अभाव से मार्दव होता है, माया के अभाव से आर्जव होता है और लोभ के अभाव से शौच होता है। यह शौच धर्म धर्म का एक अङ्ग है। जहां पवित्रता होती है उसे शौच धर्म कहते हैं। शुचि के परिणाम का नाम शौच है। पवित्रता वहाँ ही आ सकती है जिसको किसी भी अनात्मतत्त्व में मोह न हो। भिन्न पदार्थों में मोह होने को गंदगी कहा है, लोभ को गंदगी कहा है? क्रोध कषाय अवश्य है, पर वह गंदगी नहीं। घमण्ड भी कषाय है, पर उसे अशुचि शब्द से नहीं कहा और मायाचार तो महाबेवकूपी है उसे भी अशुचि नहीं कहा और लोभ को अशुचि शब्द से कहा। जिसके हृदय में लोभ बसा है वह अपवित्र है, गंदा है। यह जीव संसार में जन्म मरण लेता रहता है। कारण यह है कि परबस्तुओं में आत्मबुद्धि लग रही है। शरीर में हूँ, पर मेरा है, वैभव मेरा है। दो चार जीवों को मान लिया कि ये मेरे हैं। यह हृदय की अपवित्रता है। जब लोभ सताता है तब जीव नीति अनीति, न्याय अन्याय, भक्ष्य अभक्ष्य विवेक अविवेक कुछ भी नहीं गिनता।

लोभकी पापजनकता—एक बार एक पंडित जी काशी से पढ़कर आये। नई उम्र थी। पंडित जी जब घर पहुंचे तो अपनी स्त्री से शान बगराने लगे। मैं बहुत पढ़कर आया हूँ, वेद वेदांत, ज्योतिष के बहुत नाम बोल डाले। नये सम्बन्ध में पुरुष स्त्री के आगे बड़ी शान बगराते हैं। कुछ दिन बाद जब सब ठोकरें खा लेते हैं तब नमते हैं। स्त्री ने पूछा कि हमारे एक प्रश्न का उत्तर दे दो। बोली बतलाओ पाप का बाप क्या है? अब छन्दशास्त्र, वेदशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र सब देख डाले पर पाप का बाप क्या है यह सीधे शब्दों में कहीं न लिखा था। सोचा मेरे गुरु जी ने सब कुछ पढ़ा दिया, केवल एक ही बात छुपा ली, अच्छा तो मैं जाता हूँ और गुरु जी से पूछकर आऊंगा, चले। रास्ते में एक शहर के पास शाम होने लगी। शहर के किनारे एक महल बना था, उसके चबूतरे पर लेटकर रात्रि भर खूब सोया। सुबह होते महल से एक स्त्री उतरी। स्त्री ने पूछा कि तुम कौन हो? बोला मैं एक ब्राह्मण हूँ, एक प्रश्न का उत्तर पूछने के लिये मैं गुरु के पास जा रहा हूँ। क्या प्रश्न पूछा गया? पाप का बाप क्या है? अच्छा महाराज चले जाना। अब देखिये दिन चढ़ आया है, बाप यहां भोजन ले लें, फिर चले जाना। पंडित जी पूछते हैं कि तुम कौन हो? उसने कहा कि मैं आपकी दासी एक वेश्या हूँ। अरे वहां सोने में मुझे दोष लग गया! अरे महाराज ऐसी क्या बात है? वही भी सोते यह पत्थर ही मिलता और आपके दोष लग गया हो तो ये २५ अर्शफियां ले लो, यज्ञ का विधान कर लेना और अपना दोष मिटा लेना। अर्शफियां देखकर महाराज ने कहा अच्छा यहीं खा लेंगे। वेश्या ने क्षत भोजन सामग्री मगाई, पंडित जी ने चबूतरे पर सिगड़ी जलाई। वेश्या ने कहा महाराज जैसी यह जमीन, वैसी ही जमीन अंदर है भोजन अंदर बना लो तो क्या बिगड़ जायगा? और अगर दोष लगता हो तो ये २५ अर्शफियां हैं, ले लो और अपना दोष मिटा लेना। घर के अन्दर पंडित जी रोटी बनाने लगे। स्त्री ने कहा महाराज जैसे आपके चमड़े के हाथ हैं वैसे ही मेरे हैं। आपके हाथ तो खुरदरे हैं और मेरे हाथ कोमल हैं। आप क्यों जलते हो? हमीं खाना बना दें और अगर कोई दोष लगता हो तो ये २५ अर्शफियां और ले लो। प्रायश्चित्त कर लेना। स्त्री ने रसोई बनायी। जीमने लगा। स्त्री ने कहा महाराज तुमने हमें वृत्तकृत्य कर दिया। हमारा जीवन

सफल हो गया सिर्फ एक कसर रह गई। मैं अपने हाथ से आपके श्रीमुख में कौर रख दूँ तो मेरा जीवन सफल हो जायगा और अगर कोई दोष लगा हो तो ये २५ अशक्तियाँ ले लो, प्रायश्चित्त कर लेना। पंडित जी राजी हो गए। सो उसने कौर तो न धरा, पर दोनों गालों में खूब तमाचे मारे। बेवकूफ पाप का बाप पूछने गुरु के पास जा रहा है। पाप का बाप तो यह लोभ है। लोभ पाप का बाप बखाना।

औपाधिक भावों में मलीनता की प्राकृतिकता—अभी देखो जिसके लोभ की प्रवृत्ति होती है उसकी बुद्धि ठीक नहीं रह पाती, अस्थिर मन रहता है, कहीं दूसरी जगह उसका दिल रहता है। तो वस्तु के स्वरूप को पहिचानों। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र हैं, सब अपनी-अपनी सत्ता को लिये हुये हैं। किसी पदार्थ से किसी अन्य पदार्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर क्यों इतना आलस्य? क्यों इतनी आशक्ति? वहाँ धर्म का प्रवेश ही नहीं होता। यह शोचधर्म एक अभंग सर्व में पृथक् उपयोगमय है। यह जरा मरण का नाश करने वाला है। तिजगुपयासणु, तीनों लोक में प्रकाश करने वाली है सो शोचधर्म के अनुकूल अपनी प्रवृत्ति बनाओ। भैया! लोक में किसी दूसरी वस्तु का समागम हो तो उस वस्तु को अपवित्र कहते हैं और उस वस्तु में से बाह्य अवस्था का समागम निकाल लिया जाये तो उसको पवित्र कहते हैं। विजातीय वस्तु के मेल से अपवित्रता आ जाती है और उसके हट जाने से वस्तु पवित्र हो जाती है। इसी तरह यह आत्मा द्रव्यकर्म और नोकर्म का संयोग होने के कारण जो यह उसकी पर अवस्था है अर्थात् उस द्रव्यकर्म के उदय का निमित्त पाकर जो आत्मा में राग, द्वेष आदि विभाव पैदा होते हैं, उनसे आत्मा में मलीनता होती है। उस विभाव से हटकर आत्मा विशुद्ध ज्ञानमात्र हो जाये अर्थात् अपने स्वभाव में आ जाये उसको कहते हैं पवित्रता। जब तक आत्मा के साथ विभाव-भाव लगे रहते हैं अर्थात् आत्मा अपवित्र रहती है तब तक आत्मा कर्मों से बद्ध होने के कारण संसार चक्र में घूम घूमकर महान् क्लेशित होता रहता है। आत्मा की शान्ति तो उसकी पवित्रता में है, किन्तु कितने ही आदमी इस रहस्य को न जानकर केवल शरीर की पवित्रता को ही धर्म कहते हैं।

आत्मा की सम्यक्त्व से पवित्रता—अच्छा भाई इस शरीर को ही देखो, कितना अपवित्र है, खून, पीप, राघ आदि से भरा पड़ा है। नव द्वारों से सदा मल झरता रहता है। इसके अतिरिक्त जितने भी रोम हैं सबसे पसीना बहता रहता है। बहुत ज्यादा मल मलकर नहाने पर भी यह पवित्र नहीं होता और मान भी लिया जाये कि साबुन आदि के प्रयोग से क्षण भर के लिये शरीर भी पवित्र हो जाये परन्तु शरीर के साफ होने से आत्मा की पवित्रता नहीं आती, मल के बड़े घड़े को ऊपर से शुद्ध करने से जैसे वह घड़ा शुद्ध नहीं होता, उसके अन्दर की मलीनता तो उसमें रहती ही है, उसी प्रकार शरीर पवित्र करने से आत्मा में पवित्रता नहीं आती। जैसे मूले कपड़े पर साबुन लगाने से कपड़े का मूल हट जाता है और कपड़ा साफ हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा में जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूपी मूल विद्यमान है उसको सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र्य से हटाने पर आत्मा पवित्र हो जाता है। दशन, ज्ञान, चारित्र्य का जहाँ एकत्व है ऐसे चैतन्यभाव की आराधना ही कर्ममल का हटाना है, ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक भाव है। वह एक ऐसी बुहारी है कि यह आत्मा बुहारकर साफ सुथरा कर देती है, राग, द्वेष आत्मा से निकल जाते हैं, आत्मा धीतराग हो जाता है और जैसे ही धीतरागता हुई वहीं आत्मा में पवित्रता आई और वहीं धर्म हुआ। शरीर के साफ करने से आत्मा की पवित्रता अपवित्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। शरीर तो आत्मा के स्वरूप से पृथक् है, उस पर विचार करना व्यर्थ है। आत्मा तो सम्यक्दर्शन से ही पवित्र हो सकती है। उत्तम शौच धर्म यह बतलाता है कि बाह्य वस्तुओं में ममत्व परिणाम मत करो। बाह्य ठाट-वाट में परिणति रखने को ही अपवित्रता कहते हैं। मैं तो निर्मल ज्ञान स्वभाव से पूर्ण हूँ, यह तो स्वयं शुचि है, इस श्रद्धा के बल पर ज्ञानी आत्मा के रागद्वेष आदि भाव नहीं आते। इसको उत्तम शौच धर्म कहते हैं।

बाह्य ठाठ-बाट से आत्मा का असम्बन्ध—इस दिखने वाले ठाठ-बाट को मैं नहीं करता, यह पर-पदार्थ है। ये पुण्यरूप पदार्थ के निमित्त से अपनी सत्ता से स्वयं होते हैं। पुण्य के उदय बिना कोई कितना ही पुरुषार्थ कर ले, कहीं कुछ नहीं हो सकता। पुण्य के ही ठाठ-बाट ये सब हैं। इनसे मेरा कोई लाभ नहीं है। मेरा धर्म है इस चैतन्यस्वभाव को स्थिर रखना। यह चैतन्यस्वभावी आत्मा ही सहज सुख का देने वाला है। सो भैया ! यदि कोई पुरुषार्थ करना है तो मोक्ष प्राप्ति का पुरुषार्थ करना है, बाह्य सामग्री को इकट्ठा करने का पुरुषार्थ करना आत्मा को अपवित्र बनाना है, बाहिरी वस्तु पुरुषार्थ से नहीं मिलती। ये तो कर्मोदय का निमित्त पाकर व उद्योग का निमित्त पाकर स्वयं सत्ता से उपस्थित होती है। यह आत्मा बाह्य के पुरुषार्थ में नहीं लग सकता। बाह्य का वह आत्मा कुछ भी तो नहीं कर सकता। जिसने समस्त जगत से भिन्न ज्ञानस्वभाव निज आत्मा को पहिचाना, शौचधर्म उसी के होता है। पर्वत में बुढ़ि हो, श्रद्धा हो कि मैं अनुप्य हूँ, कुटुम्बी हूँ इत्यादि भाव तो शौचधर्म नहीं हो सकता। शौचधर्म वहाँ प्रकट होता है जहाँ यह समझ लिया जाय कि मेरा तो मात्र चैतन्यस्वभाव है, यह बाह्य पदार्थ मेरे कुछ नहीं है। लोभकपाय का मैं जड़ से त्याग करता हूँ। सब बाह्य पदार्थ से भिन्न मेरा धर्म है, मैं अपने ज्ञान स्वभाव में ही लीन रहूँ, यही मेरी भावना है। ऐसा सोचने वाले जीव के ही शौचधर्म प्रगट होता है। ज्ञानी जीव के लोभ नहीं होता प्रत्युत्तर परपदार्थों से उपेक्षा होती है। स्वको ही अपना समझता है तभी तो उससे पवित्रता या शौचधर्म होता है। जिसको इस ज्ञानस्वभाव का ज्ञान नहीं, अपने एकाकीपन पर जिनको विश्वास नहीं, उनके अन्तर में शौचधर्म नहीं आ सकता। मैं आते समय कुछ नहीं लाया और न जाते समय कुछ अपने साथ ले जाऊँगा, बीच ही में पाया और बीच ही में यह सब नष्ट हो जायगा, मैं तो जैसा आया वैसा ही जाऊँगा, जिनको इस बात का विश्वास नहीं उनके लिये बाह्य अवस्था ही सब कुछ बनी रहती है। बाह्य के टाठ में ही वे मस्त रहते हैं। परन्तु इस शरीर का एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है और जब ममत्व भाव भी मेरा नहीं है, फिर ममता का विषयभूत बाह्य अर्थ मेरा क्या होगा ? ज्ञानी जीव तो विश्व की सम्पदा को भी तुण के समान निस्सार समझता है—“चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सखिरे भोग। काक बीट सम गिनत हैं, सम्यग्रष्टि लोग ॥”

आत्मस्वभाव के परिचय बिना उत्तम शौच धर्म की असंभवता—आत्मा का वह शौच धर्म तब तक प्रगट नहीं हो सकता जब तक आत्मा के स्वभाव को न जान लो। वह तो सोचो कि क्या मैं संसार में अखाड़ा जमाने आ गया ? क्या मैं यहाँ सदा रहूँगा ? जिसको ये मुझे समझते हैं उस लाभ को तो माता, पिता, भाई, बन्धु, सगे सम्बन्धी, पड़ोसी, ये जितने भी हैं, एक न एक दिन तुरन्त उठाकर फूँकेगे। फूँको उसे, वह मैं नहीं हूँ, सबसे भिन्न ज्ञायकभाव मैं हूँ, फिर मैं क्यों किसी से श्रुति करूँ क्यों उनके लिये न्याय अन्याय से धनोपार्जन करके पाप की पोट अपने सिर पर धरूँ क्यों उनमें ममत्वबुद्धि करके अपने को नरकनिर्गद का पात्र बनाऊँ ? सब ओर से अपने को हटाओ, एक ज्ञानस्वरूप को देखो। इस जगत के बन्धनों का त्याग करने पर उत्तम शौच धर्म प्रगट होगा। बाह्य की प्रवृत्ति से आत्मा में धर्म का विकास नहीं होता। आत्मा की ज्ञान परिणति से ही आत्मा में धर्म का विकास होता है। परपदार्थ से ही तो मुझे सुख मिलता है, ये स्त्री-पुत्र मुझे सुखी करते हैं, धन मेरे सुख की वृद्धि करता है यह मानना गलत है। बाह्य पदार्थ हमारे कार्यों के निमित्त अवश्य रहते हैं, परन्तु बाह्य की प्रवृत्ति से वह काम नहीं होता। वह तो स्वयं के उपादान से ही होता है। शौचधर्म वहाँ ही प्रगट होता है जहाँ बाह्य से दूर केवल आत्मा के स्वरूप का लक्ष्य होता है।

शाश्वत अन्तस्तत्त्व की दृष्टि से उत्तम शौच धर्म का विकास—यह शौच धर्म धर्मों का एक अङ्ग है। ये दस के दस धर्म ऐसे हैं कि एक धर्म का पूरा पालन होने तो उसमें ६ धर्मों को पालना स्वयमेव वर्जित है। जितने परवस्तु में अपने आपकी बुद्धि नहीं की, बुद्धि लुप्तपन ही तो मेरा स्वभाव है, यही तीनों काल तक मेरा

स्वरूप रहेगा, भेरे यहां क्रोध होगा, मान होगा, कषाय होगा, अहंकार होगा, ऐसा सोचने से उसके सारे धर्म अपने आप आत्मा में गर्मित हो जाते हैं। यह शौच धर्म शरीर से भिन्न है। यह आत्मा का स्वभाव है। शौच धर्म को शरीर का धर्म समझना मूर्खता है। अंतरंग में आत्मा का निर्ममत्व परिणाम ही आत्मा को शुद्ध करता है। पर-पदार्थ क्षणिक हैं अपने आप चले जायेंगे, आप आयेंगे। हमसे भिन्न हैं, हमारे नहीं हैं यहां तक कि शरीर को भी तो कह दिया कि मेरा शरीर भिन्न है, तो मैं तो कोई वस्तु ही निराला हूँ। उस 'मैं' का स्वरूप इन पर पदार्थों से बिल्कुल ही विपरीत है। बस इतना ही तो घोषा है कि हमने उनको अपना मान रखा है। इतनी सी बात मान लो कि कोई पदार्थ भेरे नहीं है (और वास्तव में है भी नहीं) तो सब सुख तुम्हारे पास आ जायेगा। परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। आत्मा-का पवित्र भाव जो मेरा है वह ही पवित्र शौच धर्म के उदय में सहायक होगा। आत्मा के स्वभाव की दृष्टि रखकर ही अशुद्ध अवस्था में भी यही विचार रखना कि यह आत्मा शैकलिक ज्ञान स्वभाव वाला है। यह दृष्टि ही शौच धर्म का विकास करने वाली है, यह जगत में अपने आपके प्रकाश का विस्तार करने वाली है।

अन्यायाजित धन के सतुपयोग का अभाव—भैया ! यह केवल भ्रम है कि पैसे कमाते रहेंगे तो सुरक्षित रहेंगे। धन कमाने से कोई सुरक्षित नहीं रहता। अगर पुण्य है तो सुरक्षित रहता है। अगर पाप का उदय आये तो धन यों ही चला जाता है। अनीति के द्वारा कमाया हुआ धन यों ही जाया करता है। वह अच्छी जगह ठिकाने से खर्च नहीं हो सकता है। कहीं पढ़ा था कि एक वेश्या थी। उसने दो चार लाख रुपये कमा लिया। जब बूढ़ी हो गई तो उसके मन में आया कि मैंने अपने जीवन को खो दिया। चलो कहीं दो चार लाख रुपये का दान करें। कहीं सब जगह ढूँं यह सोचकर गंगाजी के किनारे जाने लगी। यह बात किसी भांडने परख ली कि वह वेश्या दो-चार लाख रुपये का दान करना चाहती है, सो वह भांड चिमटा लेकर, भ्रूत लगाकर, त्रिशूल लेकर डमरू लेकर गंगाजी के घाट पर बैठ गया। जब देखा कि कोई वेश्या आ रही है तो और सीधा बैठ गया, आंखें भींचकर बैठ गया। थोड़ा बहुत तो सभी करते हैं। अभी आप जाप देने बैठे हो। दो तीन बड़े साहब आ जायें तो तुरन्त अटेन्शन हांकर बैठ जाते हैं। ऐसा तो प्राय सभी के होता है। तो वह भांड एकदम आसन लगाये बैठा है, मानो आसमान ने बातें कर रहा है। वेश्या ने उसे टकटकी लगाकर देखा। सोचा यह तो बहुत बड़ा साधु मालूम होता है, देखता भी नहीं है। वह बैठ गई हाथ जोड़कर कि महाराज समाधि खोलें तो हम कुछ निवेदन करें। बड़ी देर में आंखें खोलीं। वेश्या ने दर्शन किया। बोली—महाराज हमारा जीवन पवित्र कर दो।...क्या बात है? हमने जो दो चार लाख की सम्पदा इकट्ठी कर ली, वह दान कर देना चाहती हूँ और आप से बढ़कर महंत कौन मिलेगा? ...अजी हट जाओ यहां से।...नहीं महाराज क्षमा करो, नाराज न हो। मैं सब कुछ रत्न जवाहरात लाई हूँ महाराज से लीजिये। से लिया। वेश्या ने कहा—कुछ भोजन प्रसादी कीजिये, वेश्या ने खीर बनाई। भांडों को वेश्या के खाने का क्या इतराज? यह सोचकर भांड ने खूब खीर खाई। वेश्या बोली—महाराज अब मुझे आशीर्वाद दो। तब भांड बोला—

गंगा जी के घाट पर, खाई खीर व खांड।

पौ का धन पौ ही गया, तुम वेश्या हूँ भांड ॥

सो भैया ! कोई परिश्रम से न्याय से कमावे तो उसके पैसे का अपव्यय नहीं होता है। आप देखते हैं कि किसी ने किसी को गोव ले लिया तो बिरला ही ऐसा होगा जो उसके धन की रक्षा करेगा, और नियम नीति से कमाया हुआ धन है तो उसे चाहे स्थान में लगाये, चाहे अच्छे कामों में लगाये, फिर भी उसके धन में कमी नहीं आ सकती है अगर अन्याय करो तो क्या काम चल सकता है? नहीं। न्याय से ही तो यह गाड़ी चल रही है।

जो गाड़ी पाप खाते से चल रही है वह गाड़ी बहुत दिन तक नहीं चलती अन्याय के वातावरण में ।

धम्मसउच्च होइ मणसुद्धिए धम्मसउच्च वयणघणगिद्धिय ।

धम्मसउच्च जोहवज्जंतउ धम्मसउच्च सुतव पहि वंतउ ॥

मन की पवित्रता से शौच धर्म की संभवता—शौच धर्म मन की शुद्धि से प्रकट होता है । तो कहते हैं भैया ! तुम कितना शौच धर्म चाहते हो ? कहते हैं अपने मन से पूछ लो । तुम्हारा मन जितना चाहता होगा । तो जिसका मन शुद्ध है उसके ऐसी प्रवृत्ति होगी कि उसके व्यवहार से दूसरों का भी मन शुद्ध हो जाता है । इस संसार में रुलते-रुलते अनन्तकाल व्यतीत हो गया । क्या किया अब तक ? अपवित्रता ही, विषय कषाय ही । परिणामी हुई यह अपवित्रता है । इसी अशुचि में फंसे हुए, इस संसार में रुलते चले आये हैं । अरे ऐसा साहस करके बैठ जावो कि उन सर्व परद्रव्यों में, धन, क़ैभव घर आदि में कुछ भी होता हो, कौसी भी अवस्था प्राप्त हो, धर्म स्वभाव की ही आराधना में रहो । मेरे लिये सब जीव एक समान हैं, अपने निज स्वरूप की ओर ५ मिनट भी देखो, अपने शुद्ध परिणाम बनावो । जब सब जीव एक बराबर दिखने लगेंगे तब समझो कि मेरे मन में पवित्रता आई । इन अनन्त जीवों में से चार जीवों के लिये ही तो सब कुछ है । सारा धन उनके ही पीछे खर्च करते, सारा श्रम करते और उनमें ही विचार बनाये रहते हैं तथा ये जो अनन्त जीव हैं उनकी बात दृष्टि में कुछ नहीं है । सर्व जीवों में स्वरूपसाम्य की दृष्टि से हृदय की पवित्रता ही बढ़ सकती है । जिन तीर्थंकरों की हम आप उपसना करते हैं उन तीर्थंकरों ने इसी मार्ग का अनुसरण किया । निजको निज परको पर जानो, ऐसा ही उन्होंने जाना और फिर सबको छोड़कर केवल निज ज्ञानस्वभाव में अपनी अनुभूति की उसके परिणाम में वे परमात्मा बने, और आज हम आप उनकी मूर्ति पूजते हैं । घर में आप कितनी ही आसक्ति बनाए रहिए मरण के बाद में ये कोई पूछने वाले न रहेंगे और न पर भव में ही सुख सुविधा देंगे । यदि मन पवित्र हो तो शौचधर्म होता है ।

पवित्र परिणाम होने पर पापों का प्रक्षार—बंगाल का एक कथानक है । एक जमींदार थे, बड़े प्रोफेसर भी थे । उनकी लड़की का नाम द्रोपदी था । बालापन में वह विधवा हो गई । जो स्त्री विधवा हो जाती है उसकी फिर घर में कदर नहीं रहती है । यह कितनी स्वार्थ बुद्धि की बात है ? उसके बाप ने अपने घर ही बुला लिया और कुछ जायदाद लगा दी । एक बाग भी लगा दिया । समय की बात है कि वह लड़की भ्रष्ट हो गई । पाप का उदय आया तो उसके बगीचे के जो आम के फल थे वे कड़वे रस के हो गए और पानी में कौड़े पड़ गए । कई वर्षों के बाद में उसके मन में ग्लानि आई और उसने इस पाप को त्याग दिया और इच्छा हो गई कि मैं तीर्थयात्रा में जाऊंगी, और अपने भगवान के अभिषेक में जल चढ़ाऊंगी और उस जल चढ़ाते हुये में ही प्राण निकल जावेंगे । पिता से कहा कि तीर्थयात्रा का कोई दिन नियत कर दो । दिन नियत हो गया । जब जाने लगी तो गांव के सब लोग इकट्ठे हुए खेल देखने के लिए । यह वितली संकड़ों चूहें मारकर आज हज को जा रही है । कोई कुछ कहे कोई कुछ । लड़की सबसे कहती है कि मैं भ्रष्ट हो गई थी । अब मेरे में पवित्रता आई है । मैं अब वह नहीं हूँ जो पहले थी । मैं यात्रा को जाऊंगी और भगवान के ऊपर जल चढ़ाऊंगी । जल चढ़ाते हुये ही मेरे प्राण विसर्जित हो जायेंगे । यदि हमारी बात का यकीन न हो तो बगीचे में जावो, पल खावो, पानी पीवो । देखो मीठे हैं कि नहीं ? लोगों ने जाकर देखा तो बगीचे के फल मीठे हो गये थे और पानी भी मीठा हो गया था, उनको कोतूहल हो गया । सोचा अब सवने कि यह भी देखना चाहिये यह कैसे प्राण छुटायेगी ? वह तीर्थयात्रा करने गयी । वहां जाकर लोगों ने देखा तो जैसा कहा था वैसा ही हुआ ।

ब्रह्मचर्य आदि पवित्र भावों में शौचधर्म की प्रकटता—यह आत्मा केवल भावस्वरूप है । भावों से ही तो गंदगी आती है और भावों से ही निर्मलता जगती है । किसी ने अब तक गंदे परिणाम किया हो, यदि भाव

उनट जाय और सत्यस्वरूप की दृष्टि जग जाय तो फिर उसके निर्मलता का कोई संदेह नहीं रहता है। उसकी उन्नति हो सकती है जिसका मन शुद्ध हो, वहां ही शौचधर्म प्रकट होता है। परपदार्थों में प्रीति या ममत्वभाव रहेगा तो उन्नत शौचधर्म प्रकट नहीं हो सकता। उत्तम शौचधर्म प्राप्त करने के लिये परपदार्थों से ममत्व हटाना चाहिये। परपदार्थों से ममत्व हटा कि आत्मा में वह स्थिति सुनिश्चित है जो सत्य सुख का मूल है। उत्तम शौच धर्म ब्रह्मचर्य व्रत के धारण में होता है। स्त्री के मोहभाव में लीन रहना कितना अपवित्र परिणाम है? उसमें उनका ज्ञान गायब हो जाता है। स्त्री भोग का परिणाम अत्यन्त अशुचि परिणाम है। ब्रह्मचर्य धारण करने वाला ही इस उत्तम शौच धर्म को पा सकता है। उत्तम ब्रह्मचर्य भी वहां है जहां निज में रहने वाली परस्त्री अर्थात् रागादिपरिणति से, परपरिणति से भी रुचि नहीं रहती, क्योंकि यदि परस्त्री में आत्मा का भाव होता है तो वह हमेशा परपरिणति में लगी रहता है। परपरिणतियों को जिम्ने अपना हित समझा वह निज की परिणति में नहीं रहा। यह उत्तम शौचधर्म ब्रह्मचर्य धर्म के धारण करने में ही प्रकट होता है अर्थात् यह शौच धर्म ब्रह्मचर्य व्रत के धारी के ही प्रकट होता है। सारांश यह है कि पवित्रता उसके ही आती है जिसने परपदार्थ को पर समझा है और निज ध्रुवज्ञानस्वभाव को निज समझा है। नहीं तो, पर तो न अपना है और न होगा, विकल्प से व्यर्थ बरबाद हो जायेंगे।

तृष्णा में दुःखभाजनता—एक आदमी था। उसको स्वप्न में कहीं से दो हजार रुपयों की थैली मिल गई। वह उस २५ सेर की थैली को लिये चल रहा था। मारवाड़ जैसी भूमि थी। उसके कंधे दुःख रहे हैं, यह स्वप्न स्वप्न में ही देख रहा था। कंधे दुखने लगे। इसलिए वह वास्तव में उन्हें दबाने लगा। इतने में नींद उचट गई। अब उसका वह २००० हजार गायब हो गया। हालांकि यह स्वप्न की ही बात थी, फिर भी कंधा तो उसका दुःख ही रहा था। अतः वह उसे दबाने लगा और थैली को भी टटोलने लगा। कंधा दुखता हुआ इसलिये लगा कि स्वप्न में मन ने सहयोग दिया था, इसलिये वह दुःख शरीर के साथ रहा। कंधे का दुःख और थैली गायब होने का शोक, दोनों ही चीजें एक साथ चल रही थीं। मिला मिलाया कुछ नहीं और बेकार में दर्द हो गया। इसी प्रकार परपदार्थों में ममत्वबुद्धि करके मिलना तो कुछ भी नहीं, बेकार में ममत्व बढ़ाकर यहां भी दुःख भोगने पड़ते हैं और आगे भी नरक की यातनायें सहनी पड़ती हैं। भैया ! ये जगत् के जितने भी ठाठ हैं स्वप्न के ठाठ हैं। आंख मिची और सब यहां का यहां रहेगा। यह तो सब बाह्य पदार्थ हैं। बड़े-बड़े चक्रवर्ती जिन्हें सम्यक्दर्शन का अनुभव वैभव था, अपनी सब सम्पत्ति को बाह्य पदार्थ जानते थे, इसलिये सुखी रहते थे। कभी उन्होंने उस सम्पत्ति से राग नहीं किया। अतः आत्मशुद्धि की भावना करो। आप तो केवल अज्ञान में कल्पना के स्वामी हैं। कल्पना ही करनी मात्र रह गई है तो अच्छी कल्पना में लगे। अपने चैतन्यस्वभाव के विचाररूप कल्पना में अपनी कल्पना लगाओ। शुद्ध भावना से कल्पना करो तो अच्छा फल मिलेगा।

तत्त्वज्ञान से शौच धर्म का विकास—भैया ! जितने द्रव्य हैं सब स्वतन्त्र हैं। यह आत्मतत्त्व सदा सदा रहने वाला है। शरीर छोड़कर भी चला जाता है। आत्मत्व फिर भी सदा रहता है। यह मनुष्य में, पशु में, पक्षी में, किसी न किमी रूप से अवश्य रहता है। जो ये देख रहे हो कि अमुक मेरा, अमुक पैदा हुआ इससे इसका अनुमान लगाया जा सकता है। पाप पुण्य के भाव से ये अवस्थायें मिलती हैं। इसलिये अपनी जिम्मेदारी आप समझकर अपने आप पर दया कीजिये और एक अपने ही सत्यस्वरूप को समझिये। शास्त्र (ज्ञान) रूपी धन की वृद्धि करने से ही यह उत्तम शौच धर्म उसी मनुष्य के होता है जिसके लोभ कषाय का त्याग होता है। ज्ञानदर्शन स्वभाव का माहात्म्य जहां रहे, उसके उत्तम शौच धर्म होता है। वर्तमान में भी यह सब बाह्य पदार्थ हमारा साथ नहीं देते तो आगे कहां से साथ देंगे? जरा हम बीमार पड़ जायें, दर्द के मारे चिल्ला रहे हैं। स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी, सेना,

मन्त्री, नौकर चाकर आदि सभी सेवा करने के लिये उपस्थित हैं, परन्तु क्या मजाल कि जरा भी कोई उस दर्द को वांट सके। वह दर्द तो स्वयं ही सहन करना होगा। भाई मरनेपर भी देख लो सब यही पड़े रहते हैं और यह आत्माराम अकेले ही चला जाता है और स्वर्ग या नरकमें पहुंचकर सुखी व दुःखी भी अकेला ही होता है, कोई भी उसमें शरीक नहीं होता। अतः इनसे अपनी परिणति दूर करो अन्यथा ये विभावपरिणतियां खुदमें बसकर खुदका विघात करती रहेंगी।

लोभ की गहन अपवित्रता—भैया ! यह लोभ ही तो आत्मा में अपवित्रता पैदा करता है। आत्मा में अशुचिता परद्रव्यके मोहसे आती है और देखो भैया ! है तो यही मोही आत्मा अपवित्र, और कहते हैं कि शरीर अपवित्र है। जब यह आत्मा इस शरीर में नहीं था तो यह परमाणुपुञ्ज पवित्र था, किसी भी तरह की अपवित्रता इसके किसी भी अंश अथवा परमाणु में नहीं थी। इस आत्मा ने ही उसमें प्रवेश करके उसे अपवित्र बनाया है। इन आहारवर्गणावों को ग्रहण कर रुधिरादि रूप बनाया, तब पुद्गल अपवित्र हुआ कि आत्मा ? यह आत्मा ही यहां अपवित्र है। अतः हे आत्मन् ! जब तुम अपवित्र हो व तेरे कारण से ही यह शरीर अपवित्र बना तब परकी अपवित्रता के गीत न गाकर खुदकी अपवित्रता है उसे देखो और ज्ञानदृष्टि से दूर करो, पर-विकल्प त्यागो। यह देहवर्ग अर्थात् आहारवर्गणायें तो बहुत पवित्र रूप से चल रही थी, तेरे आनेसे पहले उसमें यह अपवित्रता तो नहीं थी, तेरे धारण करनेके बाद ही तो यह अपवित्र हुआ है। इस प्रकार अपवित्रता को निरखो और बाह्य पदार्थों से मोह हटाकर आत्माका शुद्धिका उपाय करो तो आत्माको शान्ति मिलेगी।

वचनशुद्धिसे शौचधर्मका विकास—यह शौचधर्म वचनशुद्धि से प्रकट होता है जिसको अपनी पवित्रता रखनी हो वह वचन बड़ी सावधानीसे बोले। सब आफतोंकी जड़ है वचन बुरा बोलना, आंखों देख लो। जीभ उठायी और जैसी इच्छा हुई वैसा बोल दिया, यह कर्तव्य नहीं है। बड़ी सावधानीसे बात बोलना चाहिये क्योंकि बोलनेके बाद फिर वह बात वापिस नहीं आया करती है। इस जगत में ठेका नहीं लिया है कि हम किसी की बुराई बेट बेंगे। हमारे सहवाससे किसीकी बुराई मिटती हो, मिट जाय, पर जगतकी बुराइयां मिटानेके लिये हमने कमर नहीं कसी। हम दूसरोंकी बुराइयोंमें दृष्टि दें और यहां वहांकी बुराइयोंकी बातें कहें, अपने समयको व्यर्थ खोयें, यह ठीक नहीं। वचनधन बहुत बड़ा धन है। वचनों को संभालकर बोलना चाहिये। जैसे अपना कोई सगा किसी बलवानसे लड़ता होगा तो उसको हाथ पकड़ कर रोकते हैं। तो जैसे अपने सगेको हाथ पकड़कर अपने वश किया करते हैं इसी प्रकार बड़े सबलोंसे भिड़ने वाला जो यह मन है उसको धाम लो और मनको धामकर लोगोंसे परिमित बात बोलो। अधिक वचनालाप मत करो। ज्यादाह वचन बोलना आपत्तियां लाता है, अपने आत्माके बल को घटा देता है। प्रामाणिक वचन बोलो। जिन वचनोंसे आपकी जीविकाका काम निकले या कल्याणका काम निकले। व्यर्थकी गप्पों-सप्योंसे क्या फायदा है ? अपने वचन धनका सदुपयोग करनेसे शौचधर्म होता है। यह शौचधर्म कषायों के दूर होने पर होता है। सब कषाय दूर हो जायें तो पवित्रता है। क्रोध, मान, माया लोभ इनके अभाव से ही पवित्रता आती है। लोभ के अभाव से पवित्रता आती है, सो नहीं कह रहे हैं किन्तु चारों कषायोंके अभावसे यह पवित्रता आती है, जिसके शौचधर्म प्रकट होता है। इसी कारण चौथे नम्बरपर शौचधर्म कहा है।

मनका नैमित्तिक प्रभाव—अपना जैसा मन व व्यवहार होता है वैसा मन दूसरेका भी हो जाता है। एक सेठजी थे। वे गंगाजी नहाने गये। वे बड़े कंजूस। और जो उनका पंडा था वह भी निर्धन था। उसके पास चंदन तक भी न था कि उस सेठके तिलक लगा दे। पंडाजी ने गंगाकी रेत उठायी और पीसकर तिलक लगाया। पंडाजी बोले—तिलक लगाओ सेठजी विप्र वचन परमान। गंगाजीके रेतको, चन्दन करके मान। सेठजी नहा करके आये और साधमें एक मेढकी पकड़ लाये। सेठजी बोले—लेउ दक्षिणा विप्रजी, सेठ वचन परमान। गंगाजी

की मेंढकी, बछिया करके मान ॥ तो यह मनका प्रभाव एक दूसरे पर पड़ जाता है ।

अपने मानसिक भावका अन्यपर प्रभाव—यही देखो कितनी समाज है धर्मके झंडेके नीचे बैठे हैं । जो कुछ करेंगे वह महावीर भगवानके उपदेश के प्रचार के लिये ही, अपने आपमें उसको उतारनेके लिये ही तो करेंगे । चाहे जाप करें, चाहे जो कुछ करें, महावीर स्वामीके बताए हुए मार्गकी प्रभावना के लिये ही तो करते हैं । तब पवित्रता ऐसी होनी चाहिये कि धर्म के मामले में किसी के प्रसंग में अवे-तवे, ऊंच-नीच की बात न हो । किसी ने कहा ऐसा होना है, हां भाई ठीक है करो । जो सहयोग हमसे हो सवेशा, करेंगे । प्रायः कई जगह दस-साक्षणी में और चौदस के दिन तो कलह हो जाया करती है । भैया ! ऐसा ज्ञान बने, ऐसा सहधर्मियों में प्रीति का परिणाम हो, धर्मकी, धर्मकी बात बोलें, दूसरोंका सत्कार हो । अगर अपने से कोई बड़ा है और उपकार ज्व है तो उसका सत्कार करने में समय देना यह तो कर्तव्य ही है और कोई आपसे छोटा है उस छोटे को भी खूब सत्कार करके रखो । उस छोटे से वात्सल्य व्यवहार रखो तो उससे धर्मकी वृद्धि होगी । ऐसा वातावरण होना चाहिये कि कहींसे कलह की बात सुननेमें न आये । जो लोग काम करने वाले हैं, बड़े जन हैं वे लोग बड़ी ही श्रद्धा से काम करते हैं । कभी किसी भी प्रकार की कोई बात सुनने में नहीं आई, यहां का वातावरण बहुत ही पवित्र शांत रहा आवे, जिससे कि प्रभुकी भक्तिमें, आत्मध्यान में अपना मन उत्तरोत्तर ढू हो जाये, यह भी तो शीचधर्म है । यही तो पवित्रता है, कोई छोटा पुरुष है तो उसका सन्मान रखो, कोई बड़ा उपकारी है तो आपका फर्ज है कि कृतज्ञता उसके साथ प्रकट करो । यह शीच धर्म जहां विराजता है वहां तृष्णा नहीं होती है ।

धम्म सउच्च वंभवय धास्सु, धम्म सउच्च मयट्ठिचारणु ।

धम्म सउच्च जिणायमभणणे, धम्म सउच्च सुगुण अणुमणणे ॥

लोभपरिहार में शीचधर्म—शीच धर्म ब्रह्मचर्यके धारणसे होता है, शीच धर्म आठ भदोंके दूर करने से होता है । सद्गुणोंके अनुमननसे शीच धर्म होता है । सबका मूल उपाय लोभका परित्याग है । लोभवश मोही प्राणी प्राण भी नवा देता है । दो बजाज कपड़ा खरीदने गये । ठंडके दिन थे, रास्ते में भीदानमें वे ठहर गये । ठंड लग रही थी । न लकड़ी, न घास फूस, न अन्य कोई जलाने वाली चीज । बिल्कुल भीदान था । एक बजाज ने सोचा कि षोड़ेपर हजार दो हजारके कपड़े हैं, उन्हें जला दें तो ठंडसे तो बच जायेंगे । हजार दो हजार के कपड़े ही तो जलेंगे, सो उसने खूब रातभर उन कपड़ों को जलाकर तापा । और दूसरा धी ही जाड़े से ठिठुरता रहा, उसके निमोनिया हो गया और प्राण चले गये । शीच धर्म वहां होता है जहां लोभ का त्याग हो । जो तपके मार्ग में ले जाय वही शीच धर्म है । लोभका त्याग एक तप है, कषायोंका त्याग तप है ।

ज्ञानसाध्य कषायविजय का आवरण न करने वालों की मुद्धता—आर्यानुशासन में श्रीगुणभद स्वामीने लिखा है कि—मा चरन्तु तपः शीर तपः क्लेशासहो नवान् । चित्तसाध्यान् कषायारीष जयचक्रज्ञाता । वे समझा रहे हैं । आप शीर तप मत करो, अनशय मत करो, क्योंकि हम जानते हैं कि आप नवाब साहब हैं, आप तपका क्लेश नहीं सह सकते, पर कषाय शत्रु मात्र ज्ञानभावनासे नष्ट हो जाते हैं, ज्ञानभावना ही करो, दुर्भावना का नाश करो । जो केवल छोटे भाव बना लेनेसे कषाय के परिणाम जय गये हैं, उन कषाय बैरियों का नाश करो । जो कषाय शत्रुओं का नाश करता है, कषायोंपर विजय प्राप्त करता है उसको हम विवेकी कहेंगे और जो कषायों को नहीं जीतता है उसे हम बेवकूफ कहेंगे । तप नहीं कर सकते हो, न करो, पर जो ज्ञानसाध्य कल्याण का काम है वह नहीं कर सकते तो यह बहुत बड़ी मुद्धता है ।

ब्रह्मचर्यधारण में शीचधर्म—यह शीचधर्म ब्रह्मचर्य मत का धारण करने से होता है, सबसे बड़ा तप है शीचा ब्रह्मचर्य । सोच लो, कोई ६० वर्षका हो गया, कोई ७० वर्ष का हो गया और ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा नहीं

ही सकती है। यदि प्रतिज्ञा नहीं ले सकते तो कामवासना बनी रहेगी। प्रथम तो यह चाहिये कि ४०-४५ वर्षकी उम्र हो गई, कई सन्तान भी हो गई, सन्तान भी युवक है। तब ही सही, ब्रह्मचर्य व्रतको पति पत्नी मिलकर धारण करें तो यह ऐसा धर्म है कि ब्रह्मचर्य के प्रताप से यह धर्म आपका सहज ही पल जाया करता है और ब्रह्मचर्य न लेने का ही फल है कि गृहस्थी बसाई, बहुत बालक हो गये, लड़की के विवाह की चिन्ता लग गई। सर्व झझटों को बढ़ाने वाला यह अब्रह्मचर्य पाप है। शांति और संतोष का जीवन चाहिये तो पहिला कार्य है कि ब्रह्मचर्य का पालन करो। अभीसे कर लिया तो आगे की जिन्दगी में, जिसे कहते हैं लाइन क्लियर हो जायगी, यह तो हो जायगा कि हां शांति के मार्गपर चल रहे हैं।

ब्रह्मचर्य के विपरीत बात के सुनने में भी अनर्थ—एक चेला था। जंगल में गुरु के पास पढ़ता था। जंगल में ही ७ वर्ष की अवस्था से रहता था। १८-२० साल का हो गया। एक बार बोला महाराज हमारा यह भाव है कि हम यात्रा कर आवे। गुरु न कहा वेटा यह ज्ञानानन्दमय आनन्दघन आत्मा ही तीर्थ है, इस स्वरूप में उपयोग लावो तो कोटि तीर्थोंका फल मिलता है। महाराज यह तो ठीक है, पर इच्छा है। ...अच्छा जावो। वह चला, रास्ते में एक जगह सामने से बारात आ रही थी, वह कुछ न जानता था कि क्या है? लोगों से पूछा भैया, यह क्या चीज आ रही है? बरात। बरात क्या है? इसमें एक दूल्हा होता है, उसकी शादी होती है। शादी में किमी बहु को ले आते हैं। मो कुछ दिनों के बाद बाल-बच्चे होते हैं, कुल चलता है। ...अच्छा। सुनकर आगे बढ़ गया। आगे एक कुंवा था, तो कुंवा था सपाट। सपाट न बोलना चाहिये बल्कि अपाट बोलना चाहिये अर्थात् जिस कुँएमें पाट न हो, कुएँ के पास वह लेट गया। नींद आ गई। उसे स्वप्न आ गया कि मेरी बारात जा रही है। शादी हो गई, बच्चे हो गये स्त्री पास पड़ी है बच्चा बीच में लेटा है। स्त्री कहनी है अरे जरा सरक तो जावो, यह बच्चा कुचला जा रहा है। अब आ तो रहा है स्वप्न, पर थोड़ासा सरक गया। थोड़ी देर बाद स्त्री बोलती है कि बच्चा कुचला जाता है, थोड़ासा और सरको। दुबारा सरके तो कुएँ में धम्मसे गिरे अब वह अन्दर से सोचता है भगवान कोई निकाले तो कुशल हो।

एक जमींदार प्यासा था, पानी पीने आया। उसके पास लोटा डोर था। उसने ज्यों ही लोटा डोर नटकाया अन्दर से उसने पकड़ लिया। ...कहा भैया डरना नहीं, हम भूत नहीं हैं, हमें निकाल लो। इसलिये कह दिया उसने कि यह डरकर भाग न जावे। जमींदार ने धीरे से उसे निकाल लिया। तो वह जमींदार पूछता है कि भैया! तुम कौन हो? कैसे गिर गये? वह गिरने वाला बोलता है कि भाई साहब तुमने मेरी जान बचाई, तुम मेरे उपकारी हो, जो उपकारी हो उसका परिचय पहिले लेना चाहिये। तो कृपा करके आप अपना परिचय दो। जमींदार बोला कि तुम हमें नहीं जानते हो। मैं एक बहुत बड़ा जमींदार हूँ। देखो उस गाँवमें जो सबसे बड़ी हवेली दिख रही है वह मेरी है। मेरे ५० हूल चलते हैं। १० गाँवों में खेती है। लगभग ५० आदमियों का कुटुम्ब है। जब इतनी बात सुनी तो चेला कभी तो पैर देखे और कभी सिर देखे। जमींदार ने पूछा—क्या तुम डाक्टर हो? नहीं। फिर पूछा, तुम हमें ऊपर से नीचे तक क्यों देखते हो? चेला बोला भाई हमने स्वप्नमें गृहस्थी पाली तो उसके फल में कुंवा में गिर गये। क्या तुम सचमुच की गृहस्थी में रहकर अब तक जिन्दा हो, यह देख रहा हूँ। जिन्दा के मायने क्या? भाई गृहस्थी में भी रहकर यदि अपने आत्मस्वरूपका समय-समय पर ध्यान आता रहे और अपनी दृष्टि बनी रहे, विकल्प छोड़कर कभी तो ज्ञानमय स्वरूप की भावना भावे तो समझो कि हम ठीक-ठीक जिन्दा चल रहे हैं नहीं तो कषाय ही घर कर गया है। अनन्त जन्म लिया, अनन्त मरण किया तो इस जिन्दगी की ही क्या विशेषता हुई?

अष्ट मर्दोंके परिहारमें शौचधर्म—पवित्र वही है जिसके साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक-

चारित्र्यका सम्बन्ध हो। यह धर्म न प्रकारके मदोंका निवारण करने वाला है। देखो ज्ञानका मद आये तो पवित्रता नहीं रह सकती है। धनका मद आये तो पवित्रता नहीं रह सकती है। इज्जतका मद आ जाये, कुलका मद आ जाये तो वहाँ ज्ञान स्वच्छ नहीं रह सकता है।

एक बार एक चमार हमारे साथ ही नैनागिरिको जा रहा था। रास्ता बताने वाला था खूब बाते होती गई। बीचमें मैंने पूछा कि जरा यह तो बतावो कि सबसे बड़ी जाति कौन है ? कोई ग्वाला होता है, कोई नाई होता है, कोई धोबी होता है, ऐसी ही बहुसो जानियाँ हैं। तो वह बोला महाराज ऐसी बात है कि धोबियोंमें यह बात है, ग्वालोंमें यह बात है, सबके अवगुण ज्ञाना दिये, और इन सबमें चमार ऊँचा होता है। अन्य सब जातियों को हल्का बताता गया। तो प्रयोजन यह है कि अपनेको कौन मानता है कि मैं कुलका, जाति का छोटा हूँ। बहुत ही छोटे कुलका हो तो शायद वह अपनेको छोटा कहे। तो यह मद सबके हुवा करता है। जिसके घमड़ है उसके शौच-धर्म नहीं प्रकट होता है।

धम्म सउच्च सल्लक्यचाए धम्म सउच्च जिणम्मलभाए।

धम्म सउच्च कषाय अभावे धम्म सउच्च ण लिप्पइ पावे ॥

गुणानुरागसे शौचधर्मका विकास—यह शौच धर्म शल्यके त्यागसे होता है, शौचधर्म निर्मल भावमें प्रकट होता है। शौचधर्म कषायके अभावमें प्रकट होता है। शौचधर्म से पाप का लेप नहीं होता है। भैया ! शौच धर्मकी वृद्धिके लिये गुणोपर दृष्टि हो गुणियोपर अनुराग करो। जो गुणीजन हैं उनकी अनुमोदना करनेसे पवित्रता बढ़ती है। किसी पुरुषको यदि दूसरों की बुराई करने की आदत पड़ गई तो उस आदतको कैसे मिटाये ? उसका उपाय यह है कि तुम प्रतिज्ञा करलो कि एक माह तक ढूँढ़ ढूँढ़कर गुणी जनोके गुण गाया करें। पवित्रता वहाँ ही आती है जहाँ गुणी जनोके गुणोकी अनुमोदना चले। किसीको तुच्छ न निरखो। सब जीव अरहंत सिद्धके स्वरूपके समान हैं। कर्मोंकी उपाधि लगी है इससे भेद हो गया है, पर तुम भेद मत देखो। जब धर्मको हृदयमें उतारनेका श्रम किया जा रहा हो तो इस जीवका जो सहज स्वरूप है उस सहजस्वरूपकी दृष्टि करो। लोभ बढ़ाना ही कटिण आपत्ति है। इसलिये कि लोभमें अपने आत्माके उस शुद्ध एकत्व स्वरूपका पता नहीं है। मैं केवल ज्ञानानन्द भाव मात्र हूँ। इसका विश्वास न होने पर वस्तुओंके लोभ आ जाता है।

लोभमें प्राणविनाश—एक मिखारीको भीख मांगते मांगते बहुत घत जुड़ गया तो सुरक्षित घर न होने से वह धन फैलफुट रहता था, सो सब बेचकर ४ अशफियां खरीद ली। कहां रखे अब उन अशफियोंको ? कोई सुरक्षित खर भी नहीं था कहां रखने जायें ? अच्छा भाई कमरमें बांध ले। वहां भी डर है। सो सोचा—सबसे बढ़िया है पेटमें रख ले, खा जावें। धर लिया अशफियोंको पेटके अन्दर। इससे वह मिखारी मर गया। जब लोगोंने जला दिया तो राख में अशफियोंका ढेर भिला, तब समझमें आया कि इसने अशफियां खा ली थीं। देखो लोभवश ही उसके प्राण गये। एक चूहेको कहींसे २० रु० मिल गये। एक एक रुपये को मुँहसे दबा ले जावे व धरता जावे। इस तरहसे २० रु० जुड़ गये। भैया चूहेके भी सम्यक्त्व पैदा करने की शक्ति है। उसके भी विवेक होता है। जैसा मनुष्यका मन वाला भाव व तैसा ही चूहेका भाव है चूहा ने अपने मन को खुश करनेके लिये रुपये निकाले। एक के ऊपर एक रखकर गडडी बनाए और उसके चारो ओर नाच करे। एक दिन एक किसान ने यह खेल देख लिया। सोचा ये रुपये चूहेके पास कहाँसे आये ? देखा कि चूहा बिलसे रुपये निकाल रहा है, २० रु० हैं। फिर अपने बिल में धर लिया। किसान ने सोचा कि कलके दिन हम इन्हें उठा लेंगे क्योंकि चूहे के किसी कामके नहीं हैं। यह चूहा न किसी को दं सके न किसीको कुछ खिला सके। इसके पास ये रुपये बेकार पड़े हैं। छुपकर दूसरे दिन देखा १५, १६, १७: १८ रुपये लाया, और बिलमें २ रु० और लेनेको गया। इतनेमें किसान ने गडडी उठा ली और चम्पत हो गया

चूहेने जब रूपयों की गडडी न देखी तो वहीं लोटकर उसने अपने प्राण छोड़ दिये। सो धन तो कैसा ऐसा ही है। धन आत्माकी उन्नतिका कारण नहीं है।

शाल्यके परिहारमें शौचधर्म विकास—शाल्यका त्याग करनेसे यह धर्म प्रकट होता है। शाल्य क्या है? माया, मिथ्या, निदान। मिथ्या परिणाम न रखो: इतना श्द विश्वास रखना चाहिये कि परिवार, रहे न रहे, चाहे यह मायारूप खुद रहे न रहे, मगर देव शास्त्र और गुरुका यथार्थ श्रद्धान रखे। देव, शास्त्र, गुरुका गुणस्मरण ही हमारे लिये रण है। सत्य श्रद्धाके सिवाय अन्य कोई मेरे लिए शरण नहीं है। इस पवित्र आत्मा में वह आत्मबल प्रकट होता है जिससे सद्गति प्राप्त हो। धनी कौन है? जिसको संतोष व शांति है वह धनी है। जो अशांत है वह गरीब ही है। आंमासे जिसे नफरत है, प्रभुपर अनुराग नहीं है वह इस संसार में अशरण होकर यत्र-तत्र भटकता रहता है। तो यह जो अपना आनन्द धन स्वरूप है उसको पहिचानो, जितना जानन हो रहा है उतना ही मात्र में हूं। मैं इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूं। ऐसा परिणाम हो तो उसे ही शौच धर्म कहते हैं।

सन्तोष से ही वरिद्धताका नाश—एक फकीरको कहीं से पुराना पैसा पा गया। पुराना पैसा बड़ा वजनी होता था। किसीके भार दो तो खून निकल आये। चार पैसे एक छटांकमें चढ़ते थे। फकीरने सोचा कि इस दुनिया में हमें जो बहुत ही गरीब दीखेगा उसे ही हम यह पैसा दे देंगे। वह गरीब दूँदने निकला। एक बादशाह दूसरे बादशाहपर चढ़ाई करने जा रहा था। सामनेसे गुजरा तो माधुने वह पैसा उस बादशाह की झोली में फेंक दिया। बादशाह को गुस्सा आ गया। बोला यह पैसा क्यों मारा? कहा महाराज मुझे यह मिल गया था। मैंने सोचा था कि मुझे इस दुनिया में जो सबसे गरीब दिखेगा उसे ही दे दूंगा। सो मैंने आपको दे दिया।...तो क्या मैं गरीब हूँ?...हां महाराज! तुम गरीब हो।... अरे मेरे पास सेना है, ५०० गावों का राज्य है, वैभव है, सब कुछ है, मैं गरीब कैसे?...कहा महाराज यदि आप गरीब न होते तो दूसरे की सम्पत्ति हड़पने क्यों जाते? गरीब तो वही है जिसके तृष्णा लगी है। बादशाह को ज्ञान हो गया, झट सेना को वापस लौटा दिया। तो इन तृष्णाओं से तो पूरा न पड़ेगा। इन बाह्य वैभवों की तृष्णा को त्यागो तभी शौच धर्म से जीवन सफल हो सकता है। ग्रहस्थों के लिए कहते हैं कि भगवान जिनैन्द्र की पूजा करें। उसके अर्थ शुद्ध प्रासुक जल से स्नान करें। यह ग्रहस्थों का काम है, मुनियों का नहीं है। इस संसार को अनित्य जानकर एक मन से शौच धर्म का पालन करो यही शौचधर्म का, उत्तम धर्म का पालन है।

भव मुणिवि अणिच्चो धम्म सउच्चउ पालिज्जई एयग्गमणि ।

शिवमगसहाओ शिवपददाओ अण्णु म चित्तिहि किपि खणि ॥

जैनागम के अभ्यास द्वारा स्वभावदृष्टि का पौष्ट्य करके शौचधर्म को उन्नत करने का अनुरोध—इस समस्त वैभव को अनित्य जानकर इससे मोह दूर करके शौचधर्म का एकाग्रचित्त से पालन करो। यह शौचधर्म शिवमार्ग स्वरूप है, शिव पद का देने वाला है। सो निर्मल पवित्र आत्म स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ क्षणमात्र भी चिन्तन न करो। अकलंक और निष्कलंक का उदाहरण ले लो। उनका कितना बड़ा त्याग और निर्मल परिणाम था। उन्होंने जगत में कितनी शांति पैदा की? आज अकलंक नहीं होते तो हमारा क्या हाल होता? जैन धर्म का नाम सुनकर जब फांसी दे दी जाती थी उस अवस्था से अनुमान करो। आज हम सब इस पवित्र धर्ममय छत्रछाया में नहीं होते। यह शौचधर्म जैनागमन के अभ्यास में होता है। यह धर्म उत्तम-उत्तम गुणों के मनन करने से होता है। यह सब शौच के, पवित्रता के उपाय हैं। वस्तुतः सब उपायों में स्वभाव दृष्टि का उपाय गभित हो तो उत्तम शौच प्रकट होगा। बाह्य पदार्थ का त्याग करने से शौच धर्म होता है। बाह्य पदार्थ है तो अपने से भिन्न ही, बस श्रद्धा भी इसी प्रकार कर लो, धर्म हो जायेगा। आत्मा के निर्मल परिणामों से शौच

धर्म होता है।

ज्ञानानुभवरूप पावन स्थिति से अपने को कृतार्थ करने का संदेश—इस तरह उत्तम शीघ्र धर्म का वर्णन करते हुये कह रहे हैं कि जिनेन्द्र देव की पूजा आदि करने में शीघ्र धर्म प्रकट होगा। वहाँ भी जो ज्ञानानुभव हो वह शीघ्र धर्म है। जिसकी बाह्य पदार्थों में ममता होगी वह भगवान की पूजा करके भी वैभव नहीं पा सकता। जहाँ परपदार्थों की आशा लेकर भगवान की पूजा की जाये वहाँ तो उल्टा पापबंध हो जाता है। पूजा तो अपने उपयोग को बाह्य से हटाकर, जिन भगवान् का आश्रय लेकर निज भगवान् आत्मा में उपयोग लगाने के लिये की जाती है और जहाँ उपयोग आत्मा में लगा वहाँ तो मोक्ष भी दुर्लभ नहीं, स्वर्ग आदि की संपदा व लौकिक वैभव तो भूसे के समान हैं। जिनेन्द्रदेव की निज भाव भक्तिपूर्वक पूजा करने से शीघ्र धर्म होता है। संसार को अन्धकारमय जानकर एकाग्र चित्त से इस शीघ्र धर्म का पालन करो। अपनी आत्मा का उद्धार चाहते हो तो हे भव्यजन, अपने आप पर दया करो और समस्त पदार्थ जो जग में हैं उनसे ममत्व त्यागो और इस एकाकी स्वतन्त्र निज ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा रखो।

लोभ परिहार में शान्ति का अभ्युदय—जभी मनुष्य चाहते हैं शान्ति। शान्ति मिलती है सन्तोष में। सन्तोष कब आता है कि जब लोभ का परित्याग हो। पवित्रता कब आती है जब लोभ का परिहार हो? देखो पवित्रता तो जब क्रोध न रहे तब भी होती, मान, माया न रहे तब भी है, चारों कषायों न रहें तब भी है, तो चार कषायों के न होने से होने वाली अपवित्रता का नाम लिया गया है लोभ। तो मान्य होना है कि लोभ का रंग बड़ा गहरा है। ऐसा समझिये कि जैसे धन तो है बहुत, मगर उसे खर्च न करें तो इस ही का नाम लोभ है। वह तो लोभ है ही, मगर अपने लिये बड़े अच्छे विषय साधन जुटाये, बहुत बढ़िया खाना खाये, विषयों से जो प्रीति करे, उसे यह कैसे कहा जायेगा कि यह निर्लोभ है? विषयों के साधन जो जुटाये, विषयों से जो प्रीति करे बस लोभ का नाम लोभ है। ऐसा लोभ जहाँ बसा हो वहाँ सन्तोष कहां से हो सकता है? यह भी एक लोभ की स्थिति है। विषयों में इतना लोभ है कि अपने खाने के लिए भी खर्चा मूली-भाति न कर सके, वह भी लोभी है। परपदार्थों में हित मानना, पर का संचय करना, पर से अपना लाभ समझना—यह सब लोभ की दशा कहलाती है। जहाँ लोभ है वहाँ पवित्रता नहीं, सन्तोष नहीं, आनन्द नहीं। अब मोटे तौर से देखो तो बतलावो लोभ करके क्या पा लोभे? सारी जिन्दगी लोभ किया तो त्याग न कर सके, दान न कर सके, खा पी भी न सके, जोड़-जोड़कर मरकर लाभ क्या मिलेगा? एक कवि ने बताया है कि दुनिया में सबसे बड़ा दानी तो लोभी है, कंजूस है, उसके बराबर कोई दानी नहीं हो सकता। कैसे? देखो—जो अपने लिये पैसा भी नहीं खर्च कर सकता? खूब धन जोड़-जोड़ कर जिन्दगी भर संचय किया और देखो एक साथ ही सबको दे गया। जब मर जाता है तो पूरा का पूरा ही तो छोड़कर जाता है। एक अलंकार में किसी कवि ने कहा है कि कंजूस सबसे बड़ा दानी है हंसी। तो भाई जब तक इस लोभ का परिहार न हो तब तक पवित्रता और सन्तोष नहीं।

परमार्थकी पवित्रता निर्लोभता—शीघ्र धर्म पवित्रता का अंग है जिससे कि सन्तोष प्राप्त होता है। दूसरी बात—कोई मनुष्य यदि शरीर को बड़ी सफाई से रखे, खूब घंटों तेल, साबुन आदि से नहाये धोये तो मला बतलाओ शरीर को इतना अधिक साफ सुथरा रखने से लाभ क्या मिल जायेगा? शरीर की सफाई का अधिकाधिक ध्यान रखना यह भी एक लोभ का अंग है, परद्वय में मोह हो, आसक्ति हो वही तो लोभ कहलाता है। कहने को तो यह है कि हम पवित्रता कर रहे हैं, मगर क्रूर रहे हैं वास्तव में अपवित्रता का काम? हाँ शरीर की शुद्धि भी व्यवहार में रहकर कुछ आवश्यक है, पर उससे अपने आपकी वास्तविक शुद्धि न समझें। अपनी वास्तविक शुद्धि है कि अपने आप में अपने परमात्म तत्त्व का विश्वास हो, आत्मतत्त्व का ज्ञान हो और आत्म तत्त्व का रमण हो।

असली पवित्रता तो इसे कहेंगे। परवस्तु का सम्बन्ध बनाकर पवित्रता नहीं हुआ करती, वह तो अपवित्रता है। मूल में अपवित्र क्या है? यह मोह। जैसे कोई बालक विष्टा से भिड़ गया तो लोग उसे अपवित्र कहते, उसे जो दूसरा, तीसरा, चौथा आदि बालक छूते जाते वे सब अपवित्र कहलाते, पर मूल में अपवित्र कौन है? वही विष्टा से भिड़ने वाला बालक। अब बताओ नालियों में जो गंदगी है, क्या वह अपवित्र है? अरे वह गंदगी भी कथों अपवित्र कही जाये? उस गंदगी का भी मूल कारण है मोह। वे नादान, कीड़े मकोड़े, मांस भज्जा आदि के पिण्ड मूल में अपवित्र नहीं रहे। आखिर ये सब भी बने इस मोह के ही कारण। मूल में उस सारी गंदगी का कारण यह मोह ही रहा। यदि मोह न होता, मोही जीव इस शरीर में न फंसता तो न मांस मिलता, न सड़ता, न बदबू आती। तो मूल में गन्दा रहा मोह। तो जो गन्दा है उससे लोग घृणा नहीं करते। जिसके बल पर नाना तरह की गंदगी हुई है उससे तो घृणा करते नहीं, पर जो गन्दा नहीं है उससे लोग घृणा करते हैं।

सत्य और असत्य के भेदविज्ञान द्वारा सत्य का लाभ—समयसार में बताया—“णादूण असवाण असुचित्तं विवरीदभावं च। दुक्खा दुक्खफलात्ति य तदो णियत्ति कुणादि जीवो। अथात् ये आश्रव, रागभाव, द्वेषभाव, मोह भाव प्रेम के भाव ये सब पाप हैं। ये अशुद्ध हैं, अपवित्र हैं, गंदे हैं और विपरीत हैं, दुःख देने वाले हैं। जो ऐसा जानता है वह अलग हो जाता है। इसके बारे में सूरि जी ने टीका में कहा है कि जले जम्बालवत् लुषत्वेनोपलभ्यमानत्वाद्दशुच्यः खल्यश्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेवातिनिभलचिन्मात्र स्वभावत्वेनात्यन्तं शुचिरेव कौन चीज है अशुचि? जैसे पानी में कायी हो जाती है ना, तो यह बतलाओ कि उसमें अपवित्र पानी है कि कायी?—अरे कायी अपवित्र है, पानी अपवित्र नहीं है। पानी तो ज्यों का त्यों निर्मल है, पवित्र है तो इसी तरह इस भगवान आत्मा के साथ जो ये राग द्वेष मोह आदिक औदायिक भाव लग गये, वे ही अपवित्र हैं पर यह आत्मा अपवित्र नहीं है। नीति में लिखा है कि—“मदिरेव मीदजनकः कः स्नेहः, के च दम्यतो विषयाः” अर्थात् मदिरा की तरह बेहोशी उत्पन्न करने वाली चीज क्या है? श्रेम है, यह है मोह। द्वेष को पाप सब कहते, मगर ज्ञानी जन जानते हैं कि प्रेम तो इस द्वेष से भी बढ़कर पाप है। अब बतलाओ जो इस रागद्वेष, इस प्रेम लोभ और मोह के स्वप्न में ही रह रहे हैं तो वह जिन्दगी भी क्या जिन्दगी है? जिन्दगी तो वास्तव में वह है जिसमें परमब्रह्म निजस्वरूप ज्ञानघन इस ब्रह्मस्वरूप को अपने उपयोग में रखा जाय। लोग तो यहां प्रेम का भी गुण गाते हैं, पर जैसे यहां किसी के १०५ डिग्री बुखार था, उतरकर १०१ डिग्री रह गया और उससे कोई पूछ कि भाई अब आपकी कंसी तबियत है? तो वह कहता कि अब तो तबियत ठीक है। अरे कहां ठीक है? अभी तो दो तीन डिग्री बुखार है। तो जैसे उस १०५ डिग्री बुखार के सामने उसका बुखार कम है इसलिये तबियत ठीक कहा, पर अभी तो बुखार है, इसी तरह ये भोगों के व्यसनों के प्रेम हैं, उनके सामने यद्यपि सज्जनों का प्रेम भला है पर ज्ञानी पुरुष ऐसे प्रेम को भी पाप बताते हैं। उन ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में पुण्य पाप रहित ज्ञान प्रतिभासमात्र अन्तस्तत्त्व रहता है। जहां रच भी रागद्वेष मोह न हो वहां सुख न कहा जायगा, उसे तो प्रभु का अतुल आनन्द कहा गया है।

सात्त्विकवृत्ति में तथ्य का लाभ—शुद्ध आनन्द का अनुभव वहां ही प्राप्त हो सकता है जहां सुख-दुःख को बराबर माना जा रहा हो; पुण्य पाप के कारणभूत पवित्रता कहां है? सोचिये तो सही। देखिये श्रद्धा में लावो पूर्ण सत्। अगर सत्य श्रद्धा हो गयी तो श्रद्धा में असत्य बात न बनेगी। जो करते बने सो करो, मगर श्रद्धा सत्य ही रखियेगा कि वास्तविकता क्या है? पवित्रता क्या है? कीजे शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना सिरधा धरे, ज्ञानत सरधावान, अजर अमर पद भोगवे, तो भाई श्रद्धा से विचलित न हो। प्रभु की, शास्त्र की, गुरु की श्रद्धा कीजिये मगर मूल में अन्तस्तत्त्व की श्रद्धा सत्य होना चाहिये कि जो शुद्ध ज्ञानमात्र हैं। प्रभु भी यह कहते हैं कि ऐ मत्त एक बार तू मेरी भी उपासना का विकल्प छोड़ ज्ञानमार्ग में आ। मैं ज्ञानमय ही तो हूँ। विकल्प को छोड़

निर्विकल्प अनुभूति में आकर तू अपने आप में ठहर जा, वही तेरी वास्तविक पवित्रता है। कैसे तो ज्ञानज्योति स्वरूप हैं हम आप। जरा शरीर की निगाह छोड़ो और जो भीतर ज्ञानमय है वह कैसा निष्पाप, कैसा आनन्दमय है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ जहाँ कष्ट का नाम नहीं ऐसा यह आत्मा यह प्रभु और ऐसा यह भटक रहा है। क्यों भटक रहा है? कहते हैं कि यह लोभवश, विषयों के प्रेमवश भटक रहा है, तो भाई विषयों से प्रति छोड़ो, पवित्रता जयेगी, सन्तोष मिलेगा। जैसे आजकल सब परेशान हैं, पर बताओ आज तक क्या आवश्यकता किसी को पूरी हुई? बड़े-बड़े नेताओं को ले लो, बड़े-बड़े धनिकों को ले लो—क्या किसी की आज तक आवश्यकता पूरी हुई? अरे आवश्यकतायें यों नहीं पूरी होती हैं आवश्यकताओं को खत्म करने से। अरे इन बाह्य पदार्थों का संक्य कर करके क्या लाभ लूट लिया जायगा? एक अपने ज्ञान स्वभाव की आराधना हो अपने काम आय भी, बाकी तो सब बेकार है।

निन्दा का अपवित्रताहेतुत्व—एक बात और भी है कि इस अपवित्रता का कारण परनिन्दा है। परनिन्दा करते हैं लोग कषायवश। निन्दा करते समय दृष्टि जाती है दोषों पर, और ज्ञान में जहाँ दोष समझ में आ रहा है और वह भी द्वेषभाव से समझ में आ रहा है तो खुद कितना विह्वल हो गया, इसका ज्ञान नहीं है। आप कहेंगे कि यह तो विकट बात कही गई। यह निन्दा करने की आदत छूटे कैसे? यह निन्दा करने की आदत छूटेगी गुणियों का गान करने से? गुणियों के गुणों का गान करके अपने को पवित्र बनाओ, सन्तोष पावो और सत्य आनन्द पावो। बड़े-बड़े महापुरुषों के चरित्र गाते हैं ना, उन्होंने क्या किया? सब कुछ त्याग दिया, दीक्षित हो गये, सदा के लिए देह से छूट गए, संसार से भुक्त हो गए। जब संसार की कोई भी वस्तु रुदा रहने की नहीं है तो फिर यहाँ किसी भी परवस्तु का ख्याल करके अपने उपयोग को कलंकित क्यों किया जाय? बतलाइये कौनसी चीज यहाँ सारभूत है जिस पर आसक्ति की जाय और अपने को भुला दिया जाय? जिस पर लोभ हो रहा है वे सब असार हैं। विषय सामग्री असार शरीर में आसक्ति हो तो वह सब असार। शरीर में क्या भरा है? और तो जाने दो—अगर किसी की नाक से नकेऊ निकल पड़े तो फिर सारी मुन्दरता खराब हो जाती है। ऐसे ही यह सारा का सारा शरीर महा अपवित्र है, घिनावना है। उससे क्या प्रीति करना? ज्ञानानन्दधन जो ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व है उसकी दृष्टि करें और संसार से सदा के लिए पार हो जावें। पवित्रता आती है कषायों के विजय से। आप ऐसा सोचते होंगे कि ऐसा तप कैसे करते बनेगा? तो भाई तप करने की बात नहीं कह रहे। आप कष्ट नहीं सह सकते, त्याग नहीं कर सकते, बड़े नवाब रहते हो, तपश्चरण नहीं कर सकते, मगर मेरी बात मान लो। देखो जिसको दुःख है वह कषाय से है और इन कषायों पर विजय होगी तो होगी ज्ञान से। तो जो मात्र ज्ञान द्वारा सिद्ध हो सकता है उसे तो सिद्ध कर लो। मान लो यह चित्तसाध्य बात। तपश्चरण नहीं कर सकते तो मत करो; मगर ज्ञान से केवल अपने भावमात्र से सद्भिचार से ये कषायें जीती जा सकती हैं?

कषायाधीन प्राणी को सर्वत्र आपत्ति—यदि कषायों को न जीत सकेंगे तो हर जगह फजीहत है। तो यह बात अपनी समझ लो कि मोही होकर हम हर जगह फजीहत ही पाते हैं। मोही बनकर चाहें कि मेरे को क्लेश न हो, आफत न हो, तो यह कभी हो नहीं सकता। एक बार अपने चित्त को ऐसा बनाना होगा कि मेरा परमाणु मात्र से मोह नहीं, अणु मात्र से मेरा मोह न रहे। अपने आपको एक समृद्ध बनाना होगा, और न बनाया तो जैसे अभी तक रहते आये वैसे रहेंगे। तो यह मनुष्यभव मिला है एक ऐसा उपाय बनाने के लिए जिससे संसार में फिर कभी रहना न पड़े, संसार में फिर कभी दुःख न उठाना पड़े। ऐसा उपाय बनाने में होंगे, प्रमादी तो फिर बताओ आत्मतत्त्व क्या रहें? चित्त में पवित्रता के साथ उदारता भाव लावो। जैसे पहिले क्षमा का संकल्प किया था, नम्रता का संकल्प किया था, अहंकार छोड़ने का संकल्प किया था ऐसे ही अब आप समझिये कि यहाँ मायाचर

भी किसका करना ? किसको यहां अपनाया जाय, किसके लिए तन, मन, धन, वचन न्योछावर हो, ये कोई मेरी चीज नहीं हैं, ये सब चीजें मुफ्त ही मिली हैं और मुफ्त ही जायेंगी। तो हम जो भी धर्म वर्तव्य करें, जो हो सो हो, मगर वहां मायाचारी का व्यवहार न करें। जितना बने उतना करें, पर भीतर में ऐसा ज्ञान प्रकाश पावें कि किसी बात पर छल क्यों करना ? यहां कोई बात सार की नहीं, तात्त्विक बात है तो एक आत्मस्वरूप। ज्ञानस्वरूप की क्या महिमा है ? यों ही थोड़े शब्दों में समझिये—कि हमारा जो कुछ हो रहा है वह ज्ञान हो रहा। दुःख क्या चीज ? कल्पना बनायी जिससे दुःखी हुआ, तो यह ज्ञान की ही तो कला है। ज्ञान की ऐसी रीति जिससे सुख हो तो यह ज्ञान की ही तो कला है और ऐसा ज्ञान करना कि जिससे शुद्ध आनन्द प्राप्त होता है तो यह भी ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। तो यह ज्ञान ही पिता है, ज्ञान ही रक्षक है, मेरा जो कुछ है वह मात्र मेरा ज्ञान है। अभी ज्ञान किसी का बिगड़ जाय तो फिर कौन उसकी रक्षा करने वाला ? एक घर में किसी भाई का ही ज्ञान बिगड़ जाय तो उसकी कौन रक्षा कर सकता है ? ज्ञान ऐसा बनावें कि बाह्य में व्यवहार न हो और अपने आपका जो ज्ञानानन्द स्वरूप है उसमें तृप्त रहा करें, उसके लिए चाहिए निरन्तर ज्ञान साधना।

अकषाय ज्ञानस्वभाव की दृष्टि में ही पवित्रता व आनन्द लाभ—ज्ञान की दृष्टि होना बस यह ही पवित्रता है। कषायों का परित्याग होना बस यह ही पवित्रता है। ऐसी पवित्रता कोई न रखे और कषाय करें तो कहते तो हैं सभी लोग कि नरकवास होता है पाप करने के फल में। इस बात को तो सभी लोग मानते हैं, पर कोई किसी रूप मानता, कोई किसी रूप। यह अपवित्रता एक ऐसी विपत्ति है कि यह जीवन न यहां शांत रह सकता, न अगले भव में। भागवत के प्रथम अध्याय के २८वें छन्द में ऋषभदेव की दीक्षा का वर्णन है। उससे उनके सारे जीवन का पता पड़ जाता है कि कैसा पवित्र मार्ग के लिए उनका अवतार था ? आदि पुराण में भी कहा है कि उन्होंने नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण की। शरीर मोत्र ही जिनका परिग्रह है, आकाश ही जिनका वस्त्र है, ऐसा निसंग होकर ठहरे थे। एक ही क्या अनेक दृष्टान्त हैं ऐसे जो संसारनिर्णय सुख होता तीर्थकर क्यों तजते ? तो यह विश्वास रखें कि अपने आपको भलाई करना है तो कषायों का परित्याग करना होगा। हां परिवार के बीच में रहना पड़ता है इसलिए अनुराग करें, पर भीतर में ऐसा समझते रहें कि मुझे तो यह अनुराग करना पड़ रहा है, पर इनसे अनुराग करने में मेरी रक्षा न होगी। सच्चा ज्ञान बना लें, उनके छोड़ने की बात नहीं कह रहे, मगर जो सत्य बात है उसको समझ लें तो अपने आपको रक्षा हो जायगी ऐसा समझें कि मुझे तो घर में रहना पड़ रहा है, पर घर में बंधकर रहना मेरा वास्तविक कर्तव्य न था, 'भले पड़े बजाय सरे' जब शरीर के बंधन में ही फंस गए, फसना तो न चाहिए था, मैं तो ज्ञानानन्द मात्र हूँ, मगर जब फंस ही गए तो चतुराई से काम बना लें। जहां प्रेम करना पड़ रहा उसे भी समझें कि यह पाप है। जैसा जो कुछ करना पड़ रहा सो कर लें मगर उसे एक विडम्बना समझें, सच-सच समझने में क्यों इत्कार किया जा रहा ? श्रद्धा दोनों की एक समान है। यदि कोई ब्रह्मज्ञानी है तो ज्ञानी है, नहीं है ब्रह्मज्ञानी तो अज्ञानी है। भैया ! श्रद्धा में कमी न होनी चाहिए, चाहे संयमवृत्ति में अन्तर हो, न साधु जैसा संयम धर सकें, किन्तु श्रद्धा साधुवत् हो। जैसे कटी पूँछ वाली गाय हो तो, लम्बी पूँछ वाली गाय हो तो दोनों का प्रेम अपने-अपने बच्चे के प्रति बराबर है। हां एक अपनी लम्बी पूँछ डुलाकर प्यार करती है और एक अपनी नन्ही सी पूँछ डुलाकर प्यार करती है, पर प्यार दोनों का एक समान है। ठीक ऐसे ही चाहे कोई योगी हो, चाहे गृहस्थ हो मगर दोनों को श्रद्धा तो सत्य ही बनानी चाहिए। क्या श्रद्धा ? क्रोध मान, माया, लोभ आदिक सर्वे विभावों से रहित केवल ज्ञानस्वरूप हूँ—यह श्रद्धा बना लें। यहां की कोई भी चीज मेरी नहीं, यहां तक कि इन कर्मविपाकों पर भी मेरा अधिकार नहीं है। ये विचार तर्क कल्पनाये प्रेम आदिक भाव इन पर भी मेरा अधिकार नहीं। तो फिर मेरा दुनिया में और कौन है ? सत्य श्रद्धा बनावें और सन्तोष पायें। श्रद्धा की बातों में कुछ विचारेंगे तो सन्तोष न पायेंगे।

उत्तम सत्य धर्म

दयधम्महु कारण दोसणिवारण इहभवपरभवसुनखयरु ।

सच्चुजि वयणुल्लउ भुवणि अतुल्लउ बोलिज्जउ वीसासयरु ॥

सत्य व्यवहार द्वारा सुपात्र बनकर सत्य अन्तस्तत्त्व की उपासना का अनुरोध—सत्य धर्म दया धर्म का कारण है, दोषों का निवारण करने वाला है, इहभव और परभव दोनों स्थानों में सुख का करने वाला है। सो भैया दूसरे के हितकारी स्वहितकारी विश्वासपूर्ण वचन बोलकर अपना जीवन सफल करना चाहिये, और फिर गुप्तिबल के प्रयोग से सत्य अंतस्तत्त्व की उपासना करनी चाहिये। निज आत्म पदार्थ जैसा स्वयं सत् है वैसा जानना, देखना अथवा कहना उत्तम सत्य है। धर्म निज का भाव है। अतः जिस ज्ञान अथवा वचन का स्वयं पर प्रभाव है वही उत्तम सत्य है अर्थात् सम्मत् विश्वास सहित लक्ष्य में आया हुआ आत्मस्वभाव उत्तम सत्य है। उसको वचनों से कहना उत्तम सत्य वचन है। सत्य पालन से पहिले यह निर्णय कर लेना आवश्यक ही है कि ध्रुवसत्य क्या है? यद्यपि अपनी-अपनी विवक्षाओं से ध्रुव-अध्रुव विभाव पर्याय आकर सभी सत्य हैं, किन्तु ऐसा सत्य कौन है जो परके आश्रय बिना अहेतुक स्वयं सत् में होने वाला है। ऐसा सत्य यदि आत्मा में खोजा जाये तो वह चैतन्य स्वभाव है। यही अनादि अनंत अहेतुक एक स्वरूप है, इसके ही आलम्बन में सिद्धि है। आत्मस्वभाव विकास के विपरीत जो भी वचन हैं वह सब असत्य हैं। इसी कारण तो एक जगह शास्त्रकार ने यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि सदृशस्य व्यापार विषयक बात को यथार्थ कहे तब भी वह अनात्मविषयक होने से असत्य है। उस असत्य का शृहस्य त्यागी नहीं हो सकता। इसलिये वह सत्यमहाव्रती नहीं, किन्तु सत्याणुव्रती है। देखो भैया! जहां परविषयक बात को चाहे, जैसी हो तैसी कहे तब भी असत्य बताया है, फिर अन्य सफेद झूठों को तो कहा क्या जावे? यह समस्त जगत् अपने से सर्वथा भिन्न है। इसके परिणमन से हमारा परिणमन नहीं होता। किसी भी अन्य द्रव्य से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि सब अपने-अपने स्वरूप में हैं, अपने चतुष्टय से परिणमते हैं। लोक लौकिक असत्य भी इसी बाह्य जगत् को निमित्त-आश्रय बनाकर बोलने का यत्न करते हैं। यहाँ न तो बाह्य अर्थ हितरूप है और न यह विभाव हितरूप है। केवल स्वभाव से विपरीत चेष्टा होने से संसार का क्लेश ही असत्य से होता है, सत्य सुख का मूल है। सत्य से इस लोक की विपदायें भी शांत हो जाती हैं। प्रथम तो सत्यवादी पर उपसर्ग से होते हैं, किन्तु अन्त में विजय सत्य की ही होती है।

वैभव की सत्यानुसारिता—एक सत्यव्रती राजा था। उसने एक नया बाजार खुलवाया और यह कह दिया कि बाजार में जो सौदा नहीं बिके उसे हम खरीद लेंगे। एक आदमी शनीचर की मूर्ति एवं अन्य भी मूर्तियां लेकर बाजार में आया, उसकी और तो सब मूर्तियां बिक गई, किन्तु शनीचर की मूर्ति किसी ने न ली, क्योंकि लोगों को यह ख्याल था कि जिसके घर शनीचर आ जाता है उसके सम्बन्ध नहीं रहती। खैर, वह मूर्ति लेकर राजा के यहाँ गया कि महाराज? मेरी यह मूर्ति नहीं बिकी, तब राजा ने उसके जो दाम मांगे, दिये और खरीद ली। कथा है कि शनीचर की मूर्ति आते ही धन लक्ष्मी आगने लगी। राजा को कथा कि तुम्हारे घर में शनीचर आ गये, इसलिये मैं जाती हूँ। राजा बोला जो तुम्हारी मूर्ती पर मैं सत्य को तो न छोड़ूंगा। इसके बाद धर्म (पुण्य) जाने लगा, उसने भी राजा को सूचना दी। राजा ने कहा कि मैं सत्य को नहीं छोड़ूंगा। तुम्हें भी जाना हो तो जा सकते हो। इसके बाद सत्य जाने लगा। तब राजा ने कहा कि हे सत्य! तुम किसी प्रकार नहीं

जा सकते। तुम्हारे ही लिये तो शनीचर खरीदा अर्थात् सत्य वचन निमाने को ही तो शनीचर खरीदा, तब तुम्हें जाने का अधिकार क्या है ? सत्य निरुत्तर होकर लौट आया, तब धर्म और लक्ष्मी को भी लौटना पड़ा। यह अलंकारिक कथा है। तात्पर्य यह है कि सत्य के रहने पर सभी गुण और वैभव वर्द्धमान रहते हैं।

अहित असत्य अर्थ के वचनालाप से कलङ्क की वृद्धि—असत्य के आव से ही आत्मा कलङ्कित हो जाता है। फिर उसके अंतरङ्ग से क्रोध, मान, माया, लोभ छुपे छुपे बढ़ते रहते हैं। जहाँ धर्म का प्रवेश नहीं होता वह सदा आकुल-व्याकुल बना रहता है। जिसके अन्दर अभी लौकिक सच्चाई भी नहीं है वह दूषित आत्मा तो धर्म पालन का पात्र ही नहीं, परमार्थ सत्य आत्मतत्त्व के अनुभव से वह बहुत दूर है। भैया ! यह मनुष्य भव ही ऐसा है जहाँ हितहित प्रिय यथार्थ एवं व्रत नियमों को पालते हुये अनुभवपूर्ण वचन बोलने का अवसर प्राप्त है। यदि यहाँ वचनों का कुस्ययोग किया तो ऐसे ही भव उस असत्यवादी के मुनिश्चित हैं जहाँ अक्षर बोलने की सामर्थ्य नहीं या जिह्वा ही नहीं होगी। हितमहितप्रिय वचन बोलना सत्य वचन है। सत्य अहिंसा की रक्षा के अर्थ है। अतः जहाँ दूसरे का दिल दुखाने का माव है अथवा असावधानी है वहाँ जो कुछ भी वचन घातनिमित्तिक निकलता है वह सब असत्य है। अहित अप्रिय वचन बोलने वाला तो हृदय का निष्ठुर है। जितना वचनवाण तीक्ष्ण धाव कर देता है उतना लोहे का वाण भी नहीं करता। वचन ही एक ऐसा वैभव है जिससे मनुष्य के अन्तरङ्ग का प्रसार होता है। मनुष्य को अहित स्वच्छन्द अप्रिय वचन नहीं बोलना चाहिये। इसका फल पछताना और कर्मबन्धन का भार डोना ही है। भैया ! वचन ऐसे बोलो जिससे दूसरों को फायदा हो, हित हो, पीड़ाकारक न हो, सोई सब सत्य धर्म है। इस जीवन में मनुष्यों का व्यवहार कितना बिगड़ा हुआ है ? कितनी फालतू बातें करते हैं, जिन बातों से कोई लाभ नहीं, उल्टा नुकसान है। ज्यादा बातें बोलने से प्रायः असंतुलित वचन भी निकल जाते हैं। इससे वचनों का प्रयोग परिमित व विवेकपूर्वक करो। वचन ही मनुष्य का एक धन है। तो मुख से वचन ऐसा निकलना चाहिये जो बड़ी नापतौल का, सत्य धर्म का, दया धर्म का कारण हो। फालतू बोलने से हृदय में दया का प्रवेश नहीं होता है।

दोषनिवारक वचन की उपयोगिता—दोषणिवारणुः—सत्य धर्म दोष का निवारण करने वाला है। असत्य बोलने से तो बड़ा दोष लगता है मगर फालतू बातें करने से भी बड़ा दोष लगता है। आपने देखा होगा कि जो बड़े पुरुष होते हैं, गम्भीर होते हैं, धनिकों में भी जो बहुत बड़ी जिम्मेदारी लिए हैं, देश में, समाज में उनको ज्यादा बोलते हुये नहीं पाया होगा। प्रमोजन की बात बोलेंगे, थोड़ा बोलेंगे। यही मनुष्य का गुण है। थोड़े-थोड़े गुणों का भी अपने जीवन में संचय किया जाय तो वह इस जीवन में बड़ा गुणी बन सकता है। कौन सहाय है इस दुनिया में, चारों ओर तो निगाह डाल लो। जब कभी पुण्य का अभाव हो जाय तो जो बन्धु हैं, मित्र हैं वे भी बंदी बन जाते हैं। अपने आचरण पर विश्वास करो। अपना आचरण उत्तम है तो दूसरे भी सहायक होंगे। अपना आचरण अनीतिपूर्ण है तो कोई पूछने वाला नहीं है। दूसरों पर ऐहसान धरने के लिये आचरण नहीं किया जाता है। खुद की भलाई के लिये ही आचरण किया जाता है।

अलौकिक सत्य के प्रसाद में परमहित—भैया ! अहित अप्रिय वचन बोलना हिंसा है। जिसने लौकिक सत्य का अवधान न किया वह परमार्थ सत्य से बहुत दूर है। मैं मनुष्य हूँ, धनपति हूँ, मेरे पुत्र आदि हैं, मैं कुटुंब को पालता हूँ, मैं अमुक का विनाश कर दूंगा आदि अभिप्राय असत्य हैं, परमार्थ से विपरीत है तब इन अभिप्रायों की प्रेरणा को निमित्त पाकर वचन वर्गणा प्रकट होती है वह भी इसी हेतु असत्य है। परपदार्थ तो जैसा है वैसा ही है उसमें क्या सत्यपना है, क्या असत्यपना है ? सत्यता असत्यता तो अभिप्राय से सम्बन्ध रखती है। वस्तु के स्वरूप से विपरीत अभिप्राय असत्य है, वस्तु स्वरूप के अनुकूल अभिप्राय सत्य है। वस्तुतः यह आत्मा निज सर्व शक्तियों का अभेद पिण्ड अखण्ड है, उसका कार्य परिणमन उस ही में स्वयं में है और वह परिणमन शक्ति की दशा

उत्तम सत्य धर्म

है, सर्व पदार्थ इसी तरह अवस्थित हैं। किसी पदार्थ का किसी से वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः कोई किसी को परिममाता नहीं है। इस तरह स्वतन्त्र दृष्टि से पदार्थों को अद्वैत लखना, ऐसा ही ज्ञान होना सत्य है। अहो, इस जीव ने अब तक इस सत्य का ध्यान ही नहीं किया, जिसके कारण से ही सयोभी दृष्टि रखकर कर्तव्य का भ्रम बना रहा और क्लेश पाता रहा। परमार्थतः सत्य को पालने वाले के व्यवहार में सत्य का व्यवहार आता है।

सत्यधर्म की लोकद्वयसुखकारिता—यह दयामयी धर्म इस लोक में और परलोक में सुख का देने वाला है यही सत्य धर्म है। इसके वचनों की कोई तुलना नहीं कर सकता। एक सत्य व्रत पर दृढ़ तो रहो फिर देखो उसकी महत्ता नगर में कितनी फैलती है? जरा-जरासे लाभ के लिये झूठ बोल जाय, मामूली स्वार्थवासना के पीछे असत्य व्यवहार करें, भला उस आत्मा में वह बल कहां है कि स्वरूप समझ पाये और दूसरों के लिये शांति का कारण बने। सत्यता के संकल्प पर दृढ़ तो होना चाहिये। सच्चाई कहो, निर्मलता कहो एक ही बात है। किसी समय जिसके चारो कषायों का अभाव हो गया उसके बाद आत्मा की बड़ी सच्चाई प्रकट होती है। यही धर्म है। कहने से कुछ नहीं उठता, करने से ही उठता है, और करने का काम देखने से नहीं आता। अपने आप में गुप्त रहकर जग गया ही सम्यक्त्व, तो यह साहस हुआ करता है कि अपनी भलाई के लिये अपने आपको सच्चा बनाए। इस सत्य की तुलना जगत में कहीं नहीं हो सकती। देखिये झूठ का आजकल बोलबाला है। इसलिये सत्य की चाल बहुत धीमी है, किन्तु कोई सच्चाई पर तुला रहे तो कुछ दिन संकट सहने के बाद उसके इतने प्रशंसक व श्राहक होंगे कि उसकी ख्याति नगर और देश में फैल जायगी और वह सुखी हो जायगा।

सच्चुजि सब्बहिं धम्मपहाणुं, सच्चुजि महियलगरुव विहाणुं।

सच्चुजि संसारसमुद्सेउ, सच्चुजि भव्वहमण सुखहेउ॥

उत्तम सत्य की धर्म प्रधानता—यह सत्य धर्म सर्व धर्मों में प्रधान है। अभी किसी के बोलने में ऐसा ध्याल जग जाय कि यह तो झूठ बोलता है फिर लोगों की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं रहता। इस मनुष्य का तब तक मूल्य है जब तक लोगों की समझ में यह बैठा हुआ है कि यह सच्चा पुरुष है अथवा ज्यादा झूठ बोलने वाला नहीं है। खैर इतना ही मालूम हो जाय तो भी उसकी इज्जत रहती है, और अगर यह जान जाय कि यह तो दो-तीन पैसे के लिये झूठ बोलता है, फिर लोगों की दृष्टि में उसका मूल्य क्या है। बेकार है जीवन, उसका तो मरना और जीना बराबर हैं। सत्यधर्म सर्व धर्मों में प्रधान है। यह सत्य ही इस पृथ्वी पर बड़ा विधान है। दरिद्रता भी कदाचित् आ जाय तो भी सच्चाई न छूटे, इस धर्म के साथ अपना जीवन गुजारो तो अवश्य शांति होगी और कुछ ही समय बाद इस ही लोक में वह सर्व सुख सम्पन्न हो जायगा। झूठ बोलकर क्या करना है? मान लो कि लाखों का धन जोड़ लिया तो उस धन का क्या करोगे? छोड़कर जाना ही पड़ेगा। कुछ भी तो साथ न जायगा। यह सत्य संसार समुद्र का सेतु है। जैसे समुद्र पर पुल बना हो तो उसका पार कर जाना बहुत सरल है इसी प्रकार जिसके सत्य धर्म चल रहा हो उसको संसार से छुटकारा पा लेना बहुत सरल है। जो झूठ बोलने वाला है उसके आत्मा की प्राप्ति होती है, लोगों की दृष्टि में वह गिरा हुआ होता है, आत्मबल उसका घट जाता है, संसार समुद्र से तो वह तिरोगा ही क्या?

सत्य के प्रसाद से व्यसननिवृत्ति—एक राजा का लड़का था, उसकी चोरी करने की आदत थी। चोरी किए बिना उसे चैन न पड़ता था। राजा ने उसे अपने राज्य से निकाल दिया। चला गया दूसरे देश को। वहां रहने लगा। साधु महाराज मिले, भक्ति से बैठा उपदेश सुना। साधु के सामने सच बोलने की प्रतिज्ञा ले ली। एक दिन मन में आया कि मामूली चीजों को क्या चुरायें, चलो राजा के यहां घोड़ा है उसको चुरायेंगे, गया। दो-चार जगह पहरेदार मिले। पूछा कौन हो? मैं चोर हूँ, जो चोर होगा वह कैसे अपने को चोर बतायेगा?

राजा का मेहमान होगा। जितने पहरेदार थे सबके यहां से चला गया। वहां से घोड़े पर बैठ करके आया तो सब पहरेदार मलाम करें। वह निकल गया। अब दूसरे दिन बड़ी खलबली मची। नामी घोड़ा कोई चुरा ले गया। मब कहें किसी भाई ने मजाक में घोड़ा चुराया हो तो बतलावो। अब वह खड़ा हुआ बोला—महाराज मैंने घोड़ा चुराया है। राजा ने पूछा चुराया कैसे? महाराज मैंने सत्य का नियम लिया था, सब पहरेदार मिले। सबने पूछा कौन हो? मैंने कहा चोर हूँ, किसी ने न रोका। मैं तो सबके सामने से घोड़ा लेकर आया हूँ। उसकी सच्चाई पर प्रसन्न होकर राजा ने राज्य का एक बड़ा हिस्सा उसके नाम लगा दिया। पुत्री विवाह दी। अब तो राजपुत्र बहुत सुखपूर्वक रहने लगा।

सत्यवादी पर लोक विश्वास—यही देख लो, दसों आदमी जो आपकी पूछ करते हैं उनको यह विश्वास है कि यह सच बोलने वाला है। इतना तो विश्वास करीब-करीब बहुलों को बहुतों के प्रति होगा, और नहीं तो इतना तो होगा कि मामूली दो चार पांच सौ रूपयों पर झूठ न बोलेंगे। अगर लाखों का मामला आ जाय तो भ्रमवान जाने। अगर किसी के प्रति यह दृष्टि हो जाय कि यह तो बड़ा झूठा है, उसके तो कोई जिम्मेदारी ही नहीं है तो उसका जीना और मरना समाज में एक समान है। असत्य वचन से क्लेश ही क्लेश दोनों भवों में होते हैं। एक सत्य वचन सबके मन के सुख को उत्पन्न करने वाला है। सत्यवादी से सभी जीव सुखी रहते हैं। जो धोखा करे, विश्वासघात करे वह बड़ा निर्दयी होता है। चाहे दूसरे की जान चली जाय, पर स्वार्थपूर्ण होना चाहिये, विषयवासना की सिद्धि होनी चाहिए। ऐसे भाव वाले पुरुषों ने संसार का ठेका ले रखा है। संसार रीतेगा नहीं, वे इस संसार के ठेकेदार हैं।

सच्चेणजि सोहइ मणुवजम्म, सच्चेण पवत्तउ पुण्णकम्म ।

सच्चेण सयलगुणगण सहंति, सच्चेण तियस सेवा बहंति ॥

सत्य से मनुष्य जन्म की सफलता—सत्य से ही मनुष्य जन्म की शोभा होती है। परमार्थ सत्य क्या है? सत्य केवल अपनी सत्ता मात्र चैतन्यस्वरूप जो निजभाव है उसमें श्रद्धा रखना, यह ही हुआ उसका सही ज्ञान रखना। भैया! ज्ञाताछटा रहने का आचरण करो, ऐसी प्रवृत्ति की सिद्धि कराने वाला जो वचन है वही उत्कृष्ट सत्य वचन है। ऐसी सच्चाई उपयोग में आ जाय तो उस मनुष्य का जन्म सफल है।

सत्त से पुण्यकर्म की प्रवृत्ति—सच्चेण पवत्तउ पुण्णकम्म—इस सत्य धर्म में ही पुण्य कर्मों की प्रवृत्ति होती है झूठे पुरुषों के धर्म व्रत और तप की क्या कीमत है? मूल में तो विपरीत बात बनी हुई है! व्रत और तप की सिद्धि वहां ही है जहां सच्चाई आ जाय। यह सत्य आत्मा का स्वभाव है। स धर्म के पालने के लिए कोई बड़ा श्रम नहीं करना है, केवल एक दृष्टि बनाना है, संकल्प करना है। तीन लोक का भी वैभव झूठ बोलकर मिल जाय तो उस वैभव से शांति नहीं मिल सकती है वह अशांतिका ही कारण है।

सत्य से गुण चमत्कार—सत्यव्रत से समस्त गुण उनके अन्दर प्रकट हो जाते हैं। एक बार अकाल पड़ गया, वर्षा न हुई तो लोगों ने यज्ञ किये, धर्मकार्य किए, पर सब कार्य विफल हुए। तो एक व्यक्ति ने सलाह दी कि एक गरीब बनिया रहता है जो बेचारा मामूली नौन, गुड़ तेल करके अपने कुटुम्ब का गुजारा करता है, किन्तु वह पूर्ण सत्यवादी। राजा उसके पास जाये और प्रार्थना करे तो यह प्रजा का संकट टल सकता है। राजा गया उसकी झोंपड़ी पर, उसने विनय की कि आप ऐसा आशीर्वाद दें कि वर्षा हो जाय। तो उसने तराजू की उंडी उठाकर कहा कि हे वर्षा बरस जाओ। कहने की बात थी। थोड़ी ही देर में बादल आये तेजी से और वर्षा शुरू हो गई। भैया, कोई सा भी नियम लिया जाय, बड़ी दृढ़ता से लिया जाय, तब फलवान होता है और जिसके दृढ़ता का नियम होता है उसकी परीक्षा पद-पद पर होती है, उसको ही उपसर्ग सताते हैं। जिन्हें रात दिन भोजन का

त्याग नहीं है उन्हें क्या उपसर्ग सतायेंगे। बाजार गये, रबड़ी तौलवाकर खा लिया। कहते हैं रात्रि में अन्न का त्याग है। त्याग का क्या प्रयोजन है उसे समझे बिना ऐसा ही तो अनर्थ होता है। तो जिनके त्याग नहीं है उक्तको क्या उपद्रव आयेगा? आप कहेंगे कि त्याग न करना भला है, कोई उपद्रव न आयेगा। भरे तो त्याग न करने वाले पर उपद्रव नहीं आता तो उत्कर्ष भी तो नहीं होता। वह तो कीड़े मकौड़े जैसी जिन्दगी है। किसी व्रत पर बड़ रहें तो खूब परीक्षा के लिये उपसर्ग आते हैं। परीक्षायें ही इन व्रतों की सिद्धि को प्रमाणित करती हैं। सच्चेण तियस सेवा वृत्ति:—सत्यधर्म के कारण मनुष्य तो क्या देवता भी सेवा किया करते हैं।

सत्य के घात से घोर आपदाओं का भोग—सत्यघोष की कथा खूब सुनी होगी। वे कहते थे कि मैं सत्य ही बोलता हूँ। एक जनेऊ पहिन लिया और उसमें एक छुरी डाल लिया। कभी अचानक झूठ बोल दिया तो जीम काट लेंगे, यों प्रसिद्धि कर दी। एक बार एक बड़ा सेठ कोई बाहर जा रहा था। उसके पास चार बड़े ही कीमती रत्न थे। सत्यघोष के पास रख दिया और कहा कि हम २०-२५ दिन में आयेंगे तो वापिस ले लेंगे, रख दिया। सत्यघोष ने सोचा कि हमारे सत्य का व्रत था, सो उसके फल में ये चार रत्न हमारे घर आ गये। फल तो पा ही चुके, अब सेठ मांगेगा तो न देंगे। सेठ आया मांगने, पर न दिया तो सेठ विह्वल हो गया। वह राजा के महल के सामने पागल जैसा डोलता फिरे और कहे कि सत्यघोष ने मुझे दगा दिया। मेरे चार रत्न चुरा लिये। केवल एक बात की ही रटन लगाये था। राजा ने सोचा यह पागल तो है नहीं। यदि पागल होता तो दसों तरह की बातें बकता। अब राजा ने सत्यघोष की परीक्षा लेने के लिये रानियों से कहा। रानियों ने जुवा खेलने के प्रसंग में ही सत्यघोष का जनेऊ और चाकू जीत लिया। रानी ने दासी को भेजा जनेऊ और चाकू देकर कि जावो सत्यघोष के यहां उसकी स्त्री से कहो कि सत्यघोष ने चार रत्न मंगायें हैं जो सेठ के हैं। बहुत जरूरी काम है और निशानी के लिए यह जनेऊ और चाकू भेजा है। उसने रत्न दे दिये। काम निकल गया। अब सेठ की परीक्षा करें कि ये चारों रत्न इसी के हैं कि नहीं? झूठे मूठे नकली रत्नों में उन चारों रत्नों को मिला दिया। उस सेठ ने अपने ही चारों रत्न छोट लिए। उसने सत्यघोष को दण्ड दिया। सत्यघोष से कहा कि तुम्हारे लिये तीन दण्ड हैं, उनमें से जो पसन्द करो वह एक दण्ड ले सकते हो। एक तो यह दण्ड कि तुम्हारे मल ३२ घूसे लगाये, सो सहन करो। दूसरा दण्ड यह है—थाल भर गोबर खावो, तीसरा दण्ड है कि अपनी सारी सम्पदा दे दो। उसने सोचा कि सुभीते का बढ़िया कौन दण्ड है जिसमें हमें विकल्प न हो, सो मल्ल के घूसे पसंद किये। मल्ल के एक घूसे में ही टें बोल गया। तब कहा—महाराज! हम यह दण्ड न सहेंगे, हम थाल भर गोबर खाने का दण्ड सह लेंगे। पर कैसे थली-भर गोबर खाये? एक कौर भी न खा सका। अब तीसरा सब धन देना ही स्वीकार किया। तो झूठ बोलने वाला तब तक ही समाज में रह पाता है जब तक उसके झूठ का पता नहीं पड़ता। अगर पता पड़ जाय तो सूखे हुये छेवले के पत्ते की तरह इधर उधर डोलता रहेगा, उसे कहीं ठिकाना नहीं लगेगा, कोई व्यापार उसके साथ में न करेगा, कोई उसे पास में भी न बैठने देगा। तो सत्य वचनों से ही इस मनुष्य की शोभा है और इसका महत्त्व है।

सच्चेण अणुब्ब महव्वयाद्द, सच्चेण विणासिय आपयाद्द।

हियमिय भासिज्जद्द णिच्चभास णवि भासिज्जद्द परदुहपयासु ॥

सत्य से सत्य व्रतनिष्पत्ति—इस सत्य से ही अणुव्रत और महाव्रत उत्पन्न होता है। आप देखलो, स्त्री पद-पद पर झूठ बोलती है तो पति को उससे नफरत हो जाती है। फिर सद्व्यवहार नहीं बन सकता। और पति पद-पद पर झूठ बोलता हो तो स्त्री के हृदय में घर न रहेगा। पिता पुत्र परस्पर में झूठ बोलते हों तो उनमें परस्पर में बिगाड़ हो जायेगा, फिर वे सुखमय जीवन नहीं बिता सकते और अणुव्रत महाव्रत आदि ये बातें उस झूठ के होंगी ही क्या? इस सत्य से ही सब आपत्तियां नष्ट हो जाती हैं। बड़े-बड़े शत्रु भी सत्यवादी पर प्रसन्न हो

जाते हैं। कोई किसी का दुश्मन नहीं है। कोई ऐब करे तो दूसरों को बुरा लगता है सो मान लेते हैं कि ये लोग मेरे दुश्मन हैं। यह नहीं समझा कि मेरे में कोई अवगुण है सो दूसरे को नहीं सुहाते हम व्यर्थ ही उनके प्रति कल्पना करते हैं।

सत्य के प्रताप का अन्य पर सत्प्रभाव—दो बालक थे। एक बड़ा और एक छोटा। एक लड़के को पिता ने पढ़ने भेजा। करीब सौ दो सौ कोस पढ़ने जाना था, अकेले चल दिया। रास्ते के खर्च के लिये ५ मोहर एक कथरी में सी कर दे दिया। कपड़े की सी करके दरी बतौर बना ली जाती है कथरी, उसमें ही ५ मोहरें सी दीं, और बता दिया कि जब कोई आपत्ति आये तब इन्हें निकाल लेना। चल दिया। कुछ दूर उसे जंगल में चोर मिले। चोरों ने कहा, ठहरों। क्या है तुम्हारे पास? कहा, मेरे पास बहुत कुछ है, लो इस गुदड़ी में ५ मोहरें रखी हें ले लो। भला कोई बहुत सुरक्षित चीज को भी बता सकेगा? चोरों के हृदय का परिवर्तन हो गया। चोरों ने उस बालक के साथ और चोरों को लगा दिया, कहा इस बालक को इस जंगल से बाहर पहुंचा आवो। चोर जंगल से बाहर उसे पहुंचा आये। सच्चाई पर आग्रह किये तुले रहो तो आखिर लोगों का हृदय ही पलट जाता है। जिस समय कांग्रेस की सभायें होती थीं, लाठी चार्ज कर दिया, पर सत्य का आग्रह करके लोग रहे सो शासन को झुकना ही पड़ा। दूसरों को सच्चाई से ही जीता जा सकता है, नहीं तो क्या तुम कोई बादशाह हो? अरे आपमें गुण होगा, सच्चाई होगी तो दूसरे भक्त बन जायेंगे। भैया! सभी जीव स्वतन्त्र हैं। कोई किसी के आधीन नहीं है जो किसी प्रयोजन के बिना दूसरों पर झुके। हमारा फलानेचंद नाम है, हमारे आधीन रहना ही चाहिये, ऐसे नाम में गुण नहीं है, न चाम में गुण है। गुणों के अनुरागी पुरुष आप में कोई गुण देखेंगे तो वे आपके अनुसारी बन जायेंगे। सब गुणों में यह सत्यधर्म एक प्रधान गुण है।

वचनविषयक चार पदों का विश्लेषण—वचन के सम्बन्ध में ४ श्रेणी हैं—(१) सत्यमहाव्रत (२) भाषा समिति, (३) सत्यधर्म, (४) वचनगुप्ति। इनका अन्तर इस प्रकार है:— १—जैसा पदार्थ है वैसा ही कहना चाहे वह परिमित हो या अपरिमित, वह सब सत्य महाव्रत है। २—सत्य बात को परिमित ही कहना अर्थात् हित मित प्रिय वचन बोलना भाषा समिति है। ३—केवल आत्मविषयक वार्ता कहना सत्यधर्म है। ४—वचन मात्र का गोपन करना वचनगुप्ति है। यह उत्तम सत्यधर्म का प्रकरण है जिससे हमें यह जानना चाहिये कि यदि बोलना ही पड़े तो आत्मविषयक हित मित प्रिय वचन बोलना योग्य है।

आत्मा का शृङ्गार उत्तम सत्य—सत्यधर्म पालने के अभिलाषी भव्यों को दुष्ट वाक्य और परनिन्दा की वाणी कभी नहीं बोलना चाहिये। सत्यवादी तो दयालु प्रकृतिवाला होता है। सत्येन्द्र का स्वप्न में भी परघात का, परपीड़ा का भाव नहीं होता। अतः वह सदा प्रसन्न और मुखी रहता है। सत्य के होते हुए कोई दोष घर नहीं कर पाते, अतः निर्दोषता के कारण सत्यवादी सदा प्रसन्न रहता है। मनुष्य की शोभा सत्य से है। आत्मा का शृङ्गार सत्य है। सर्व गुणों की महिमा सत्य गुण के कारण वृद्धिगत हो जाती है, जैसे अनेक गुण वाला भी पुरुष यदि असत्य बोलता है, लोकों में उसकी असत्सत्वादिता की प्रसिद्धि है तो कोई भी गुण श्लाघताको प्राप्त नहीं होता। सत्य के बिना व्रत नियम भी ढोंग मात्र हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मोन्नति सत्य बिना नहीं हो सकती। संसार समुद्र से पार होना सत्यरूपी नौका बिना नहीं हो सकता। अतः संसार के क्लेश से भयभीत एवं आत्म स्वभाव के रुचिवान् भव्यो! सम्यग्दर्शन सहित हित-मित प्रिय वचन बोलने पर इस सत्य धर्म को अंगीकार करो। यहां जो प्रवृत्ति है वह हेय ही है, इस श्रद्धा को न भूलना चाहिए। यहां तो यह अभिप्राय है कि अनुरागरूप आसक्तिवश बोलना पड़ता है तब ऐसा वाग्व्यवहार हो। वचन हैं सो धर्म नहीं, क्योंकि वचन आत्मा की परिणति नहीं, सत्य वचन बोलने को उपचार से धर्म कहा है। परमार्थतः सत्य यह स्वयं चैतन्यरूपी भगवान् आत्मा है,

इसकी उपलब्धि उत्तम सत्य है। उसके अभिप्राय वाले के जो वचन हैं वे भी सत्य हैं। सत्य ही आत्महित है। इन त्याग का आदर करो। सत्यवादी की आपत्तियों का नाश हो जाता है। सत्य से ही आत्मा की विजय होती है। सत्यमय निज चैतन्य का अनुभव करो और परमार्थतः या लौकिक किसी प्रकार का असत्य व्यवहार मत करो। सत्य की उपासना करो।

परपीड़ाकारी वचन न बोलने में आत्मरक्षा—हे भाइयो, सदा हित मित प्रिय वचन बोलना किस लिए? खुद सुखी रहना चाहते हो तो इसलिये। दूसरों पर ऐहसान करने के लिये नहीं। यदि तुम्हें स्वयं शांति पसन्द है तो हित मित प्रिय वचन बोलो, अन्यथा संक्लेश ही रहेगा। एक बार जीभ में और दांतों में वाद-विवाद हुआ। दांत बोले बरी जीभ! तू बकवाद मत कर। क्या तुझे पता नहीं है कि बत्तीस दांतों के बीच में है, जरासी देर में ये कुचल देंगे तो मिट जाऊंगी। जीभ तब कहती है कि अरे दांतों! हममें वह कला है कि चाहूं तो तुम बत्तीसों को तुड़वा दूं। बतलावो जीभ में क्या कला है? किसी को बुरा बोल दे, गाली दे दे, अट्ट सट्ट वचन व्यवहार कर दे तो अभी मुक्के लग जायेंगे। बतलावो क्या लगता है? कुछ पैसे भी नहीं खर्च करना है, शरीर से श्रम भी नहीं करना है, केवल ढंग से बोलने का काम कर लो, तुम्हारा जीवन सुखी हो जायगा। सब लोग तुम्हारे सेवक बन जायेंगे। एक वचन ही तो सम्हालना है, यही एक गुण अपने में लावो फिर देखो जीवन कैसा सुखमय है? दूसरों को दुःख होवे ऐसे वचन कभी न बोलना चाहिये।

निष्ठुर वचन बाण का घाव—एक लकड़हारा था। जंगल में लकड़ी बीन रहा था। रोज का काम था। एक दिन एक शेर के पैर में कांटा चुभा था, वह कई दिनों से बड़ा दुखी था। वह लकड़हारे के पास आया। पहिले तो लकड़हारा डरा कि यह मुझे मार डालेगा किन्तु बाद में जब शेर ने कुत्ते की तरह कमर टेककर पंजा सामने कर दिया और लकड़हारे ने देखा कि कांटा चुभा है। तो निर्भय हुआ और उस कांटे को लकड़हारे ने निकाल दिया। शेर अपनी भाषा में बोलता है कि तुम लकड़ी का गट्टा मेरी पीठ पर रख दो और जहां तुम चाहोगे हम ले जायेंगे। तो २५ सेर लकड़ी रोज ले जाता था। उसका मकान गांव के किनारे पर था। वह लकड़ी पीठ पर धर दे और शेर डाल आवे। अब बजाय २५ सेर के ५० सेर बोझ रख दिया फिर बेचारा ले जाकर पटक दे। शेर को क्या बोझ? तीसरे दिन दो मन लकड़ी लाद दी। इसी तरह रोज-रोज ज्यादा लकड़ी लादता जावे और शेर डाल आवे। इस तरह महीने भर में वह धनी बन गया। पड़ोसियों ने सोचा कि इतने जल्दी यह धनी कैसे बन गया? वह लकड़ी लेकर लौटा ही था कि पूछा। वह बोला कि मेरे हाथ एक गीदड़ (स्याल), गध्या लगा है जिसकी वजह से हम एक माह में मालामाल हो गये। लकड़हारे की यह बात जब शेर ने सुन ली तो उसके चिन्ता आ गई। (बड़े पुरुषों से चाहे कितना ही काम ले लो उससे नहीं थकते, मगर वचनबाणों से वे थक जाते हैं।) अगले दिन शेर लकड़हारे से कहता है कि तुम्हारे हाथ में कुल्हाड़ी है, इस कुल्हाड़ी को मेरी गर्दन पर बड़ी तेजी से मार दो। वह सोचता है कि क्या मामला है? वह घबड़ा गया। अगर तुम कुल्हाड़ी मेरी गर्दन में नहीं मारते तो मैं तुम्हें खा जाऊंगा। सोचा कि अब तो हमारे प्राण जा रहे हैं। सो कहा अच्छा लेट जावो। शेर लेट गया। बड़ी जोर से कुल्हाड़ी लकड़हारे ने मार दी। मरते-मरते शेर कहता गया कि तुम्हारी कुल्हाड़ी की धार मैंने सह ली, पर जो वचन तुमने बोला था वह मैं नहीं सह सका। आप सोचते जावो। वचन आपके हाथ की बात है। आपका अपने वचनों पर अधिकार है। जैसा चाही बोल लो, किन्तु विवेक यह कहता है कि तुम अपनी जीभ को सम्हालकर चलावो। आप जो वाक्य बोलते हैं उनको पहिले सोच लो फिर बोलो तो इस जीवन में विजय पावोगे।

परवाहायर, भासहृण भव्य, सच्चुणि छंछिज्जउ विगयगव्व ।

सच्चुजि परमप्पा अत्थि एक्कु, सो भावहू भवतमदलणु अक्कु ॥

परबधाकर वचनपरिहार में ही सत्य का निभाव—हे भव्य जीव ! दूसरों को बाधा पहुंचाने वाले वचन कभी मत बोलो । इस सत्यधर्म का पालन इसलिये मत करो कि हमारा पड़ोसी वातावरण अच्छा रहेगा तो सब लोग हमसे खुश रहेंगे । हमारे प्रति सबके हृदय में धर रहेगा, इसलिये मत सत्य वचन बोलो किन्तु इसलिये सत्य वचन बोलो कि असत्य वचन बोलने का मेरा स्वभाव नहीं है । सत्य तो मेरा स्वरूप ही है । इससे मेरी आत्मा का विकास है । आत्महित की दृष्टि से सत्य वचन बोलने का यत्न करो । बाकी तो सब अपने आप हो जायगा । पड़ोसी खुश रहेंगे, आपके सेवक रहेंगे । यह तो अपने आप हो जायगा । पर सत्य बोलने का उद्देश्य आत्महित, मोक्ष का मार्ग होना चाहिये । यदि कोई सत्य भी दूसरों को बाधा पहुंचाने वाला हो तो गुर्वरहित होकर उन वचनों का त्याग करो । सत्य का उद्देश्य है कि न खुद को बाधा पहुंचे और न दूसरे को । लकीर के फकीर थोड़े ही बनना है ।

एक घर में एक लड़की का विवाह हो रहा था । उसके घर एक बिल्ली पाली हुई थी । भांवर पड़ने का समय था । वह बार-बार वहां से निकल जाए । भले समय में बिल्ली का निकल जाना असगुन मानते हैं । सो उसे टिपाड़ा में ढक दिया । टिपाड़ा वजनदार था उसको ढक दिया ताकि बिल्ली इधर-उधर न जा सके । यह बात लड़कों ने देख ली । अब लगभग १५ वर्ष के बाद में एक भांवर पड़ने का अवसर आया । बाप तो गुजर गया था तो लड़कों ने कहा ठहरो, एक दस्तूर और रह गया । एक बिल्ली को टिपारे में बन्द करो तब भांवर पड़ेंगी । अब तो बिल्ली ढूंढने में ही सारा समय गुजर गया । बिल्ली के ढूंढने में दो दिन का समय नष्ट हो गया । खैर किसी तरह से भांवर पड़ीं । भांवर पड़ने में दो दिन तो यों ही बेवकूफी में व्यतीत हो गये ।

सत्य से आत्म-अर्जव धर्म की निष्पत्ति—सत्य धर्म का प्रयोजन है कि खुद को शांति मिले और दूसरों को भी शांति पहुंचे । सत्य ही एक परमात्मा है । यह भवरूपी अंधकार का दलन करने के लिये सूर्य के समान है । देखो छलमरी बात भी झूठ कहलाती है । एक मनुष्य था । जंगल में पहुंचा । शेर उसके पीछे लग गया । वह घबड़ाकर एक पेड़ पर चढ़ गया । उस पेड़ पर एक रीछ बैठा था । अब दोनों तरफ से उसके ऊपर आफत आ गई । एक तरफ शेर और एक तरफ रीछ । अब वह घबड़ाया । रीछ ने कहा, अरे मनुष्य तू घबड़ा मत । तू मेरी शरण आया है, मैं शरण दूंगा, कुछ देर हो गई । रीछ को नींद आने लगी । वह पेड़ पर सोने लगा । इतने में शेर बोला, अरे मनुष्य यह रीछ दगाबाज होता है । देख यह सी रहा है, इसको तू ढकेल दे ! तू निश्चिन्त हो जायेगा । नहीं तों मेरे जाने के बाद तुझे मार डालेगा । उसकी समझ में आ गया । उसे ढकेलने लगा । उसकी नींद खुल गई । विवश हो गया ? खैर रीछ ने क्षमा किया, अब मनुष्य को नींद आने लगी, वह सो गया । शेर कहता है—अरे रीछ ! देख मनुष्य बड़ा दगाबाज है । तूने देख ही लिया है । इसको तू पटक दे, तेरा भी भोजन हो जायगा और मेरा भी । रीछ कहता है कि यह मनुष्य है, यह दगा कर जाय तो कर जाय, पर मैं पशु हूं । मैं अपने रीछपने में बट्टा नहीं लगा सकता । यह मनुष्य मेरी शरण में आया है, इसे कोई जोखिम नहीं हो सकती । भैया ! कोई कोई पशु भी बड़े ईमानदार होते हैं । ईमानदारी तो मनुष्य में आना ही चाहिए । इससे ही मनुष्य की प्रतिष्ठा है ।

सच्चुजि धम्मफलेण केवलणाणु वहेइ थणु ।

तं पालहू भो भव्य भणहृण अलियउ इह वयणु ॥

इस सत्यधर्म के पालने से यह जीव केवल ज्ञान को प्राप्त करता है, इस कारण हे भव्य ! इस सत्यधर्म का पालन करो और रंभ भी झूठ न बोलो ।

कषायों के अभाव से उत्तम सत्य की अभिव्यक्ति—लोक में उत्तम सत्य क्या है ? जो उत्तम सत्य

है वह बोलने में नहीं आता। वह तो केवल अनुभव में आता है। क्या है उत्तम सत्य, सर्वोत्कृष्ट सत्य? सबके आत्मा में निरखो, अपने आप में अन्तःप्रकाशमान सहज जो ज्ञानज्योतिस्वरूप है वह है सत्य, और उस सत्य का पालन क्या है ऐसी सत्य पर दृष्टि होनी, उसकी ओर ध्यान होना जिसमें सारे संकट समाप्त हो जाते हैं, यह है उत्तम सत्य का पालन। लेकिन इस ऊंची स्थिति तक जो नहीं पहुँचते हैं, घर में रहते हैं, गृहस्थी में हैं, सारे काम करने पड़ते हैं तो उन्हें क्या करना चाहिए? उनके लिये व्यवहार सत्य का उपदेश है। सच बोलो—सच भी कैसा है? जिन वचनों से प्राणियों का अहित न हो, उनका हित हो, भला हो, वास्तविक कल्याण हो, ऐसे वचन के बोलने का नाम है सत्य बोलना। अब चूँकि आत्महित से सम्बन्ध है, जो बात जैसी है यथार्थ कह देना उसका भी नाम सत्य बोलना है और कभी-कभी कोई ऐसी स्थिति की बात बोले कि जिससे दूसरे का वध हो, विनाश हो, ऐसा कोई सत्य बोल दे, ऐसा सत्य होगा तो नहीं, पर कदाचित् कोई घटना हो, दूसरे का अहित होता हो तो ऐसे सत्य का भी निषेध है। वह सत्य नहीं, वह तो असत्य है। निषेध तो असत्य का है। सत्य का निषेध नहीं होता। जो वचन अपना और पर का हित करे उसे सत्य वचन कहते हैं। देखो ऐसी घटना की स्थिति कब आ सकती है? जब क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायों न सतारें। आज इस दशलक्षण धर्म का ५ वां दिन है। अभी पिछले चार दिनों में क्या परिणाम बनाया? क्रोध न करना, मान न करना, मायाचार न करना, लोभ न करना। जब ये चारों कषायें शांत होती हैं तब वहाँ सत्य प्रकट होता है, और मोटे रूप में देख लो कि झूठ का आधार कषायें हैं। जब कषायें रहती हैं तो असत्य बोलता है। कोई घमण्ड से रहता है तो असत्य बोल बैठता है मायाचारी को तो कितना असत्य बोलना पड़ता है? उसकी विडम्बना को तो वह मायाचारी पुरुष ही समझता है, जहाँ ये कषायें शांत हो जायें वहाँ ही यह उत्तम सत्य प्रकट हो पाता है। ज्ञानार्णव में लिखा है कि जब कषायों का विषम ज्वर समाप्त हो जाता है, तो उस समय आत्मा को सत्य का दर्शन होता है।

संगसमागम को असार जानकर उत्तम सत्य के लक्ष्य में आने का अनुरोध—अहो, कौसी अनर्थ बातों में ये मनुष्य उलझे हुए हैं? लोभ में, मायाचार में, दूसरे प्राणियों को अपना विरोधी मानने में और दूसरे प्राणियों को तुच्छ जानकर अपने आपका नाम प्रतिष्ठा चाहने की गरज से अपने को महान मानता है, कैसा उल्हा हुआ है, बस इस उल्हान में परमात्म स्वरूप का दर्शन नहीं मिल पाता, आनन्द सही नहीं मिल पाता। यह जगत तो चार दिन की चांदनी है, और देखो यह लोक कितना बड़ा है? जैन शासन में तो इस लोक को ३४३ घनराजु प्रमाण बताया है, ७-७ द्वीप समुद्र होते यहाँ तक तो अन्य लोग भी कह देते हैं—इस लोक का कितना बड़ा विस्तार है वह चर्चा अलग है। मगर यह कहने की बात है कि यह लोक कितना बड़ा है? इस ३४३ घनराजु प्रमाण लोक में यह हजार, ५०० मील का परिचय बना लिया तो यह कुछ गिनती भी रखता है क्या? अरे यह अज्ञान अंधकार क्यों बनाया जा रहा, अपने सत्य को टटोलो—दुनिया में किसी जीज का कोई सहाय नहीं, कहीं भी जावो, कैसा ही कुछ कर लो, कोई मददगार नहीं है और अपने आपके सत्य के दर्शन हो जायें वह ज्ञानज्योति स्वरूप, जिसमें विकार की कालिमा नहीं, जिसमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं, किसी प्रकार का बोध नहीं, केवल एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश वही वही तो मैं हूँ, इस मर्म को कोई पा ले तो उसको सदा के लिये संकटों से मुक्ति हो जायगी, मगर यहाँ की चिकनी-चुपड़ी बातों में जो उलझ गया वह संसार में रहने का ही काम करता है। अपने को बचाओ, दूसरों पर क्या दृष्टि देना? अपने आप में अपनी दृष्टि बनाकर इस ज्ञानसुधारसका पान कर लें, यही उत्तम सत्य का पालन करना कहलायेगा और ऐसे उत्तम सत्य देवता प्रभुता की उपासना के लिए हमारा व्यवहार सत्य हो तब तो हम इस सत्य प्रभुता के पात्र बन सकेंगे और व्यवहार ही जिसका झूठ है, बेईमानी का है, मायाचार का है वह इस प्रभुता के क्या दर्शन करेगा? वे तो संसार के सुभट हैं। बरा अपनी कुछ दया करो, थोड़े समय को परिजनों का, घर का जरा स्थल

छोड़ दो, इस मूल को तो जड़ से उखाड़ना पड़ेगा। अनन्त जीवों में से कोई दो चार जीव क्या वे कुछ गिनती भी रखते हैं? जैसे अनन्तः जीव हैं वैसे ही घर के ये दो चार जीव हैं। इनसे मिलेगा क्या कुछ? जरा अपने को सम्हाल कर विचार करो, मोह मोह में ही मत पड़े रहो। बड़ी कठिनाई से मिला है यह मनुष्यभव, बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ है यह समागम। अहिंसा धर्म का जहाँ अपने को वातावरण मिल रहा हो ऐसा यह समागम बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ। इसे यों ही मत खो दो। अपने प्रभु पर अन्याय मत करो, नहीं तो इसका परिणाम बड़ा कठिन है। किसी भी जीव को सताओगे तो उसका फल बहुत खोटा मिलता है, और ऐसे अपने इस अनन्त आनन्द ज्ञान के पुञ्ज इस प्रभु को सता रहे हो तो इसका फल कौन भोगेगा?

विषयकपाय की उल्लान में प्राप्त उत्कर्ष की समाप्ति—देखो—कितना उत्कर्ष पाया, यदि विषय-कपाय में उलझे रहे तो सब समाप्त, ऐसे ही जानो कि एकेन्द्रिय जीव से निकलना ही बड़ा कठिन है, निगोद स्थावर पेड़, कीड़ा मकोड़ा आदिक हुए, फिर पञ्चेन्द्रिय हुए, इस आत्मदेव की प्रसन्नता पर, निर्मलता पर। जैसे शुद्ध भाव होता गया, वैसे ही वैसे यह विकसित होता गया। कितना विकसित हो गया कि यह मनुष्य बन गया। अब यह मनुष्य सोचता है इस प्रभु पर अन्याय करना, खूब मीज से खावो, खूब विषय सेवन करो, खूब सनमानी प्रीति करो, खूब आसक्ति से रहो, खूब नेत्रों से देखो—बढ़िया-बढ़िया रूप देखो, बढ़िया-बढ़िया रागरागनी सुनो—अरे यह सब तो अपने इस आत्मदेव पर अन्याय किया जा रहा है, पर फल क्या मिलेगा इसी आत्मप्रभु का आशीर्वाद मिल जायगा कि पुनर्निगोदो भव—फिर से निगोद हो जा। ऐसी-ऐसी विडम्बनायें, ऐसे-ऐसे ऊधम जिस लोग कहते हैं वाह वाह, बड़ा आराम है, बड़ा पुण्य मिला आ है। इस पर ऊधम का फल क्या मिलेगा? एकेन्द्रिय। अपने आप पर दया करो। रहना वहाँ कुछ नहीं है। हमारा सत्य हमारे अन्दर विराजमान है। एक बार लक्ष्मण और परशुराम का आमना सामना हुआ तो परशुराम ने क्रोध में आकर कहा—‘अरे क्रूर अधर्मी सम्हल देख अब मौत शीघ्र पर आयी है। तू हट जा मेरे सम्मुख से, करता क्यों टिटाई है।’ तो लक्ष्मण ने कहा—‘हे परशुराम जी—“करि विचार देखहु मन माही, मूँदहु आख कितउ कछु नाहीं।’ तो भाई इन परपदार्थों का संकल्प विकल्प छोड़कर अपने आपकी आर दृष्टि करो, अपनी प्रभुता के दर्शन करो तो कही कोई कष्ट नहीं है। अरे जिन बाह्य पदार्थों के पीछे इतना हेरान हो रहे वे अन्त में तेरे कुछ काम आयेंगे क्या? अरे ये सब तेरे से छूट जायेंगे, और फिर ये तेरे ही भी कहाँ सकते? तू तो कल्पनायें करके उन्हें अपना लेता है, उनमें ममता करता है। अरे ये सारे प्राप्त समागम कुछ भी सत्य नहीं हैं।

वास्तविक सत्य का दर्शन—सत्य क्या है? सत्य है सम्यग्दर्शन। अपने आपके सही स्वरूप का पता हो जाना, बस यही सत्य का परिचय है। मनुस्मृति में भी एक श्लोक लिखा है छठवें अध्याय का ७४वां श्लोक है जिमका अर्थ है जो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है वह कर्मों से नहीं बंधता, और जो सत्य से विहीन है, सम्यक्त्व से हीन है वह संसार में ही चलता है। क्या है वह सम्यग्दर्शन। नाम तो मुना है मगर सम्यक्त्व है क्या चीज? उसकी जब निविकल्प रूप अनुभूति बने तब वास्तव में सम्यक्त्व का परिचय होता है। हम आपको जरा ऊधम छोड़ना है, जरा ढंग से बनना है, सब काम बन जायगा, उसके लिए यत्न करें। आदत बनी है ना ऐसी? हमें तो मनपसंद बात मुनाओ, मनपसंद भोजन कराओ, मनपसंद चीज दिखाओ—अरे यह मन जो तेरे ऊपर हावी है, यह तो तुझे कुचले डाल रहा है। तू अपने मन को प्रसन्न रखना चाहता पर अपने आत्मा को ग्रहण करने का श्राव नहीं बनाता। अरे जिम्मे से आत्मा प्रसन्न हो जाय ऐसा भाषण भी मुनना कठिन लगता है। तो भाई इस मन को प्रसन्न करने की बातें तो हर जगह मुलम हो जायेंगी, गप्प-सप्प करने वाले अज्ञानी लोगों से भी मिल जायेंगी, पर इनसे तेरा कुछ भी पूरा नहीं पड़ेगा। अरे तेरा पूरा पड़ेगा इन आचार्य संतों के द्वारा कही हुई वाणी का श्रवण करने से। इसके

प्रति तो तेरी उत्सुकता ही नहीं जगती। अरे यदि इन आचार्य संतजनों की वाणी सुनने का मौका मिले तो बहुत काल में दुःखी होता हुआ चला आया तेरा यह परमात्मदेव प्रसन्न हो जायगा। बस यही तेरी सत्य बात है। उत्तम सत्य है तो यही अन्तस्तरव। सत्य की महिमा सबने गायी है।

असत्य पार्टी—असल में झूठ क्या है? इसका भी पता पा लो। जो विषय कषायों को बढ़ावा दे वह झूठ है और जो हमारे आत्मा को ज्ञान और वैराग्य से सुवासित करे वह उत्तम सत्य है। अब झूठों में ही परख की जा रही है। जो कम झूठ है उसका नाम सच है, जो असली सच है उसे असली कोई नहीं कह रहा, फिर भी नोक व्यवहार में हम आप लोगों का इतना तो संयम ही कि अप्रिय वचन मत बोलें—कटुक वचन, मर्मछेदी वचन मत बोलें। देखो जितने भी जीव हैं वे सब स्वरूप दृष्टि से एक समान हैं। कोई अगर विरुद्ध बन गया, उल्टा चल रहा तो उस बेचारे प्रभु का दोष नहीं है, वह तो हमारे स्वरूप के समान ही है, कर्मों का कुछ ऐसा ही उदय है कि वह उस तरह की अपनी प्रवृत्ति कर रहा है। इस मर्मछेदी वचन बोलने के कारण बाद में बड़ा पछतावा करना पड़ता है। ये मर्मछेदी वचन बाण की नोक से भी तीव्र घाव करने वाले हैं। जरासी बात में कषाय बना लेना, अपने मन को कुछ भी कन्ट्रोल में न रखना यह तो कितनी अज्ञानता भरी बात है, अरे किसी को अप्रिय, कटुक कठोर शब्द मन कहे। देख तेरे में मनुष्यपना, इन्सानियत कब आयगी जबकि तेरे अन्दर बैठे हुए क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें शांत हो जायें। ये चारों प्रकार की कषायें इस जीव के लिए अहितकारी हैं। क्यों नहीं अपना प्रोग्राम बनाते, अपना उद्यम करते इन कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए? क्रोध करके अपने को दुःखी क्यों किया जा रहा, मान करके क्यों ऐंठ बगरा रहे? अरे इससे तो न अपने खुद के काम के रहे और न दूसरों के काम के रहे? अपना एक ऐसा संकल्प बने कि मुझे कि मेरे में ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कोई भी कषायें न जगें। मन लो मायाचारी करके आज बहुत सा धन जोड़ लिया तो भला बताओ उससे क्या पूरा पड़ेगा? अरे पुण्य का उदय क्षीण होने पर सब कुछ तेरे पास से खिसक जायगा। कुछ भी तेरे पास न रहेगा। साधर्मजनों के साथ, परिजनों के साथ अथवा गुरुजनों के साथ, अथवा किसी के भी साथ यदि मायाचार किया जा रहा है तो उससे तुझे क्या लाभ मिल जायगा? अरे इन मलिनताओं के कारण तो तू अपने आपको धिक्कार। लोभ से भी तुझे क्या मिलेगा?

अपने आपके इस आत्मप्रभु पर इतना अन्याय क्यों किया जा रहा है? इस अन्याय करने का परिणाम तो बड़ा बुरा होगा। अपने वचनों पर कन्ट्रोल करो—इसके लिए मनुस्मृति में बताया है कि यदि कोई तेरे ऊपर क्रोध करता है तो उसे तू अपशब्द मत कह। यदि अज्ञानों पुरुष की भांति ही अपना भी कषाययुक्त व्यवहार बना लिया तो फिर ज्ञानी और अज्ञानी में फर्क ही क्या रहा?

वचन संयम का महत्व—जिसने गाली दी उसकी गाली यदि सहर्ष सुन लिया, उससे रंच भी धृष्ट न हुए तो समझ लो कि उसकी गाली उम्मी के पास जायगी। तो भाई सुधी शान्त होने की जो विधि है उस विधि के अनुसार चल लो। जहां हिंसा है वहां असत्य है और जहां अहिंसा है वहां सत्य है। अहिंसा और सत्य का बड़ा संबंध है। अपना व्यवहार असत्य से हटने और सत्य में आने का रहे। असत्य बोलने का परिणाम इतना कठोर बताया कि इसने सारी जिन्दगी भर जितना पुण्य किया है वह सब कुत्ते के बराबर हो जायगा। एक झूठ के बोलने में बताया है कि मारी जिन्दगी का पुण्य खतम हो जायगा। किसी प्राणी को अहितकारी वचन बोल दिया तो समझो कि उसने अपना सारा किया कराया पुण्य खतम कर दिया। अब क्या करना? ज्ञानार्णव में बताया है कि १—मौन रह जाओ—अगर आपको सत्य की सिद्धि करना है तो मौन रहो, और २—बोलो तो सबके लिये हितकारी वचन बोलो, ३—सबके लिए प्रिय वचन बोलो और ४—फिर वचन परिमित बोलो—बस आपके वचन सही बन गये। कषाय है

तो वचन भी वैसा ही बनेगा कषाय के अनुरूप । इन कषायों पर कन्ट्रोल करो अपने अन्तः विराजमान सत्य के दर्शन करो, किसी को धोखा मत दो, किसी के साथ विश्वासघात मत करो । सदाचार से चलना एक तपश्चरण में आनन्द बरसता है । तपश्चरण उनका ही सफल है, आनन्द उनके ही बर्तता है जिन्होंने सत्य का दर्शन किया है और सत्य की आराधना के लिये ही तपश्चरण हो रहा है । तो फिर जो सीधी बात है, सरल बात है, सत्य बात है उस पर तो टिकते नहीं और जो असत्य बात है उसमें टिकते हैं, जिसके कारण अनेक प्रकार की क्लायते करनी पड़ती हैं । तो असत्य बात में टिककर उससे उत्पन्न हुआ दुःख तो सह लेगे पर सत्य की बात में टिक नहीं पाते । यहां पर जितना जो आनन्द (मौज) माना जा रहा है वह ध्रम का है । शुभचंद्राचार्य देव ने इसी ग्रन्थ में कहा है कि देखो पूछने पर भी इतनी बातें मत बोलो । सुनाने पर भी इतनी बातें मत सुनो—कौन सी बातें ? जो वचन शंका से व्याकुल हों, जो वचन पापरूप हों, जो वचन ईर्ष्या निन्दा वाले हों, जो वचन दोषों पर दृष्टि दिलाने वाले हों, जो वचन विषय-कषायों में फंसाने वाले हों... । मुझे न चाहिए ये मनपसंद बातें ? मुझे चाहिए आत्मपसंद बातें । मनपसंद बातें वे हैं जो पञ्चेन्द्रिय के विषयों की ओर प्रवृत्ति कराये और आत्मपसंद बातें वे हैं जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप की ओर प्रवृत्ति कराये, आत्मा के प्रकाश में अपने इस उपयोग को बसायें । इस आत्मपसंद बात को ही चाव से सुनें । कहीं बोलना पड़ रहा हो तो बस इस आत्मा की ही बात बोलने का चाव रखें । यदि सत्य की उपासना करना है तो मनपसंद की बात मत सुनो ।

सत्यस्वरूप बनाने के लिये पौरुष का अनुरोध—सत्य बनाने के लिये देखो कितना काम करने को पड़ा हुआ है ? कितना पौरुष पड़ा हुआ है करने को ? ये धन, वैभव, परिजन, ये हंसी मुस्करान ये मिलना जुलना, परिचय ये सब धोखे की चीजें हैं । ये आकर्षण की चीजें नहीं हैं । हम अपने में अपना काम बना लें, अपने आपमें अपना काम बनावें । अगर ऐसा करने लगे कुछ लोग तो यही है धर्म की प्रभावना, अपने धर्म की प्रभावना । अपना धर्म क्या ? आत्मा का धर्म । आत्मा के नाते से सोचो—मुक्ति का मार्ग एक ही है । शान्ति का मार्ग एक ही है । दूसरा हो नहीं सकता । जैसे यहां सभी लोग चाहे हिन्दू हों, मुसलमान हों, ईसाई हों, जैन हों, सभी एक ही ढंग से पैदा होते हैं और एक ही ढंग से मरण करते हैं । कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन सभी मनुष्यों के पैदा होने के ढंग और-और किस्म के हों । ऐसे ही सभी मनुष्यों में जो एक आत्मा की बात भीतर में होती है वह भी एक ढंग की जहां परका लोभ है वहां पाप है, जहां ज्ञानस्वरूप का दर्शन है वस वही धर्म है । अपनी दृष्टि यदि इन बाहरी पदार्थों की ओर होगी तो फिर इस शुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप के दर्शन न होंगे । तो इन बाहरी बातों का असहयोग कर लें, अपने भीतर जो ज्ञानज्योति है उसका अनुभव होगा । कोई भी बात हो, मूल बात जब हजारों लाखों कानों में पहुंचती है तो उस मूल बात में बड़ी विभिन्नता आ जाती है । तो भला हजारों लाखों वर्षों से जो बात चली आ रही हो उसकी मूल बात में तो बड़ी विभिन्नता हो ही जायेगी ! आज कलिकाल है । जमाना कुछ दूसरे ढंग का है । पहिले जमाना कुछ दूसरे ढंग का था । पहिले मूल बात कुछ और थी पर अब उसके रूप भिन्न-भिन्न हो गए, अनेक प्रकार के धर्म, अनेक प्रकार के मत-मतान्तर बन गये । नहीं तो पहिले सबकी मूल बात एक थी । वह मूल बात क्या थी । कि अपने आपके अन्तः प्रकाशमान इस सत्यज्ञानस्वरूप आत्मदेव के दर्शन होने की बात । यही है सत्य, इसका पालन करना है और उसके लिए व्यवहार बनाना है ऐसा मधुर सुन्दर कि अपने को कोई आफत न आये और अपने में हम सत्य की आराधना करें ।

उत्तम संयम धर्म

संयम स्वरूप जानकर संयम पालन का अनुरोध—आज दशलक्षण पर्व का छठवां दिन है। इसके अनुसार आज उत्तम संयम धर्म का वर्णन है। अविकारी निज ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के अवलम्बन से स्ययं प्रगट होने वाले शुद्ध स्वभाव में निरत रहना, संयत होना सो उत्तम संयम है। भव्य जीव दो प्रकार के संयम, एक इन्द्रिय संयम और दूसरा प्राणी संयम, दोनों प्रकार के संयमों का पालन करते हैं, ऐसा बड़े-बड़े मुनिराजों का कथन है। संसार के जितने सुख हैं वे सभी किसी अंश तक धर्म के आधीन हैं। वस्तुतः तो धर्म का फल मोक्ष का आनन्द है। संसार के ये सुख विनाशिक हैं। आज कोई धनी है, बल देखने में आता है कि वही भिखारी बनकर दर-दरपर भीख मांग रहा है। आज किसी के पुत्र प्रपौत्र आदि से घरा-घरा हुआ है, कुछ ही दिनों बाद वह घर श्मशान की भांति सुनसान हो जाता है। औरों की तो बात छोड़ो राम बन्द्र जी सरीखों को भी देखो, जिनको सुबह के समय राज्य मिलना था, दोपहर के समय वे जंगल को चले जाते हैं। कोई भी जीव संसार में यह नहीं कह सकता कि मैं सदैव सुखी हूँ। आज सुखी है तो कल दुःखी हो जाता है, परन्तु खेद है कि इस प्रकार के विनाशिक सुख में भी भ्रमत्वबुद्धि कर करके यह महान् पापी हो रहा है। ऐश्वर्य पाकर अपने आप में नहीं रहता। फल क्या होता है—पाप कर्म बांध लेता है। अधिकतर ये सांसारिक सुख पाप ही के कर्ता हैं। ऐसे सुखों की रचि होना, उनमें सुख बद्धि पाना, यह विभाव मनुष्य जीवन को बर्बाद करता है। जितना कठिन मनुष्यभ्रम को पाना है उतना कठिन और भ्रम को पाना नहीं है। देव भी इसको तरसते हैं, विवेकी मनुष्य भी तरसते हैं। इस मनुष्यभ्रम में ही संयम है। सब कुछ सुख सामग्री होते हुए भी अपने मन को उनकी ओर से रोके रखना यह मनुष्यभ्रम में ही हो सकता है, देवों में नहीं। इसी भ्रम से ही मुक्ति होती है। मनुष्य जन्म में अतिरिक्त अन्य जीवन में संयम धर्म नहीं होता। ऐसे मनुष्य जीवन में संयम धर्म न पाला तो इससे कोई लाभ नहीं। फिर मनुष्य जन्म पाने का लाभ क्या लिया? कहते हो बच्चों को पालने का लाभ क्या लिया? अरे, बच्चे-बच्चों तो तिर्यञ्चों के भी होते रहते हैं। इसलिये मनुष्यभ्रम को वृथा न खोकर संयम धर्म का पालन करना चाहिये।

संजम जणि दुल्लहु तं पाविल्लहु जो छंडई पुणु मूढमई ।

सो भमइ भवावलि जरमरणावलि कि पावेसइ पुणु सुगई ॥

दुर्लभ मनुष्य जन्म में दुर्लभ संयम पालने का आदेश—यह संयम धर्म लोक में दुर्लभ है। सब कुछ चीजें मिल जाती हैं, पर संयम रूप प्रवृत्ति होना अधिक दुर्लभ वस्तु है। प्रथम तो सम्यग्ज्ञान का होना ही दुर्लभ है और सम्यक्त्व भी मिल जाय तो बड़े देवेन्द्र जैसे भी महान् आत्मा सम्यग्दृष्टि इस संयम को तरसा करते हैं। जब तीर्थंकर के वैराग्य होने लगा तो लौकांतिक देव आये और सभी देवता आये। जब तीर्थंकर देव वन को जाने की तैयारी करने लगे तो इन्द्र ने पालकी सजाई जिस पर बँठाकर तीर्थंकर के वन में ले जाने का प्रोग्राम था। भगवान बैठ गए। जब इन्द्र उस पालकी को उठाते हैं तो मनुष्य लोग मना कर देते हैं। तुम पालकी में हाथ नहीं लगा सकते, क्योंकि तुम्हें अधिकार नहीं। इन्द्र बोला—हमने गर्भ कल्याणक किया, हमें ही अधिकार है। दोनों में विवाद छिड़ गया। चार बड़े ह्युजुर्ग लोग न्याय करने के लिये बँठाए दिये। इन्द्र ने अपना बयान दिया कि हम गर्भ से भगवान की सेवा करते आये, जन्म के समय उत्सव मनाया, सब जगह हमारी मुख्यता रहती है। तो पालकी हमें उठा सकते हैं। मनुष्य कहते हैं नहीं, यह हमारे घर के हैं, हमें छोड़कर जा रहे हैं तो हमारा ही अधिकार है, कि हम इन्हें अपने कंधों पर पालकी रखकर पहुंचा आवें। दोनों के बयान सुने। बयानों को सुनकर निर्णय देने वालों ने निर्णय दिया कि भगवान की पालकी को वे उठायेंगे, जो भगवान के साथ-साथ भगवान जैसा हो सकेंगे। तब इन्द्र माथा

शुकाता है, मनुष्यों से भिक्षा मांगता है कि हे मनुष्यों ! हमारे समस्त इन्द्रपने की सम्पत्ति ले लो, पर मुझे इन्सानियत दे दो, मनुष्यत्व दे दो। यह मनुष्यत्व कितना अमूल्य भव है, दुर्लभ है जिसे पाकर हम इसे विषयों में ही गवा देते हैं। इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर हे भव्य पुरुषो ! इस संयम का पालन करो।

संयम की शीघ्र कर्तव्यता—जब भगवान नेमिनाथ के समवशरण में द्वारकापुरी की कहानी सुन ली थी कि यह १२ वर्ष बाद अस्म हो जावेगी तो श्रीकृष्ण के दरबार में सब लोग बैठे हुये थे, वहाँ श्रीकृष्ण के पुत्र पुष्प खड़े होकर कहते हैं—हमारा चित्त इस संसार में नहीं है, सब त्यागकर हम इस एक ज्ञान प्रभु की शरण लेंगे। लोगों ने सज्जाया, कहा बेटा ! तुम्हारे दादा बैठे हैं और बाप भी बैठे हैं, उस समय बसुदेव भी बैठे हुये थे, इतनी उतावली मत मचाओ। प्रद्युम्न कहते हैं जिसको संसार का खम्बा बनकर रहना हो रहे, पर मुझे तो इस संसार में खम्बा बनकर नहीं रहना है। दरबार से चल लिया। तो जब वह घर स्त्री के यहाँ पहुँचा और स्त्री से कहा कि हम विरक्त हो गये हैं इसलिये तुम सबको छोड़कर हम जा रहे हैं। तो स्त्री बोलती है कि झूठ बोलते हो। यदि तुम विरक्त हो चुके होते तो हमसे पूछने की क्या जरूरत थी ? और तुम विरक्त हो या न हो, यह मैं चली। भैया ! संयम के लिये जितनी उलायत हो उतनी उलायत करो। क्या पागल हो रहे हो ? रात्रि का भोजन नहीं छोड़ सकते, अशुद्ध पदार्थ बाजार की सड़ी-गली पूड़ी साग आदि नहीं छोड़ सकते। घटनायें वसों बता देते, हमें सविस में ऐसी परेशानी होती है, रोजगार में जाना पड़ता है ; और जब पशु पक्षी की गति मिल जाय या नरक गति मिल जाय तो किससे फरियाद करोगे ? जैसा जीवन को ढालना चाहो वैसा बन सकता है। सविस हो या दूर जाना हो। क्या पहिले के लोगों संयमपूर्वक नहीं रहते थे ? लोटा डोर छल्ला उनके थैले में रहा करता था और थोड़ा सा कलेवा भी ले जाते थे। बहुत दिन लगने की सभावना हो तो कनक ले जाते थे। क्या नहीं पाला जा सकता है ? पर दिल बनाओ। यह मनुष्यत्व बार बार नहीं मिलता और फिर इस संयम का पालन करना जो छोड़ देते हैं वे सूड़ बुद्धि वाले हैं, जन्म मरण के चक्ररूपी संसार में भ्रमण करने वाले हैं। वे सुगति को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

विषयरति से खुदकी बारबादी—गुरु जी सुनाते थे बनारस की बात, जो वे पढ़ते थे। उनके मित्रों ने कहा चलो जी आज बढ़िया नाटक हो रहा है। हसीने नाटक था। गुरु जी बोले तुम तो बड़े आदमी हो, दो रुपया वाली सीट पर बैठोगे और हमें दो आने की सीट पर बैठना पड़ेगा। ...नहीं, जहाँ हम बैठे वही तुम बैठना। हाथ पकड़कर जबरदस्ती ले गये। वहाँ देखा नाटक हो रहा था। स्त्री का पार्ट करने वाली स्त्रियाँ ही पार्ट करती थीं। एक कोई दर्शक चक्कू साथ में लिये हुये था। उसने एक पर्चे पर कुछ लिख दिया। लिखी होगी कोई गंदी ही बात। उस पर्चे को स्टेज पर फेंक दिया। तो उस स्त्री ने जो स्टेज पर पार्ट कर रही थी उस पर्चे को बुरी तरह कुचल दिया और बुरी दृष्टि से देखा। उसका दिल इतना हताश हुआ कि छुरी लिए था अपने बगल में से निकालकर अपने पेट में छुरी भोंक ली। देखो यह विषयासक्ति कितनी गंदी चीज है। वसों घटनायें देश मे ऐसी ही रोज होती होंगी। जो मनुष्य जन्म को पाकर इस प्रकार विषयों में रति करता है वह संसार मे भ्रमण करता है। सोचो तो सही, अनन्तकाल से अब तक जन्म मरण के चक्र में रह आये, ऐसी-ऐसी दशायें भोगीं, जिनका स्मरण आ जाय तो दिल में पीड़ा पहुँचे और उसी तरह यह भव भी गवां दिया जो भरकर कुछ और हो गये, असंज्ञी आदि हो गये तो क्या लाभ मिलेगा ? इस संयम का पालन करके अपने जन्म को सफल करो।

संजम पंचिदियदंडणेण, संजमजि कसायविहंडणेण ।

संजम दुद्धरतवधारणेण, संजमरसचायवियारणेण ॥

इन्द्रियविजय में सर्वविजय—संयम होता है पचेन्द्रिय के विषयों का दमन करने से। जो इन्द्रियविजय है वही वास्तव में विजयी है। पुण्य का उदय आया, कुछ बल मिला, समागम अच्छा मिला, वैभव मिला तो इसमें

चाहे दूसरों को सत्ता लेना, दूसरों पर बल प्रयोग करना ये तो साधारण बातें हैं। इनमें साहस की बात नहीं। किन्तु अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेना अपनी इच्छाओं पर विजय पा लेना यह है वीरता की बात। एक राजा था, उसने सब राजाओं को जीत लिया और अपना नाम रख लिया उसने सर्वजीत। सब लोग कहें सर्वजीत महा-राज की जय। परन्तु उसकी मां न कहे सर्वजीत। एक दिन मां से कहा कि दुनिया तो हमें सर्वजीत कहती है और तू हमें सर्वजीत नहीं कहती है। मां ने कहा वेटा ! तूने अभी सबको नहीं जीता है। '...बसलाबो कौन राजा बाकी रह गया है ? मैं अभी जीतकर आऊँ, ...देखो तुमने अभी अपने मन को नहीं जीता। जिस दिन मन को जीत लोगे, इन्द्रिय विषयों को जीत लोगे तब मैं तुम्हें सर्वजीत कहूंगी। जब तक मन नहीं जीता, विषयों की प्रवृत्तियों को न हटाया तब तक वह सर्वजीत कैसे हो सकता है ?

कषाय परिहार से संयम की साधना—संयम धर्म त्याग करने से होता है। गुस्सा होते जावो और पूजन करते जावो। पूजन करते जावो और दूसरे को आज्ञा देकर कहते जावो अजी वह चीज ले आवो, तो वह पूजन व्यर्थ हो गया। यह तो छोटे की हुकम देना हुआ, अपने में आत्मिकपने का भाव आया, दूसरों में तुच्छता का भाव आया। अरे पूजन में चाहे कोई सामग्री कम हो तो उससे खेद नहीं मानना चाहिये। पूजन के समय तो बड़ी ही नम्रता रखनी चाहिये। भगवान को तो किसी सामग्री की आवश्यकता ही नहीं। आपने पूजन के समय बहुत सी सामग्री सजाकर रखी और किसी सामग्री की चूटि रह जाय जो उससे पूजन नहीं बिगड़ता। उस पर तो खेद हो और अपने घर का जो नौकर है उस पर नौकर की सी दृष्टि रहे यह तो ठीक नहीं। पूजन करते समय तो ऐसी भावना भानी थी कि इस जगत के सर्व-जीव एक समान हैं। सबके स्वरूप में धुलमिलकर अपने को खो देना था। ऐसा खो देना तो दूर रहा और वहां छोटे बड़ेपन का विचार आ गया तब क्या रहा ? वह पूजन नहीं रहा। कषाय का परिहार करके पूजन करना चाहिये। कषाय का तो सर्वत्र परिहार करना चाहिये।

परबस्तु सन्यास द्वारा संयमधारण का अनुरोध—भैया ! चेत लो, सोच लो, हमें भी सब कुछ छोड़-छाड़कर चला जाना होगा। जो कुछ सामग्री प्राप्त हुई है वह अन्वल तो जीवन में ही पुण्यक्षय से विछुड़ जायेगी अन्यथा मरण समय तो हमें छोड़नी ही पड़ेगी। यदि इस समग्र इनमें समत्व है तो छोड़ते हुए बहुत दुःख हीगा। अतः हमारा कर्तव्य है कि वह स्वयं हमसे छूटे, इससे पहले ही हम उन्हें छोड़ दें और छोड़ क्या दें भैया, वह तो हमसे छूटी ही है, भिन्न ही है। हां श्रद्धा इस प्रकार की बना लें कि वह सब हमारी नहीं है। सदैव हमें संयम धर्म पर अपनी दृष्टि रखना चाहिये। मुनिराज कहते हैं—हे भाई ! यदि अपने मनुष्य जन्म की सफलता चाहते हो तो दोनों प्रकार का संयम धारण करो।

परमार्थसंयम का समीक्षण—आज उत्तम संयमधर्म का दिवस है। संयम धर्म किसे कहते हैं सम्यग्दर्शन सहित अर्थात् अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावमय, अपनी ही आत्मा की दृष्टि रखकर यह मैं हूँ ऐसी अटल श्रद्धा होकर इसी वीतराग ज्ञानमय भाव में स्थित हो जाना सौ उत्तम संयम धर्म है। यह उत्तम संयम धर्म आत्मा का स्वभाव है। यह धर्म देह की प्रवृत्ति में नहीं है, किसी क्षेत्र में नहीं है, किसी काल में नहीं है, किसी परंपरा में नहीं है, मेरा यह धर्म अर्हंतदेव में नहीं है, यह मेरे आत्मदेश के सिवाय किसी अन्यत्र ज्ञ में नहीं है। हर समय मुझमें है, किसी विशेषकाल ही में नहीं है, मुझमें ही है किसी परंपरार्थ में नहीं है, मेरे ही भाव में है किसी पर के भाव में नहीं है। यह धर्म कहीं से आना जाना नहीं है। अपने से विभाव हटा दो, बस, यह धर्म अपनी आत्मा में रह जायेगा। ऐसे संयम धर्म को अन्यत्र लक्ष्य करके कैसे पाया जा सकता है ? कोई समझे अर्हंत भगवान् की पूजा करके इस धर्म को पा लूंगा। अरे भाई ! वह पूजा भी तो इसी लिये है कि अर्हंतदेव का लक्ष्य करके अपने आत्मदेव को लक्ष्य हो जाये। धर्म जब भी प्रगट होगा, अपने आप में शुद्ध ज्ञान के विकास को लेकर होगा। धर्म के प्रगट होने

का और कोई जरिया नहीं। उत्तम संयम कैसे मिलेगा? आत्मा के अनादि अनन्त ज्ञान के अन्तःप्रकाशमय रहने वाले उत्तम भावों को उत्तम संयम धर्म कहते हैं, उन भावों की प्राप्ति से ही उत्तम संयम धर्म मिलेगा। जिनको प्राणियों पर दया होती है, वे प्राणी लौकिक संयम धर्म की ही रक्षा करते हैं, किन्तु जिनकी अपनी आत्मा पर दया है और विषयकषायों आदि से विमुक्तता है, वे अपनी आत्मा रूप संयम धर्म की रक्षा करते हैं।

असंयमीजनों को संयम में प्राप्त होने वाले आनन्द के अन्दाजाकी असंभवता—यह संयम दुर्घर समस्याओं को धारण करके प्रकट होता है। संयम में जो आनन्द होता है उसे असंयमी पुरुष कैसे समझ सकते? जब ज्ञानोपयोग अपने आत्मा के शुद्ध ज्ञायकस्वरूप में रमता है उस समय जो प्रभु के आनन्द के सदृश जाति का सहज आनन्द प्रकट होता है उसको असंयमी पुरुष अथवा मिथ्यादृष्टि पुरुष अनुभव में नहीं ला सकते। जिसको विषय विष ही रुचता है, जो घर के दो-चार जीवों को ही अपना सर्वस्व मानता है, ऐसी वासना जो बनाये हुए हैं वह भगवान के आनन्द का और स्वरूप का क्या अंदाज कर सकता है? दो सहेलियाँ थीं। एक थी कन्हारिन की लड़की और एक थी मालिन की लड़की। दोनों की शादी हो गई। कन्हारिन की लड़की देहात में ब्याही गई और मालिन की लड़की शहर में ब्याही गई। एक दिन कन्हारिन मछली का टोकरा लेकर उसी शहर में बेचने गई। देर हो गई, शाम हो गई। सोचा यहां मेरी सहेली रहती है वहां ही रात बिताऊंगी, ठहर गई। मालिन ने बड़ा आदर किया। भोजन कराया और सोने के लिये बहुत बढ़िया पलंग बिछाया, कोमल गद्दा बिछाया और सुगंधित फूलों की पंखुड़ियां बिखेर दी। बहुत दिनों में सहेली मिली है, सुखपूर्वक सोये। उस पलंग पर कन्हारिन लेट गई। उसे नींद न आये, मालिन की लड़की बोली—बहिन! क्यों करवटें बदलती हो? अरी सखी! पलंग पर क्या बिछा रखा है? इन फूलों की बदबू के मारे नाक फटी जा रही है। अरे इनको तो बड़े-बड़े राजा महाराजा तरसते हैं। तरसते होंगे। उनका दिमाग खोटा होगा। अच्छा तो निकाले लेती हूं। निकाल लिया फटक दिया और चादर बिछा दी। तिसपर भी कन्हारिन को नींद नहीं आई। मालिन ने पूछा बहिन क्यों नींद नहीं आती? अजी यहां अभी उन फूलों की बदबू भरी है सो नींद नहीं आती। मालिन ने कहा—क्या करें सो तो बताओ? कन्हारिन ने कहा देखो, वह जो मछली का टोकरा रखा है सो हमारे सिरहाने धर दो और यह टोकरी सूख गई है सो १०-१२ पानी के छींटे लगा दो। उसने वैसा ही किया, और जब उसकी बदबू नाक में घुसी तब उस बेचारी को नींद आयी। उसके लिये तो वह बदबू सुगंध थी। जो मछली की गंध में पला हो उसे फूलों की सुगंध नहीं सुहाती। जो मिथ्यात्व, मोह, ममता में ही पला हो उसे ज्ञान स्वरूप, संयम वैराग्य आदि नहीं सुहाते।

ज्ञान और संयम से ही आत्मोद्धार की संभवता—भैया, उद्धार होगा तो अपने ज्ञान और संयम से ही। ये स्त्री पुत्र मददगार न होंगे, पति और बेटा मददगार न होंगे। व्यवहार अपना ठीक रखो, मगर श्रद्धा तो अपनी सही बनाओ। रत्नत्रय से ही पूरा पड़ेगा। यह संयम रस परित्याग करने से होता है। प्राण नहीं निकलना चाहिये इतना तो ध्यान रखो, मगर बढ़िया भोजन हो, खूब भीठा हो, अच्छा हो इस पगलोई में भी तो नहीं पड़ना चाहिये। प्राण इसलिये चाहिये कि दुर्लभ मनुष्य जीवन पाया है तो संयम और धर्म का पालन बना रहे। यह संयम मन का प्रसार रोकने से ही होता है। मन करता है जिसको वह अच्छी जगह करे, क्योंकि यह मन आपका मित्र नहीं है। मित्र कहो, रक्षक कहो, गुरु कहो, देव कहो, आपका ज्ञानस्वरूप भाव है। उसकी दृष्टि छोड़कर इन्द्रिय विषयों में दृष्टि लगाना, सो यह तो श्रेष्ठ बात नहीं है।

त्रिविध विरक्ति वृत्तियां—एक भंगिन मल का टोकरा लिये जा रही थी। एक सज्जन आदमी ने एक साफ स्वच्छ तौलिया दे दिया कि इसे ढक ले, नहीं तो बहुत से लोगों को तकलीफ होगी। उस टोकरे को बहुत बढ़िया तौलिया से ढक दिया। वह चली जा रही थी। आगे गई तो तीन मित्रों ने देखा कि इतनी बढ़िया तौलिया

मे क्या ढके लिए जा रही है ? उसके पीछे तीनों लग गये । भंगिन कहती है भैया क्यों पीछे लगे हो ? तीनों ने कहा, यह सिर पर क्या रखे हो ? भंगिन ने कहा मैला है । यह बात सुनकर एक मित्र लौट गया । दो संग में चले जा रहे हैं । मोचा कि यह बहका रही होगी । यह तो कोई बढ़िया चीज है । भंगिन ने कहा भैया क्यों पीछे आ रहे हो ? कहा—देखना है कि इसमें क्या है ? जो बढ़िया सफेद तीलिया से ढका है । कहती है मैला है । अरे तुम बहकाती हो । अच्छा देख लो । तीलिया हटाया । दूसरा समझ गया कि मैला है । लौट गया । तीसरा पीछा नहीं छोड़ता है । भंगिन ने पूछा, क्यों पीछे लगे हो ? ... कहा इसमें क्या है ... मैला है । ... दिखा तो दो, दिखा दिया । देख लिया पर मोचता है कि यह मैला नहीं है । दिखने से क्या है ? यह तो कोई और चीज है । ऐसा तो रंग बहुत भी चीजों का भी हो सकता है । तो फिर वह नाक से सूंघता है । जब सब सूंघ लिया तब समझा कि हां मैला है । तब लौट गया । ऐसे ही तीन तरह के विरक्त पुरुष भी होते हैं । एक तो ऐसे विरक्त पुरुष होते हैं कि कहने मात्र से ही विरक्त हो जाते हैं और भोगों में फंसने के पहिले ही अपने आपका स्वरूप निरखते हैं । अच्छा होना तो पहले पुरुष की ही तरह होना है और दूसरे वे हैं जरा देख तो लें निषय भोग घर गृहस्थी । न सार की चीज मिलेगी तो छोड़ देंगे । सो थोड़ासा वे फंसते हैं, और फंसकर देख लेते हैं, और सार नहीं नजर आता तो शीघ्र विरक्त हो जाते हैं, पर तीसरे वे हैं जो बहुत काल तक देखते हैं, पर कहते हैं अभी क्या देखा ? लड़कों से मुझ नहीं मिला है, शायद नाती पोतों से मुझ मिल जायगा । तो उन्होंने और प्रतीक्षा कर लिया, निरीक्षण कर लिया । खूब ठोकरें खा-खाकर बूढ़े हो जाते हैं और फिर भी ठोकरें खाते रहते मरते हैं ।

स्ववशा कष्टसहिष्णु बनकर संयम की आराधना करके परमविश्राम का अनुरोध—जो अपना मुधार कर जायेगा, सो इस संसार में डीक है और जो अपनी दृष्टि अपनी आत्मा के मुधार में नहीं देगा, पापों में ही रत रहेगा, वह संसार में भ्रमण करता ही रहेगा । इसलिये ऐसे मनुष्यभवं को वृथा नहीं खोना चाहिये । देवता लोग भी इस भव के लिये तरसते हैं । ऐसे अवसर को हाथों से न जाने दो और उत्तम संयम का पालन करो । जो मुनि हुये, देव हुए, सब आप सबमें ही से तो हुये । क्या फिर आप भी वैसे ही मुनि और देव आदि नहीं हो सकते ? अरे, भाई, परवशता में तो नाना दुःख सहने पड़ते हैं । जब कर्म की थपेड़ लगती है तो क्या क्या सहना नहीं पड़ता ? बीमार हो जाते हैं, महीनों महीनों खाने को कुछ नहीं मिलता, स्त्री पुत्र आदि मर जाते हैं । सब कुछ सहन करना पड़ता है और यदि कह दें कि भाई एक दिन के लिये उपवास कर लो या कुछ समय स्त्री-पुत्रों से अलग रहकर धर्म-साधना कर लो तो कहने लगते कि हमसे तो नहीं बनता । भाई, जो जो परेशानियां परवश होकर सहनी पड़ती हैं, यदि उनका शतांश भी अपने वश होकर सहन कर लें तो क्या अपना उद्धार नहीं कर सकते ? संयम आत्मा का अपूर्व विश्राम है जिसमें दुःख का लेश नहीं है । ऐसे संयम को जो दो प्रकार का है, भव्य जीवों को पालन करना चाहिये । संसार में संयम का पाना बहुत दुर्लभ है । सब कुछ शीघ्र ही प्राप्त हो जाए परंतु संयम प्राप्त नहीं हो जाता । जो मनुष्यभवं पाकर वृथा ही खो दे वह तो महामूर्ख है । जिसके संयम नहीं होता वह संसार में भ्रमण करता है । मनुष्य जीवन तो इसके पालन करने के लिए ही मिला है । सब कुछ तो और किसी भी भव में मिल जायगा । यदि मनुष्य इस धर्म का पालन नहीं करता तो मानो विधि यह जानकर कि इसको मनुष्य जीवन देने की आवश्यकता नहीं, तिर्यञ्च गति में पटक देता है ।

इन्द्रियविजय करके हृदय क्षेत्र को पवित्र बनाने में आत्मा की सत्य विजय—संयम का पालन करने के लिये सबसे पहिले अपने हृदय क्षेत्र को अच्छी तरह से बनाने की जरूरत है । वह कैसे बनेगा ? सभ्यकव्य भावना से बनेगा । वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसकी श्रद्धा से बनेगा । मेरा स्वरूप ज्ञानमय, कषायादि विकारों से रहित है, इस वास्तविक श्रद्धापूर्वक अपने को अकषाय समझकर क्या पुरुष विषय कषायों में प्रवृत्त होगा ? जिसने अपने आप

पर दया की अर्थात् अपने स्वभाव की रक्षा की, विभाव को हटाया, उसने दुनिया पर दया पाल ली। इसलिये अपने ज्ञानस्वभाव को धारण करो, इन्द्रियदमन आदि सर्वविधि ज्ञानी के प्रकट होंगी ही। यह संयम पंचेन्द्रियों को दश में करने से होता है सो ज्ञानदृष्टि होने पर ही इन्द्रियां समूलवश हो जाती हैं। मात्र नामनिक्षेप से वास्तविकता नहीं। जैसे सर्वजीत नामक राजा ने बड़े आश्चर्य के साथ एक दिन अपनी माता के पास जाकर यह पूछा था कि मां, तुम मुझे सर्वजीत क्यों नहीं कहती? सारी दुनिया तो मुझे सर्वजीत कहती है। मां ने कहा कि अभी तू सर्वजीत नहीं हुआ है? तो वह बोला कि क्यों नहीं हुआ? सब देश मेरी आज्ञा में हैं। तब मां ने कहा कि तेरा सबसे बड़ा दुश्मन तो अभी तक तेरे सामने ही है, उसको जीतेगा तब सर्वजीत कहलायेगा। वह दुश्मन है इन्द्रियों में विश्वास। जिस दिन इस दुश्मन को तू जीत लेगा, उस दिन मैं तुझे सर्वजीत ही नहीं कहूँगी बल्कि तेरे चरणों में भी गिर जाऊँगी। सो भैया! असली शत्रु तो हमारे पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं। इन्हीं को दश में करो, अवश्य कल्याण होगा। सब संसार तुम्हारे चरणों में झुक जायेगा।

क्षोभ के अभाव में संयम की उपपत्ति—भैया! सब कुछ हमें जो मिला, वह सब एक दिन यही रह ही तो जायेगा, किन्तु किसी न किसी हासत में यह आत्मा रहेगा ही और अपने किए हुए भाव से सुख दुःख तो इस भोगना ही पड़ेगा। इसलिये अपने आपके ज्ञानस्वभाव को पहिचानों और विषयकषायों से और इन्द्रियों की दासता से अने को बचाओ, यही श्रेयस्कर है। जिस समय अपने ही दर्शनज्ञानचारित्र पर श्रद्धा होगी, पर्यायों में रुचि या आत्मबुद्धि नहीं रहेगी तब दुनिया के द्वारा कितनी ही निन्दा किये जाने पर भी क्षोभ भाव नहीं आयेगा। क्षोभ के न होने पर ही तो आत्मसंयम होता है। संयम दुर्घट तप के धारण करने से होता है। तब क्या क्लेश से संयम होता है? नहीं! संयम क्लेश के नाश से होता है। तपस्या में क्लेश नहीं होता, परन्तु यथाशक्ति तपस्या करो। शक्ति के अन्दर तप कर रहा है तो उसका अन्तर निर्मल ही बना रहता है। शक्ति से बाहर तप करने में तो क्लेश होता है। यथाशक्ति तप करने में बड़ा आनन्द होता है। यह व्यवहार संयम का रूप है। बाह्य किसी पदार्थ में रत न होकर एक अपनी आत्मा में यही समझ रखना कि एक ज्ञाता दृष्टा होना ही सुख की चीज है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी विकल्प ही वह भव दुःख है, यह अन्तःसंयम है।

इन्द्रियों को विषयों में उपयोग करने के कारण मानव-जीवन की विफलता का चित्रण—एक कवि ने एक व्यर्थ मनुष्य जीवन खोने वाले को एक कथोक्ति से समझाया। एक बार एक मनुष्य मर गया। मरघट में उसकी लाश पड़ी, श्रृगाल आते हैं, खाने को तैयार होते हैं। किसी कुत्ते ने लड़क्ये (स्याल) को समझाया—हस्तौ दान विविजतौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणी, नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते पादौ न तीर्थ गतौ। अन्यायाजितचित्त पूर्णमुदरं गर्वैण तुंग शिरः, रे रे जम्बुक मुञ्च मुञ्च सहसा नीचं सुनिद्रं वपुः॥ हे लड़क्ये! इसका हाथ मत खा, यह हाथ पापी है, इस हाथ से उसने कभी दान नहीं किया। इसलिये यह खाने लायक नहीं है। इसके कान को भी मत छू, इसने कभी धर्म का एक शब्द भी नहीं सुना। जिनवाणी के वचन कभी इन कान में नहीं आये। अतः यह भी खाने योग्य नहीं है। इसकी आंख दिखने में तो सुन्दर दीखती हैं, परन्तु इसने कभी साधु, सन्त, महापुरुषों के दर्शन नहीं किये, इसलिये ये नेत्र भी पापी हैं। तू इसका पेट भी मत खा, यह पेट अन्याय से कमाये हुए धन से भर गया है, इसलिये यह भी तेरे खाने योग्य नहीं है। इसका सिर भी बिल्कुल अपवित्र है, इसने अभिमान में आकर, गर्व में आकर हमेशा अपने आपको ऊँचा ही उठाये रखा। महानपुरुषों के सामने भी कभी नहीं झुका। इसलिए यह सारा का सारा शरीर ही तू मत खा, यह तो बिल्कुल अपवित्र है। यह सारा का सारा शरीर नीच है। इसी तरह यदि अपनी आत्मा का ख्याल नहीं किया तो सचमुच में ऐसा ही हमारा शरीर होगा। यह तो मात्र पर के व्याज से उपालम्भ है, अपवित्र नीच तो मलिन आत्मा ही है।

मनोनिरोध व विशुद्धानन्द से संयम की उपपत्ति—यह संयम चंचल मन के रोकने से होता है। यथा शक्ति कायक्लेश से भी उत्तम संयम होता है। कायक्लेश दुनिया को दीखते हैं, परन्तु पूष्यपाद स्वामी जी ने बताया—आनन्दो निर्दहृत्युद्धं कर्मन्धनमनारत्नं । न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥ अर्थात् कर्म की निर्जरा वतुःख से नहीं होती, कायक्लेश से नहीं होती, आत्मा का निज आनन्द जब प्रगट होता है तब कर्म की निर्जरा होती है। जिसके परिणाम में निर्मलता आती है, उसे कायक्लेश का भान नहीं होता, परिणामों की उस निर्मलता से परम आनन्द रूप रहे, ऐसे आत्मीय आनन्द से निर्जरा होती है। कायक्लेश नाम तो रागियों की बोट से रखा गया। यह उत्तम संयम परिग्रह के त्याग करने से होता है। परपदार्थों में जिनको रुचि हो उनका इसी लोक में विनाश हो रहा है। अपनी इन्द्रियों को संयमित करो। सप्त व्यसनों का त्याग करो। जुवा खेलने वाला, चोरी करने वाला, शिकार का शौकीन, वेद्यागामी, परस्त्रीलम्पटी, महापापी, मांसलोलुपी कभी भी संयम धारण नहीं कर सकता। इनके त्याग करने से ही तो संयम होता है। यह तो अभी उत्तम संयम का बहुत हल्का रूप है। वास्तविक उत्तम संयम तो ज्ञान स्वभाव निजब्रह्म में संयमित होने से ही होता है। ये इन्द्रिय विषय साक्षात् क्लेशों में पटक देते हैं, फिर भी विषयेक की मदिरा पीने का पागलपन नहीं छूटता।

आरासतलबी के परिहार में संयम की उपपत्ति—संजम गुरुकायकलिसिणेणः—बड़े-बड़े कायक्लेशों से, तपों से यह संयम ब्रत होता है। देखो गृहस्थी में भी बड़ी आय की चीज बनावोगे तो पहले बहुत कष्ट उठावोगे। कोई कारखाना खोला तो कई वर्ष तक सारा रुपया फंसाया, बड़े-बड़े कष्ट उठाये, सब कुछ उसमें ही लगा दिया तो वह धनार्जन की एक तपस्या है। बड़े कायक्लेशों से उसको करने पर फिर बाद में अच्छी आय की सिद्धि होती है। सदा के लिये संसार के संकट मिट जायें, इतना बड़ा लाभ करने की बात चिन्त में चाहो और चाहो कि घर की मौज भी अच्छा बनी रहे, और मोक्ष मार्ग भी चलता रहे सो नहीं हो सकता। मोक्ष मार्ग संयम से ही मिलेगा और संयम की सिद्धि के लिये बड़े-बड़े क्लेश भी सहने होंगे। एक नौकर राजा का बिस्तर लगाया करता था। बहुत बढ़िया स्प्रिंगदार पलंग था, कोमल गद्ददार था। सोचा कि राजा साहब ऐसे पलंग पर रोज सोते हैं। अभी उनके आने में तो आधा घन्टे की देर है। सोचा कि ५ मिनट खूब पैर पसारकर मौज तो मार लें कि यह कितना बढ़िया है। वह लेट गया, उसे २-३ मिनट में ही नींद आ गई। आध घन्टे बाद राजा आया। उसको जगाया। राजा को गुस्सा आ गया कि मेरा पलंग जूठा कर दिया याने सो गया। खड़ा करके राजा ने उसके बेंत लगाये जैसे ही राजा बेंत मारे तैसे ही वह हंसता जाय। राजा ने कहा कि तू पिटता भी है और हंसता भी है। क्यों हंसता है? नौकर ने कहा महाराज हम इसलिये हंसते हैं कि हम तो पांच मिनट सोये सो बेंत लग रहे हैं और आप रोज-रोज सोते तो न जाने क्या लगेगे! यह विषयों का मौज भोगते समय तो भला लगता है, मगर इसका परिणाम नियम से खोटा होगा। खूब देख लिया होगा, खूब समझ लिया होगा। कौनसा विषयों में सार मिलता है? यह संयम परिग्रह-पिशाच के त्याग से होता है।

संजमु तस—धावर—रक्खणेण, संजमु सत्तथ परिक्खणेण ।

संजमु तण्—जोय—णियंतणेण, संजमु बहु—गमणु चयंतएण ॥

जीवदया व तत्त्वपरीक्षण से संयम की उपपत्ति—यह संयम त्रस और स्यावर जीवों की रक्षा करने से प्रकट होता है। जहां हिंसा है वहां संयम कैसे? संयम में प्रधानता दो चीजों की है—(१) प्राण संयम और (२) इन्द्रिय संयम। अपनी इन्द्रियों को बश में करो और किसी जीव की हिंसा न करो। तो दो बातों पर ध्यान जितना बन सके उतना ही आपका संयम है। यह संयम सप्ततत्त्वों की परीक्षा करने से होता है। जब ज्ञान की महीमा, ज्ञान का चमत्कार समझ में आता है। जो यह जीव अपने स्वभाव में प्रवेश करे, क्योंकि परमार्थ संयम

तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होता है। असंयम से तो कष्ट ही व्यर्थ भोगना पड़ता है।

असंयम से व्यसनसंपात—एक थानेदार था। सो उसका किसी पड़ोस की स्त्री से प्रेम हो गया। तो एक वर्ष तो उस गांव में गुजर गया। बाद में तवादले का हुकम आ गया। अब वह था बड़ा परेशान। थानेदार उसे मनाते कि तू भी चल। कोई दूसरे के साथ कैसे चल दे? बड़ी चिन्ता में था। कोई ममझदार दूसरी औरत वहां रहती थी जिससे थानेदार का परिचय था। उस औरत ने पूछा कि क्या बात है? क्यों दुःखी हो? थानेदार ने सारी बात बता दी। यह नहीं चलने को राजी होती है। अच्छा हम समझा देंगी। उस कुटिला के पास वह स्त्री गई। दो तीन दिन रही, बड़ी सेवा की और एक दिन बड़ी उदास हो गई। उस कुटिला ने पूछा आज क्यों उदास हो? वह बोली—तुम एक बात बतलाओ तब हमारी शीतर की शल्य मिटेगी। बोली क्या? कहा यह बतलाओ कि तुम्हारी किस किससे प्रीति है।... लिख लो फलाने प्रसाद, फलाने नाथ! ऐसे ५० नाम लिख दिये। फलाने नाथ। अच्छी बात। लिखते-लिखते ६० नाम ही गये। और ख्याल करलो। ७० नाम हो गये। और भी ख्याल किया तो दो नाम और उनमें मिले, ७२ हो गये। सारी लिस्ट में उन थानेदार साहब का नाम ही न आया। थानेदार के पास वह गई, कहती है 'कि मैं लिख देती पत्तर में, तू सत्तर में न बहत्तर में'। याने जिसके पीछे तू रात दिन स्वप्न देखा करता है उसकी लिस्ट में तेरा नाम ही नहीं है। उसके ज्ञान जग गया। समझ गया कि सब माया की बातें हैं। तो यह मन जब भ्रम जाता है कहीं, तो उसके स्थिरता नहीं हो पाती है। यह संयम, ज्ञान हो तब यह स्थिरता रहती है।

यह संयम काययोग का नियंत्रण करने से होता है और बहुत-बहुत गमनों का त्याग करने से यह संयम होता है। साधुओं का चानुर्मास क्यों होता है? यों कि गमन करने में, चलने में असंयम होता है। इस मनुष्य जीवन को क्यों व्यर्थ गंवा रहे हो? दूसरे के मोह में पड़कर व्यर्थ अपने को बरबाद कर रहे हो। उत्तम धर्म इन परिग्रहों के त्याग से, इस मूर्छा के त्याग से होता है। संयम क्या है? संयम-दो प्रकार के होते हैं—इन्द्रिय-संयम और प्राण-संयम। इन्द्रियों के विषयों में न पड़ना इन्द्रिय संयम कहलाता है और जीवों की रक्षा करना प्राण-संयम कहलाता है। दयालु आदमी का सर्व ओर से यह प्रयत्न होता है कि किसी भी प्रकार जीव की हिंसा न हो। दया अपनी प्रवृत्ति से, अपने परिणामों के उपयोग से होती है। सब प्राणियों पर दया करो। इससे पहले अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि पर दया करो। जो अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि पर दया करता है, उसके मर्दव ऐसे परिणाम होते हैं कि मेरे में मेरे स्वभाव के विरुद्ध कभी भी रागद्वेष उत्पन्न न हो और जब राग द्वेष न होगा, समता परिणाम होंगे तब दूसरे का अहिंसा उससे हो जाये, असम्भव है। इसमें सब प्राणियों पर दया हो जायेगी। यह संयम धर्म त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा करने से होता है। सो उत्तम संयम के लक्ष्य वाले से अनुचित व्यवहार होता ही नहीं, सो यह प्राणसंयम पालता ही है। यह संयम मन, वचन, काय के रोकने में होता है, सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति से होता है। मिथ्यात्व में पड़े रहने वाले लोग कभी संयम को धारण नहीं कर सकते। अपने ज्ञानस्वभाव को देखो, यह परम शुद्ध है। यह मोह की प्रवृत्तियों के वशीभूत हो रहा है। इसको इन प्रवृत्तियों से भिन्न-समझो। यह समझो कि मेरा काम मेरे ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि रखना ही है। संयम त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा करने से होता है। मन वचन काय योगों के नियंत्रण से होता है, गमनागमन त्याग करने से संयम होता है। उत्तम संयम को पालने के लिये ही यह बाहरी संयम है। वास्तविक संयम तो निज आत्मा में लीन होना है।

धर्म से आत्मरक्षा व पाप से बरबादी—संयम हमेशा अपने आपकी व पर की रक्षा करता है। लोगों को ऐसा भ्रम हो गया कि देश बरबाद हुआ तो धर्म से बरबाद हुआ। धर्म से ही बरबादी कलह सब हुआ। लोगों को ऐसा भ्रम है, परन्तु पाप ऐसा चालाक है कि यह सारी करतूत कर रहा है। वास्तव में पाप का फल ही यह निर्घनता

है, धर्म का फल नहीं। एक बन्दर था। वह एक गांव में एक किसान के घर, जिस समय किसान खेती करने जाता था, आता था और आलमारी के अन्दर रखी उसकी रोटियां खा जाता था। किसान के पास तीन बैल थे। उनमें से दो तो वह अपने साथ खेती के लिये ले जाता था और तीसरे को घर पर ही छोड़ जाया करता था। वह बन्दर निश्चय ही उस किसान की रोटियां खाकर उनका धौनधान जो बचा रहता था उसे उस बैल के मुंह पर लीपकर भाग जाता था। जब किसान लौटता था तो उस बैल के मुंह को धौन लगा देखता तो समझता कि बैल उसकी रोटियां खा गया, वह समझकर उसे मारता था। रोज इसी तरह होता था। एक दिन पड़ोसियों ने उससे कहा कि भाई, तुम क्या करते हो? तो उसने कहा कि यह बैल रोज ही आलमारी में से मेरी रोटियां निगलकर खा जाता है, इसलिये मैं इसे पीटता हूं। पड़ोसी बोले कि बेवकूफ, कहीं इस बैल का मुंह भी आलमारी में जा सकता है? तब उसने कहा कि इसके मुंह पर धौनधान कैसे लगा रहता है? उन्होंने कहा कि एक दिन छिपकर इस बात को देखो। उसने एक दिन वैसा ही किया, कहीं छिप गया। वह बन्दर रोज की तरह समय पर आया और आलमारी खोलकर रोटियां खा गया तथा धौन बैल के मुंह पर लगाने के लिये जाने लगा। तब किसान की समझ में सारी बात आ गई और उसने बैल को पीटने के बजाय उस बन्दर को ही पीटा। उस बन्दर की तरह ही यह पाप भी चालाक है। खुद छोटे काम कराता है, कितने-कितने पाप कराता है धर्म का। तीर्थ क्षेत्रों पर जाकर देखो। कितने जांगी साधु धूनी रमाये बैठे रहते हैं और पुजापे पाते हैं, परन्तु उनमें से बहुतों के अन्तरंग में विषय कषाय भरे रहते हैं, हजारों स्त्रियों के हरण के और तरह-तरह के किस्से सुनने को मिलते हैं। काम खुद करते हैं और नाम है भगवान का बदनाम इसी तरह हमको विषय कषाय खुद को भोगने हैं और हम नाम लेते हैं धर्म का। जगत के लोग इस पाप के कारण मिथ्यात्व में भ्रमण करते हैं। इसलिए संयम धारण करो। दूसरे के बहकावे में मत आओ। पापों से मुक्त होओ, इस संयम धर्म का बहुमान करो।

संयम की आत्मोद्धारकता—संयम द्वारा कहा जाता है कि हे असंयम की रुचि करने वाले लोगों! यदि तुमने जगत में भरे हुये असंयम के बहकावे में आकर हमारा आदर छोड़ दिया तो क्या हमारा महत्व गिर गया? मुझको धारण करने से भव्य जीव अनन्त सुखों को धारण करते हैं और सदा के लिये सुखी रहते देखे जाते हैं। भैया! आत्मा को शांति इसी संयम धर्म के द्वारा होती है। परमार्थ दया करने से यह संयम होता है। जो संयम धारण करने की चेष्टा करता है और इसी में श्रद्धा रखता है, इसी की कला में रहता है और सदैव इसी की चेष्टा में लीन रहता है उसका उद्धार हो जाता है और वह परमशांति का अनुभव करता है। निश्चय से देखा जाये तो मनुष्य को मोक्ष मार्ग पर ले जाने वाला, बढ़ाने वाला यह संयम धर्म ही है। विशाल्या को उसके पूर्व जन्म में किसी अपहृता ने भयानक जंगल में असहाय अवस्था में छोड़ दिया। वहां उसके बपड़े लत्ते फट गये और वह नंगी ही रहने लगी। वहां उसके पास कुछ खाने की था नहीं, इसलिये जो जंगली बेर भादि मिलते थे उन्हें ही खाकर वह अपनी उदरपूर्ति करती थी, परन्तु सभताभाव से आत्मश्रद्धापूर्वक नियम सहित रहती थी। कुछ हजार वर्ष इसी तरह बीते। कुछ दिनों बाद विशाल्या को एक अजगर ने डस लिया। उसी समय उसका बाप उसे ढूँढता हुआ वहां आ पहुँचा और उमने अपनी लड़की को आधा अजगर के मुंह में पाया। बाप उस अजगर के दो टुकड़े करने को तैयार हो ही गया था कि विशाल्या हाथ जोड़कर कहती है कि पिताजी! मैं बचूँ या न बचूँ इस अजगर को मत मारो और इस तरह उसने अजगर को अभयदान दिया। उस अभयदान व संयम के फलस्वरूप वह अगले जन्म में विशाल्या के रूप में आई और उसको अद्भुत प्रतिभा मिली। उस दान व संयम का ऐसा प्रताप हुआ कि जो कोई उसके स्नान का पानी अपने भयंकर रोगयुक्त शरीर पर डाले तो उसका रोग दूर हो जाये। यह अभयदान व संयम का ही प्रताप है। हमारे स्वयं के अन्दर यह बात विद्यमान है। इसीलिये कहा है कि एक संयम की रक्षा करो। संयम से ही मनुष्य

की शोभा है। संयम के बिना मनुष्य-जीवन बेकार है।

संयम के अभाव में कर्मबन्ध आदि अनेक त्रिपदा—कर्मबन्ध भावों से होते हैं। जिस प्रकार हमारे भाव होते हैं उसी प्रकार का कर्मबन्ध हो जाता है। बाह्य प्रवृत्तियों से कर्मबन्ध नहीं होता। यदि अन्तरंग भावपूर्वक वस्तुओं का त्याग नहीं, तब मौका पड़ेगा तो खा लो, जिनके त्याग नहीं है और संयम नहीं है, उनके ऐसी बात पैदा होती है। ये विषयभोग इस भव में ही नाना दुर्गति करते हैं, फिर इन विषयों के आसक्तों का क्या ठिकाना रहेगा? सर्वज्ञ जाने। जो अपने ज्ञानस्वभाव का विचार नहीं करता, उसकी क्या गति होगी? देखो भैया! सप्तम नरक का नारकी तो सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेता है किन्तु भोगासक्त मनुष्य नहीं। यह सब ज्ञानादि वैभव संयम के पालने से ही सार्थक है। संयमभाव में सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान अपने आप गभित हो जाते हैं। यह मनुष्यभव ही बिना संयम के व्यर्थ है। जिसके संयम होता है उसको सब कुछ मिलता है अर्थात् आत्म-संयमी को कुछ चाह ही नहीं और जहां चाह नहीं, वहां सब कुछ मिला ही समझो। इस मनुष्यभ्रम के लिये इन्द्र और देवता भी तरसते हैं। ऐसे मनुष्य भव को पाकर व्यर्थ न खो देना चाहिये। जिस पर्याय को इन्द्र भी तरसते हैं उसको क्यों व्यर्थ खो रहे हो और देवों के मुकाबले में मनुष्यभव की जो विशेषता है वह संयम ही के कारण तो है। संयम के बिना यह जीव दुर्गति में पड़ जाता है। जितनी जल्दी संयम धारण कर सको उतना ही अच्छा है और जितनी देर करोगे उतना ही बुरा है। शरीर को खिलाओ भी, पिलाओ भी, पर जीने के लिये, न कि जीओ खाने के लिये। शरीर से अमरत्व इतना न करो कि दिन रात इसको ही संवारने में लगे रहो! भैया! इसे थोड़ा भोजन देकर आत्म-कल्याण का काम लो; तपस्या करो, संयम धारण करो तब यह अपवित्र शरीर तुम्हारे कल्याण में साधक हो जायगा। इसलिये शरीर से ममत्व छोड़कर जल्दी ही संयम को धारण करो। संयम के बिना सर्व आयु व्यर्थ ही है। इसलिये जितनी जल्दी बाह्य पदार्थों से मुक्ति पाओ उतना ही अच्छा है, क्योंकि देह की शिथिलता होने पर फिर चित्त प्रायः अस्थिर हो जाता है।

संजमु अणुकंप कुणतणेण, संजमु परमत्थ-वियारणेण ।

संजमु पोसई दंसणहं पंथु, संजमु णिच्छय णिरु भोक्ख-पंथु ॥

अनुकम्पा और परमार्थविचारण से संयम की प्रकटता—यह संयम अनुकम्पा करने से प्रकट होता है, दया से प्रकट होता है जिसके हृदय में दया नहीं है वह हृदय क्या है? वहां कैसे संयम होगा? हृदय में दया बसी नहीं, कोमलता आई नहीं है तो संयम कैसे प्रकट हो सकता है? कषायों पर विजय पाने की इच्छा हुई नहीं है, प्रभु के गुणों का अनुराग पहिचाना नहीं है तो धर्म का रूपक बनाने से तो कहीं सिद्धि नहीं हो जाती। जब इतना कष्ट सहते हैं नहाया, पूजन किया, स्वाध्याय किया, जाप किया और फिर खाया। इतने-इतने कष्ट सहते हैं, तो अन्तरंग में एक दया का परिणाम और बढ़े, सब जीवों को अपने स्वरूप के समान समझने की भावना और बने। अपने को दुःख हो जाय तो हो जाने दो, पर दूसरों का दुःखी न करो। कहीं ऐसा नहीं होता कि क्षत दुःखी हो जाय। जो गरीबों को देखे और उसके ऐसी अनुकम्पा बस जाय है तो वह संयम में प्रगति करता है। संजम परमरथु-वियारणेण—यह संयम परमात्मस्वरूप का विचार करने से प्रकट होता है। यह संयम सम्यग्दर्शन के मार्ग को पुष्ट करता है। संयम ही एक मोक्ष का मार्ग है। दृष्टि छूटे, कहां से? विषयों से। देखो कष्ट तो मिलता है विषयों में दृष्टि लगाने से ही। अंतः विषयों की दृष्टि छोड़ दो तो कष्ट छूटेगा। दुःख छूटना तुम्हारे ही हाथ है।

संजमु विणु णर-भव सयलु सुण्णु, संजमु विणु दुगाइ जि उववण्णु ।

संजमु विणु षडिय म इत्थ जाउ, संजमु विणु विहलिय अत्थि आउ ॥

संयम के बिना नरभव की व्यर्थता और शुद्धानन्द का अस्वाप्त—संयम के बिना यह नरभव बेकार

है, शून्य है। जिस उपयोग में वासना बसी रहती है—उस उपयोग में क्या शांति का मार्ग देख सकता है? यह बात कठिन ही नहीं, असम्भव है। एक हलवाई के घर में बसने वाली चींटी नमक बेचने वाले घर में रहने वाली चींटी के प्राप्ति पहुँची। मिठाई की चींटी कहती है बहिन क्या करती हो? यह खारा नमक खा रही हो। चलो हमारे साथ, हम तुम्हें मीठा-मिठा खिलायेंगी। उसने मना कर दिया। चींटियों के मन तो नहीं होता है, पर कथा कह रहे हैं। नमक की चींटी ने कहा कि तुम मुझे बहकाती तो नहीं हो? ...नहीं-नहीं बहिन बहकाती नहीं हूँ। बड़ा आग्रह मिठाई की चींटी ने किया तब वह नमक में रहने वाली चींटी राजी हो गई। अच्छा, चलो। चली तो मगर अपनी चोंच में एक दिन का भोजन लेकर चली। नमक की डली इसलिये साथ में ले ली कि अगर कहीं भोजन न मिले तो उपवास तो न करना पड़ेगा। एक दिन तो फाट लेंगी। क्योंकि उपवास करने की सामर्थ्य नहीं है। पहुँच गई। अब मिठाई की चींटी कहती है बहिन कंसा स्वाद आया? तो वह कहती है कि वही स्वाद आ रहा है जो पहिले आता था। कहा, यह कैसे हो सकता है? इसको तो बड़े-बड़े राजा लोग पसन्द करते हैं। बहिन हमें तो बढ़िया-बढ़िया स्वाद आता। अरे तू अपनी चोंच में तो नहीं कुछ लिए है? ... हाँ एक दिन का भोजन लिए हूँ। ... अरे उस एक दिन के भोजन को अलग कर दो तो इस मिठाई का आनन्द आयेगा। आग्रह करने से डली को अलग रख दिया और खाया तो उसे मीठा स्वाद मिला। अरी बहिन तू कब से ऐसा खा रही है। शक्कर की चींटी बोली, मैं जब से पैदा हुई तब से खा रही हूँ। यों ही चींटी की तरह ये संसार के मोही जीव अपने चोंच में अपने उपयोग में विषय कषायों की डली, नमक की डली रखे हैं, फिर बतलाओ उनको बोधि समाधि का मधुर रस कैसे से धार्ये? अरे जरा इस विषय वासना को निकाल दो और अपने उपयोग में उस शुद्ध चैतन्य प्रभु के स्वरूप को रख दो तो देखो तुम्हें आत्मीय विलक्षण आनन्द आता है कि नहीं आता है।

मिथ्याभाव मदिरा से बेहोश जीवों को आत्मा की सुध की असंभवता—संयम बिना इस जीव की दुर्गति ही होती है। असंयम, अबत, पाप, मिथ्यात्व ये सब मदिरा हैं इनमें नशा होता है जिनमें आसक्त होकर यह प्राणी अपने स्वच्छन्द मन के माफिक अपनी प्रवृत्ति करता है और आत्म-हित की प्रवृत्ति करने में असमर्थ हो जाता है। करें क्या? जब देखा नहीं है अपनी ज्ञायक प्रभु को तो उसके भक्ति जगे कहाँ से? एक बार एक राजा गांव घूमने गया। गांव के गांवड़े पर उसको एक कोरी मदिरा पिये हुये मिला, उसके होश न था। बक-बक करता था। राजा हाथी पर चढ़ा जा रहा था। वह कोरी राजा से बोला, ओबे रजुवा हाथी बेचेगा? गांव के राजा का हाथी था। साँचा यह कैसे मेरे हाथी को खरीदेगा? मंत्री था साथ में वह बोला, महाराज अभी चलते हैं दरबार में। वहाँ इसे बुलायेंगे आप वहाँ फँसला करना। वहाँ ही आप उसे दंड देना। कुछ देर के बाद राजा दरबार में पहुँचा। उसको बुलवाया। उसका नशा अब उतर चुका था। होश में आ गया। दरबार में आया राजा के सामने तो राजा कहता है कि अबे वही बात तू कह। तू मेरा हाथी खरीदेगा? कांपने लगा बेचारा। बोला महाराज यह आप क्या कह रहे हैं? मैं गरीब आदमी, आप हैं राजा। आपका हाथी मैं कैसे खरीद सकता हूँ? मंत्री कहता है कि राजन्! अब यह होश में है। वहाँ जो हाथी खरीदने को कह रहा था तो यह नहीं कह रहा था। वह तो कहने वाला मदिरा का नशा था। अब इसके नशा नहीं रहा। इसी तरह हम और आप सब प्रभु की तरह पवित्र हैं, मूल में इतनी बड़ी पकड़ नहीं होती, सो हम आप सब जीवों के मोह का नशा है उससे ही ये बिरंगी चालें हो रही हैं। यह नशा मिट जाय तो वह प्रभुस्वरूप प्रकट हो जायगा। संयम के बिना तो इस जिन्दगी की घड़ियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। आत्महित का ध्यान रखो और ऐसा न रखो प्रोग्राम कि अभी इसलाक्षणी है सो आजकल तो खूब मूर्तियाँ पधारें, अधिक संख्या में सब लोग इकट्ठे हों, खूब धर्म करें इसलिए कि इकट्ठा साढ़े ग्यारह महीने का धर्म कर लें। इससे साल भर के लिये धर्म नहीं जुड़ता। यहाँ यह संकल्प करो कि आत्महित करना है। आत्महित करना है तो यह बात

जीवनभर करना है, प्रतिदिन करना है, प्रति घण्टे करना है। दूकान पर भी बैठे हैं तो वहाँ भी विवेकपूर्ण बना रहे। विवेक का पूर्ण ध्यान सर्वत्र रखना है। संयम के बिना एक भी घड़ी व्यर्थ मत जावे। संयम के बिना जीवन बेकार है। हमारा शरण इस भव में और परभव में संयम ही हो सकता है। संयम नहीं है तो दुर्गति ही दुर्गति है।

उन्मार्गगामियों की फजीहत—एक मियां बीबी थे। मियां का नाम था बेवकूफ और बीबी का नाम फजीहत। थोड़ी-थोड़ी देर में उनमें लड़ाई हो जाती थी और थोड़ी ही देर में सुलह हो जाती थी। एक दिन ऐसी लड़ाई हुई कि फजीहत घर से भाग गई। अब वह पड़ोसियों से पूछे कि भाई क्या तुमने कहीं मेरी फजीहत देखी है? तो वे तो जानते थे कि इसकी बीबी का नाम था फजीहत। सो वे कह देते थे कि भाई हमने तुम्हारी फजीहत को नहीं देखा। एक बार ऐसे आदमी से पूछा जो दूसरे गाँव का था। कहा भैया! तुमने हमारी फजीहत देखी? वह कुछ समझ ही न सका। सो उसे आश्चर्य हो गया कि यह क्या कह रहा है? पूछा भाई तुम्हारा नाम क्या है? बोला हमारा नाम बेवकूफ है। तो वह बोला कि बेवकूफ होकर भी तुम फजीहत को जगह-जगह ढूँढ़ते फिरते हो। जिसे ही बुरा कह दो, कुछ गालियाँ दे दो वहाँ ही तुम्हारे लिये सौकड़ों लाठी धूँसे तैयार हैं, फजीहत हाजिर है। सो भैया! जो सन्मार्ग पर नहीं लग रहा है वह पापरूप प्रवृत्ति करता है। उसे जगह-जगह आपत्तियाँ ही आपत्तियाँ हैं। संयम ही एक शरण है। इस भव में और परभव में यह संयम दुर्गतिरूप तालाब का शोषण करने के लिये सूर्य की किरणों के समान है, वहाँ दुर्गति नहीं हो सकती है, इस संयम से ही संसार भ्रमण का नाश होता है। ऐसे आत्महित के लिये, संयम के लिये आज हम एक बात आपसे कहेंगे कि पानी और औषधि के अलावा रात्रि को किसी चीज का ग्रहण न करो। पानी और औषधि रख लेने से तो कोई कष्ट नहीं पहुँचता और इससे अधिक बढ़कर यदि हो सके तो विशेष समय धारण करो। अपने इस जीवन में संयम धारण करके जीवन को सफल करो।

शौघ संसार संततिच्छेद करने में विवेक—एक किवदन्ती है कि ब्रह्मा ने ४ जीव बनाये। एक उल्लू, एक कुत्ता, एक गधा और एक आदमी। चारों के लिये ४०-४० वर्ष की आयु सुरक्षित रख दी। उल्लू को पैदा करते समय उससे कहा कि जाओ हमने तुम्हें पैदा किया। उल्लू बोला महाराज? मुझे क्या करना होगा? ब्रह्मा बोले—तुम्हारा काम अन्धे बने बैठे रहने का है और तुम्हारी आयु ४० वर्ष की है तुम्हें कहीं कुछ खाने को मिल जाये तो खा लेना, नहीं तो नहीं। उल्लू ने कहा यह तो बुरी जिन्दगी है और नहीं तो कम से कम हमारी जिन्दगी की आयु ४० वर्ष मत रखो, कम कर दो! उसके कहने पर ब्रह्मा ने उसकी आयु आधी कर दी और आधी आयु सुरक्षित रख ली। फिर कुत्ते से बोले कि जाओ तुम यह काम करोगे कि कहीं से भी कुछ किसी के द्वारा कोई टुकड़ा डाल दिया जाये तो खा लेना, नहीं तो न सही और तुम्हारी आयु भी ४० वर्ष की है। उसने भी कहा कि यह जिन्दगी भी बहुत बुरी है। हमारी आयु कम कर दो। ब्रह्मा ने कुत्ते की आयु भी आधी कर दी। फिर गधे से कहा कि जाओ तुम्हारा काम यह होगा कि तुम हमेशा जो कोई बोझ तुम्हारे ऊपर रखे उसका बोझ लादे फिरना तथा जो खूबा-सूखा भूसा मिले उससे पेट भरना। तुम्हारी भी आयु ४० वर्ष की है। उसने भी यह सुनकर अपनी आयु २० वर्ष की ही रख ली। ब्रह्मा ने उसकी बची हुई आयु भी सुरक्षित रख ली।

फिर मनुष्य से कहा गया कि जाओ तुम्हें हमने पैदा किया। तुम्हारा काम होगा कि बचपन में तो तुम पढ़ो, फिर अपना विवाह करो, सम्पत्ति का सुख लूटो, बच्चों को खिलाओ और जो चाहें जिस तरह रहो। उसने पूछा कि हमारी आयु कितनी है? तो ब्रह्मा ने कहा कि तुम्हारी आयु ४० वर्ष की है। मनुष्य ने कहा कि यह तो बहुत कम है, हमें ऐसा सुख पाने के लिये अधिक आयु दो। ब्रह्मा ने बहुत समझाया कि आयु मत बढ़वाओ, किन्तु मनुष्य न माना, तो ब्रह्मा ने अपनी आयु की तिजोरी देखी तो वहाँ तीनों जानवरों की आयु में से ६० वर्ष बचे हुए रहे थे, वह सब मनुष्य को दे दिये और कहा कि जाओ तुम्हारी आयु १०६ वर्ष की हो गई। वह बड़ा सुख मानता

हुआ चला गया। अब मनुष्य ने जन्म लिया। ऐसा कथन अन्यत्र कहा गया है। आप सत्य असत्य की दृष्टि से न सुनें, उसका रहस्य देखें। उसकी ४० वर्ष की जो आयु थी वह तो आराम से बीत गई। अब गधे की आयु आई, उसमें उसे गधे की तरह काम में जुते रहना पड़ा और भाग दौड़, लड़के, लड़कियों की झाड़ी और कई तरह की इल्लतें भोगनी पड़ीं। ६० वर्ष की आयु के बाद कुत्ते की आयु आई। उस आयु में कुत्ते की तरह ही रहना पड़ा, क्योंकि बुढ़ापा तो आ ही गया। हाथ-पांव चलते नहीं, लड़कों के आश्रय पड़ा रहा। यदि लड़का रोटी का टुकड़ा दे दे तो खा ले, नहीं तो भूखा ही पड़ा रहे। जो कोई रोटी दे दे, उसी की ओर वह बोले। ८१वें साल से उल्लू की जिवन्द्गी आई और वह अन्धा हो गया। अब उसको कहीं से रोटी मिल जाये तो खा ले, न मिले तो भूखा ही बँठा रहे। किसी का भी स्नेह नहीं रहता। इस प्रकार की कहानी बताई गई है। इससे यह शिक्षा लेना कि मनुष्यभवं में जितने जल्दी बने, धर्म की ओर लग जाओ। अभी बुद्धि ठीक है, इस मौके का लाभ लो, अभी से चेत जाओ। पता नहीं आगे क्या हो? न जाने किस समय इस भव को छोड़ देना पड़े। आत्मप्रतीति सहित स्वस्थितरूप उत्तम संयम धर्म को धारण करो। इस संयम से ही आत्मा की शुद्धि होगी। मनुष्य को इस भव और परभव में संयम ही सहायक है। इसको धारण करके संसाररूपी समुद्र से तिरने का प्रयत्न करो।

उत्तम संयमन के प्रयोग का उपाय—अब तक यह वर्णन हुआ था कि क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायों पर विजय करो और यथार्थ सच्चाई का अपना वातावरण बन ओ। अब थोड़ा यह ख्याल होता है कि कह तो दिया बड़े आराम से कि क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों पर विजय पा लें, पर इतना तो यह ही कठिन लग रहा है कैसे विजय पायें, कैसे इन कषायों को दूर करें? देखो उसका उपाय है संयम। संयम का अर्थ है ५ इन्द्रिय और छठा मन, इनके विषय में न लगना और किसी प्राणी की हिंसा न करना, किसी का चित्त न दुखाना, यह है संयम का भाव। उसमें प्रधानता इन्द्रिय संयम पर दीजिए। अहिंसा का तो वातावरण है और जो मूल में अहिंसा है उसका अर्थ है अपने परिणामों में विगाड़ न हो सकना। तो इन सबका अभ्यास आप बनायेंगे तो इन्द्रिय संयम के द्वारा बना सकेंगे। ज्ञानार्णव में बताया है कि इन्द्रिय का निरोध किए बिना, इन्द्रिय को काबू में किए बिना कषायरूपी अग्नि को जीतने में कोई समर्थ नहीं हो सकता, इस कारण जिन्हें कषायों के जीतने का भाव हो उनको इन्द्रिय संयम का अभ्यास करना चाहिए। सारा जगत परेशान है तो कषायों से परेशान है और देखो इसे न कोई पूछने वाला है जगत में, न कोई शरण है, न कोई प्रभु है, न इसका कोई साथी है, लेकिन ऐसी भूल पड़ी है कि यह अपने आप में शेषचिल्ली बना फिर रहा है। मैं बड़ा हूँ, मैं अमुक हूँ या कंट्रोलर हूँ, नियंत्रण करने वाला हूँ परिवार का, समाज का, देश का और मैं गुरु हूँ, इस तरह का अहंकार बसा रहता है चित्त में ऐसी-ऐसी कषायें जग रही हैं उनका निरोध कैसे हो? इन्द्रिय संयम कीजिए, निरोध हो जायगा। इन्द्रिय को काबू में करना यह कषायों को जीतने का उपाय है। अब लोग आज के समय में पसन्द करते हैं कि ऐसा धर्म मिच्छे कि कुछ छोड़ना छोड़ना न पड़े, हंसी दिल्ली में समय कटे, ऐसा सस्ता धर्मपालन करना चाह रहे, पर आत्मसंयम की ओर ध्यान नहीं है। कैसे आत्मक्षत्र्व में बढ़ें, कैसे ज्ञान की आराधना में बढ़ें, कैसे विकल्पों से बचें, इस ओर दृष्टि नहीं है। फल क्या हो रहा है? स्वच्छन्दता जग रही है लेकिन इससे कोई महत्त्व न मिलेगा। एक राजा था तो उसने बहुत से राजाओं को जीत लिया, तो उसने अपना नाम सर्वजीत धर लिया। सभी लोग सर्वजीत कहने लगे, पर उसकी मां उसे सर्वजीत न कहे। तो एक दिन मां से बोला—मां सभी लोग मुझे सर्वजीत कहते पर तुम क्यों नहीं कहती? तो मां बोली—बेटा अभी तुम सर्वजीत हुए नहीं।... कैसे नहीं हुए! एक भी राजा मुझे जीतने को अब बाकी तो नहीं रहा।... हां बेटा यह तो ठीक है, पर तेरे अन्दर जो यह कषाय बँठी है कि ये मेरे शत्रु हैं इस कषाय पर तो विजय प्राप्त नहीं किया। जब तू अपने अन्दर छिपे हुए इन कषाय बैरियों पर विजय प्राप्त कर लेगा तब मैं तुझे सर्वजीत कहूंगी।

तो भाई जब तक अनासक्त योग न चलेगा, रह रहे हैं धर में ऐसा भाव तब तक नहीं बनाये हैं कि यहां मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरा केवल यह मैं आत्माराम हूं... तब तक इन कषायों पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती।

इन्द्रिय संयम बिना कषाय विजय की अशक्यता—प्रायः सभी का अपने संकल्प विकल्प भावों का ही रोजिगार चल रहा है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर रहा। केवल भाव बनाते हैं, कल्पनायें करते हैं। उन भावों में पाप बांध लें, उनमें ही पुण्य बांध लें, उन भावों में ही मोक्ष मार्ग पा लें, यह सब जीव के भावों के आधीन बात है। जब भावों की ही कला है तो फिर हम क्यों बाह्य विषयों में आसक्ति करें और अपने आपको निरन्तर सताते रहें। अनासक्ति के सम्बन्ध में, इन्द्रिय के विषयों के परित्याग के सम्बन्ध में, इन्द्रिय के विषयों के परित्याग के सम्बन्ध में एक श्लोक गीता में बताया है जिसका अर्थ है कि योगिरुद्ध पुरुष कौन है जो इन्द्रिय के विषय में आसक्त नहीं होता? आनन्द तो सभी चाहते हैं, पर इन्द्रिय के विषयों से अधिक आनन्द की बात अनुभव में आये तो इन्द्रिय विषय असार विदित होंगे और जब अनुभव में नहीं आती अतस्तत्त्व की बात, तो इन्द्रिय विषय इसको सारभूत लगते हैं। अब देखो एक इस ही मनुष्य भव में अगर भोजन का ही अंदाज करो तो आप सभी ने कितना ही अनाज खा डाला होगा? जिसको ६०-७०-८० वर्ष खाते हुए बीत गए उसने हमारे विचार से रेलगाड़ी के दो-चार वंगन अनाज तो खा ही डाला होगा। पर अभी तक खाने से सन्तोष न मिला। आज भी खाने की इच्छा बनी हुई है। अभी तक कभी खाने का त्याग न कर सके, चित्त को वश में न कर सके, यह तो एक खाने की बात कही, यही बात सभी इन्द्रियों की है। मन के विषय में कीर्ति नामवरी के चक्कर में कितने ही लोगों से परिचय बढ़ाया, कितना ही बेहूदा प्रयत्न किया जा रहा, केवल एक नामवरी के लोभ में क्या किया जा रहा है? अपने को बरबाद किया जा रहा है। यह रोग ग्रहस्थों के ही नहीं लगा, बल्कि जो त्यागी बने हैं उनके भी लगा है। तो मनःसंयम कहाँ रहा? तो इन्द्रिय संयम और मनः संयम जहाँ नहीं रहता वहाँ कषायों पर विजय नहीं होती, और जहाँ कषायों पर विजय नहीं वहाँ धर्म का मार्ग नहीं। तो यह इन्द्रिय संयम किए बिना हम कषायों पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते।

विषय विजय में रसनेन्द्रिय विषय विजय की कठिनता का अनुमान—यह एक जिज्ञासा उठ सकती है कि जब कभी व्रत तप की बात चलती है तो खाने पीने पर चलती है, लोग खाने पीने की बात क्यों चलाते हैं? तो समझ लो अपने अनुभव पर कि यह रसना का विषय मौज लूटने का विषय एक ऐसा। आधार है कि सभी इन्द्रियाँ और यह मन स्वच्छन्द होने में बड़ी मदद पा रहे हैं और जिनको रसना के स्वाद में आसक्ति नहीं ऐसे पुरुषों को देख लो प्रायः करके सभी विषयों में अनासक्त मिलेंगे। एक ही प्रश्न करें कि इस रसना के विषय की आसक्ति क्यों नहीं छोड़ सकते? मुख से तो कह देंगे कि हम अन्य इन्द्रियों की आसक्ति छोड़ देंगे, मन की आसक्ति छोड़ देंगे, मन की आसक्ति न रखेंगे, मुझे केवल एक रसना की ही छूट दे दो। अरे रसना की छूट क्यों चाहते? मालूम होता कि यह सब में प्रबल विषय है। ग्रन्थों में बताया है कि सबसे कठिन विषय है स्पर्शन और रसना। इन पर जब तक विजय नहीं प्राप्त होती तब तक कषायों पर विजय नहीं की जा सकती। मन को भी चाहे जहाँ लगा दो, जहाँ मन लग गया बस वही उसे रुच गया। दूसरा कुछ नहीं सुहाता। जैसे असंयमी जनों को ज्ञान और वैराग्य की बात रुचि नहीं होती ऐसे ही ज्ञानी विरक्त पुरुषों को असंयम की बात रुचि नहीं होती। जो विषय विष की प्रीति में निरन्तर रमा करते हैं उन्हें तत्त्वज्ञान, वैराग्य, आत्म स्वरूप की बात नहीं सुहाती। मार्ग कठिन नहीं है, पर रुचि न होने से कठिन बन गया। मार्ग तो इतना सरल है कि जितना सरल यहाँ का और कोई काम नहीं है। इस ज्ञान वैराग्य के काम में किसी की अपेक्षा नहीं करनी है, अपने आधीन सारी बातें हैं। लेकिन रुचि नहीं है, संसार निकट नहीं है यह समझ लो। भविष्य अच्छा नहीं है यह समझ लो उनको इस ज्ञान वैराग्य की ओर रुचि नहीं जगती। यह इन्द्रिय का कुल जैसा मदोन्मत्त होता जाता है वैसे ही वैसे यह कषायगिनी और भी बढ़ती चली जाती है। क्या किसी

ने आज तक इन्द्रिय विषयों में अपना भला पाया ?

इन्द्रिय विषयों की व्यामोहकारिता—स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर बड़े-बड़े हाथी भी पकड़ लिए जाते हैं। एक बड़ा गड्ढा खोदा जाता है, उसकी बांस की पंखों से पाटकर झूठमूठ की हथिनी बनाई जाती है। उसके पास ही एक झूठमूठ का दोड़ता हुआ हाथी बनाया जाता है उसे देखकर उस जंगल का हाथी हथिनी की ओर तेजी से झपटता है और निकट आकर उस गड्ढे में गिर जाता है। कई दिनों तक उस गड्ढे में पड़ा रहने से भूख प्यास के मारें वह हाथी शिथिल हो जाता है और बाद में शिकारियों के द्वारा कब्जे में कर लिया जाता है। तो वह हाथी शिकारियों के चंगुल में फंसा स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर, ऐसे ही मछली पसना इन्द्रिय के वश होकर शिकारियों के चंगुल में आ जाती है। भंवरा गंध के वश होकर कमल के फूल के बीच बन्द होकर अपने प्राण गंवा देता है। यद्यपि ताकत उसमें इतनी होती कि बड़े-बड़े काठ की थिलावों को छेदकर आर-पार निकल जाय पर गंध के वशीभूत होकर कमल के फूल के अन्दर बन्द होकर अपने प्राण गंवा देता है। पतंगों को तो आप देखते ही हैं—दीपक में आकर चक्षुरिन्द्रिय के वशीभूत होकर अपने प्राण गंवा देते हैं। ये हिरण, सर्प आदिक कर्णोन्द्रिय के वशीभूत होकर शिकारियों के चंगुल में फंस जाते हैं। यह एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत हुए जीवों की बात कही जा रही है, फिर भला बतलाओ जो इन पञ्चेन्द्रियों के वशीभूत हों उनका न जाने क्या हाल होगा ? तो भाई इन इन्द्रियों को वश करना होगा। इन इन्द्रियों से काम लेना है। अगर यह मनुष्य का शरीर मिला है हाथ पैर आदिक सभी चीजें ठीक ठीक मिली हैं तो अब क्या करना है ? इनसे भला काम करना है तभी इन सारी इन्द्रियों के पाने से लाभ है।

अनुदार विषयव्यामोही मानवों के जन्म की व्यर्थता—एक बार कोई व्यक्ति मर गया तो शमशान में यों ही छोड़ दिया गया, उसे जलाया न गया, तो उसके शरीर को खाने के लिए कुत्ते, स्याल आदि आये। उस जगह एक कवि ने अपनी कल्पना में जो चित्रण किया उसे देखिये—जब स्याल उस मृतक शरीर के हाथ खाने लगा तो कुत्ते ने कहा—ऐ स्याल ! तू इस शरीर को मत खा, ये हाथ तेरे खाने योग्य नहीं है। क्यों ? ...अरे इन हाथों ने कभी दान पुण्य नहीं किया, कभी दूसरों की सेवा नहीं किया, ये बड़े पापी हैं, इन हाथों ने दूसरों का अनर्थ ही किया, ये बड़े खराब हैं इन्हें तू मत खा। जब स्याल कान खाने लगा तो फिर कुत्ते ने कहा—अरे स्याल ! तू इन कानों को मत खा, ये कान बड़े पापी हैं। इन्होंने कभी धर्मकथा नहीं सुनी, खोटी पाप भरी बातों के सुनने में ही अपना मन लगाया ये बड़े पापी हैं इन्हें तू मत खा। जब स्याल आंखों को खाने लगा तो फिर कुत्ता बोला—अरे स्याल ये आंखें तेरे खाने योग्य नहीं। क्यों ? ...अरे इन्होंने कभी देव, शास्त्र, गुरु के दर्शन नहीं किए, गंदी अश्लील विकारयुक्त चीजों को ही देखने में चित्त दिया, ये महापापी हैं, इन्हें तू मत खा। जब स्याल पैर खाने लगा तो फिर कुत्ता बोला—अरे स्याल ! ये पैर भी तेरे खाने योग्य नहीं, अरे गंदी चीज को कौन खाता है ? ...क्यों ? ...अरे इन पैरों ने कभी तीर्थ यात्रायें नहीं किया, कभी दूसरों की मदद करने जाना नहीं विचारा, बल्कि महाखोटे कार्यों के लिए सदा तैयार बने रहे, तो अरे स्याल ! ये पैर तेरे खाने योग्य नहीं। जब स्याल मस्तक खाने लगा तो फिर कुत्ते ने कहा अरे स्याल ! यह मस्तक तेरे भक्षण करने योग्य नहीं। ...क्यों ? ...अरे इसने कभी दूसरों का भला नहीं विचारा, इसलिए यह तेरे खाने योग्य नहीं, जब स्याल पेट खाने लगा तो फिर कुत्ते ने कहा—अरे स्याल ! यह पेट तो महापापी है। अरे इसने अन्याय करके, छल करके अपना पेट भरा, जब चाहे जो चाहे अटपट खाता पीता रहा, इसने कभी संयम को पसंद नहीं किया, असयमी बना रहा, इसलिए अरे स्याल ! यह पेट भी तेरे भक्षण करने योग्य नहीं।

अहिंसा सिद्धि में इन्द्रिय संयम का प्राथमिक सहयोग—भाई इस इन्द्रिय संयम को तो करना ही होगा तभी पूर्ण अहिंसा वनेगी। जहां विषय विकार न रहे और कषाय विकार न रहे वहां ही पूर्ण अहिंसा बन

मकेगी। ये विषय कालकूट हैं। एक तो कालकूट विष होता और दूसरा है विषयविष। इन दोनों में विषय विष बड़ा भयंकर है। इन दोनों में राई और पर्वत जितना अन्तर है। मुमेरु पर्वत है लाखों योजन का बड़ा और राई होता है एक छोटा सा दाना। तो जितना अन्तर राई और पर्वत में है उतना ही अन्तर कालकूट विष और विषयविष में समझिये।...कैसे? देखिये—कालकूट विष का भक्षण करने से सिर्फ एक ही बार मरण होता है मगर विषयविष का भवन करने से तो न जाने कितने भवों में जन्म मरण करना पड़ता है। तो इन इन्द्रियों को संयम से रखकर मत्संगति और स्वाध्याय में, ज्ञान और वैराग्य में अपना चित्त दें तभी हम आपकी रक्षा है। अन्यथा हम आपकी रक्षा नहीं है। विषयप्रेमी जन या परिग्रह के आसक्त, संतान के आसक्त, ...इसमें सभी प्रकार के आसक्त आ गए। लोग व्यर्थ ही शेखचित्ली की बातें किया करते हैं। अरे इन शेखचित्ली की बातों से कुछ भी काम न सरेगा। अपना कर्तव्य यह है कि एक बार इन सब बातों को भुला दें सबका संयम कर दें, सबका निरोध कर दें, किसी परवस्तु में मुझे अपना चित्त नहीं बसाना है। आ गई कोई बात मन में तो उसे झट हटा दें मेरे चित्त में कोई भी बात मत आवो। मैं अभी तक बहुत-बहुत विकल्पों से थक गया। अब तो मुझे विश्राम ले लेने दो। अब मुझे किसी भी परपदार्थ की वाञ्छा नहीं है। लोगों के चित्त में प्रायः यह बात बसी है कि मुझे ये लोग बड़ा समझे, मन की यह वाञ्छा तो एक बहुत बड़ा पाप है। निरन्तर दुःखी रहना पड़ता है। इसे शल्यवान रहना पड़ता है। एक ज्ञान की अनुभूति नहीं मिल पाती, तब देखो जो बात सहज लग रही, आसान लग रही वह बात तो इस जीव के लिए बड़ी घातक है। ५ इन्द्रिय और छद्म मन, इनकी बातें तो इस जीव की खूब रुच रही हैं, बड़ी सरल लग रही हैं, पर इनका फल बड़ा कटुक होगा। इसके लिए जो संयम की बात है, जिसके करने में इसे कष्ट प्रतीत हो रहा है वह इसके लिए हित की बात है। इस आत्मकल्याण की धुन में रहकर तो लोकनिन्दा की भी परवाह न करनी होगी। बल्कि आत्मशान्ति पाने के लिए अपनी लोकनिन्दा भी करा देते, बाहर में किसी से किसी भी चीज की वाञ्छा नहीं करते, एक अध्यात्मसाधना की धुन में ही जो निरन्तर रहते वे ही आत्मकल्याण कर सकने के पात्र होते हैं। आत्मशान्ति पाने के लिए बड़े-बड़े बलिदान करने होंगे, इन समस्त बाह्य पदार्थों को तिलाञ्जलि देनी होगी। आज तक बीसों पचासों वर्षों से लोग धर्मसाधना करते आये पर अभी तक शान्ति न पा सके, अभी तक कषाथों में कोई फर्क न आया, जरा-जरा सी बातों में क्रोध आ जाता, मान बगराते, माया, लोभ आदि से ग्रस्त रहते। क्या धर्म साधना किया अभी तक? अरे धर्म साधना अभी तक सही ढंग से किया ही कहां? धर्म साधना करने की जो विधि है उसमें तो चले नहीं, चले उल्टे ही उल्टे तो फिर शान्ति कैसे मिले?

धर्म साधन के लिये ज्ञान व वैराग्य के बल की आवश्यकता—धर्म साधना करने के लिए अपने अन्दर बहुत बड़ी तैयारी करनी होगी। अपने आपको बहुत सावधान बनाना होगा। इन समस्त धार्मिक क्रियाकाण्डों को करते हुए अपने अन्दर थोड़ा ज्ञान और वैराग्य की बात बनानी होगी। यदि ज्ञान और वैराग्य का आदर नहीं किया जा रहा, केवल रूढ़िवादी धार्मिक क्रिया काण्ड किया जा रहे तो उसका फल क्या होगा कि करेंगे पाप और पितेगा धर्म। लोग करते हैं पाप और बदनामी होती है धर्म की। धर्म नाम है वास्तव में उसका जहां आत्मा में मोह और क्षोभ न रहे, जहां रागद्वेष न रहे, केवल एक ज्ञानज्योतिमय उपयोग बन रहा वह है धर्म मूर्ति, और इसका जो उद्देश्य बताता है वह भी धर्मात्मा है। जो इसका उद्देश्य ही नहीं बनाता वह धर्मात्मा कैसे कहला सकेगा? केवल ऊपरी क्रियाकाण्डों से, हाथ पैर चलाने से क्या होता है? वहां सार का नाम नहीं। धान का व्यापार करने से फायदा पहुंचेगा। उस धान में सार चीज है चावल। यदि कोई धान के ऊपरी छिलकों को ही धान समझ कर धानों के भाव से खरीद कर बेचे तो क्या वह कुछ लाभ पा सकेगा? अरे वहां तो उसकी हानि ही है। उसका सारा समय तथा श्रम व्यर्थ ही जायगा, ठीक इसी प्रकार जिसने केवल ऊपरी क्रियाकाण्डों को ही धर्म समझ लिया, धर्म के वास्तविक

उत्तम संपन्न धर्म

[६३]

स्वरूप को न जाना तो वह ऊपरी ऊपरी धर्म की क्रियाओं में ही फंसा रहेगा धर्म के वास्तविक फल को वह प्राप्त न कर सकेगा। यों समझो कि उसका सारा समय तथा श्रम व्यर्थ जायगा। तो भाई पहिले धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझो। वस्तुस्वभाव धर्मो—वस्तु का जो स्वरूप है वस वही धर्म है। जहां वस्तु का स्वभाव नहीं वह धर्म नहीं। उसमें अपने आप जो सहज पाया जाता हो वह धर्म है। ऐसे ही आत्मा में तक लो—हम सबके अपने आत्मा में स्वयं सहज अपने आप अपने सत्त्व के कारण जो भी भाव हो वही मेरा धर्म है और उसकी दृष्टि न करना मेरा धर्म नहीं। उसके अतिरिक्त जो कुछ भी परके सम्पर्क से, मेल से जो बात आयी है—विषय कषाय, विचार विवल्प, तर्क वितर्क ये सब पाप हैं, अनित्य हैं।

सहजचिद् ब्रह्म के अतिरिक्त सभी भावों की उपेक्षणीयता—देखो जो बहुत ऊंचा जोहरी है वह जब कभी भी शुद्ध सोना देखता है तो वह बड़ा खुश होता है, पर किसी सोने में कुछ मिलावट की बात हो तो वह झुंझलाकर फेंक देता है और कहता है कि यह क्या मिट्टी ले आये? ठीक इसी तरह जिसने धर्म का सही स्वरूप जाना है वह धर्म की ही रचि करेगा, धर्म का ही आश्रय देगा और यदि थोड़ी बहुत खोट लगी है तो वह झुंझलाकर कहेंगा कि अरे यह तो पाप है। तो समझ लो कि जो धर्म के स्वरूप को रहस्य को जानता है—वही तो ब्रह्ममूर्ति है, वही तो तत्त्वज्ञानी है, इस चीज को वेदान्त में चतुर्थपाद कहा है। जैन सिद्धान्त में बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और कारणसमयसार कहा है। तो वह चतुर्थपाद क्या है? ज्ञायकस्वरूप तो पहिली बात है बहिरात्मा। लोक व्यवहार में जग रहे, दूसरी चीज सुसुप्ति अन्तरात्मा यानि बाहर की बातों में सो गए। सुनने में तो आया कि सुसुप्ति बुरी है, मगर भाव की बात है और इससे बढ़कर क्या है? अन्तर्ज्ञ, परमात्मा, परमात्मतत्त्व। सर्वज्ञ हो गए, सब कुछ जान लिया, चतुर्थपाद और ज्ञायक स्वरूप क्या है? जिसके अन्दर आत्मा परमात्मा समाये ऐसा एक मूल तत्व वह है चतुर्थपाद ज्ञायकस्वभाव। इसे एक दिन आम के रंगों का दृष्टान्त बताया था। जैसे आम का रंग कभी नीला रहता कभी काला होता, कभी हरा होता, फिर पीला, लाल, सफेद आदि होता, तो ये सब रंग बदलते रहते हैं, पर वे बदलते हैं उस एक ही आम में। जिसने उस मूल तत्व को जाना वस वही है योगिराज। घर में रहते हुए भी वह योगी है। तो ऐसे उस अंतस्तत्त्व की उपासना के लिए हमारा कर्तव्य यह है कि हम इन असार इन्द्रिय विषयों का परित्याग करें। देखिये भाई जिन्दगी तो व्यतीत ही होती जा रही है। आखिर दिन एक मरण करके यहां से जाना होगा। अब सब प्रकार से समर्थ हैं, सब साधन ठीक हैं, ऐसे सुन्दर सुयोग को पाकर ज्ञान और वैराग्य में अपना चित्त दें। लेकिन कौसा दुर्भाग्य है कि इस उत्तम कार्य को करने के लिए किसी के पास समय नहीं है, फुरसत ही नहीं है। अरे यदि रात दिन के २४ घन्टों में कोई एक आधा घंटा भी यदि आध्यात्मिक वातावरण में रहने का मौका मिले तो बाकी का २२-२३ घन्टे का समय भी बड़ी अच्छी तरह से व्यतीत होगा। यदि एक यह आध्यात्मिक वातावरण न रहा तो सारा जीवन इसी तरह से दुःख ही दुःख में व्यतीत होगा। संयम की आराधना करें अपने इन ५ इन्द्रिय और छठे मन को वश करें, और ज्ञान वैराग्य का उपाय बनाकर अपने जीवन को सार्थक बना लें। असंयमित जीवन कोई जीवन नहीं, संयमित जीवन ही एक उत्तम जीवन है।



उत्तम तप धर्म

दसलाक्षणी पर्व के ६ दिन चले बड़े ना ? आज सप्तम दिन है और दसलाक्षणी के छे तप नामक-धर्म का दिन है । आज तप के विषय में शिक्षा सुनिये—

शुभ्रभ्र पविष्पिणु तत्त्व मुष्पिणु खंडवि पविदिय शकनु ।

शिव्वेउवि मंडिवि संगइ छंडिवि तव किज्जइ जाये वि वणु ॥

इस दुर्लभ नरजीवन में तपश्चरण की श्रेष्ठ कर्तव्यता—इस दुर्लभ नरजीवन को पाकर श्रेष्ठ कर्तव्य यह है कि तत्त्व का मनन करें । यह माया नारियल की तरह तुच्छ कीमत वाला नहीं होना चाहिए कि जहाँ चाहें नवा दिया, फोड़ दिया । मन भी इतना बेकार नहीं होना चाहिये कि मोह और राग के ही साधनों का मनन करता रहे । यह आयु क्षण-क्षण में ऐसी बही जा रही है जैसे पहाड़ से गिरने वाली नदी । जितना पानी बह गया, वह ऊपर नहीं आता । इसी तरह जितना समय निकल गया वह फिर कभी नहीं आता । सो तत्त्व का मनन करके और मन एवं पंचेन्द्रियों का दमन करके वैराग्य प्राप्त करो और परिग्रह को त्यागकर वन में जाओ । इतनी बड़ी तैयारी कौन कर सकता है ? जिसके कृतकृत्यता का भाव आ गया है जिसे जगत् में कोई भी कार्य नहीं रहा है ? शुद्ध आत्म स्वभाव की रुचिपूर्वक इच्छाओं का निरोध होना, चैतन्य स्वभाव में प्रतपन करना ही तप है । मनुष्यत्व की सबसे बड़ी विशेषता तप है । जो अन्य जगह नहीं हो सकती । जिसे न तिर्यञ्च कर सकते हैं और न नार की देव ही कर सकते हैं । तप का अधिकार मनुष्य को है । तप क्या चीज है ? इच्छाओं को रोकना ही तप है । देवों को जिस समय भूख प्यास लगती है तो उनके मुँह से अमृत झड़ता है । जिससे उनकी भूख प्यास दब जाती है । देव इच्छाओं का दमन नहीं कर सकते । इच्छाओं का दमन करना मानव जीवन में ही सम्भव है । सबसे विशेष भव तो मनुष्य का है, परन्तु जैसे ही उसका बाह्य विकार जाया जैसे ही उन इन्द्रियों को संभालने में लगा दिया । तब क्या किया, दुर्गति का पात्र ही हुआ ।

पर्याय बुद्धि तजकर अन्तः स्वभाव की और उपयुक्त होने में तपश्चरण की सार्थकता—पर्याय बुद्धि सर्व दुःखों की मूल है । अन्य बुद्धियों की बात दूर रहो, यदि भक्ति आदि शुभ राग में भी आत्मीय बुद्धि हुई तो संसार की बृद्धि ही फल रहा । स्वानुभावी अन्तरात्मा के कवाचित् रागादि भाववश बाह्य प्रवृत्ति होती है तो भक्ति आदि रूप होती है । इसी को कहते हैं व्यवहारिक धर्म । तप का मतलब है किसी चीज की इच्छा न करना, विषय वासनाओं से दूर रहना ही तप है । तप दो प्रकार का होता है—आन्तरिक और बाह्य । उस तप में जब कि सम्यग्दर्शन न होने पर जो लोग तपस्या करते हैं, उनकी कई तरह की विदग्धनायें हो जाती हैं । बाह्य तप भी तप तभी कहलाते हैं जबकि आन्तरिक तप भी चल रहा हो । कभी बाह्य तप हो जाता है, अतः बाह्य तप बिल्कुल व्यर्थ न समझना । अनशन क्यों किया जाता है, उसका क्या प्रयोजन है ? पहिले भोजन करते समय अनेक प्रकार के राग पैदा होते हैं । भोजन में शुद्धता होती है । भोजन के बाद ना भोज की इच्छायें होती हैं । उपवास में इन्द्रियदमन, इच्छादमन व प्रकृत्या कल्याण रुचि का भाव होता है । उपवास करके देखो प्रायः आत्म कल्याण की भावना होती है वा नहीं तथा जो स्वाद के लोभ को तज देता है, मुखसाता में भी स्नेहसा से उसके अन्य विषयों का अभाव ही तो होता है । ज्ञान स्वभाव में तीन रहना ही तपस्या है । ऐसे नहीं, जैसे कि एक बटना ही है—एक भाई जी वे । उनकी यह प्रतिज्ञा भी कि हरे राम को छोड़ना नहीं । वह एक दिन उपवास किया करते थे और एक दिन खाते थे । जिस दिन वह खाते थे तो सारा दिन प्रबन्ध न खाने में ही व्यतीत हो जाता था । एक दिन जब भोजन का समय था तो हरी राम छोड़ने को रख दी और प्रतीक्षा करने लगे कि यदि कोई हजर से निकले तो उससे साथ छोड़ना सं । इतने

में उत्रर से गुरु जी निकले भाई जी ने उनसे कहा कि पंडित जी, यह साग छोक दीजिए। पंडित जी ने कहा—यै साग छोक दूंगा, पर यह कहकर कि साग छोकने में जो पाप लगे वह तुम्हें लगे। इस पर भाई जी ने कहा ना भाई ना, ऐसा न करना। पर पंडित जी ने जब साग छोका तो यह कह दिया कि इसका जो पाप लगे वह इन्हीं को लगे परन्तु पंडित जी यह अच्छी तरह जानते थे कि कहने से पाप तो नहीं लगता, पाप तो भावों से है। जब इनकी इच्छा छोकवाने की है और विकल्प बुद्धि है तो यहां तो कर्मबंध है ही।

तपश्चरम में शुद्ध आनन्द और उससे कर्म संकट का विनाश—तप तो वह है जहां सम्यग्दर्शन हो और उसके विषय में झुकाव हो। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति पर जो तप होता है उसमें कष्ट की कोई बात नहीं। तप में तो आनन्द रहता है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा कि—आनन्दो निर्दह्युद्ध कर्मघनमनारत। न चासी सिद्धते योगी वहिदुःखेच्छेत्ततः ॥ जिसके अन्तर्दृष्टि है वह बाह्य दुःखों में अचेतनबन्धु है। वह वेद नहीं करता, उसके आनन्द ही झरता है, वही आनन्द कर्म निर्जरा करता है। मात्र मनषण में वह शक्ति नहीं जो कही गई है, वह तो आहार का वियोग है, परन्तु वहां जो विषयेच्छा का अभाव है, वह तप है। विषय प्रवृत्ति विषय से आकुलता की स्रोतक है। विषयों में आकुलता प्रकट है। सुनने और देखने की इच्छा तथा गई-गई इच्छाओं का उत्पन्न होती है? देखो खाने की आकुलता, एक घास मुख में है, एक हाथ में है और साथ बस्पा कर रहे हैं अब मिठाई खाऊंगा, फिर नमकीन खाऊंगा। खैर खाने के मुख से निपटे सौ सुबख, रम्यावलोकन, रावश्रवण आदि इच्छायें हो जाती हैं। अहो-विषय सम्पर्क! दुःख ही है, आकुलता ही है। जहां आत्मा अपने सहज स्वभाव में लीन होता है वहां इस प्रकार के विचार व दुःख नहीं हैं, आनन्द ही है 'दुःखि समृद्धौ' एक धातु है जिसका अर्थ होता है—चारों ओर समृद्धि बनी रह। रागद्वेष करके ये जीव तो आनन्द आनन्द शून्य हो रहे हैं। आत्मरक्षा उसकी है जिसके शांतिमय आत्मा के स्वभाव का आलम्बन होता है। परदृष्टि से ज्ञान और शांति का घात होता है, जिसकी यह श्रद्धा है उसमें यह शक्ति है कि दुःख में भी अनाकुलता रख सके, फिर मोह से विषयों को अपनाता उचित नहीं। परन्तु क्या करें, मोही जीव जिसने कि अपने स्वभाव की परख नहीं पाई, विषयों के संस्कार में ही पावना पाई, वह कैसे उसे छोड़ सकता है? भाई! जैसे मछली में बसने वालों को फूल नहीं सुहाते वैसे ही विषयों में बसने पर स्वानुभव कैसे सुहाये? अच्छी संवति से मनुष्य चाहे बहुत देर में लाभ पा सकता है बल्की नहीं तर्बाप वह लाभ अन्तिम पूर्ण अवस्था में पहुंचाने वाला होगा। "भोग तजना बुरों का काम, भोगना भोग बड़ा आसान।"

परसम्पर्क व कर्तृत्वबुद्धि में पीडाघिषय—मेरा अन्य पदार्थों के साथ क्या सम्बन्ध है? बाह्य पदार्थों में जितना समय लगा रहा है वह सब पागलपन है ऐसा आचार्यों ने बताया है। कौन सी वस्तु सारभूत है जो जैसे इस ज्ञान मात्र आत्मा का पूरा पाड़ देगा? ऐसा जगत में कुछ नहीं है, फिर भी यह संसारी प्राणी रोगी बन गया है। कौन सा रोग लगा है? मुझे अमुक काम करने को पड़ा है, इस प्रकार का जो परिचाम है वही महारोग है। क्या पड़ा है करने को? इस ज्ञान मात्र आत्मा में सिवाय ज्ञान के अन्य कुछ करने की सामर्थ्य ही नहीं है फिर बाहर में कौन सा काम करने को पड़ा है? एक रुई धुनने वाला था। वह कपड़े के लिये परदेस गया। जब वहां से वापिस आया तो पानी के जहाज से आना पड़ता था। वह समुद्री जहाज से आया। सो जिस जहाज पर वह बैठा था उसमें देखा कि हजारों मन रुई लगी हुई है। फुलाफिर तो एक दो ही थे। रुई को देखकर उसका फिर रुई करने लगा क्योंकि मन में यह बात आ गई कि हाथ इतनी सारी रुई हमें धुननी पड़ेगी, और भी उसका महत्त्व विचार एक वक्ता सो वह बीमार हो गया। घर आया। डाक्टर बुलाया, वैज्य बुलादो, पर किसी से ठीक न हो सका। एक चतुर दुसरा आया जो मनोविज्ञान को समझता था। बोला हब इसे मर्यादा कर देने। तो सबने बड़ा ऐहसान मन्गा, कर दो चलाय अच्छा तुम सब नोप जावो हम अकेले में दवाई करने। पूजा भंडा कितने दिन हो गये तुम्हें बीमार हुवे? तीन दिन

हो गये। कहां से बीमार हुए ? अमुक नगर से चला तो रास्ते में बीमार हो गया। जहाज पर आ रहा था।... हाँ जहाज पर कितने लोग बैठे थे ? बोला लोग तो दो तीन ही थे, पर उसमें हजारों मन रुई लदी हुई थी। जब हाथ के साथ बोला तो समझ गया। चिकित्सक बोला—अरे जिस जहाज से तुम आये थे उस जहाज में पता नहीं कैसे क्या हो गया कि जहाज में आग लग गई और सारी रुई जल गयी।...क्या, जल गई, ? हाँ जल गयी। यह सुनते ही वह चंगा हो गया। बीमारी तो इसीलिए हुई थी कि हाथ इतनी रुई हमें धुननी पड़ेगी। जब यह बोध हो गया कि मेरे धुनने को रुई अब नहीं रही तो ठीक हो गया। रात-दिन देख लो भैया ! इसी सम्बन्ध में तो विकल्प है। अभी हमें इतना काम करना है, अब इतना माल भेजना है। अभी इसके आगे और क्या करना है ? रजिस्टर ठीक करना है, अमुक काम करना है, लो बीमार हो गये। भाई कुछ भी करते जावो, पर इतना अमृत तो पीते जावो कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं सिवाय ज्ञान के और कुछ नहीं करता हूँ। इतनी दृष्टि का अमृत तो कभी-कभी बीच में पीते जाइये तो अच्छा जीवन चलेगा। तो जैसे धुनिया को यह बात आ गई कि मेरे धुनने को कोई रुई नहीं रही तो अच्छा हो गया, इसी तरह सम्यग्दृष्टि पुरुष के और विशेषता ही क्या है ? यही विशेषता है कि ज्ञानी पुरुष के यह दृढ़ विश्वास है कि मेरे को जगत में करने को कोई काम नहीं पड़ा है। "होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम ?" यह श्रद्धा ज्ञानी जीव के प्रबल है इसलिये अन्तर में नहीं अनाकुलता रहती है।

तं तज जहि परिग्रह छडिज्जइ, तं तज जहि मथुणुजि खंडिज्जइ ।

तं तज जहि णगतणु दीसइ, तं तज जहि गिरिकदर णिवसइ ॥

पारग्रहत्याग में व कामखण्डन में तपश्चरण—तप वहाँ होता है जहाँ परिग्रह का त्याग कर दिया जाता है। तप वहाँ होता है जहाँ काम खण्डित कर दिया जाता है। कामी पुरुष तपस्वी नहीं हो पाता। वह कितना ही धर्मसाधन करे, पर काम ऐसा भयंकर विकार है कि जिस कामभाव के रहने पर धर्म में प्रगति नहीं हो सकती गृहस्थों में भी मुषील गृहस्थ पाये जाते हैं और वे काम के ऐसे विजयी होते हैं कि परस्त्रीत्याग का नियम ले तो स्वप्न में भी पर स्त्री के प्रति खोटी वासना वहीं रहती। सुदर्शन सेठ का दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। वह सेठ भी थे और बहुत सुन्दर रूपवान भी थे। रानी का चित्त चलित हो गया तो दासी को भेजा। वह सुदर्शन सेठ को रानी के पास ले आई। रानी ने भी सभी चेष्टायें कर लीं। नग्न किया, खुद नग्न हो गई सारी विडम्बनायें कर लीं, पर अचरज में हो गयी रानी। सुदर्शन ने कहा—माँ मैं तो नपुंसक हूँ। जब रानी की इच्छानुसार कार्य न हुआ तो उसे सुदर्शन सेठ पर बड़ा क्रोध आया। उसने यह मन में ठाना कि इसके प्राण नष्ट कराना चाहिये। सो कपड़े खुद फाड़कर बड़ी वेदना के साथ राजा से बोली—महाराज इस सुदर्शन ने आज मेरी इज्जत खराब कर दी। राजा ने सूली का दण्ड सुना दिया। तो जो सन्तोषी होता है और साथ ही जिसके पुण्य का उदय होता है तो बड़े मनुष्य अथवा देव उसके सहायक बन जाते हैं। देवों ने सहायता की, सूली पर सिंहासन बनाया। सिंहासन पर बैठे हुए सुदर्शन को सब लोगों ने देखा। धर्म की तब विशेष प्रभावना भी हुई।

अन्तर्बाह्य नग्नता में तपश्चरण—इस जगत में हम और आपका कोई शरण नहीं है। अपने ही स्वरूप को जानो जो परम आनन्दमय है। जो सहज शुद्ध पूर्ण विकासमय परमात्मा कहलाता है ऐसा यह मैं गुप्त चैतन्यस्वरूप ही मेरे जिये शरण हूँ। इसकी दृष्टि बहुत काल तक बनी रहे। कुटुम्ब, परिवार, लोग इज्जत देश, ये सब मायास्थ हैं ये मेरी शरण नहीं हैं। अन्तर में यथार्थ ज्ञान की तपस्या में तपो। तप वहाँ है जहाँ नग्नत्व दिखता है अहो किस गुणी के ये विचार हैं ? ये उनके विचार हैं जिन्होंने निज सहज स्वरूप का स्पर्श करके अमृतपान किया है, जहाँ विकार रच भी नहीं रहता ऐसे केवल गुणों पर दृष्टि रहती है। जो नग्नत्व को देखकर कुछ संकोच करते हैं उनकी चाम पर दृष्टि है। गुणों पर उनकी दृष्टि नहीं है। जो रत्नत्रयधारी साधु के सम्यक्तव, ज्ञान चारित्र्य गुणों के विकास की

दृष्टि करते हैं वे तो उन्हें देखकर हर्षविभोर हो जाते हैं। नग्न होना महान तप है, न विकार आये न लज्जा आये। बालक भी तो नग्न फिरते हैं, अब तो छोटे-छोटे बालकों को भी नग्न देखना बुरा लगता है। ६ माह के बच्चे को भी एक फटी सी सिली सुतनिया बनवा लेते हैं ताकि वे मूतें तो कगड़ा न भीगे। अभी ३०-४० वर्ष पहिले १० वर्ष के बालक भी नग्न फिरा करते थे। जो पुराने लोग हैं वे जानते हैं यह नग्नत्व अविकार भाव का सूचक है।

विविक्त शय्यासन में तपश्चरण—तप वहां होता है जहां गिरि कंदराओं में निवास हो। अभी आप देख लें, अकेले में मन नहीं लगता है। आपका भी मन नहीं लगता होगा। कोई बातें करने को चाहिये मित्र मिलें, आफीसर मिलें, लोग मिले, अकेले मन नहीं लगता। कोई बातें करने को चाहिये, और इन साधु महाराज को गिरी कंदराओं में, जंगल, गुफाओं में बड़ा मन लगता है, वे रुदा प्रसन्न रहा करते हैं। वे कैसे अकेले रह जाते हैं? वे अकेले नहीं हैं। हम आपको मालुम पड़ता है कि वे अकेले रह जाते हैं? वे अकेले नहीं हैं। कौन है वहां उनके साथ? उनके साथ उनका प्रभु है। जैसे हम आपको कभी ऐसी वृत्ति होती है कि मन तो पाप करने का प्रोत्साहन बनाता है और विवेक उन बातों को काटता है, रोकता है, इसी तरह वहाँ भी उपयोग और ज्ञानस्वरूप ये दो तरब बसे हुए हैं। तो वहाँ उपयोग ज्ञानस्वरूप प्रभु से ज्ञानमयी पद्धति से बात करता है। वे साधु जन उस ज्ञानस्वरूप प्रभु को देखकर, अनुभूत कर, लीन होकर तृप्त बने रहते हैं। साधु वहाँ अकेला नहीं है। परमशरण ज्ञायकस्वभाव परमपिता परमात्मा उसके साथ है तो उसे जंगल में ही प्रसन्नता रहती है बल्कि जैसे आपको अपरिचित लोगों से कुछ प्रयोजन नहीं, अपरिचित जन दस भी बैठे रहें तो आप अपने को अकेला ही मानेंगे। अरे भाई ये १० मजदूर तो पास में बैठे हैं। उस पुरुष को एक भी उनमें काम का नहीं है। यह जानता है कि मैं तो अकेला हूँ इसी तरह उन साधुओं के पास १०-५ लोग बैठ जायें तो वहाँ भी अपने को भला नहीं मानते क्योंकि उस संसर्ग में अपने प्रभु की दृष्टि भी छूट जाती है, तो वे वहाँ अपने को अकेला अनुभव करते हैं। जो अपने आपके आनंदमय स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता है वह पंचेन्द्रिय के विषयों में डोलता रहा है।

संपदा से उपेक्षा करके स्वभाव दृष्टि में तपश्चरण—यह इच्छा निरोध तप तब तक नहीं हो सकता जब तक स्वभाव का अनुभव न कर लें। स्वभाव के अनुभव के बाद उसका स्मरण रहता है, उसी ओर परिणाम रहा करता है, उस स्थिति में इच्छा का निरोध सहज हो जाता है। यह संसारी जीव बालक है, इसे तो खिलोने से राग है। जिसने अपना आन्तरिक खिलौना नहीं देखा, वह बाह्य पदार्थ विषय रूपी खिलौने से कैसे चित्त हटा पावेगा? इसे तो खिलौना चाहिये, चाहे स्वकीय मिले या परकीय। परकीय खिलौने में व्याकुलता ही व्याकुलता है, स्वकीय खिलौने में सत्य शान्ति है। हम निज स्वभाव को भूलकर जगत् में इतने भटके कि ८४ लाख योनियों में नाना रूप रहे, उनको यह जीव जब जान लेता है कि यह मोह स्वरूप है तब वह पुण्योदय से संयुक्त सम्पत्ति में कुछ भी हितबुद्धि नहीं करता। सम्पदा का संयोग आत्मा की शान्ति की कंगूत नहीं। वह पुण्य के निमित्त पर उपस्थित है। सम्पदा से शान्ति नहीं। तृष्णा करके अपने को भोगों में लगाना, विषयों में फंसाना, अपने आप पर महान् अन्याय करना है। सदृष्टहृत्थ बनकर यथाशक्ति तप का लाभ गृह में भी पा सकते हैं।

विषयेच्छा निरोध से मनुष्य सब की आदर्शता—जो पर्याप्त सम्पत्ति होने पर भी सात्त्विक रहन सद्गुन रखता है और निरन्तर अविकारी स्वभाव का ध्यान रखता है वह गृह में भी तप करता है। मनुष्य होने का सामं तप में है, इच्छा निरोध में है। मनुष्य के समान अन्य कोई उत्तम पर्याय नहीं है। इसको पाकर विषयेच्छा का दास होना अपने को सुख का मार्ग रोक देना है। जब तीर्थंकर देव विरक्त होते हैं तब उन्हें बन में ले जाने वाले इन्द्र अपनी पुरानी आदत के अनुसार पालकी में बैठाकर उठाना चाहते हैं तो मनुष्य रोक देते हैं। भाई, तुम इस पालकी में हाथ न लगावो यहां तुम्हारा अधिकार नहीं है। इन्द्र बोला—मैंने गर्भ में रत्न वषाये, जन्मोत्सव में मेरु

पर अश्लेषक किया, मुझे अधिकार कैसे नही ? निर्णय के लिये एक वृद्धा को बैठाया । तब उसने खूब सोच विचारकर यह निर्णय किया कि आइयों, भगवान् की पालकी वह उठा सकता है जो भगवान् के साथ भगवान् जैसे संयम को धारण कर सके । यह ज्ञान सुनकर मनुष्य बड़े प्रसन्न हुए । तब इन्द्र बोना कि मनुष्यो ! मेरी इन्द्रत्व की सारी शक्ति जे लो और इसके बदले मनुष्यत्व दे दो, परन्तु इसकी इस आशा की पूर्ति वहां कैसे हो सकती थी ? वह रोना ही रहा, मनुष्य भव को ललचाता ही रहा । ऐसे अमृत्य नर रत्न को, क्षणिक पराधीन विषयास्वाद में गंवा देना अहर्ता मुखौटा है । जगत् के सभी पदार्थ स्वतन्त्र हैं । मैं भी स्वतन्त्र द्रुव चैतन्यमय वस्तु हूँ । मेरा विश्व के साथ मात्र ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है, स्वस्वामि सम्बन्ध नहीं । जान लो, आगे मत बढ़ो, इस प्रकार बाह्य से सर्वथा हटकर निज चैतन्य स्वभाव में लसना उत्तम तप है, यही सारंगज्ञान है ।

तं तउ जहि उवसग सहिज्जई, तं तउ जहि रायाइ जिणिज्जइ ।

तं तउ जहि मिक्कइ भुजिज्जइ सावयगेह कालणिविसिज्जइ ॥

तप वहां होता है जहां उपसर्ग सह लिये जाते हैं । तप वहां होता है जहां रागादिक जीत लिये जाते हैं तप वहां होता है जहां श्रावक के घर भिक्षावृत्ति से भोजन लिया जाता है । तप वहां होता है जहां यथा काल ही यथा स्थान निवास किया जाता है, जिसमें तप की साधना हो, रागद्वेष हो, न हो, ज्ञायकरूप की उन्मुखता रह सके । अपने स्वभाव के दर्शन की इतनी अधिक रुचि बढी हुई है भैया ! इस ज्ञानी के कि इस पर बाहरी कुछ उद्वेग आ जायें तो भी अपने भीतर की घुनि में इतना लीन है कि उन उपसर्गों और उपद्रवों से हटने का विकल्प नहीं करता तप वहां ही होता है जहां रागादिक भाव जीत लिये जाते हैं । जहां भिक्षा भोजन हो तप वहां ही होता है । भिक्षावृत्ति धारे बिना कोई मोक्ष नहीं होता है । भिक्षावृत्ति धारे बिना कोई मोक्ष नहीं जाता था यों वह लो कि अपना खाकर कोई मोक्ष नहीं जा सकता है । खुद कमाया अपना ही खाया यों अपना खाकर कोई मुक्त हुआ हो तो एक दृष्टान्त बताओ । या तो पर घर का खाकर मुक्ति गया या बाहुबलि जैसा कोई हो कि बिना भोजन किये मुक्त किया गया हो । अपने घर के भोगों में स्वतन्त्रता की बात नहीं है । अपने घर के भोगों को भोगकर कोई निर्वाण नहीं प्राप्त कर सकता है । यह भिक्षा भोजन अमृत है और वही तप है । किन्तु इतना निर्मल परिणाम हो कि भक्ति सहित कोई निर्दोष भोजन देता है तो लो, अन्यथा भोजन न लो, इतनी निर्मलता के साथ भिक्षा भोजन किया जाता है वह भी एक तप है ।

धर्म के बिना जिनवगी क्या ?—एक साधु महाराज एक श्रावक के घर आये, भोजन के बाद आंगन में बैठ गये । कुछ धर्म की बातें होने लगी । सेठ की बहु ने कहा महाराज, आप इतने सवेरे क्यों आ गये ? कहा समय की खबर न थी । अब देखो दोनों ही बातें अटपट हैं । १० वज गये, धूप भी खूब खिल रही थी । जैसा प्रश्न वैसा उत्तर जरा सुनते जाइये । साधु पूछता है बेटो, तुम्हारी उम्र कितनी है ? बहु बोलती है महाराज मेरी उम्र ४ साल की है । ...और तुम्हारे पति की उम्र कितनी है ? ...महाराज ४ महीने । ...और तुम्हारे स्वसुर की ? ...महाराज स्वसुर तो अभी पैद भी नहीं हुए । अच्छा तुम ताजा खा रही हो या बासी ? बोली महाराज बासी ही खा रही हूँ । साधु तो चला गया । सेठ बहु से लड़ने लगा । तूने हमारे घर की सब खो दी । कैसे पागलपन के प्रश्न उत्तर हुये ? बहु बोली, महाराज साधु के पास चलो वहां ही आपको पता लगेगा । सेठ और बहु महाराज के पास पहुँचे, पूछा तो पता लगा कि इतने सुबह क्यों आ गये का यह अर्थ था कि साधु छोटी उम्र के थे । होंगे करीब २०-२५ वर्ष की उम्र के । इतनी अवस्था में आप इस पद पर क्यों आ गये, यह पूछा था तो बताया कि मुझे समय की खबर नहीं थी । मैंने सोचा कि पता नहीं कब मर जावें इसलिए हम सवेरे ही साधुपने में आ गये । बहु की आयु चार वर्ष की कैसे ? कहा कि धर्म की साधना करते ४ वर्ष हो गये । पहिले जो ३०-३२ साल गुजर गये वे व्यर्थ ही चले

गये। जब से हमारे धर्म साधना जगी तब से ही हम अपनी जिन्दगी मानती हैं। धर्म के बिना जिन्दगी मानो तो अपने को अनन्त काल का बुढ़वा कहना चाहिये क्योंकि अनादि से इसकी सत्ता है। पति की चार महीने की उम्र का कारण बताया कि पति को खूब रुमझाया तब उनके चार माह से धर्म की साधना हुई है। स्वसुर बोले महाराज हमको कहती है कि अभी पैदा ही नहीं हुये, हम कितने बूढ़े हो गये, बाल सफेद हो गये और बताती है कि अभी स्वसुर साहब पैदा ही नहीं हुये। वह बोली, देखिये महाराज अभी भी समझ में नहीं आया। अब भी ये लड़ते हैं, और बासी खाने का क्या मतलब बताती है कि महाराज सेठ जी ने पूर्वमव में पुण्य किया था जिसका फल अभी शोंग रहे हैं। तो यह बासी ही तो हैं। ताजा नहीं खाया जा रहा है।

निज ज्ञानस्वभाव के अनुभव से ही संसार से तरण—भैया ! अपनी-अपनी परख कर लो कि अभी हम पैदा हुए कि नहीं ? जब अपने ज्ञान स्वभाव का अनुभव हो जाय कि केवल जानना मात्र यह मैं अमूर्त हूँ, ऐसा अनुभव कभी हो जाय तो समझो कि हां अब मेरा जीवन है। किसी भी प्रकार के वातावरण में कमी भी किसी भी समय अन्य सबको भूलकर, किसी का विकल्प न कर, परम विश्राम से रह जाने का अंदाज- तो करो कि अपने आप मैं क्या हूँ ? अपने आप पर दृष्टि दो तो असीष्ट सिद्ध होगी। कोई बच्चा कहे कि मां मुझे तैरना आ जाय।... हां बेटा आ जायगा।...आ जाए, परन्तु मुझे पानी में न उतरना पड़े।... बेटा यह तो नहीं हो सकता है। पानी में कूदना पड़ेगा, दो चार पटके खाना पड़ेगा तब जाकर तैरना आयेगा। हमको घर के आनन्द भी मिल जाये, भोज भी बनी रहे, और हम मोक्ष मार्ग को भी पा लें तो ये दोनों बातें नहीं हो सकती हैं।

तं तउ जत्थि समिदिपरिपालणु, तं तउ गुत्तित्तय णिहालणु।

तं तउ जहि अप्पापरि बुज्जउ, तं तउ जहि ससरूव मुणिज्जइ ॥

अन्तर्बाह्य समितियों के पालन में उत्तम तप—जहाँ समितियों का पालन किया जाता है तप वहाँ है। देखकर चलना, प्रिय हितकरी बचन बोलना, किसी जीव की हिंसा न करना, ऐसी प्रवृत्ति यदि है तो वही तप है। जहाँ गुप्तियों का पालन है, जहाँ अपने और पराये स्वरूप का विचार है, जहाँ समस्त पर्यायों के अहंकार का त्याग है, विवेक जागृत है तप तो वही है। भैया ! सच तो यह है कि हम पुरुषार्थ तो कुछ न करें और सिद्धि पा लें यह कैसे हो सकता है ? आत्मज्ञान होना ही वास्तविक मंगल है। ऐसे ही तमाधिष्ठा मात्र में मरण होना मंगल है। भोगों में जिनका जीवन मरण है, वे संसार को ही बढ़ाते हैं। चैतन्य स्वभाव का आलम्बन करते हुये जिनका जीवन चल रहा है अथवा आयुक्षय हो रहा है, वे आगे जन्म-मरण के पात्र नहीं होते। शेष अल्पमव भी निराकुलता से व्यतीत हो जाते हैं, फिर शाश्वत आनन्दमय रहते हैं।

अन्तर्बाह्य परिग्रह के त्याग में उत्तम तप—जगत् गोरख धन्धा है। इसकी चाह उलझन की बड़वारी है व चाह से दूर रह कर अपने स्वभाव में प्रतपन करने से अन्त आनन्द का आविर्भाव है। इस सर्व सुख का मूल सम्पन्नदर्शन है। जिस ज्ञानी के अन्तरंग बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रहों से रुचि हट गई उसके ये परिग्रह कब तक लव सकते हैं। अतः जहाँ शुद्ध आत्मा के स्वभाव की रुचि पुरकर अन्तरंग १४ प्रकार के और बहिरंग १० प्रकार के परिग्रहों का जहाँ अभाव हो जाता है उस परिणाम को उत्तम तप कहते हैं। यह तप वहाँ ही प्रगट होता है जहाँ निर्ग्रन्थता है। उन परिग्रहों से त्रैकालिक चैतन्य स्वभावो निज आत्मा का क्या सम्बन्ध है ? यह कुछ न आपके साथ आया, न साथ जावेगा और जब तक है न आपकी परिणति से परिणमता है। सबसे अधिक ग्रन्थि देह में होती है। वह देह भी क्या है ? जड़ भिन्न, प्रवेश करने और गलने वाले अणुओं का पुञ्ज है। वह आत्मा नहीं। अहो, जिसे अज्ञानी समझते हैं नवह अन्तरंग आत्मा है, नवहिरंग आत्मामें सर्वदृष्ट अदृष्ट स्कन्ध से भिन्न हैं, धनवैभव से न्यारा हैं, परिवार

आदि कहे जाने वाले भूत प्राण से पृथक् हूँ, मेरे समान जाति वाले सभी अन्य चेतन से पृथक् हूँ। मैं किसी भी परब्रह्म का परिणाम नहीं करता। मेरे करने को बाह्य में कुछ काम भी नहीं है। इस प्रकार के परिणामों से प्रेरित होकर परब्रह्म से हट कर व सर्व विकल्पों को समाप्त करके निज चैतन्य स्वभाव में स्थिर होना उत्तम तप है। इस उत्तम तप में प्रवर्तमान साधुबृन्द गुफाओं में बसते हुये आनन्दमग्न हैं, अनेक उपसर्ग उनके शृङ्गार हैं, समिति गुप्ति उनका व्यापार है। सर्व आरम्भ परिग्रह से वे अत्यन्त विरक्त हैं। भोजन का भी रच आरम्भ उनके नहीं है व निष्ठा-धृति से पाणिपात्र आहारी हैं, परम विवेकशाली हैं।

अविकार चित्स्वभाव की उपासना में उत्तम तप—अहा, इस उत्तम तप धर्म में कषायों को स्थान नहीं मिलता, उसका फल केवल ज्ञान है, अधिनाशी सुख है। इस धर्म में भी देखो, सभी धर्मों की सहचारिता स्वयं ही सहज है। हे उत्तम-तप धर्म ! सदा जयवन्त रहो। तेरे ही प्रताप से विषय कषाय के भयङ्कर रोग दग्ध हो जाते हैं, विगुह्य ज्ञानदेह श्रमक उठता है। अहो भव्य बन्धुओं ! यह नर-रत्न सर्व पदार्थों में रत्न है, इसे विषय कषाय के बहुकषाय में मत डालना। अपने स्वभाव की उपासना से अपना उद्धार कर लेना अन्यथा सिवाय पछतावे के या बेहोश बने रहने के संसार—क्लेश सहने के कुछ भी लाभ नहीं होगा। सर्व शक्तियों के अभेद स्वभावमय स्वतः सिद्ध आत्मा विराजमान, इसके दर्शन करो। तप वहाँ ही होता है जहाँ आत्मा की वचार्थ पहिचान हो चुकी हो। आत्मस्वभाव समझना बहुत सरल है इसमें परिश्रम की आवश्यकता नहीं, विन्तु परिश्रम पक्ष के त्यागी की आवश्यकता है। यह विपरीत परिश्रम पक्ष के कारण है। यदि कोई मनुष्य अपने को एक बार इस परिस्थिति में ला देवे मैं तो न वैष्णव हूँ, न हिन्दू हूँ, न जैन हूँ, न धनपति हूँ, न गरीब हूँ, न शास्त्रज्ञानी हूँ, न मूर्ख हूँ ये तो सफ़ी पर्यायें हैं, मैं तो आत्मा हूँ। आत्मा का रिश्ता आत्मा से जोड़ देवें, तब आत्मस्वभाव जो अनाकुल सुखमय ज्ञान का स्वाभुव है वह हो जावेगा। वय आत्म-स्वभाव की पहिचान होने पर करने योग्य सब कर लिया, अब उस ज्ञानी की किसी बाह्य में रति नहीं होती और निज चैतन्य स्वभाव जो अनादि अनन्त अहेतुक स्वतः सिद्ध है उसकी ओर झुकाव होता है। इस ही चैतन्य स्वभाव में बने रहना उत्तम तप है।

सविवेक तप, त्याग की श्रेष्ठता—एक सागर की घटना है गुरुजी सुनाते थे। जिस धर्मशाला में वे रहते थे वहाँ एक भाईजी भी रहते थे। उनका एक नियम था कि साग अपने हाथ से न छौंकते थे। साग बनाकर रख ले और जब कोई दूसरा आवे तो उससे छौंका लें। सो गुरु जी जब गृहस्थ ही थे। बड़े वर्णी जीन कहा कि भाई क्यों बैठे हो ? भाई जी ने कहा कि साग छौंकना है तो कोई छौंक दे तो ठीक। वह एक दिन भोजन करे और एक दिन उपवास करे। वह नियम बारहों महीने चलता था। लावन जिस दिन भोजन करते थे वह पूरा दिन उनके भोजन करने में लग जाता था। धीरे-धीरे खाना बनावे खावे, बतन मांजे। तो गुरु जी बोले कि हम छौंक दें ? बोला हां महाराज छौंक दो तो बड़ी अच्छी बात है। मगर हम छौंकेंगे तो यह कहेंगे कि जो पाप लगे सो भाई जी पर नगे। उसने कहा नहीं महाराज यह नहीं कहना। पर छौंकते-छौंकते कह ही ढाला कि इससे जो पाप लगे वे भाई जी पर लगे। भाई जी बोले तुमने तो मेरी रसोई खराब कर दिया। तो भैया ! विवेक बिना त्याग की ऐसी ही विडम्बना होती है। अरे जो स्थावरघात की आरम्भक बात करनी थी सो कर लिया, चाकू से छोला, काटा, पर केवल छौंकने का त्याग कर दिया। अभी देख लो, कोई आलू मटा का त्यागी है, कोई कहे कि हम गिद्धरजी गये तो वहाँ से आलू भटेका त्याग कर आये। ठीक है, पर बाजार से दही मोल लेकर खा रहे, गोभी का साग बनाकर खा रहे। तो यह बताओ कि बाजार का दही ओर गोभी खाते हैं तो फिर इस त्याग का क्या महत्व रहा ? पढ़ति पूर्वक त्यागी तो उसे कहते हैं कि जिससे त्रस जीवों की हिंसा हो पहिले उसे त्याग दे। जो गोभी का फूल होता है उसमें बहुत जीव होते हैं। परीक्षा करना हो तो को थाली में फूल के ऊपर का भाग झड़ा करके, देख कर समझ सकता है। उसमें बहुत से त्रस जीवों का घात होता है। गोभी और बाजार का दही खाने से त्रस जीवों का घात होता है। जो

तप में बढ़ो तो विवेक पूर्वक बढ़ो। भैया ! यह सुनिश्चित है कि मनुष्य जीवन एक बड़ा दुर्लभ जीवन है। भोग तो अनन्त भवों में भोग डाले, पर ज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व के दर्शन, अनुभव की बात अब तक नहीं की। पवित्र कार्य करने को मिलता है इस मनुष्यभव में ही। तप करना, संयम करना, ज्ञान करना, उदारता करना, दया करना, धर्म करना, ये सब हां सकते हैं इस मनुष्यभव में ही। यदि इस मनुष्यभव को यों ही भोगों में गंवा दिया और भरकर छोटी गति में पहुंच गये फिर कल्याण का अवसर कहां रहा ?

धर्म के बिना नरभव की दशाओं को व्यर्थ गंवा देने का एक दृष्टान्त—एक सेठ थे। वे राजा के परम मित्र थे। पापों का उदय आया सो वे गरीब हो गये। बड़े दुःख भोग लिये तो एक दिन राजा से कह ही बैठा कि राजन् ! हम आजकल बहुत संकट में हैं। राजा ने कहा कि कल तुम २ बजे से ४ बजे तक हीरा जवाहरात के भण्डार में चले जाना, जितने रत्न तू बटोर कर ला सके सो ले आना। पहरेदार और खजांची को सूचना दी कि सेठ दो बजे आयगा सो २ बजे से ४ बजे तक जितने चाहे रत्न ले जा सकता है। हमने उसे ऐसी इजाजत दी है।... बहुत अच्छा। सेठ २ बजे पहुंच गया। सो बहुत बड़े महल में जवाहरात का भण्डार था। जब भण्डार में पहुंचा तो बड़े ही सुन्दर चित्रों और खिलीनों में उसकी दृष्टि पहुंच गई। खिलीने देखने में तो समय लगेगा, जरा देखना शुरू तो होना चाहिये। उन चित्रों के देखने में ही दो घण्टे का समय व्यतीत हो गया। ४ बज गये, पहरेदार ने भगा दिया। अब सेठ रोता हुआ राजा के पास पहुंचा। वह बोला महाराज हम दो घण्टे में कुछ नहीं ला सके। चित्र विचित्र खिलीनों को देखने में ही समय चला गया।... अच्छा भाई कल २ बजे से ४ बजे तक को अर्शाफियों के भण्डार में जाने की इजाजत देता हूं। दूसरे दिन पहुंच गया। देखा कि जहां पर अर्शाफियों का भण्डार है वहां पर एक बड़ा मैदान है। उस मैदान में सुन्दर-सुन्दर घोड़े बंधे हैं उनमें से एक बहुत सुन्दर था। सेठ घोड़े का शौकीन था। सोचा जरा इसकी चाल तो देखें। सो वह बैठा तो चाल बड़ी ही सुन्दर थी। वहां भी दो घण्टे यों ही व्यतीत हो गए। पहरेदार ने निकाल दिया। राजा के पास पहुंचा। राजा ने कहा अच्छा कल तुम्हें २ घण्टे के लिये चांदी के रूपयों के भण्डार में जाने की इजाजत देता हूं। जब वहां शुरू-शुरू में पहुंचा तो एक तरह का गोरखधन्धा आता है ना, सो गोरखधन्धा में फंस गया। कोई चीज फंसी थी सो निकाल दिया। अब पहरेदार कहता है कि इसे ज्यों की त्यों करो। ज्यों की त्यों करने में ही उसके दो घण्टे का समय व्यतीत हो गया। फिर पहरेदार ने निकाल दिया। अब फिर रोक सेठ राजा के पास गया। राजा ने कहा भाई अब तो एक तांबे के पैसों का भण्डार बचा है उसमें कल तुम्हें जाने की इजाजत दो बजे से ४ बजे तक के लिये देता हूं। वह वहां पहुंचा। देखा कि एक बहुत सुन्दर स्प्रिंगदार पलंग पड़ा हुआ है। सोचा कि जरा इसमें पड़कर देखे। तनिक पड़कर देखा तो आध मिनट में ही नींद आ गई। सो गया, जब दो घण्टे पूरे हो गये तो पहरेदार ने निकाल दिया। कुछ भी उसके हाथ न लगा यहां भी।

अपना शरण पाये बिना नरभव का व्यर्थ थापन—इसी प्रकार बाह्य दृष्टि वाले पुरुष अपने जीवन की चार अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था में धर्म का लाभ नहीं ले सकता। बचपन से खिलीने चित्रों में ही सारा समय चला जाता है। किशोर अवस्था में साइकिल, मोटर, घोड़ा के पीछे परेशान रहकर अपना समय गंवा देते हैं और और कलाकों के सीखने में अपना समय गंवा देते हैं। जब जवान हुए तो गोरखधन्धे में लग जाते हैं। अभी उस लड़के की शादी करना है, अभी उस लड़की की शादी करना है। इस प्रकार गोरखधन्धे उलझते ही रहते हैं सुलझते नहीं हैं। इसके बाद अब चौथापन आता है तो बैठे हैं, कुछ कर नहीं सकते हैं। यों ही जीवन व्यतीत हो जाता है। करने की चीज क्या है? सो भैया ! कुछ ज्ञान में प्रगति करो और तत्त्वज्ञान, प्रयोजनभूत ७ तत्त्वों के सम्बन्ध में अपना ज्ञान बढ़ाओ, अपने आपको शरण अपने आपसे ही मिलेगी। यदि सम्यक्त्व हो गया तो अपने को अपने से ही शरण मिलेगा और सारे संकट टल जायेंगे। ये भोग तो भव-भव में भोगते हुए चले आ रहे हो, कुछ भी

तो इन भोगों को भोगने से पूरा न पड़ेगा ।

तं तउ जहि ससख्ख मुणिज्जइ, तं तउ जहि कम्महणण खिज्जइ ।

तं तउ जहि सुरभत्ति पयासइ, पवयणत्थ भवियलह पभासइ ॥

स्वस्वरूपमनन में तप—जहाँ अपने आपका मनन किया जाता है, तप वहाँ होता है। जहाँ देवता भी भक्ति प्रकाशित करते हैं तप वहाँ है। जहाँ भव्य जीवों के लिये प्रवचन, उपदेश, अर्थ कथन किया जाता है तप वहाँ है। अपने लिये किसी से कुछ न चाहे, यह एक बड़ा तप है। अपने लिये घर न चाहे, इज्जत न चाहे, यह भी एक बड़ा तप है। जन्म मरण के चक्र में चलने वाले किसी पुरुष ने आपसे कह दिया कि बाबू साहब तो बड़े अच्छे हैं इससे कौन सी उन्नति होगी? सर्व प्रकार की इच्छाओं का निरोध करना सो तप है।

जेण तवे केवल उप्पज्जइ सासय सुवख णिच्च संपज्जइ ।

सम्यग्ज्ञान में उत्तम तप और उससे केवलज्ञान की उत्पत्ति—तप वहाँ है जहाँ केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवल ज्ञान उत्पन्न होने का अधिकार वहाँ है जहाँ सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान वहाँ है जहाँ पर प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र-स्वतंत्र ज्ञात है, अपने-अपने स्वतंत्र में बसे हुये नजर आ रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ है, परिणमते हैं। उनमें मेरा कोई अधिकार नहीं है। परिणमना भले के लिये है, यदि पदार्थ न परिणमते तो उनकी सत्ता नहीं रह सकती। कौनसा पदार्थ ऐसा है जिसमें उत्पाद व्यय न होता हो फिर भी उसका ध्रोव्य रहता है। इसलिये ऐसी निगाह रखो कि जो कुछ भी होता है वह भले के लिये ही होता है।

सर्वत्र भले का दर्शन—एक राजा और मन्त्री थे। मन्त्री को यह कहने की आदत थी कि जो कुछ होता है वह भले के लिये होता है। एक बार राजा मन्त्री के साथ जंगल में शिकार खेलने गया। राजा थे छिगा। उनके एक हाथ में ६ अंगुली थी। राजा जंगल में मन्त्री से पूछता है कि मेरे ६ अंगुली हैं सो यह कैसा है? कहा बहुत अच्छा है, यह भी भले के लिये है। उस राजा के गुरसा आ गया। सोचा कि मैं तो छिगा हूँ और यह कहता है बहुत अच्छा है। मन्त्री को कुएँ में डकेल दिया और आप आगे बढ़ गया। अब क्या हुआ? एक देश में राजा नरमेघ यज्ञ कर रहा था। उसमें बलि देने के लिये बढ़िया मनुष्य चाहिये था। सो राजा ने चार पंडों को अच्छा मनुष्य खोजने के लिये छोड़ा। उन चारों पंडों को वही राजा जंगल में मिल गया, राजा सुन्दर था ही। उसे चारों पंडे पकड़ ले गये और पकड़कर उन्हींने यज्ञ के पास एक खूँटे में बांध दिया। बलि देने की तैयारी हो रही थी कि एक पंडा ने देखा कि अरे इसके तो ६ अंगुली एक हाथ में हैं। उस यज्ञ में निर्दोष शरीर वाला मनुष्य चाहिये था। राजा की ६ अंगुली देखकर वहाँ से डंड मारकर उस राजा को भगा दिया। अब राजा रास्ते में सोचता है कि मन्त्री ठीक कहता था कि जो ६ अंगुली हैं तो बड़ा अच्छा है, उसकी बात ठीक हुई। राजा प्रसन्न होकर उस कुएँ के पास आया और मन्त्री को उस कुएँ से निकाल लिया। मन्त्री से कहा कि तुम ठीक कहते थे कि जो होता है सो भले के लिये ही होता है। मन्त्री ने पूछा क्या हुआ? राजा ने सारा किस्सा सुनाया, और कहा कि हमारे ६ अंगुली थीं इसलिये बच गये। अच्छा मन्त्री यह बताओ कि तुम्हें जो मैंने कुएँ में पटक दिया सो कैसा हुआ? बोला यह भी बहुत अच्छा हुआ। कैसे हुआ? महाराज यदि मैं साथ में होता तो मैं भी पकड़ा जाता। आप तो बच जाते ६ अंगुली की वजह से और हम ही फंसते। सो यह भी भले के लिये हुआ। सो इस जीवन में दुःखी होने का कोई काम नहीं है, चाहे धन आवे चाहे न आवे, इज्जत हो चाहे न हो, परिवार रहे चाहे न रहे पर सदा प्रसन्नता से रहना चाहिये। ये सब पदार्थ हैं, परिणमते रहते हैं। यही इनका स्वभाव है, जो होता है सब भले के लिये होता है। जहाँ वस्तु की स्वरूप सत्ता का बोध होता है तप वहीं होता है। तप के लिये परवस्तुओं की चाह का सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।

बारह विहु तउवरु दुगइ परिहरु तं पूजिज्जई थिरगणिणः ।

मच्छरमम छडिवि करणइ दंडिवि तंपि धइज्जइ गौरविणा ॥

तप की भावना व सेवा का आदेश—१२ प्रकार का तप उत्तम धर्म है, यह दुर्गति का परिहार करने वाला है, दुर्गति में तो यह जीव अनादि से ही घूमता चला आया है, इस मनुष्यगति को हम सुगति कह सकते हैं। देखो अपने मन की बात हम आपको बता देते हैं और आपके मन की बात हम मुन लेते हैं। किन्तु पशु-पक्षी कीड़े-मकोड़े कोई भी बताओ जो भावों का आदान-प्रदान करते हों? कोई भी तो ऐसे नहीं हैं। एक मनुष्य ही ऐसा है जो अपने भाव दूसरों को बता सकता है और दूसरों के भावों को जान सकता है। यदि उस मनुष्यभाव को इन विषयों की धुन में ही रहकर खो दिया तो बताओ कौनसा भव ऐसा है जहां हित का मार्ग मिल सकेगा? जैसे कोई खुर्चला अंधा भिखारी किसी नगर में जाना चाहता है, बता दिया लोगों ने कि यह नगर के किनारे की भीत है सो हाथ से इस भीत को पकड़ते हुये चले जाओ और जब दरवाजा मिले तो उससे घुस जाना। सो वह उस भीत के सहारे चलता जाता है। खूब चला और जहां दरवाजा आया सो अपना सिर खुजलाने लगा और पैरों से चबना न बन्द किया, दरवाजा निकल गया फिर चक्कर लगाये। इसी प्रकार कई योनियों में चक्कर लगाते हुये यह आज मनुष्य जीवन का दरवाजा आया है इसे विषयों में ही खो दिया, इन विषयों की ही खाज खुजलाने लगा तो यह मनुष्यभाव भी चला जायगा व्यर्थ। इसलिये विवेक बनाओ, ज्ञान के लिए उद्यम करो इससे अपनी सफलता है। देखो ज्ञान से बड़ा विलक्षण आनन्द आता है, वहां विषयों का आनन्द जिनके नहीं रहा है इसीलिये वे बड़े पुरुष कहलाते हैं। तो उस ज्ञान तप की साधना करें और सभी तपों में उद्यमी रहें, ऐसी भावना भावों और प्रयोग करो।

इच्छानिरोध की आनन्दरूपता—जीव की दो परिस्थितियां होती हैं—(१) इच्छा सहित और (२) इच्छारहित। इन दो परिस्थितियों के अतिरिक्त आप और कौन सी परिस्थिति पायेंगे? इन दोनों स्थितियों के आधार में देखो कि आत्मा के सुख की स्थिति कौन है? इच्छासहित वाली स्थिति में आनन्द है या इच्छारहित वाली स्थिति में आनन्द है? तो आप यही निर्णय पायेंगे कि आनन्द तो इच्छारहित स्थिति में है। इच्छासहित स्थिति तो आत्मा के लिए दुःख रूप है। आचार्यों ने तो यहां तक कहा है—मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति। इत्युक्तवाद्धितान्वेषी कांक्षा न क्वापि योजयेत् ॥ अर्थात् जिसके मोक्ष में भी इच्छा है वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। इस कारण हित चाहने वाला पुरुष कहीं भी इच्छा न करे। इसकी रीति यह है कि पहिले तो इच्छा होती है मोक्ष के लिए। जब वह अभ्यस्त हो जाता है और अपने ब्रह्म स्वरूप के अनुभव में पारगामी हो जाता है उस समय उसे कोई भी इच्छा नहीं रहती। केवल ज्ञानस्वरूप आनन्दमय आत्मतत्त्व का भान रहता है। ऐसे योगी को मोक्ष होता है। तो इच्छा सर्वदुःख देने वाली चीज है। तब इच्छा का नाम है अतप और इच्छारहित का नाम है तप। अब बतलावो आनन्द तप करने में मिला कि न करने में? तप करने में। लोग कहते हैं कि तप में तो बड़ा क्लेश है किन्तु तप में क्लेश नहीं होता, कठिन चीज नहीं है तपश्चरण। तपश्चरण में तप आनन्द रहता है। तप का अर्थ समझे तब ना। इच्छा निरोधः तप। जहां इच्छाओं का अभाव है उसे ही तप कहते हैं। अब तप की जितनी भी परिभाषायें हैं या जितने भी तप के बाकी काम हैं उन सबमें इच्छा निरोध है तो वह तप है और इच्छा है तो वह तप नहीं है। तप बताये हैं १२ प्रकार के। अनशन, ऊनोदर, व्रतपरिच्छेदन, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश—ये तो हैं १ वाद्य तप। तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्युसर्ग व ध्यान ये ६ हैं अन्तस्तप।

अनशन तप में इच्छानिरोध का तथ्य—१—अनशन मानने भोजन का त्याग करना, आहार न करना, उपवास करना, तो उपवास कब होता है? सुनो—मेरे आत्मा का स्वभाव अनशन का है याने भोजन न करने का है, यह तो ज्ञानस्वरूप है, आनन्दमय है, ऐसे अनशन स्वभावी आत्मतत्त्व का ध्यान रखते हुए जो आहार का

त्याग हो रहा है उसमें इच्छाओं का आभाव है, ऐसा उपवास तप कहलाता है। इच्छा के अभाव की बात न हो तो ऐसे तप को तो लंघन बताया गया है। जहाँ कषायें, विषय और आहार का त्याग होता है उसे तप कहते हैं, और वाकी तो लंघन है। तो तपश्चरण करने वाले को यह बुद्धि रखनी चाहिए कि मेरे आत्मा का तो केवल ज्ञानानन्द-स्वरूप है। इसमें तो आहार की कोई बात ही नहीं जग रही है। यह तो एक अमूर्त ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानरूप बर्तता रहे यही इसका काम है, ऐसा ध्यान में रहे तो देखो उपवास में क्लेश भी न होगा, और उपवास का सही फल भी मिलेगा। इच्छा का अभाव हो जायगा। भीतर में कषाय है, विकल्प है, इच्छा है तो वह तप नहीं है। एक सांप था और कटोरे में दूध पी जाता था बच्चा बैठा रहता था, बच्चा सांप को हाथ से पीटता रहता था पर वह सांप उस बच्चे की मार सह कर भी रोज-रोज दूध पी लिया करता था। यों थोड़े दिनों में ही वह सांप बड़ा मोटा हो गया उससे किसी दूसरे सांप ने पूछा कि भाई तुम इतने मोटे कैसे हो गये? तो उसने बता दिया कि भाई मैं तो रोज-रोज एक बच्चे के लिए रखा जाने वाला दूध पी लिया करता हूँ। दूसरे सांप ने कहा मुझे भी पिला दो... अरे भाई तुम न पी सकोगे।...क्यों?... देखो जब मैं दूध पीता हूँ तो वह बच्चा मुझे पीटता रहता है, पर मैं बराबर उसकी मार सहता रहता हूँ तुम उसकी मार न सह सकोगे...

अच्छा भाई हम उस बच्चे के १०० थप्पड़ तक माफ कर देंगे। आखिर ऐसा हुआ कि जब वह दूध पीने गया तो बच्चे ने थप्पड़ मारना शुरू किया, वह सांप मन ही मन गिनता रहा। पर १०१ थप्पड़ मारने पर सांप ने फुंकार मारी, बच्चा चिल्लाया, लोग जुड़े और सर्प मारा गया। कषाय विकल्प का यह फल मिला उसे। ऐसे ही यदि उपवास में चित्त में ऐसी बात आये कि आज तो हमारा अष्टमी का उपवास है, पर आने तो दो नवमी का दिन, फिर तो हम मनमानी चीजें खब खायेंगे तो बताओ उस उपवास में क्या फल मिला? उपवास में तो ज्ञान की बात सामने हो, स्वाध्याय करें, ज्ञान की बात सोचें, आत्मा की बात सोचें, आत्मा का ध्यान करें।

ऊनोबरादि तपों में इच्छा निरोध का तथ्य—दूसरा तप है—ऊनोदर तप। भूख से कम खावें, अधपेट भोजन करें। इच्छाओं का निरोध करें, अपने मन पर कंट्रोल करें। लोग नास्ता करते हैं तो उसका नाम नास्ता यों रखा कि नास्ता शब्द का अर्थ है—ना सता, इसमें ये दो शब्द हैं ना सता। इन दोनों का मिलकर नास्ता बना। याने थोड़ा भोजन सामने हो जिससे कि भूख मिटे नहीं वह तो है नास्ता। अब यह नास्ता कर लेना तो बात और है, क्योंकि वह घंटे भर बाद डटकर खायेगा, पर भूख से कम खाना बात और है। यह भी एक बड़त बड़ा तप है। तीसरा तप है—वृत्तिपरिसंख्यान—याने कुछ आखड़ी लेकर भोजन करना। कि ऐसा योग मिले तो आहार करना, वह तप तो योगियों से बनता है पर किसी किसी स्थिति में गृहस्थ भी इस तप को कर लेते हैं चौथा तप है रस परित्याग। आज भी बहुत से गृहस्थ ऐसे मिलते हैं कि जिनके मन में आया कि मुझे अमुक चीज खानी चाहिए तो वे झट उस चीज को उस दिन त्याग देते हैं। वे सोचते हैं कि मेरे मन में क्यों उस चीज के खाने कि इच्छा हुई? कोई अगर ऐसी डींग मारे कि हमारा तो उस चीज का आज त्याग है जो चौके अन्दर न होगी। तो क्या यह कोई त्याग है? हां, सही ढंग से ऐसा कोई त्याग करता है तो उससे भी लाभ है। करे तो कोई, मन में उस वस्तु का ख्याल ही न लाये। पांचवा तप है विविक्तशय्यासन—एकांत स्थान में उठना, बैठना। वास्तविक एकान्त तो अपने आत्मा का स्वरूप है। यहां कोई गड़बड़ नहीं। जो अपने आत्मा का स्वरूप है वह एकान्त है, वहां कोई प्रकार का हल्लागुल्ला नहीं। केवल एक ज्ञान स्वरूप है। ऐसे स्थान में आत्मा का ध्यान करके तृप्त रहना यह भी तपश्चरण है। छटवां तप है कायक्लेश। गर्मी में तपश्चरण कर रहे, प्राण कहेंगे कि ऐसा तपश्चरण क्यों किया जाता है? करके देख लो—बाहर में कपट और भीतर में आनन्द। ऐसी स्थितियां होती हैं तपश्चरण की। जिसको धुन हो अपने ज्ञान स्वरूप की, उसके लिए ये सब बातें विदित हो जाती हैं। तो तपश्चरण वही है जहां पर इच्छा नहीं रहती।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य व स्वाध्याय में इच्छा निरोध का तथ्य—अब अन्तरंग तपश्चरण देखे—पश्चात्ताप करना। कोई भूल हो जाय तो उस पर अन्दर में पश्चात्ताप होता है। तो बहुत से पाप वहाँ कट जाते हैं। पश्चात्ताप में बड़ी सामर्थ्य है। जो दोष करके भी पछतावा करने का भाव मन में नहीं रख पाता वह बड़ा दोष है। हो गया दोष, अगर उसका इतना बड़ा पछतावा मानी करता है तो जिसने प्रायश्चित्त कर लिया और उसके अनुकूल कर्म किया तो वह सफलता प्राप्त कर लेगा। दोष का पछतावा आने दो। पछतावा में जो निर्यलता होती है वह बड़ी विलक्षण होती है। जैसे कि प्रतिक्रमण करने का रिवाज हो गया मेरा पाप मिथ्या हो। तो इस तरह से रिवाज में नहीं, वह तो भीतर से पछतावा है, तो वहाँ एक ऐसा आनन्द प्राप्त होता कि भव भव के बाधे अनेकों कर्म निकल आते हैं। दूसरा अन्तस्तप है विनय। इसमें मान कषाय का बहुत अधिक मर्दन होता है। कोई-कोई लोग तो ऐसे हैं कि जो भगवान के सामने भी सिर झुकाने में संकोच सा करते हैं, बस जरा झुके और चल दिए वह सींचता है कि देखने वाले लोग उसे क्या कहेंगे कि यह तो बड़ा वेबकूफ है। गुणियों से प्रेम करना, अपने को नम्र बनाना यह सब तप कहलाता है। तीसरा अन्तस्तप है वैयावृत्य, दूसरों की सेवा कोई सेवा ऐसी वाञ्छा रखकर करे कि मुझे तो इसके बदले में सुख प्राप्त होगा, धन वैभव की प्राप्ति होगी तो उसे उस वैयावृत्ति करने से लाभ क्या? यद्यपि लाभ तो मिलेगा वैयावृत्ति करने से, पर उस लाभ की वाञ्छा रखकर वैयावृत्ति न करना चाहिए। चौथा अन्तस्तप है स्वाध्याय। स्वाध्याय करना परम तप है। जिसमें आत्मा का ज्ञान होता हो वह स्वाध्याय है। स्वाध्याय में इच्छा का निरोध बसा हुआ है। पर ऐसा स्वाध्याय न करके आये, दो लाइन देख ली, चल दिये। एक भक्त ने एक पुस्तक खोली—मान लो प्रमेयकमल मार्तण्ड ग्रन्थ निकल आया तो एक दो लाइन पढ़कर देखा—सोचा कि अरे यह तो बहुत कठिन है सो उसे धर दिया, दूसरा ग्रन्थ उठाया, मानो अष्ट सहस्री ग्रन्थ निकल आया; उसे भी एक दो लाइन देखकर कठिन समझ कर धर दिया, फिर तीसरा ग्रन्थ उठाया—मानो राजवातिक निकल आया तो उसकी भी एक दो लाइन देखी और कठिन समझकर उसे भी धर दिया। तो झूझलाकर कह उठा कि अरे इन ग्रन्थों में यही तो ऐब है कि ये समझ में नहीं आते। तभी तो बंधे हुए रखे रहते हैं अरे भाई खुदकी गल्ती क्यों नहीं मानते? जरा कुछ ज्ञान का अभ्यास करो तो यहाँ कौन सी कठिन बात है जो समझ में न आये। यदि अपने आत्मा का उद्धार करना है तो एक यह संकल्प बनाओ कि मुझे तो मनचाही बात नहीं चाहना है, मुझे तो आत्म-हित की बात चाहना है। मुझे तो अपने आत्मा के अन्तः स्वरूप का दर्शन करके रहना है। मनपसंद बातों से आत्मा का कल्याण नहीं होता। वह तो एक मन को खूष रखने की बात है। उससे तो क्षोभ ही बढ़ेगा। अरे अपना ऐसा संकल्प बनाओ कि मुझे तो मनपसंद नहीं करना है, आत्मज्ञान करना है, वास्तविक ज्ञान प्रकट करना है। जब आप अपनी इतनी बड़ी उम्र में भी विद्यार्थियों की भांति किताब बगल में दबाकर पढ़ने जायेंगे तो इतने से ही आपको बड़ा लाभ मिलेगा। उस समय आप अपने की निष्पाप और निर्भार अनुभव करेंगे।

व्युत्सर्ग व ध्यान में इच्छा निरोध का तथ्य—पांचवां अन्तस्तप है व्युत्सर्ग—इस कायसे मसत्त्व त्याग दें। आप सब जानते हैं कि एक दिन यह शरीर जला दिया जायगा। शायद यह विश्वास तो सबको होगा। तो ऐसी बात आप सोचें मन में कि यह शरीर है। जो कुछ आदमियों के द्वारा ले जाया जायगा। इस शरीर को छोड़कर जाना होगा। इतनी बात चित्त में हो तो आपको शरीर से ममता न आयगी। छठा अन्तस्तप है ध्यान। चित्त के एकाग्रनिरोध को ध्यान कहते हैं। चित्त को स्वस्थ एकाग्र बनाये बिना शान्ति मार्ग के पात्र नहीं बन सकोगे। चित्त को ऐसे तत्त्व की ओर उपयुक्त रखो जिसके आश्रय से विकल्प विषदा दूर हो सके। वह तत्त्व है आत्म का सहज अभेद ज्ञायक स्वभाव। इस अन्तस्तत्त्व की चर्चा से इस अन्तस्तत्त्व के उपयोग से अपने आपको प्रसन्न बनाओ ध्यान तप आत्मा की कलुषताओं को जला देगा, आत्मा को पवित्र कर देगा। हमारा पुरुष अन्तस्तत्त्व की ओर उपयोग को

नगाये रखने का होना चाहिये। यह अन्तस्तप है। इसके माध्यम से जो चैतन्य में अपने आपका प्रतिपन्न होता है वह वास्तविक प्रज्ञान को प्रकट करता हुआ आत्मा को मंगलमय, परमानन्दमय बना देता है। तो इन सब तपों में इच्छा का निरोध बसा हुआ है इसलिए ये तप कहलाते हैं।

सर्वस्व न्यौछावर करके भी शीघ्र ब्रह्मप्रकाश या लेने का सन्देश—तप करने के लिए, ऐसी ज्ञान साधना करने के लिए हमें जल्दी करना चाहिए। अपना जीवन व्यर्थ न गमावें। देखो—इस जीवन का जो समय गुजर गया वह पुनः लौटकर नहीं आता। आज तक जितनी उम्र बीत गई समझो उतना ही हम मरण के निवट होते गए। इसलिए ज्ञान साधना का कार्य जल्दी कर लो, जिन्दगी बीती जा रही है। नहीं तो बाद में बस पछताना ही हाथ लगेगा। यह मनुष्य अपने वचन की उम्र को तो यों ही खेल खिलाणों में रमकर गवां देता है, किशोर अवस्था आने पर नाना तरह की कलाओं में उनझकर अपना सारा समय खो देता है। जवानी में यह अनेक प्रकार के गोरब धंधों में फँसकर अपनी जवानी का समय गंवा देता है और वृद्ध अवस्था तो बिल्कुल मृतक के समान है। बस अंधे उल्लू जैसे बनकर छाट में पड़े-पड़े अपनी उम्र व्यर्थ खो देते हैं। तो भाई बड़ी जिम्मेदारी है अपने आप पर। अपने को ज्ञान और वैराग्य में निरन्तर बढ़ते रहने के लिए तो जो कुछ भी करना पड़े तन, मन, धन बचन आदिक जो कुछ भी न्यौछावर करने पड़े उनको न्यौछावर करके भी अगर ज्ञानब्रह्म प्राप्त होता है तो यह तो प्राप्त यों ही गया समझिये किसे कहते हैं हल्की चीज दँकर बड़ी चीज प्राप्त करना। विद्युत् ज्ञान करने में, इच्छा निरोध में आनन्द है। आप हर जगह अनुभव करें। हलुषा खाकर तो आप अपने को सुखी मानते हैं। तो खाने से सुख नहीं किन्तु खाने की इच्छा नहीं रही उस का सुख है। मान लो किसी ने मकान बनवाया और वह अपने को बड़ा सुखी मानता है तो कहीं सुख उस मकान में से निकलकर नहीं आता किन्तु भेरे को अब यह काम करने को नहीं रहा, इस बात का उसे सुख है। तो जहाँ विकल्प है, इच्छा है वहाँ कष्ट है। जरा यह भी तो विचार करो कि मैं तो ज्ञानधन हूँ, ज्ञान से ही भरा हुआ हूँ, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, जो है सो ही है। उसमें कोई अधूरापन नहीं। भेरे करने को क्या काम ? जितने काम बाहर में सोचे जा रहे वे सब अज्ञान से सोचे जा रहे। लो भेरे करने को क्या पड़ा ? कुछ काम है ही नहीं भेरे करने को। मैं ज्ञानधन हूँ, निरन्तर ज्ञान को करता हूँ, ज्ञान को भोगता हूँ, यह ही मेरी बात है। इस और उपयोग रहे तो इसे शान्ति मिलेगी। जहाँ इच्छाओं का निरोध है वहाँ शान्ति अवश्य है। तो तपश्चरण किसका नाम है ? जहाँ कोई इच्छा नहीं, कोई लोभ नहीं।

शारीरिक, वाचनिक व मानसिक तप का निर्देश—गीता में तीन प्रकार के तपों में तीन श्लोक दिये हैं—१. शारीरिक तप, २. वाचनिक तप और ३. मानसिक तप। शारीरिक तप में कहते हैं कि देवता की साधुओं की गुस्वों की, बुद्धिमानों की, पूजा करना, अर्चना करना, सरलता रखना, ब्रह्मचर्य से रहना—ये सब चारित्र्य तप कहलाते हैं। जो ज्ञान ब्रह्म के दर्शन करने का अधिकारी बन सके। वाचनिक तप में कहते हैं कि ऐसा वचन बोलो जिसमें उद्वेग न हो। भाई अपने जीवन में एक यह ही धारणा बना लो कि अपनी श्रेष्ठ जिन्दगी में कोई ऐसे वचन न बोलेंगे कि जो मर्मभेदी हों, अस्मिमान भरी बात न बोलें। अरे जगत में कौन बड़ा बनकर रह रहा ? जिसे आप छोटा समझते हैं कहीं बड़ी कभी आपके काम आ जाये। भाई किसे समझते हो कि छोटा है ? और अपनी बात जाने दो, अब जिसे कीड़ा मकोड़ा समझते कि वह छोटा है—और यह मनुष्य बड़ा है। अरे मनुष्य भरकर बन जाय कीड़ा मकोड़ा और कीड़ा भरकर बन जाय आदमी तो फिर कौन बड़ा रहा और कौन छोटा ? सब जीवों का समान स्वरूप है। गीता में मानसिक तप में बताया है कि मन की प्रसन्नता हो। मन प्रसन्न कैसे रहता है ? जरा देखो—बढ़िया भोजन मिले, बढ़िया रूप देखने को मिले तो उस समय मन प्रसन्न नहीं रहता। विषकों के प्रसंग में जीव मानता है कि मेरा मन सुख हो रहा, मगर जिस समय पाँचों इन्द्रियों के जोड़ भोगता उस समय मन सुख है,

आकुलित है। मन में प्रसन्नता तो ज्ञान के बल पर आती है। मन में प्रसन्नता होना, सौम्यता होना, अपने आपको दण्ड देना, सन्तोष करना, अपने को बसा करना, स्वाध्याय का अध्याय करना, ये सब मानसिक तप कहलाते हैं।

उन्नति और अवनति के निर्णय की उपयोगिता—भैया ! कम से कम साल भर में अपना लेखा-जोखा तो लगाना चाहिए। दिन भर में आपने क्या काम किया, कितना अच्छा किया कितना बुरा किया ऐसा लेखा-रोज-रोज लगाना बतया है। रोज नहीं तो करीब १५ दिन में हिसाब लगा लो, महीने भर में लगा लो, महीने भर में नहीं तो साल भर में एक चिट्ठा तो अपने आत्मा का बना लो, साल भर में भी यदि आत्मचिट्ठा नहीं बनाते तो फिर यह आत्मा की फर्म फेल हो जायगी। अगर ज्ञान और वैराग्य के मार्ग में कुछ प्रगति करना है, संसार के जन्म मरण से छुटकारा पाना है तो इस काम के लिये उत्साह बनाओ। जिन बातों में अपने को असय मान रहा है, मोह ममता रागद्वेष बना रहा है, वे तो भयप्रद हैं और जिन ज्ञान वैराग्य की बातों में भय मान रहा है वह अभयपद है। तो भाव ही अपना देना सकते हो, सो उनमें ये रागद्वेष मोह ममता आदि न बनकर उनसे विरक्त रहने के भाव बनें। जब किसी बच्चे को गोद में लिए हुए आप खिला रहे हों तो उस समय आप उसके प्रति ऐसा भाव भी तो बना सकते कि थंहे भी एक जीव है; इसके साथ भी कर्म लगे हैं। यह भी एक दिन मेरे से बिछुड़ जायगा, इससे मेरा कोई नश्टा नहीं...। जब देखिये बच्चे को गोद में खिलाते हुए भी आप धर्म पाल सकते हैं। मोह ममता रागद्वेष आदि का परिणाम जहाँ न रहे, जहाँ ज्ञान का शुद्ध स्वच्छ प्रतिभाष है वह है धर्म। चाहे ऐसा धर्म पूर्ण रूपेण कर न सकें अगर श्रद्धा में हल्की बात मत लावें। श्रद्धा मुनियों से कम न रखें, नहीं तो इस संसार से पार नहीं हो सकते। आप प्रेम करें तो भयवान से करें, गुणियों से करें, परन्तु श्रद्धा यह रखनी चाहिए कि राग की, प्रेम की कणिका भी पाप ही है। आप प्रेम विरोध मोह से दूर रहें व जो ज्ञान और वैराग्य की बात है उसके करने में प्रमादी न बनें। आप यदि चाहें कि हमें कुछ करना न पड़े, दूर-दूर ही रहें और हमारा कल्याण हो जाय, तो यह बात हो कैसे सकेगी? जैसे कोई बच्चा एक बार अपनी मां से बोल उठा कि मां जी मुझे तैरना सिखा दो। तो मां बोली—हां बैठ सिखा दोगे।... अगर मां एक बात है कि इस तरह से तैरना सिखाना कि मुझे पानी में घेर न रहना पड़े।... अब भला बतलाओ पानी में बिना कूदे तैरना कैसे सीखा जा सकता है? ठीक ऐसे ही समझिये कि बिना कुछ ज्ञानाभ्यास किए ज्ञान और वैराग्य की बात कैसे प्राप्त हो सकेगी? अपनी उन्नति के लिए मुख्य काम दो हैं—विनय और त्याग।

वास्तविक तप विधि में आनन्द का प्रवाह—भैया ! तप करें अगर तात्त्विक तप करें। कुतप मत करें। कुतप क्या है? अपने सत्कार की इच्छा से, मान की इच्छा से, पूजा की इच्छा से, फुट से तप करना सो कुतप है। जिसने भीतर में अपने ज्ञान का प्रकाश पाया है वह दम्भ की बात कर ही नहीं सकता। जोगियों से सत्कार मान आदिक के उद्देश्य से वह तप कर नहीं सकता, वह तो बस गुप्त ही गुप्त रहकर अपना कल्याण कर जाता है। किसी जमाने में ऐसे भी साधु हुए कि जिनको उस जमाने में कोई जानने वाला न था, अगर वे मुक्त हुए, तो गले ही किसी ने उनको नहीं जान पाया अगर उनका आनन्द क्या भगवान शेषशदेव के आनन्द से कम है? जिसे कोई नहीं जानता वह भी अगर मुक्त हो जाय तो उसे भी उतना ही आनन्द प्राप्त होता है जितना कि लोक प्रसिद्ध भगवान को आनन्द है। तो दम्भ आदिक से जो तपश्चरण होता है वह तो सब कुतप है। जो किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा के बिना तप होता है वह वास्तविक तप है। तपश्चरण में क्लेश नहीं है। इच्छा निरोधः तपः—इच्छाओं का निरोध करना सो तप है। जहाँ इच्छा का अभाव है वहाँ आनन्द ही आनन्द है। एक बार किसी पुरुष ने अपने मित्र को एक चिट्ठी लिखी कि मैं अयुक्त तारीख को १० बजे को ट्रेन से अयुक्त जगह जाऊंगा सो आप स्टेशन पर आकर मुझसे मिल लेना। अब क्या था, जब वह दिन आया तो सारे कार्य बड़ी जल्दी-जल्दी उसने कर डाले और

पौने १० बजे के करीब उस स्टेशन पर पहुंच गया। स्टेशन मास्टर से पूछा कि गाड़ी लेट तो नहीं है? ... हां आधा घंटा लेट है, बस मन ही मन बड़ा विकल हो रहा था अपने मित्र से मिलने के लिए। जब ट्रेन आयी तो सारे डिब्बों में दौड़-दौड़कर देखा, एक डिब्बे में मिल गया वह मित्र। कुछ बात की, पर एक दो मिनट बाद ही वह खिड़की से झांकने लगा कि कहीं गाड़ें ने हरी झंडी तो नहीं दे दी, सीटी तो नहीं दे दी। ... अरे भाई उस मित्र से मिलने से अगर तुम्हें सुख मिलता है तो बराबर मिलते ही रहो। क्यों खिड़की से बाहर झांकते? आखिर तुम्हें सुख ही तो चाहिए। पर नहीं, वह वहां से शीघ्र ही उतरने लगता है। तो वास्तव में बात वहां क्या थी कि उसे मित्र के मिलने से सुख नहीं मिला बल्कि मित्र से मिलने का कार्य अब नहीं रहा, इससे सुख मिला।

निरीह चर्या में ही कल्याण लाभ—एक कवि ने कहा है कि भोग न मुक्ता वयमेव मुक्ताः, तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः। कालो न यातो वयमेव याताः, तृष्णां न जीर्णां वयमेव जीर्णाः। अर्थात् मैंने इन भोगों को नहीं भोगा, किन्तु मैं ही स्वयं इन भोगों से भुग्न गया, मैंने तपों को नहीं तपा किन्तु मैं ही इन तपों से तप गया अर्थात् दुःखी हो गया (यहां कुतप की बात कह रहे हैं।) यहां लोग ज्ञान में आकर कह बैठते कि मेरा लड़का अब १७ साल का हो गया, पर भाई इसका अर्थ क्या यह नहीं है कि आपका पुत्र अब १७ वर्ष का कम हो गया याने जितना उसका सारा जीवन था उसमें १७ वर्ष कम हो गए। तो यह जीवन का समय क्या गुजरता जाता है बल्कि खुद ही गुजरते जाते हैं। ज्ञानार्णव में बताया है कि यावथावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति। तावत्तावन्मनुष्याणां, मोहग्रन्थिर्द्वीभवेत्। जैसे-जैसे यह आशा बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे मोह की गांठ बढ़ती जाती है, तो तपस्वरण करते बने तो करें, न करते बने तो उसकी महिमा समझें कि संसार से पार होने में तप का कितना बड़ा महात्म्य है? ज्ञान का ही महात्म्य है, इच्छानिरोध का ही प्रताप है कि इस संसार के आवागमन से छुटकारा प्राप्त होनेका मार्ग मिल सकता है। भागवत के पञ्चम स्कन्ध में वर्णन आया है कि जिन दिनों भोग भूमि खतम हो चुकी थी, कर्मभूमि का प्रारम्भ था उन दिनों सारी जनता भूखों रहने लगी थी। किसी को जीवन निर्वाह करने की कला ही न विदित थी, उस समय ऋषभदेव ने सभी को सभी प्रकार की कलाओं की शिक्षा दी थी। सभी को कष्टों से बचाकर एक सुख शांति के मार्ग में लगा दिया था, इसीलिए भगवान् ऋषभदेव को आदिम बाबा, आदि पुरुष या ब्रह्मा के रूप में लोगों ने माना। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत हुए, उन्हीं के नाम से अपने देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। उन भगवान् ऋषभदेव ने क्या किया, कैसा तप किया, इसका एक बहुत बड़ा वर्णन है। यहां यह बात समझना कि जिस आनन्द को भगवान् ऋषभदेव ने प्राप्त किया था वही आनन्द प्राप्त करने की सामर्थ्य हम आप सबमें है। यदि वैसा आनन्द चाहिए तो इन इच्छाओं का निरोध करो। समस्त बाह्य पदार्थों को अपने चित्त से हटावें, ज्ञान और वैराग्य में अधिकाधिक बढ़ें, केवल एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश का अनुभव हो, ऐसा संकल्प बनावें। इस ही में हम आपका हित है।



उत्तम त्याग धर्म

चाउ वि धम्मंगो करहु अभगो णियप्रतिल भतिय जणहु ।
पत्तह सुपवित्तह तवगुणजुत्तह पइगइ संबलु त मणहु ॥

उत्तम त्याग का स्वरूप—त्याग भी धर्म का अंग है, शक्यनुसार शक्ति सहित इसका पालन करो व भक्ति से तपस्वी संतों की सेवा करो, परभव का यह संवश है। आज त्याग धर्म का दिन है। पदार्थों के सम्बन्ध में यथार्थ स्वरूप का निर्णय करके अपने आप सहज ही ममता छूटने और परका उपयोग न रहकर त्यागमय केवल ज्ञान मात्र निज स्वभाव का उपयोग होने को उत्तम त्याग कहते हैं। जीव, न तो किसी परजीव का ग्रहण करता है और न किसी परजीव का त्याग कर सकता है। सर्व पदार्थ बाहर की वस्तुयें हैं, वे क्या आत्म प्रवेशों में घुस सकती हैं, क्या एकमेक हो सकती हैं? किसी भी पदार्थ का इस आत्मा में प्रवेश नहीं है। और जब किसी भी पदार्थ को यह आत्मा ग्रहण नहीं कर सकती तो वह फिर त्याग क्या कर सकती है? सब चीजें पहिले से ही अपने आप छूटी हैं! केवल पदार्थों के संबंध में यह मेरा है—इस तरह का भाव कर लेने का नाम ग्रहण है और यह मेरा नहीं है—इस प्रकार का भाव कर लेने का नाम त्याग है। फिर जब हमारे ज्ञान की उत्कृष्ट सामर्थ्य नहीं होती है तो किसी प्रकार बाह्य वस्तुओं को त्याग कर दूरकर वहां से हटकर यथाशक्ति अपने आपके स्वभाव की उपासना में लगना भी त्याग है। त्याग का महत्त्व है। इससे सर्व संकट दूर हो जाते हैं। यहां यह जानो कि यह मैं आत्मा अरहंत और सिद्ध के समान केवल ज्ञाननहार हूं। इससे आगे मेरा कुछ कर्तव्य नहीं है। ऐसी दृष्टि होते ही सब संकट दूर हो जाते हैं। संकट क्या है? कुछ का मान रखा है वही संकट है। और इस विपरीत मान्यता को छोड़ दें सोई संकटों का विनाश है।

त्याग बिना संसार से पार होने का अभाव—एकसाधुमहाराज थे। वे उपदेश दिया करते थे कि त्याग से तो संसार समुद्र पार कर लिया जाता है। एक बार वह साधु किसी दूसरे गांव में जाने लगा तो रास्ते में नदी पड़ती थी। नात्रिक से कहा कि नदी से हमें पार कर दो। नात्रिक ने कहा महाराज दो आने लगे। साधु के पास पैसे कहां से आये? सोचा उस पार नहीं पहुंचते तो इस पार सही। वह बैठ गया। इतने में उनके भगत सेठ जी आये। बोले महाराज यहां कैसे बैठे हो? कहा भाई हमें उस पार जाना था, पर यह दो आने मांगता है। कहा हमें भी उस पार जाना है सो आप भी साथ में चलो। चार आने दिया और उस पार पहुंच गये। पार पहुंच जाने पर सेठ जी कहते हैं तुम तो कहा करते हो कि त्याग से संसार समुद्र भी पार कर लिया जाता है आप तो छोटी सी नदी भी नहीं पार कर पाये। साधु बोला कि नदी जो पार की गई है वह त्याग से ही की गई है। यदि आप अटी की चबन्नी त्याग न करते तो नदी कैसे पार करते? त्याग से तो गुजारा चल सकता है। पर मात्र ग्रहण से गुजारा ही नहीं चल सकता है। अच्छा खूब पैसे का संचय करो। संचय करके क्या पूरा पड़ेगा, शांति होगी, संतोष होगा, समता बनेगी? सो तो सोच लो, और देखो यहां त्याग से बहुत बढ़िया गुजारा होता है। तीर्थंकरों ने त्यागा, चक्रवर्तियों ने त्यागा, अनेक महापुरुषों ने त्यागा तो वे सदा के लिये सुखी हो गये। तो त्याग से तो पूरा पड़ जाता है पर ग्रहण से तो पूरा पड़ ही नहीं सकता। मिथ्यात्व मोह में तो व्यर्थ ही अनेक की गुलामी करना पड़ती है और है क्या? बच्चों के पुण्य का उदय बाप से अधिक है तभी तो बच्चों के दास बनकर बाप उनकी सेवा करते हैं। जिन-जिन के भोगने से यह सद्भी आयेगी उन सबके पुण्य के कारण आपके निमित्त से कमाई बन जाती है। यह त्याग धर्म, धर्म का अंग है और अग्रतप गुण करके सहित है। ऐसे पवित्र त्याग धर्म को हे भव्य जीवो! भक्ति पूर्वक पालना चाहिये।

आन्तरिक त्याग और बाह्य त्याग की आवश्यकता—उत्तम-त्याग सम्यग्दर्शन सहित अर्थात् आत्मा

के शुद्ध स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक पर वस्तु के सम्बन्ध में ग्रहण और त्याग दोनों के विकल्पों का त्याग किये रहने के स्वभाव वाले ज्ञान की विशुद्ध वृत्ति से बर्तना उत्तम त्याग है। जगत् का पदार्थ मेरा नहीं, मेरा स्वरूप ही मेरा है, परपदार्थ मुझ से भिन्न ही हैं। फिर मैं उन पदार्थों को छोड़ूँ क्या? वे तो अपने आप ही छूटे हुये हैं। हाँ, यह मेरा है, इस प्रकारका विकल्प जो है उसको छोड़ना है और उसको त्यागनाही उत्तमत्याग है। जिनके “परपदार्थ मेरे हैं” यह विकल्प नहीं रहता, रागादि भाव से भिन्न ज्ञान भाव की जिनकी दृष्टि रहती है, ऐसे ज्ञानी के बाह्य पदार्थों का त्याग स्वयमेव हो जाता है। मुनियों को कमण्डल और पीछी ज्ञानी श्रावक देता है, परन्तु उन साधुजनों के उनमें भी राग नहीं होता। देने वाला श्रावक भी इस श्रद्धा से भरा नहीं होता है कि मैं बाह्य वस्तु का देने वाला नहीं हूँ, मैं आत्मा तो ज्ञान मय हूँ, ज्ञान के अतिरिक्त और मेरा है ही क्या? मैं क्या चीज दे सकता हूँ ऐसी श्रद्धा वाला श्रावक तीर्थ (व्यवहार धर्म) की रक्षा के वास्ते उनके बाह्य साधन के लिये जो प्रयत्न करता है, जो बाह्य वस्तु का त्याग करता है, उसे भी उपचार से त्याग कहते हैं। वस्तुतः तो जगत् का साक्षी रहना, मात्र ज्ञातादृष्टा बना रहना, इस ही उत्तम त्याग कहते हैं। यह आत्मा तो सदैव किसी न किसी स्थिति में रहेगा ही। ऐसी आत्मा विषय कषायों के दृष्ट न उठायें, जो ऐसा चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे आत्मज्ञान पूर्वक आत्म स्वभाव में स्थिर होने का प्रयत्न करें और क्योंकि उपयोग सदैव आत्मस्थ रहना असम्भव है, अतः बाह्य में जब कार्य में लगना ही पड़ती है तब उसे चाहिये कि वह चारों प्रकार के संघ मुनि, आधिका, श्रावक और श्राविका, इनको आहार, औषधि, अभय व शास्त्र चारों प्रकार का दान दें।

दान से धर्म प्रवृत्ति—गृहस्थ को पूजा और दान दो चीजें करना बताया। यदि यह भी नहीं निरूते तो उसके गृहस्थ बने रहने में क्या रहा? यह परलोक सुधारने वालों के लिए आवश्यक बात है कि वे चारों प्रकार का दान दें। दान देना भी धर्म का अंग है, किन्तु जिसे किसी वस्तु का दान देना है, दान देने में जो विकल्प आता है कि मैं दान दे रहा हूँ वह रागरूप है और रागरूप होने से वह धर्म का भाव नहीं है। अतः दान देना वही उचित कहलाता है जहाँ मोह का भी त्याग बताया हो धन के त्याग का नाम भी उत्तम त्याग बताया यदि धन का त्याग करते समय उसके मोह का त्याग हो। पात्र-सुपात्र के लिये हमेंशा ऐसा उत्तम त्याग हो। पात्र-सुपात्र के लिए हमेंशा। ऐसा उत्तम त्याग करना चाहिये। उत्तम त्याग ऐसा है जो परमम में सुखी होने को पायेय (वहेवा) है। गृहस्थ जनों! धन की रक्षा करो, किन्तु उसमें मोह तो न करो, सत्य प्रतीति से तो न चिगो। बाह्य समागम तो कर्म का ठाठ है। है। इष्ट समागम पुण्य का विपाक है। पुण्य का जहाँ उदय नहीं है तो वह धन अपने हाथ में नहीं रह सकता। इसलिए त्याग धर्म का पालन करना चाहिये। देखो, लौकिक काम भी त्याग बिना नहीं होते। इसलिए यदि हम रागादिका त्याग करेंगे तो संसार-समुद्र से पार हो जायेंगे। मनुष्य आया तो कुछ नहीं लाया, जादेगा तो कुछ साथ नहीं ले जायेगा, जो कुछ यहाँ पाया है वह यहीं रह जायगा। बीच ही में तो सब कुछ मिला था और बीच ही में नष्ट हो जायगा। अतः इसका जितना भी सदुपयोग हो सके, कर लेना चाहिये। इस दृष्टि निवचना तो है ही, सब कुछ छोड़कर जाना तो है ही, फिर ऐसा अवसर आया है कि हमारे पास चार पैसे हैं तो इसका उत्तम लाभ उठायें। क्यों नहीं इसको दान के उपयोग में लायें, छोड़ना बँसे भी है। भैया धन की तो तीन ही गति बताई है—या तो खा पी लो या दान कर लो, नहीं तो नाश होगा ही। लौकिक-दृष्टि से भी दान देने की शोभा, जायदाद की तरह है। सेठ हुकुमचन्द जी ने एक करोड़ का दान दे दिया। इस दान से तो यह देखा जा रहा है कि उनका यह दान उनकी जायदाद में ही शामिल हो गया। लोगों में यश है कि सेठ ने एक करोड़ दान किया तो ऐसी उक्ति का लक्ष्य बनना उनकी धर जायदाद है। वह दान करना मानी इसी भव में अपनी जायदाद बनाना व यश बढ़ाना है और परलोक में दान के फल से उत्तम फल होगा ही। दान से आत्मशत्रु भी पराजित हो जाते हैं। जो धन में मग्न था, राग था

वह दान देने से नष्ट हो जाता है, यह बड़ा भारी लाभ है और देवगति या भोगभूमिका सुख मिलता है यह आनुष्ङ्गिक लाभ है।

दानप्रकृति वाले महापुरुषों को दान न दे सकने की परिस्थिति पर विषाद—एक गरीब उदार कवि था दाने दाने को मुहताज। उसकी ऐसी प्रकृति थी कि उसको जो मिल जाता उसे वह मिखाणियों को दे देता था। वह कवि था। उसकी पत्नी ने कहा कि हम इतने दुःख पा रहे हैं। जाओ राजा भोग के दरबार में एक कविता बनाकर ले जाओ, देखो वह कवियों का बड़ा आदर करता है और कविता सुनाने वाले को लाखों रुपया दान देता है। वह दरबार में कविता ले गया और सुनाने लगा—

कुमुदवनमश्चि श्रीमदंभोजखड, त्यजति मुदमूलकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।

उदयमद्भिर्भिर्याति शीतांशुरस्त, हतविधिलचितानां हि विचित्रो विपाकः ॥

जिसका भावार्थ यह है कि कर्म का फल बड़ा विचित्र है। प्रभातकाल होते ही कमलिनियों का बन तो शोभारहित हो गया है और कमलों का बन शोभा सहित हो गया। हे प्रभात ! तेरे आते ही एक का नाश हो रहा है और दूसरे का उदय हो रहा है। सुबह होते ही उल्लू का हर्ष नष्ट हो गया और चकवा सुखी हो गया। प्रभात होतेही सूर्य का उदय हो रहा है और चन्द्रमा अस्त को प्राप्त हो रहा है। कर्म के प्रेरे हुये प्राणी का बड़ा विचित्र स्वभाव है। इस कविता पर प्रसन्न होकर राजा ने उसको एक लाख रुपया दिया। राजदरबार से चला तो भिखाणियों ने उसे घेर लिया, क्योंकि वे जानते थे कि वह जो कुछ धन उसके पास होता है, दान दे देता है। आदत ही ऐसी होने के कारण वह उन्हें दान देता गया और आगे बढ़ता गया और इस प्रकार बीच में ही सब रुपया समाप्त कर दिया। जब वह घर पहुँचा तो उसके चित्त पर उदासी छा रही थी। स्त्री ने पूछा कि आप उदास क्यों है ? राजा ने इनाम नहीं दिया क्या ? वह बोला कि इनाम तो मिला था, परन्तु मैं इसलिये दुखी हूँ कि—

दारिद्र्यानलसंतापः शान्तः संतोषचारिणः ।

याचकाश्चावितान्तर्दाहः केनोपशाम्यते ॥

अर्थात् दरिद्रता का संताप तो मैंने आसानी से नष्ट कर दिया और संतोष कर लिया, परन्तु याचक लोग आशा ले लेकर मेरे पास आते हैं और उसकी पूर्ति मैं नहीं कर सकता। उनकी आशा का इस प्रकार घात हो जाने से मेरे मन में आघात पैदा हो गया है, उसे कैसे शान्त करूँ, इसकी उदासी है ? इसी तरह बड़े-बड़े पुरुषों को बाह्य परिग्रहों से भूचर्चा नहीं होती और यही कारण है कि इतने तीर्थ और मन्दिर हमें दिखाई देते हैं, जिनकी उदात्त प्रकृति होती है वे जो भी बड़े-बड़े कार्य करते हैं आसानी से कर सकते हैं। दान देने का बड़ा उत्तम फल होता है। दान देकर विनय प्रकट करना चाहिये। दान दिया और लेने वालों पर अकड़ गये तो सब फल मटियामेट हो जाता। किसी को खाना खिलाया और कह दिया कि तेरे बाप ने भी कभी ऐसा खाना खाया है, तो खाना खिलाना सब व्यर्थ हो गया। प्रेम पूर्वक शुभ वचनों से दान देना चाहिये अथवा दान बड़ा दान होता है। प्राणियों को म्रय न रहे, वे निर्भयता में आत्म स्वरूप के संभाल का अवसर पा सकेंगे। यों अथवा दान ज्ञान दान का सहयोगी होता है।

ज्ञान की श्रेष्ठता—परपदार्थों से मोह भाव को दूर करके आत्मा के स्वरूप को पहिचान कर जो अनन्त संसार का विनाश कर देता है, उस ज्ञानदान के बराबर तो दान ही क्या है ? आज के युग में ज्ञानदान की प्रचुरता होनी चाहिए। नहीं तो वह समय शीघ्र आयेगा कि कल्याणार्थी आराम से रह नहीं सकते। हम लोगों को अपना साहित्य प्रचार करके दुनिया को दिखाना है कि आत्मा का हित कैसे हो सकता है ? आज अन्य लोगों ने अपना भौतिक साहित्य प्रचार करके दुनिया पर अपना रंग जमा रखा है। ऐसी हालत में यदि कुछ भी नहीं कर सके तो

बहुत दिनों के बाद खतरनाक हालत हो सकती है। आज साहित्य प्रचार और शिक्षा दान की आवश्यकता है। आज समय यह है कि विदेशों में भी हमारा कुछ उत्तम साहित्य का प्रचार हो और वह साहित्य उनके समझ में आ जावे। एक बार सुनते ही वे झट श्रद्धालु हो जाते हैं। यही कारण है कि विलायत जैसी जगहों में सत्य धर्म के केन्द्र बन गये, तत्त्व चिन्तन बन गये। अंग्रेजों जर्मनों में भी स्याद्वादानुगामी ही गये। विदेशों पर भी साहित्य प्रचार प्रभाव है, जिससे सारा जनसमाज सुखी रह सकता है। ज्ञानदान में ही शिक्षादान गभित है। धर्मशिक्षा बच्चों को पढ़ाने की आवश्यकता है ताकि वे धर्म को जानने वाले बनें और सदा उसकी रक्षा कर सकें।

शान्ति के अर्थ ज्ञान विकास की आवश्यकता—आजकल लोग अध्ययन का प्रयत्न नहीं करते और आचार्यों का व्यवहारानभिज्ञता आदि बताते हैं, उन्हें विद्या का यत्न करना था। एक आदमी जो संस्कृत नहीं जानता था, शास्त्र भण्डार में गया और शास्त्र निकालकर पढ़ने लगा, परन्तु पढ़ नहीं सका। दूसरा निकाला तो वह भी पढ़ नहीं सका। इस प्रकार जब वह कुछ भी नहीं पढ़ सका तो कहने लगा कि हमारा इसमें कोई दोष नहीं है, इन शास्त्रों का ही दोष है, जो हमारे पढ़ने में नहीं आते। अपना दोष नहीं बताया कि मुझे ही इनकी शिक्षा नहीं दी गई। इसी प्रकार आचार्यों ने जो कुछ कहा है बिल्कुल सत्य कहा है, परन्तु हम लोग उसको जानने का तो प्रयत्न करते नहीं और दोष मंत्रते हैं आचार्यों के सिर कि उन्हें व्यवहार का ज्ञान ही नहीं था। तभी तो उन्होंने ऐसी-ऐसी कठिन बातें लिख दीं जो आजकल पालन भी नहीं हो सकती। यदि संसार के जीवों के संताप को दूर करना है तो साहित्य प्रचार और शिक्षादान—इन दो बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। दावों में सर्वप्रधान दान ज्ञानदान है जो सम्यग्दान और रत्नत्रय की आराधना कराये, अर्थात् उन्हें ग्रहण कराये और से ममत्वरहित होकर आत्मभाव प्राप्त कराये, वह उत्तम त्याग है।

ज्ञानदान का पात्र को तात्कालिक फल—सबसे बड़ा दान ज्ञानदान है, जहाँ कर्तृत्वबुद्धि लगी हुई है मैंने यह किया, मैं उसको सुखी करता हूँ, मैं इसको दुखी करता हूँ, क्या उनको शान्ति है? शान्ति कसे मिलेगी? कर्तृत्वबुद्धि मिटाने से शान्ति मिलेगी। वस्तु के स्वतन्त्र स्वभाव का अनुभव हो कि हर वस्तु का स्वतन्त्र परिणमन है, वस्तु दूसरे का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है, सब पदार्थ अपने ही परिणाम से परिणमन करते हैं, कोई भी रंचमात्र कुछ भी नहीं कर सकता। इस प्रकार के अनुभव से शान्ति मिल सकती है और यह अनुभव ज्ञान की ही देन है। सम्यग्ज्ञान के अभाव में ही करने की चिन्ता लग जाती है कि मैं यह कर रहा था, यह करूँगा।

चाए आवागमणउ हरद, चाए णिम्मल कित्ति पवट्टइ ।

चाए वयरिय पणमिइ पाये, चाए भोगभूणि सुह जाए ॥

त्याग द्वारा बैरियों पर सत्य विजय—त्याग धर्म से अवगुणों का समूह दूर हो जाता है। त्याग धर्म से निर्मल कीर्ति विस्तृत हो जाती है। त्याग बिना यह जीव शांति से रह नहीं सकता। जिनके पास शरीर बल है वह शरीर से उपकार करता है तो महुनीय बनता है। जिसके पास धन है वह धन का त्याग न करे तो चाहे बड़ा भी धनिक हो जाय परलोक की दृष्टि में भी उसकी कुछ महत्ता नहीं रहती, और जिसकी लोक दृष्टि में भी महत्ता नहीं रहती उसे सुख ही क्या है। त्याग बिना शांति आ नहीं सकती है। किसी भी प्रकार यह गहो वंह निष्फल नहीं जाता। इस त्याग से बैरीजन भी चरणों में सिर नवाते हैं। एक राजा दूसरे राजा पर चढ़ाई करने जा रहा था। दूसरा शत्रु भी चढ़ आया। रास्ते में उस राजा को एक साधु के दर्शन हुये। राजा साधु के पास बैठ गया, कुछ उपदेश मुना। इतने में कुछ शत्रु की सेना की आवाज कानों में आने लगी तो राजा जरा सावधानी से तनकर बैठ गया। साधु कहता है राजन् ! यह क्या करते हो ? राजा बोला—ज्यों—ज्यों शत्रु मेरे निकट आ जाता रहा है त्यों त्यों मुझे क्रोध बढ़ रहा है। उस शत्रु को भस्म करने के लिये भीतर से प्रेरणा जग रही है। साधु बोला

उत्तम त्याग धर्म

राजन् ! तुम अचञ्चा कर रहे हो। यही करना चाहिये। जैसे-जैसे शत्रु निकट आये उस शत्रु को नष्ट कर देने का, उखाड़ देने का यत्न करना चाहिये, पर जो शत्रु तुम्हारे बिल्कुल निकट बैठा है, तुममें ही आ गया है उस शत्रु का नाश तो पहिले कर देना चाहिये। राजा बोला—वह कौन सा शत्रु है जो मेरे बिल्कुल ही निकट आ गया है? मुनि बोले—दूसरे को शत्रु मानने की जो कल्पना है वह कल्पना तुम्हारे में घुसी हुई है। यह बैरी तुम्हारे अन्दर है। उस बैरी को दूर करो। कुछ ध्यान राजा ने लगाया, समझ में आया। अरे जगत में मेरा बैरी कौन है? कोई इस जगत में मेरा शत्रु नहीं। मैं ही कल्पना कर लेता हूँ, चेष्टाएँ कर डालता हूँ। शत्रु का भाव छोड़ा, वैराग्य, जगा और वहीं साधु दीक्षा ले ली। शत्रु आता है, सेना आती है, राजा को शांत और वैराग्य मुद्रा में देखकर सब शत्रु चरणों में गिर जाते हैं। राजा अपने आत्मध्यान में लग गया। उत्तम ध्यान होने से बैरी जन भी चरणों में प्रणाम करते हैं। उत्तम त्याग के कारण भोगभूमि के मुख उत्पन्न होते हैं।

ज्ञान विकास की सदाचार से सफलता—भैया ! बाहर इसका है क्या? यह आत्मा कर क्या पाता है सिवाय भाव बनाने के? यह आत्मा आकाशवत् अमूर्त है, ज्ञानानन्द भाव मात्र है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपको ही कर पाते हैं चाहे जिस रूप परिणमे। किसी पदार्थ का कर्तृत्व किसी अन्य पदार्थ में नहीं हो सकता। यदि हो जाता तो कभी का-यह संसार मिट जाता। सौ बाहरी चीज मेरे में है ही नहीं। अब तुम सत्य ज्ञान करके उन विकल्पों को त्यागो और दुर्लभ मनुष्य जीवन को न्याय से बिताकर सदाचार से रहकर इसे सफल करो। एक लकड़हारा ऐसी ही शास्त्र सभा में कहीं पहुंच गया। वहाँ व्याख्यान में ५ पापों का वर्णन चल रहा था कि इनसे बड़ा अहित होता है। इनका त्याग करना चाहिये। उसकी समझ में आया तो सोचा कि मैं हिंसा और कुछ तो नहीं करता, गीली हरी लकड़ी काट डालता हूँ, सो अब नहीं काटूंगा, और झूठ तो मैं और बूछ बोलता नहीं था कभी-कभी लकड़ी का गट्टा ठहराने में दो-चार आने का हेर फेर कर डालता था सो अब यह भी हेर फेर नहीं बोलूंगा। बिल्कुल सत्य बात कहूंगा। चूंगी की कभी-कभी चोरी करता हूँ सो वह भी नहीं करूंगा। ब्रह्मचर्य में परन्त्री को तो स्वप्न में भी मैं कुदृष्टि से नहीं देखता, पर आज से अपनी स्त्री से भी ब्रह्मचर्यघात का त्याग है। मैं पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा। परिग्रह में मैं ८ आने रोज कमाता हूँ, सो २ आने धर्म में खर्च करूंगा, चार आने से गुजारा करेगे और २ आने जोड़ता रहूंगा, सो अदसर पड़ने पर काम आयेंगे। एक दिन वह लकड़हारा सेठ की हवेली के पास से गुजरा तो इम सेठ के रसोइया के लकड़ी न थी, सो लकड़ी लेने के लिए उस लकड़हारे को बुलाया। कहा भाई लकड़हारे ! लकड़ी बेचोगे। हां-हां लकड़ी बेचने को तो आए ही हैं। कितने में बेचोगे? ८ आने में। : आने लोगे? नहीं। ६ आने लोगे? नहीं। ७ आने लोगे? नहीं। अब चल दिया। वह थोड़ी दूर चला गया। इतने में रसोइया कहना है अचञ्चा लौट आओ, लौट आओ, वह लौट आया सो कहता है कि ७॥ आने लोगे? तो वह लकड़हारा कहता है अबे, तू किस बेईमान का नौकर है? अब यह बात सेठ ने सुन ली। बात तो कह रहा है नौकर से और बेईमान हमें बनना है। लकड़हारे को बुलाया सेठ ने और पूछा कि हमें बेईमान क्यों बनाता है? तू किस बेईमान का नौकर है ऐसा क्यों कहता है? अब लकड़हारे ने कहा सेठ जी सुनो, तुम जाते हो रोज शास्त्र सभा में। हम तो एक दिन शास्त्र सभा में पहुंचे। वहाँ पर ५ पापों के त्याग का व्याख्यान सुनकर यों त्याग कर बैठा। सब सुना दिया। हमने बेईमान इसलिये कहा कि हम जानते हैं कि जैसा मालिक होगा, जैसा बर्ताव करता होगा वैसा ही बर्ताव नौकर भी करेगा। तो जब इसने बुलाया अचञ्चा लौट आओ उसका अर्थ यह है कि हम जितने में बेचना चाहते हैं उतने में ही लेना। फिर यह क्यों अन्य बात कहता है? हमने तो सत्यव्रत का नियम लिया है। आठ आने की ही लकड़ी हम तो बेचेंगे फिर शुरू से अन्त तक बोल दिया कि हमने ऐसा नियम लिया है। सेठ ने उसका खूब सत्कार किया और कुछ दूर तक पहुंचाने गया। उसका जीवन धन्य है जो इस तरह पापों से विरक्त रहता है। जीवन में सार क्या है सो बत-

लाओ ? गप्पें करने से क्या लाभ मिलेगा ? यहाँ वहाँ का आरंभ बढ़ाने में कौन सा तत्त्व मिलेगा ? अथवा मन संयत न कर लेने से इस आत्मा को क्या फायदा होगा ? यह तो अब भी अकेला है, आगे भी अकेला रहेगा। इसके पास तो जैसा ज्ञान होगा उसके अनुकूल ही सुख और दुःख चलेगे।

चारों दानों की उपयोगिता—शास्त्रदान भी ज्ञानदान है। शास्त्र प्रदान करना, उनमें बुद्धि बढ़ाना, उनकी वृद्धि करना, उनको पढ़ाना, पढ़ने को साहित्य देना, उनको प्रकाशित करना, सब शास्त्रदान में शामिल है। आज का युग यह कहता है कि धार्मिक विषयों की पाठशालायें बढ़ाई जायें और साहित्य का प्रचार खूब किया जाये। ज्ञानदान देने से केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। तीसरा दान औषधदान है। यह दान रोग का विनाश करने वाला है। चौथा दान आहार दान है। इस दान के देने से चारों दानों का फल प्राप्त हो जाता है। आहारदान तो दिया ही जाता है। इस दान के देने से जिसको भूख का रोग लगा हुआ था, जिससे कि उसके उदर में पीड़ा हो रही थी, वह शान्त हो जाती है इस प्रकार यह औषधदान भी हो गया। आहार लेने से उनका शरीर स्वस्थ हो गया, और वृत्त पढ़ने में लग गया, इस लिये ज्ञानदान भी हो गया। आहार देने से प्राणी को भूख से मुक्ति मिलने के कारण प्राणों को सुदृढ़ता मिली, इसलिये यह अभयदान हो गया। इस प्रकार एक आहार दान देने से सब दान एक साथ प्रगट हो गए।

चाउवि किज्जउ पिच्चजि विणये सुहययणे भासेप्पिणु पपये ।

अभयदाणु दिज्जइ पहिलारउ जिमि णासइ परभवदुहयारउ ॥

विनय वचन में भी त्यागरूपता—कहते हैं विनयपूर्वक, प्रेम सहित वचन बोलकर सदा नियमपूर्वक त्याग करना चाहिये। अभी खर्च तो कर दें कितना ही दूसरों की सेवा में और वचन बोल दें अहंकार के तो वह सब किया कराया बेकार हो गया। दान दो, त्याग करो, पर विनय सहित वचन बोलकर त्याग करो। विनय और प्रेम के वचनों का बड़ा महत्त्व है। ऐसे वचन बोलने वाला स्वयं सुखी रहेगा और जिसके लिए बोलेंगे वह भी सुखी रहेगा तथा जो सुविधायें प्रेमपूर्वक वचन बोलने से दूसरों के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं, सो खोटे वचन बोलने से प्राप्त नहीं हो सकती हैं। एक मनुष्य हरिद्वार गया, वहाँ बीमार पड़ गया। दस्त लगने लगे। एक बुढ़िया थी झोंपड़ी में, उसने दया करके कहा कि आराम से कहीं भी ठहरो तुम्हारे भोजन के लिये हम रोज खिचड़ी बना दिया करेंगी, सो खा जाया करो और यात्रा का काम किया करो। खिचड़ी बन रही और वे देहाती महाराज पास बैठे। सो अकेले बैठे हुये में मन नहीं लगता, दूसरा कोई गप्पे करने वाला चाहिये। वह पूछता है बुढ़िया मां तुम अकेली हो ?...हां बेटा !...तो तुम्हारा ब्यग्रह करा दें क्या ? इतनी बात सुनते ही वह बोली कि मैं तो तेरी सेवा करती हूं और तू अटसट बकता है। तो बुढ़िया मां तुम्हें खर्च कौन दे ?...भैया हमारा बेटा परदेश में रहता है सो वह जो कुछ भेजता है उससे गुजारा होता है। अरे मां अगर वह मर गया तो। अरे वह तो सेवा कर रही है और यह खोटे वचन बोलता जा रहा है। उसने कहा हट जाओ हमारी देहरी परसे। यहां पैर नहीं रखना। किसी से खोटे वचन बोलकर सुख पाया जा सकता है क्या ? जीवन में यही तो सब गुण हैं वचन प्रेमपूर्वक बोलना और जहां तक आपसे हो सके तन से, मन से, धन से जितनी आप दूसरों की भलाई कर सकते हैं करना। उसमें मत चूके। ये सब चीजें विनाशीक हैं। इनका मोह रखना ठीक नहीं है।

वैभव की पुण्यानुसारिता—भैया ! आप धन कमाने वाले नहीं हैं। धन तो जब तक आपके पुण्य का उदय है तब तक आता है और जब पाप का उदय होता है तब समाप्त हो जाता है। नारियल के पेड़ में फल लगते हैं। बताओ उस नारियल के अंदर पानी कहाँ से जाता है ? कहीं बाहर से आता है क्या ? नहीं। आ जाता है। इसी तरह पुण्योदय से धन आ जाता है, पर कहां से धन जाता है ? यह स्पष्ट नहीं बता सकते। जैसे कंथ होता है,

हाथी उसे खा जाता है पर कैसे बँसा का बँसा ही निकल आता है। उसके अन्दर का जो रस होता है वह निकल जाता है। कँच फोफस हो जाता है। वह जरा भी फूटता नहीं। अरे रस कहां से खतम हो जाता है? इसी तरह जब पाप का उदय आता है तो धन अपने आप नष्ट हो जाता है। पता नहीं पड़ता कि कैसे चला गया? तो इस मायाचार में मोह करके यहां ही आकर्षित रहना यह तो अपने दुर्लभ मनुष्य जीवन को पाकर गंवा देने की बात है। चार प्रकार के दान कहे गये हैं—आहारदान, अभयदान, शास्त्रदान और औषधिदान, इनमें प्रेम रखो।

अभयदान की महिमा—अभयदान का ही प्रताप देखिये—पूर्वभव में विशल्या चक्रवर्ती की पुत्री थी। वह इतनी सुन्दर थी कि कहीं कोई लेकर भग जाय, कहीं से कोई भगा ले जाय। एक राजा उसे लिये जा रहा था। उसका रक्षकों ने पीछा किया। भयभीत होकर उसने पुत्री को जंगल में छोड़ दिया। पुत्री ने वहीं व्रत किया, तप किया, उपवास किया। कुछ हजारों वर्षों पुरानी कथा है। उस जंगल में एक अजगर ने उस पुत्री को अपने मुख में रख लिया। उसका पिता जंगल में ढूँढते ढूँढते पहुंचा, देखा कि आधा अंग अजगर ने अपने मुख में रख लिया है। उसने सोचा तलवार से आधा अंग काटकर निकाल ले चक्री की पुत्री संकेत करती है कि इसे मारो मत। वह समता परिणाम से मरी, देवगति में गई, फिर अभय दान के भाव के प्रताप से वह एक राजा के विशल्या नाम की पुत्री हुई। तपस्या के प्रताप से विशल्या के भव में इतना अतिशय था कि उसके नहाने के छोट कोई प्राप्त कर ले तो उसके रोग दूर हो जाते थे। अभयदान का भी बड़ा मसलत्व है। जैसे धर्मशाला बनवाना, ठहरने की व्यवस्था करना, कोई संकट आ जाय तो साहस देने वाले बचनों से उसको दूर करना, आदिक यही अभय दान कहलाता है, अभयदान से परभव सम्बन्धी समस्त दुःख दूर हो जाते हैं। विशल्या ने अभयदान पूर्वभव में अजगर को दिया था, जिसके फल से उसके शरीर के जल से छूते ही किसी रोगी का भयंकर रोग भी दूर हो जाता था जो अभयदान देता है उसको ऐसा ही फल मिलता है। चारों प्रकार के दान देना उपचार से उत्तम त्याग धर्म कहलाता है। जिसके मोह रहता है उसके उत्तम त्याग नहीं होता है। वह निरन्तर भयभीत रहता है वह अपने खुद के प्राण नहीं बचा सकता। जब मोही अपने प्राणों के बचाने का उपाय ही नहीं जानता तो अपने ज्ञानधन को बचाने का उपाय कैसे जान सकता है? मोही प्राणी मोह करते जाते हैं और दुःख से मुक्त होने की चिन्ता भी करते जाते हैं, परन्तु मुक्ति का उपाय नहीं करते।

मोह के त्याग से संकट का विनाश—एक बादशाह पशुओं की बोली जानता था। एक दिन वह छत पर खड़ा हुआ था। जहाँ घोड़े और बैल बंधा करते थे। उधर देख रहा था। घोड़े बैलो से कह रहे थे—वयों रे भोले मूर्खों, तुम्हें जरा भी अक्ल नहीं। तुम्हारे ऊपर राजा इतना सारा बोझ लदवाता है और तुम ले आते हो। बैल बोले कि लाना ही पड़ता है। आप उपाय बताओ जिससे न लाना पड़े। घोड़े ने बताया कि जब तुम्हें जोतने के वास्ते राजा के नौकर आयें तो तुम मरे के समान पड़ जाना। राजा जानवरों की बोली जानता ही था, अतः उसने यह बात सुन ली। जब नौकर बैलों को जोतने के वास्ते गये तो वे घोड़ों की सलाह के अनुसार पड़ गये। नौकरों ने यह बात राजासे कही। राजा ने आज्ञा दी कि घोड़ों को जोत ले जाओ। घोड़े जोते गये, परन्तु घोड़ें तो रईस पशु हैं, वे बैलोंके समान इतना बोझा लादकर नहीं ला सकते। बड़ी मुश्किल से किसी तरह लाये फिर राजा छत पर आया तो घोड़ों को बैलो से कहते सुना कि भाई बैलों तुम आज मरे से पड़े रहे सो ठीक है परन्तु राजा की आज्ञा हुई है कि जब बैल बीमार पड़ें तो उनकी इतनी पिटाई कीजिये कि वे याद रखें, चाहे इनकी मृत्यु ही हो जाये। राजा ने सोचा कि ये घोड़े तो बड़े बदमाश हैं। जब राजा रानी के महलों में गये तो उन्हें हंसी आ गई। रानी ने पूछा कि आप हंसे क्यों? राजा ने बहुत मना किया कि देखो, मत पूछो, परन्तु रानी न मानी तब राजा बोलने लगे कि मुझे पशुओं की

बोली समझ में आती है, मैंने घोड़ों की बात सुनी, वे बड़े ही बड़माश हैं । राजा ने घोड़ों और बैलों की बात रानी को बता दी । तब रानी जिद करने लगी कि मुझे यह पशुओं की बोली सिखाओ । तब राजा ने मना किया कि जिन्होंने मुझे यह बोली सिखाई है उन्होंने यह कहा है कि यदि यह बोली तुम किसी अन्य व्यक्ति को सिखाओगे तो तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी । अतः यदि मैं तुम्हें यह सिखाऊंगा तो मैं मर जाऊंगा । रानी फिर भी नहीं मानी और बहुत जिद की । तब राजा को वायदा कर लेना पड़ा । अब राजा बहुत दुःखी थे । जब सब जानवरों को यह बात मालूम हुई तो सबको शोक पैदा हो गया । वे कहने लगे कि आज राजा रानी को जानवरों की बोली सिखायेंगे और उनकी मृत्यु हो जायेगी । सारे के सारे जानवर इससे बहुत दुःखी थे । राजा एक स्थान पर जाकर चिन्ताग्रस्त हो गया । वह क्या देखता है कि सब जानवर तो दुःखी थे, परन्तु एक स्थान पर एक मुर्गा और एक मुर्गी खेल रहे थे और बड़े हंस रहे थे । दूसरे जानवरों ने उनसे कहा कि अरे कृतघ्नी तुम बड़े दुष्ट हो । राजा मर जायेगा, इससे सारे पशु तो दुःखी हैं और तुम सुख मना रहे हो । तब उन्होंने उत्तर दिया कि हम राजा के मरने से नहीं हंस रहे, जो भूखीता बह अपने आप करने जा रहा है उस पर हंस रहे हैं । यदि कोई हठ करता है तो उसके एक तमाचा उधर लगावे और एक तमाचा उधर लगावे, फिर देखें कोई कैसे हठ करता है ? राजा अपने आप प्राण दे रहा है और दुःखी हो रहा है । राजा के यह बात समझ में आई और उसने सोचा कि क्यों अपने प्राणों का घात करूँ ? रानी से कह दिया कि मैं तुम्हें बोली नहीं सिखाता, जो कुछ तुम्हें करना हो, कर लो । स्त्री के मोह में पड़कर राजा व्यर्थ ही अपने प्राण नष्ट करने वाला था ।

ज्ञाता के बाह्यस्वभाव के त्याग में शंका का अभाव—मैया ! कहा जाता है कि मोही अपने प्राणों की ही रक्षा नहीं कर पाता, तो फिर वह अपने अन्तरंग में रहने वाले ज्ञान की कहां से रक्षा करे ? आत्मा के जो शत्रु हैं, वे हैं मोह, राग, द्वेष आदि भाव । बाहर में कहीं कोई उसका शत्रु नहीं । ज्ञाता दृष्टा की अपनी दृष्टि बनाये तो यह शक्ति का मार्ग है और यही उत्तम त्याग है । ऐसे ज्ञानी जीव को बाह्य परिग्रह से कोई सम्बन्ध भी हो तो भी अन्तरंग में उनके प्रति मूर्च्छा न होने के कारण उनका त्याग ही होता है । इसलिये वह भी उत्तम त्याग है । एक मां ने अपने लड़के से पूछा कि बता तुझे धन का एक बड़ा पहाड़ मिल जाये तो तू उसे कितने दिनों में दान कर देगा ? उसने उत्तर दिया कि मैं तो उसे एक क्षण में ही दान कर दूंगा, पर उठाने वालों की गारंटी मैं नहीं करता कि वे कितने दिनों में उसे उठायें, उठाने वालों का ठेका मैं नहीं लेता । यह है उत्तम त्याग की बात । सारे बाह्य पदार्थों को छोड़कर आत्मा के स्वरूप पर दृष्टि करो । जहां पर का प्रवेश नहीं, एकांकी ज्ञानमय चैतन्य मूर्ति पर दृष्टि हो तो सब चीजों का त्याग हो गया । श्रद्धा ही से तो त्याग होगा । बाह्य में भी इनके आगे पड़े रहने से इनका त्याग ही तो रहता है, क्योंकि ये कुछ हमारी आत्मा में चिपक थोड़े ही रहे हैं । सब पापों से रहित रागद्वेष रहित अपने ज्ञान स्वभाव को पहिचानों, उसमें स्थिर रहो, जगत् का बाह्य पदार्थ कोई भी साथ नहीं देगा ।

उत्तम त्याग में दुर्विकल्पों का परिहार—आहार दान देने से धन, श्रद्धि आदि की वृद्धि होती है । उत्तम त्याग दुष्ट विकल्पों का त्याग कहलाता है । एक आदमी श्मशान भूमि में बैठा अपनी आत्मवृद्धि में लगा हुआ था । एक राजा वहां गया और कहा कि तुम इतना कष्ट क्यों पाते हो ? बताओ तुम्हें क्या चाहिये, मैं तुम्हें दूंगा । उसने कहा कि मुझे तीन चीज चाहियें । ऐसा तो मुझे जीना दो जिसके बाद मरना नहीं हो । ऐसी मुझे खुशी दो जिसके बाद रज्ज नहीं हो । ऐसी मुझे जवानी दो जिसके बाद बुढ़ापा न आये । इस पर राजा लज्जित होकर चला गया । इन बाह्य पदार्थों में क्या-क्या विकल्प फंसा रखे हैं ? इनका समागम सदा नहीं रहता । हमें बाह्य वस्तुओं में बखेड़ा करने की आवश्यकता ही नहीं है । अपने ज्ञान स्वभाव को देखो । इन दुष्ट विकल्पों का त्याग करने से ही उत्तम त्याग प्रगट होता है ।

समाज के अग्रगण्यों का उत्तरदायित्व—आज धर्म की इतनी अवनति क्यों है ? इसलिये कि बड़े-बड़े भाई त्याग धर्म में, भक्तिधर्म में आगे नहीं आते । उनकी देखादेखी छोटे-छोटे भी यही सोचकर कि यहां सुख नहीं होगा, आगे नहीं आते । बड़े-बड़े जो करते हैं उन्हीं का तो अनुसरण प्रायः लोग करते हैं । लोगों का यह सोचना प्राकृतिक है कि जो बड़े करते हैं उन ही बातों में ही लगे रहो, वहीं सुख होगा, वे केवल यही समझते हैं । इसलिये बड़े-बड़े लोगों, को पहले स्वयं आगे आना चाहिये । यदि बड़े लोग आगे नहीं आते हैं तो उनकी देखादेखी बच्चे भी उसी मार्ग पर जाते हैं, जिस मार्ग पर बड़े जाते हैं । इस प्रकार उनको कितना पाप लग रहा है ? धर्म के मार्ग पर उनके आगे न आने का कारण ही धर्म आज अवनति की ओर अग्रसर हो रहा है । धर्म के मार्ग पर लगने पर ही शांति मिलेगी । सम्पदा में रहने से शांति नहीं मिलेगी । शांति मिलेगी तो सम्यग्ज्ञान में मिलेगी । ज्ञानस्वभाव की वृद्धि में ही लग जाना यही उत्तम त्याग का मार्ग है ।

उत्तम त्याग व दान के फल में शान्ति सुख लाभ—भैया ! हमें इससे यह शिक्षा लेनी है कि संसार में जो दुःखी जीव हैं उनको दान दें जो ज्ञानी पुरुष हैं उनका विशेष सत्कार करें, सर्व जीवों पर आदर और श्रद्धा का भाव हो और चारों प्रकार का दान दें । इन बाह्य क्रियाओं के अतिरिक्त सबसे प्रधान बात तो यही है कि निज आत्मा का निःसङ्गस्वरूप पहिचान कर शाश्वत अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावमय निज का लक्ष्य रखें, इस लक्ष्य से उत्तम त्याग सिद्ध हो जाता है । पुराणों में और इतिहासों में देखा होगा कि कैसे-कैसे उदार और त्यागशील पुरुष होते हैं ? उदार रहें तो, अनुदार रहें तो, जिन्दगी तो सबकी व्यतीत होती है, किन्तु उदार पुरुष इस भव में शांत रहते हैं परभव में भी जो पुण्यबन्ध होता है उससे सुख होता है ।

सत्यदाणु बीजो पुण किञ्चिद् गिम्मलगाण जेण पाविज्जइ ।

ओसह दिज्जइ रोयविणामणुं कहविण पित्थइ वाहिपयासणु ।।

दान से पाप प्रक्षय—दूसरा दान शास्त्र दान है, उस शास्त्र दान से निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होती है और एक औषधि दान है । इस औषधि दान से रोगों का विनाश होता है । इस प्रकार अभयदान, शास्त्रदान और औषधिदान का यहां त्रु वर्णन हुआ इय गाथा में । आगे अब आहारदान के सम्बन्ध में कहते हैं । श्रावकों के सब कर्तव्यों में दो कर्तव्य प्रधान बताये हैं—(१) दान और (२) पूजा । आरंभ से और अन्य उपार्यों से जो धन कमाया जाता है तो उस धन की कमाई में जो पाप होते हैं उन पापों को धोने का, निर्मल बन सकने का उपाय है तो वह त्याग है, दान है, सेवा है, परोपकार है । धन तो रहेगा नहीं, यह तो जायगा, चाहे हम उसका बताव कैसे ही कर लें ।

विनाशीक धन का दान करके अतुल आत्मवेभव का लाभ लेने में विवेक—एक राजदरबार में सब लोग बैठे थे । राजा मन्त्री से पुछता है मन्त्री जी ! क्या बात है कि मेरे हाथ की हथेली में रोम नहीं है ? सो मन्त्री ने कहा—महाराज आपके हाथों से इतना दान हुआ कि दान देते-देते रोम घिस गये, इसी कारण रोम नहीं । वैसे तो हथेली में रोम होते ही नहीं हैं । पर यह मन्त्री की चतुराई की बात है । राजा बोला—मन्त्री जी तुम्हारे हाथ में भी रोम क्यों नहीं है ? कहा, महाराज तुम्हारी हथेली के रोम दान देते-देते घिस गये और हमारी हथेली के रोम आपसे लेते-लेते घिस गए । राजा ने पूछा दरबार में और कितने लोग हैं उन सबके भी हथेली में रोम क्यों नहीं हैं ? मन्त्री बोला, हां महाराज ! आपने दिया, हमने लिया और ये सब हाथ मलते ही रह गये, सो हाथ मलते-मलते रोम घिस गये इन सबके । सो अपने पास धन नहीं रहना है चाहे दान देकर जायें, दान करके जायें और चाहे यों ही हाथ मलते रहें । सो भैया ! जो कुछ भी है वह सब बिछुड़ जायगा । पर विवेकी पुरुष वह है जो प्राप्त हुई सम्पदा का विवेक पूर्वक उपयोग करे । यों यदि अपने त्याग के बाद आकिञ्चन्य किया तो आकिञ्चन्य जो आत्मतरव

है उसकी दृष्टि बनाई। आकिञ्चन्य भावना अमूर्त है, जीव को पार कर देने वाली भावना है। सो जगत में मेरा कहीं कुछ नहीं है, ऐसा निर्णय करके अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की उपासना करो और पदार्थ जो मिले हैं उनमें मुग्ध न होओ।

आहारे घणरिद्धि पविट्टइ, चउविह चाउजि एहु पविट्टइ।

अहवा दुट्टविप्यपहि चाए चारजि गहु मुणहु समवाये।।

आहार दान के लाभ—आहार दान से धन और ऋद्धि की प्राप्ति होती है। साधुजनों को भक्तिपूर्वक आहार दें, उनके धर्म की सिद्धि में सहयोग दें और उनके गुणों में अनुराग करें। इससे जो पुण्यबंध होता है उसकी तो कोई तुलना ही नहीं है। आहार दान धन और ऋद्धियों की वृद्धि का कारण है। ये चार प्रकार के दान हैं जो अनादि संतान से चले आ रहे हैं। भावपूर्वक उदारता के साथ दिया गया थोड़ा भी दान अगणित फल को देता है। और जो झूठमूठ की गप्पों का दान है उसका तो कोई महत्त्व ही नहीं है।

दान में छल करने का फल—एक बड़ा शहर था वहाँ के मन्दिर में आरती बोली जा रही थी, एक देहाती भी पहुंचा, सब सुन रहा था, देख रहा था। पहिली आरती बोली गई तो कोई लगाये १ मन धी और कोई लगाये २ मन। दो मन धी के मायने २ छटांक धी याने १ रुपया। कोई ४ मन धी बोले तो उसके मायने दो रुपया दे दो। तो जो अधिक बोले, उसको ही मिले। बोली में कोई चार मन बोले, कोई ५ मन। वह देहाती सोचता है अरे ये कितने दानी हैं? बड़ा दान करते हैं। वह तिल की गाड़ी ले गया था। उसने भी लगाया, हमारी १ गाड़ी तिली। अब जब समाप्त हो गया, लोग जाने लगे तो उसने मन्दिर के आगे गाड़ी खड़ी कर दी। कहा हमारी गाड़ी के तिल ले लो। लोगों ने कहा अरे तू बड़ा बेवकूफ है। जो धी बोला जाता है वह दिया नहीं जाता है। जितने मन धी बोला जाता है उसके आधे रुपये दिये जाते हैं। उस देहाती ने कहा यह तो नहीं होगा। हमने एक गाड़ी तिल बोल दिया तो ये तुम्हें लेने ही पड़ेंगे। ले लिया और पंचों ने बाजार में बेचकर रुपया कर लिया। अब उस देहाती ने सोचा कि मन्दिर में ये लोग रोज झूठ बोलते हैं। इनकी अक्ल ठिकाने करना चाहिए। सबसे कह दिया कि माइयो कल १२ बजे दिन का हमारे यहां सबका निमंत्रण है। चूल्हे का निमंत्रण है। अगर कोई अतिथि आ जाय तो उमका भी निमंत्रण है। सो अब उसने एक मैदान में चारों तरफ कनात लगा दिया और यहां वहां से बहुत सी गौली लकड़ियां जला दीं। खूब धूँवा हो रहा है। सब गांव वाले यह सोचते कि खूब पूड़ियां बन रही हैं। उनको विश्वास हो गया। तो ठीक ११। बजे ही सब पहुँच गये। सब लाइन में बैठ गये। पातल भी परोस दी। पातल परोसने के बाद में और कुछ तो परोसा नहीं और कहा आप लोग करिये भोजन। किसी ने कहा अरे क्या भोजन करें? अभी तो आपने कुछ परोसा ही नहीं। उसने कहा कि जैसी आपकी आरती है वैसा ही यह निमंत्रण समझ लो। सोचा यह दंड ठीक है। झूठ बोलने से क्या प्रयोजन? अगर १ रुपया देना है तो बोल दिया दो मन धी और अगर २ रुपये देना है तो बोल दिया चार मन धी। यह क्या है?

दानयोग्य वर्तमान जीवन को पाकर दान में प्रमादी न होने का अनुरोध—भैया! इस जीवन को बहुत सम्हाल कर रखना है। सत्य बोलना चाहिए जो प्रमाणिक बात हो उसे ही बोलना चाहिए। इस व्रत को अपनी शक्तिभर निमाने वा यत्न किया जाय। सबसे मूल बात तो यह है कि जब तक स्वपरविषयक भ्रमविष जगता है तब तक धर्म में कोई अक्ल नहीं आ पाती है। चार प्रकार के ये दान अनादि परम्परा से चले आ रहे हैं। अमेरिका में क्या औषधदान, आहारदान, शास्त्रदान, आदि नहीं दिये जाते? वहां भी ये दान दिये जाते हैं। पशुको में दान नहीं चलता। कोई गाय भूखी हो तो उसे दूसरा पशु अपने मुख से क्या भोजन दे सकता है? नहीं। मनुष्यभव ही ऐसा है कि जिसमें दान किया जा सकता है, त्याग किया जा सकता है। यदि इस भव में भी कुछ न कर सके अपने

कल्याण के लिये तो जैसे और भव बिताये वैसे ही यह भी एक भव बीत जायगा। गुप्त विकल्पों का त्याग करना त्याग धर्म कहलाता है। रागद्वेष अनुराग ये विकल्प ही तो हैं। रोगों का विकट बन्धन होता है। जिसके प्रति राग हो वही चित्त में हो और उसकी ही सुविधा, प्रसन्नता के लिये नाना यत्न किए जाना हो, इनसे भिलता क्या है? कुछ भी तो नहीं मिलता। उल्टे प्राणों का बन्ध ही होता है। यों ही भैया! हम अ.प तो अपने आप पर स्वयं ही संकट बना लेते हैं। कहीं माई से राग किया, कहीं स्त्री पुत्रों से राग किया, इस प्रकार से उनसे स्नेह करके हम और आप जाल बढ़ा लेते हैं और अपने मन माफिक कार्य नहीं होता है सो दुःखी रहते हैं। अपने प्रयोजन से प्रयोजन रहे क्योंकि गृहस्थी में थोड़ी आजीविका चाहिये, एक तो यह काम है। ज्यादा धन से कोई मतलब नहीं। गुजारे के लिये केवल थोड़ी सी आजीविका चाहिये। बतावो संकट हम आप पर क्या है? संकट तो बनावटी रहते हैं। पहिले तो संकट बनावटी रहते हैं, फिर वे बाद में मिटाये नहीं मिटते हैं। दूसरा काम आत्मोद्धार का है जो कि सर्व प्रमुख है।

दुवियहि दिज्जइ दाण, किज्जई माणु जि गुणियणहि।

दयभावी य जर्षंग, दंसण चित्तिज्जइ मणहि॥

त्याग एवं दान की भावना व आज्ञा का उपसंहार—इसमें दो बातें खास कही जा रही हैं। दान देने की दो पद्धतियां हैं—(१) दुःखी जनों पर दया करके दान देना और (२) दुःखी जनों को मानकर दान देना। बड़े पुरुषों का मान करना भी दान है, त्याग है, और देखो यह धन का त्याग करना दान है, अपनी प्रवृत्ति विनय-पूर्वक परिणामों से जितना अपने से बन सके दूसरों का उपकार करने की हो तथा आत्मदृष्टि करके अन्तः प्रसन्नता रहे, विकारों का परिहार हो। ऐसा व्यतीत हो यही गृहस्थों का उत्तम त्याग है। उत्तम त्याग का उत्कृष्ट पालन सकल संन्यास स्वरूप निज चित्प्रकाश की अभीक्षण उपासना करने वाले साधु संतों के होता है। हम सबका कर्तव्य है कि अन्तर से विचार का परिहार करके ज्ञानयोग बनाकर शान्ति के पात्र बनें।

त्याग का प्रयोजन स्वपरोपकार—आज उत्तम त्याग के सम्बन्ध में कुछ अपने-अपने विचार बाने हैं। त्याग क्या है? अपने और दूसरों के उपकार के लिए अपने धन आदि का उत्सर्ग करना, परिहार करना उसको कहते हैं उत्तम त्याग। जैसे दान किया जाता है तो उसमें प्रयोजन है अपना उपकार और दूसरों का उपकार। जो यह समझते हैं कि हम दूसरों के उपकार के लिए धन दे रहे हैं, त्याग कर रहे हैं तो उन्हें यह समझना चाहिए कि इसमें तो हम अपना भी उपकार कर रहे हैं। जैसे कोई पुरुष मान लो, अकेला हो, बड़ा धनिक हो, जिन्दगी में कभी त्याग भी न किया हो, मरते समय वह क्या सोचता है कि आखिर यह सब धन तो मेरे से छूट ही जायगा, चलो इसे किसी अच्छे काम में (धर्म के काम में) लगा दें तो देखिये उसके इस कार्य से दूसरों का भी भला होगा, पर साथ ही जो उसके मन में एक यह भाव बना कि यह धन व्यर्थ न जाये तो ऐसा जो एक मन में उद्वेग बना उसकी शांति के लिए वह प्रयत्न कर रहा है। प्रत्येक त्याग में यही बात है। जो दान करता है वह अपनी शांति के लिए करता है। यदि आप किसी भिखारी को दो रोटियां भी दे देते हैं तो यह नहीं है कि आपने सिर्फ उस भिखारी का ही उपकार किया। अरे आपके अन्दर उस भिखारी के प्रति जो उद्वेग जगा, उसको ही शांत करने का प्रयास आपने किया। तो वास्तव में उस जगह आपने अपना ही उपकार किया। तो त्याग में दोनों ही बातें शामिल हैं, अपना भी उपकार है और दूसरों का भी उपकार है। जहां उत्तम दाता हो और उत्तम पात्र हो वहां के दान की महिमा को कौन कह सकता है? उत्तम पात्र कौन? जो निष्परिग्रही हो, संसार की जो वाञ्छा न रखता हो और उत्तम दाता वह जो तत्त्वज्ञानी पुरुष हो, जो यह समझता हो कि मुझ को भी समागम मिले हैं वे सब विनाशिक चीजें हैं, ये ये मेरी वस्तु ही नहीं हैं। जहां त्याग का अहंकार ही उत्पन्न न हो कि यह मेरी चीज है और इसे मैं देने वाला हूं, अरे ये तो बाह्य वस्तु हैं, पुण्योदय से मुझे ये समागम प्राप्त हुए हैं, इनका सदुपयोग कर लेना चाहिए। कोई एक

नवाब साहब थे, वे जब दान किया करते थे तो उनकी दृष्टि नीचे को रहा करती थी। एक बार कोई पूछ बैठा कि "सीखी कहां नवाब जू देनी ऐसी देन। ज्यों ज्यों कर ऊंचा करो त्यों त्यों नीचे नैन।" आप जब दान करते हैं तो अगली दृष्टि नीचे को क्यों कर लेते हैं? तो उन्होंने कहा कि—"देने वाला और है देता रहत दिन रैन। लोगों को भ्रम है मेरा, तातैं नीचे नैन।" अरे भाई देने वाला तो और है, पर लोग समझते हैं कि ये दे रहे हैं इसलिए शर्मिन्दा होकर मैं अपनी दृष्टि नीचे की ओर कर लेता हूं। तो भाई दान, त्याग वही श्रेष्ठ है जहां नम्रता है, निरहंकारता है।

चतुर्विध दान की उपयोगिता—चार तरह के दान बताये गए हैं—(१) ज्ञानदान, (२) आहारदान, (३) औषधिदान और (४) अभयदान। आजकल तो लोग ज्ञानदान को सबसे हल्का मानते हैं, पर अभी उन्होंने इस ज्ञानदान की महिमा को नहीं समझा। अरे इन चार प्रकार के दानों में सबसे उत्तम दान है ज्ञानदान। किसी जीव को ज्ञान दिया और उसे ऐसा आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाय कि उसके सारे दुःख खत्म हो जायें, आत्मा में होने वाले ये रागद्वेषादिक विकार भाव खत्म हो जायें, अनादिकाल के बद्ध कर्मों से मुक्ति प्राप्त हो जाय, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्द का चतुष्ट प्राप्त हो जाय तो बताइये इस ज्ञानदान की महिमा का कौन वणन कर सकता है? इससे बढ़कर भी कोई चीज होती है क्या? आहार दान है पात्र को भक्ति पूर्वक आहार देना, दया से किसी भूखे को भोजन दे देना। औषधिदान है किसी बीमार रोगी को औषधि दे देना, अभयदान है किसी को भय से हटाकर आराम से बैठा देना। तो ये सभी दान स्वपर के उपकार के लिए हैं। मोह का विनाश हो, अच्छी जगह बुद्धि जगे तो यह उसका उपकार है। तो दान का नाम त्याग भी है। दान शब्द तो ऐसा बन गया है कि दान शब्द को सुनकर अहंकार को गुंजाइश है, अगर दान की जगह त्याग नाम रखा जाता तो शायद दान करने जैसा अहंकार का भाव न आता। लेकिन उसमें भी क्या पता? त्याग शब्द का भी प्रयोग होवे तो वह भी एक रुढ़ि बन जायगी। विभावों का, रागद्वेषादिका त्याग हो।

त्यागी की वृत्ति में समता देवता के दर्शन—त्याग की वृत्ति कैसी होती है, इसका चित्रण गीता के १४ वें अध्याय में किया है। वास्तविक त्याग वह है जो दुःख सुख में समान हो। सुख हो तो क्या है, दुःख हो तो क्या है? ये दोनों सुख और दुःख आत्मा के स्वभाव से भिन्न चीजें हैं, ये भिन्न चीजें हैं, ये विकार हैं। दुःख भी विकार, सुख भी विकार। लोग सोचते नहीं हैं, मानते हैं कि दुःख में बिगाड़ होता है और सुख में सुधार होता, पर जरा गम्भीरता से विचार करो तो सुख में बिगाड़ होता, दुःख में सुधार होता। सुख में तो आकुलता बसी है और दुःख में आनन्द बसा है। देखो तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित बात कह रहे हैं। जब आप भोग विषय करते हैं पञ्चेन्द्रिय का स्वादिष्ट भोजन करना, रूपदेखना आदिक तो उसप्रक्रिया में आपअन्दर में विना क्षुब्ध रहते हैं, आकुलित रहते हैं और कोई दुःख अज्ञात है, मान लो कोई अनिष्ट बात सामने आ गई तो आप अपने भीतर ऐसा बल बनाते हैं कि उससमय आपके दुःख बहुत हल्के हो जाते हैं, उस समय अपने आपके ज्ञानस्वभाव की झलक भी होती है। तो सुख दुःख में सुख को अच्छा मानना और दुःख को बुरा मानना यह अज्ञान की बात है। तत्त्वज्ञानी पुरुष तो सुख दुःख में समानता रखते हैं। जिसको ज्ञान का प्रकाश आ जाता है और यह विदित हो जाता कि दोनों में सार केवल एकब्रह्म ही है, उसे दुनिया की कोई परवाह नहीं, वह लोक कीर्ति को नहीं चाहता, उसके लिए यथा अपयथा में समता बुद्धि है वह इन बाह्य चोर्जों को अत्यन्त असार समझता है। इन बाह्य चीजों की आकांक्षा तत्त्वज्ञानी पुरुषों को नहीं रहती। तत्त्वज्ञानी पुरुष को तो ऐसा विचित्र आनन्द है अपने ज्ञान की उपासना का कि जिस आनन्द में वह तृप्त रहता है। कुछ परवाह ही नहीं करता। जो धीर धीर विवेकी निन्दा और प्रशंसा में समता की बुद्धि रखता है वह वास्तविक त्यागी पुरुष है। जो मान अभिमान में, शत्रु मित्र में समान बुद्धि रखता है, जो सर्व आरम्भ परिग्रहों का त्यागी है वही वास्तविक

उत्तम त्याग धर्म

त्यागी है। केवल त्याग ही त्याग नहीं, जिसने रागद्वेष का त्याग किया उसने शुद्ध ज्ञान का ग्रहण भी किया। तो जिसको शुद्ध ज्ञान प्रकाश का उपादान है उसका ही वास्तविक त्याग निम्नता है।

त्याग में अनुपम आराम—एक शेर था, उसे एक रोटी कहीं से मिल गई, उस रोटी को लिए हुए वह जंगल में जा रहा था, उसे देखकर उस रोटी को छीनने के लिए कई शेर उस पर टूट पड़े। वह शेर बड़ा दुःखी होने लगा। अब उसे क्या उपाय सूझा कि उस रोटी को फेंक दिया और १८-२० हाथ दूर जाकर बैठ गया। लो उसके सारे दुःख खत्म, और बाकी सभी शेर आपस में लड़ने लगे। तो देखिये उस शेर ने शान्ति पायी त्याग से। वहाँ एक विवेकी पुरुष पहुंचा और उस शान्त बैठे शेर के समक्ष बोला—ए बनराज ! तुम मुझे बहुत बड़ी शिक्षा दे रहे हो-व्या कि बस त्याग से ही शान्ति है। त्याग के बिना तो यहां भी किसी का काम ही नहीं चल सकता। अभी कोई भोजन करे, तो पेट भर जाने पर झक मारकर भोजन त्यागना पड़ता है। त्याग के बिना गुजारा नहीं। खूब रात भर बहिया चीज देखा, सनीमा, नाटक आदि देखा तो आखिर उसे आराम तभी मिलेगा जब उसे छोड़ेगा। आराम मिलेगा त्याग से। खूब गाना सुनते जावो, रात्रि के १२ बज गए तो कहने लगते कि भाई बस करो। अरे त्याग किए बिना किसी का गुजारा नहीं चल सकता। झक मारकर त्याग करना पड़ेगा। चाहे स्वेच्छा से त्याग करो, चाहे विवश होकर। त्याग उत्तम फलदायक वही होता है जो विवेकपूर्वक किया जाय। सत्बुद्धि उसके ही जग सकती है जो अपना जीवन न्याय नीति से बितायें। अन्याय से, पाप से कमाया हुआ धन पाप में ही जाता है। जीवन में एक सेसा निर्णय करें कि जब मरने पर हम कुछ साथ नहीं ले जाते, ये परिजन, मित्रजन आदि सब अपने-अपने कर्मों का फल भोगते तब फिर उनके पीछे अन्याय से, पाप कार्यों से भरा हुआ जीवन बिताने से क्या लाभ। अरे! अपना जीवन न्यायनीति से भरा हुआ बितायें। चहे चने खाकर ही जीवन बिनाना पड़े, पर अपनी न्यायनीति से च्युत न हो। गृहस्थों का न्याय-नीति से अपना जीवन बिताना यही उनका आदर्श त्याग है।

राजसादि कुदानों को त्यागकर सात्त्विक दान की वृत्ति का निर्देशन—यदि दान करते हुए में त्याग के प्रत्युपकार की भावना सो अर्थात् इसके बदले में मुझे कुछ मिलेगा, ऐसी भावना हो तो वह दान राजसदान कहलायगा, और अयोग्य देशकाल में अपात्रों को जो दान दिया जाय वह तामसदान कहलायगा और सद्भावना पूर्वक त्याग किया जाय तो वह वास्तविक दान है। जहां भीतर में रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक का त्याग हो तो वहां सब त्याग सही होते हैं, और भीतर में जहां कषाय हैं वहां ऊपरी-ऊपरी त्याग से काम न चलेगा। ये कर्म तो कषाय की बाट हेरा करते हैं। जहां कोई कषाय जगती है बस वहां कर्म बंधते हैं। कर्म का तो कषाय से सम्बन्ध है, हाथ-पैरादिक की क्रियाओं से कर्मबन्ध नहीं होता। कषायें हैं तो कर्मबन्ध होता है। जो दातार पुरुष होते हैं वे ऐसे गम्भीर होते हैं कि वे प्रत्युपकार नहीं चाहते। एक कवि की उक्ति में देखिये—मानो एक व्यक्ति ने किसी मधुमक्खी से पूछा कि ऐ मक्खी ! तू इतना अधिक शहद क्यों संचित करती है ? क्या करेगी इसका ? तो वह मक्खी कहती है कि देखो जो शहद मेरे काम आयगा वह तो आयगा ही, बाकी सारा का सारा शहद दूसरों के काम आयगा। देखिये—शहद यद्यपि अभक्ष्य चीज है, पर यहां बात जितनी बात के लिए कही जा रही है उतनी ही बात समझ लेना है। तो ठीक उस मधुमक्खी की ही जैसी दृष्टि उदार विवेकी सज्जन पुरुषों की रहती है। वे सोचते हैं कि पुण्य के उदय से धन आता है तो आने दो, जो हमारे काम आयगा सो आयगा। बाकी सब परोपकार में लगा दिया जायगा। देखिये धन का दान करने से कहीं वह कम नहीं होता। जैसे कुएं से कितना ही पानी निकालते जावो पर कम नहीं होता, उस निकले हुए जल की पूर्ति हो ही जाती है, ऐसे ही सच्चे ही सच्चे दिल से दान दिया जाने पर धन कम नहीं होता, किन्तु पुण्योदयानुसार उसकी पूर्ति हो ही जाती है। आगे भी पुण्यबन्ध होने के कारण उसकी पूर्ति अनायास ही होती रहती है भाई धर्म की ओर दृष्टि दो, धर्म के लिए तन, मन, धन, वचन सब कुछ

न्यौछावर करना पड़े तो खुशी—खुशी से न्यौछावर कर दो, एक यदि धर्म की दृष्टि पा लिया तो सब कुछ पा लिया ।

निःसङ्गता में उत्तम त्याग की झांकी—इन प्राप्त समागमों से, परिग्रहों से ममता न रखो, जितने भी पाप होते ? वे इन बाह्य पदार्थों की ममता से होते हैं । ज्ञानार्णव ग्रन्थ में बताया है कि “संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्विसा तथाऽशुभम् । तेन श्वाश्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम् ॥” अर्थात् इस परिग्रह में ममता रखने से तो उसके कामना, इच्छा बनती है, उससे क्रोध बढ़ता है अशुभ कार्य होते हैं, उनसे नरकगति का पात्र बनना पड़ता है, नरकोके दुःख तो सभी लोक जानते हैं । तो इस परिग्रह से विरक्त होना ही एक उत्तम त्याग है । इस परिग्रह से ममता छूटे, शुद्ध ज्ञान से बढ़कर और क्या हो सकता है ? सहज ज्ञान होना मेरा मात्र मैं हूँ, मेरे सिवाय मेरा कहीं कुछ नहीं, मेरा वैराग्य, मेरा ज्ञान, मेरा शुद्ध आनंद शक्ति आदिक जो मेरा गुण है, मेरी शक्ति मेरा परिवार, मेरी रमणी सब कुछ वहीं मैं हूँ, यह ही मैं अपना माता-पिता हूँ यही मैं अपना गुरु हूँ । प्रभु की उपासना और किस लिए है ? इसलिए तो कि प्रभु का जैसा स्वरूप अपना समझें वैसा अपना शुद्ध ज्ञान रहे बाह्य वस्तुओं का ममत्व न रहे । त्याग विशुद्ध ज्ञानी से निभता है । भाई अपना कल्याण करना चाहते हो इस ममता का परिहार करना ही होगा । किसी से कुछ प्रत्युपकार की चाह करके दान मत करो । वह तो एक व्यापार जैसी बात हो गयी । त्याग की बात तो यह है कि जिससे ममता हटे, परिग्रह के प्रति ममत्व भाव न रहे इसी को त्याग कहते हैं इस त्याग की महिमा बड़ी विचित्र है । जहाँ ज्ञानप्रकाश हो, शुद्ध बोध हो वहाँ त्याग का माहात्म्य है । सही ज्ञान के बिना सही त्याग हो नहीं सकता ।

कषायोपशम में त्याग की पुष्टि—थोड़ी देर को एक बात कहते हैं कि कोई बड़े-बड़े त्याग न कर सके और मानो कोई कहे कि हमारे पास तो पैसा ही नहीं है तो हम क्या त्याग करें ? तो एक त्याग की बात वह जीवन में लावें । दूसरे लोग यदि मेरी बुराई करते हों, निन्दा करते हों, कुछ भी कहें तो भी हम उनको दुःखी न करें । यह त्याग कोई पैसा तो नहीं खर्च करता । ज्ञानार्णव में बताया है कि “परपरितोषनिकित्तं त्यजात् केचिद्धनं शरीरं वा । दुर्वचनबन्धनचर्वयं रुषन्तो न लज्जामः ॥ अरे अनेक लोग तो दूसरों को खुश करने के लिए, प्रसन्न करने के लिए धन भी देते हैं और कोई दुर्वचन बोलता है, गाली देता है तो उसके प्रति हम रोष करें । उसे सुख न दे सकें, मन्तुष्ट न कर सकें तो यह हमारे लिए लज्जा की बात है । अगर कोई गाली देकर खुश होता है तो वह अपने को खुश रखे । यह सोच लो कि कितना अच्छा हुआ जो हम किसी को खुश होने के काम तो आये । तो भाई त्याग तो वास्तव में भाव से त्याग है । सबके प्रति सुखी होने की जिसकी भावना है, किसी को दुःखी होने का मन में संकल्प नहीं रखता उसके तो सदा त्यागवृत्ति चलती है । त्याग ही एक ऐसा पवित्र धर्म है कि जिसके प्रताप से जीव संसार से मुक्त हो जाता है । बड़े-बड़े तीर्थंकर, बड़े-बड़े महापुरुष, उन्होंने क्या किया, सन्यास किया, त्याग किया, अपने ज्ञान ब्रह्म में रमण किया, अपने में सन्तोष हुआ, उनका निर्वाण हुआ । यहाँ जितना जो कोई सुख पा रहा है उसमें त्याग का बहुत कुछ हाथ है । न त्याग करे, न धन खर्च करे तो कहाँ से भलाई मिल पायगी ? त्याग बिना तो लोक में भी सुख नहीं है । परलोक की बात तो सही ही है कि त्याग बिना सुख ही नहीं सकता । तो त्याग करना ? अंतस्त्याग करना है । अपने आप में जो क्रोध, मान, माया, लोभ, विचार, विकल्प तरंग के भाव पैदा होते हैं इनको जानें कि ये प्राकृतिक हैं, प्रकृतिजन्य हैं, ये कर्म विपाक से उत्पन्न हुए हैं, परभाव हैं, ये मेरे नहीं हैं, ऐसा जानकर उनसे दूर रहें, यही है उत्तम त्याग, और इन ही कषायों को दूर करने के लिए बाह्य में जो परिग्रह का त्याग किया जाता है, वह भी त्याग कहलाता है । त्याग की भावना वास्तव में वहाँ आती है जहाँ यह विचार उत्पन्न हो कि यह सब बाह्य परिग्रह मेरा कुछ नहीं है इसमें मेरा कुछ भी पूरा नहीं पड़ने का । ये सब दिखने वाली चीजें तो मायामय हैं, अद्युव हैं, इनका तो भले काम में उपयोग कर लेने में ही अपनी भलाई है ।

उत्तम आकिञ्चन्य धर्म

आकिञ्चणु भावहु अप्या ज्जाबहु देहभिण्ण उज्जाणमऊ ।

णिस्वम गयवण्णउ मुहसंपण्णउ परम अतीदिय विगयमऊ ॥

आकिञ्चन्य धर्म की उपासना—आज आकिञ्चन्य भावना का दिवस है। मेरा अन्यत्र कहीं कुछ नहीं है—इस प्रकार का भाव हो तो आकिञ्चन्य है। इस जीव से बाहर कोई पदार्थ इस जीव को धारण नहीं है। एक अपने आकिञ्चन्य स्वरूप का दर्शन पाया तो सब कुछ पाया। इस आत्मा में ज्ञान आनन्द आदि भावों के अतिरिक्त और कुछ भी पिडरूप चीज नहीं पाई जाती। यह सबसे पृथक् स्वतंत्र चैतन्य तत्त्व है। उसकी उपासना से सब कुछ मिलता है और बाहर की उपासना में सब कुछ गवां दिया जाता है। बीतराग प्रभु की उपासना में भी स्वतंत्र चैतन्य तत्त्व की उपासना बनती है। देखो, जिस प्रभु की मूर्ति बनाकर हम पूजते हैं वह अकिञ्चन है। उनके पास कुछ नहीं है। है तो किसी के पास कुछ नहीं, पर यहां तो कल्पना में मानते हैं कि यह मेरा घर है, यह मेरी हूकान है, मेरे लाखों का वैभव है, स्त्री है, पुत्र है पर प्रभु के पास क्या है? और चलो आगे तो प्रभु के पास क्या है? शरीर तक भी तो उस प्रभु के पास नहीं है, पर ऐसे आकिञ्चन्य प्रभु की जो उपासना करता है उसकी सर्वसिद्धि होती है और जो सकिञ्चन यहां के मोहीजनों की उपासना करता है उसे कुछ नहीं मिलता। केवल क्लेश ही भोगता है। जैसे समुद्र में पानी भरा होता है, पर समुद्र से नदी निकलते कभी सुना गया है? नहीं। पर्वतों पर पानी एक बून्द भी नहीं दिखता मगर उन पर्वतों से बड़ी-बड़ी नदियां निकलती हैं। इसी प्रकार जो अकिञ्चन है उसकी उपासना से आशाओं की सिद्धि होती है और जो सकिञ्चन है परिग्रही है उनकी उपासना से कुछ सिद्धि नहीं होती। ये इष्ट समागम मिल गये यह तो सिद्धि नहीं है, यह तो अधेरा है। इससे आत्मा का पूरा नहीं पड़ता, दुःख दूर हो सकते हैं तो अपने प्रभु के स्वरूप के दर्शन से ही दूर हो सकते हैं।

परिग्रहलालसा की विडम्बना का चित्रण—एक बार गुड़ भगवान के पास फरियाद करने गया। वे मोहियों के भगवान होंगे जिनके पास गया। गुड़ ने कहा भगवान हमारी रक्षा करो। क्या हो गया गुड़ साहब? महाराज! लोगों ने हम पर बड़ा उपद्रव ढा-रखा है। मैं जब खेत में खड़ा था तो लोग मुझे तोड़ तोड़कर खाते थे, कोल्हू में डूबे पेशा, लोगों ने हमें पिया। वहां से बचे तो हमें जलाकर गुड़ बना लिया। मैं जब सड़ गया तो मुझे सम्बाकू में फूट फूटकर खाया भुसा पर बड़ा अन्याय हो रहा है। उस भगवान ने कहा तुम्हारी कथा सुनकर हमारे मुंह में पानी आ गया है। तुम यहां से जल्दी भाग जावो। नहीं तो तुम यहां बच नहीं सकते। सो भैया! इन बाह्य समागमों से सुख की आशा न करो, यह विराट व्यामोह है। भावना करो अपने आपकी जो देह से विविक्त है, ज्ञानमय है, ज्ञान ही जिसका स्वरूप है, उपमारहित है, इसके वर्ण नहीं, रूप रस आदिक नहीं। सुख से परिपूर्ण है, उत्कृष्ट है, इन्द्रिय रहित है, उस ज्ञान स्वरूप को देखो। इस स्वरूप में भव नहीं, संसार नहीं, क्लेश नहीं। जो होना है वह हो जाता है, उपाधिका निमित्त पाकर हो जाता है, वह परिणामन, किन्तु इस ज्ञान देव में विकार नहीं, इसके सहज अस्तित्व के कारण इसमें कोई फंद नहीं है। ऐसे मायारहित विभाव रहित आत्मा का ध्यान करो वही आकिञ्चन्य धर्म है। भैया! परिग्रह की लालसा और परिग्रह का सम्बन्ध केवल अपने क्लेशों के लिए ही होता है। और इसके खातिर महापुरुषों तक पर भी संदेह कर लिया जाता है। आजकल के हिसाबों में तो जैसे बैंक में अपने ५० हजार रुपया जमा कर दिया, थोड़ा ख्याल होने लगता कि कहीं यह बैंक फेल न हो जाय। जैसे अभी १ साल पहिले पंजाब बैंक के प्रति ऐसी खबर सुनाई दी तो लोगों ने अपने-अपने रुपये बैंक से निकालना शुरू कर दिया था। इससे बैंक को बहुत फायदा हुआ था। जब बैंक से सम्बन्ध न था तब तो बैंक पर कोई संदेह या शंका न थी, पर

जब परिग्रह का सम्बन्ध हो गया तो उसमें भी संदेह होने लगा ।

परिग्रह मूर्छा के कारण गुरुजनों पर संदेह करने का पाप करने की नौबत—पुराणों में कथा आई है कि—एक साधु ने किसी नगर के बाहर चातुर्मास किया । एक सेठ ने चार माह तक उस साधु के पास रहने की प्रतिज्ञा की । उमका लड़का कुपूत था । सो एक हंडे में रत्न जवाहरात भरकर एक पेड़ के नीचे गाड़ दिया इसलिये कि यह बरबाद न कर दे । सोचा कि चार माह तो अभी घर जाते नहीं हैं । पुत्र ने उसे गाड़ते हुये देख लिया था सो उसे खोद लिया कभी एकान्त पाकर । सेठ को कुछ पता नहीं, चार माह पूरे हो गये । साधु तो चला गया । अब उस सेठ ने हंडा खोदा तो न मिला । वह झट साधु के पास दौड़कर गया । सोचा कि मैंने तो चार माह तत्कालीन सेवा की और ये हमारा हंडा चुरा ले गये । पर वह कह न सकता था । कहने से डर लगता था । कहा महाराज कुछ कथा सुनावो । साधु जान गया । कहा अच्छा तुम्ही सुनावो । सेठ ने ऐसी कहानी कही जिसका यह तात्पर्य था कि हमने तो चार माह तक आपकी सेवा की और आप हमारा धन चुरा लाये । ऐसा तात्पर्य निकला । उम पर साधु ने ऐसी कहानी कही, जिसका अर्थ यह निकला कि भाई तुम्हें केवल भ्रम है । हम तो मात्र तुम्हारे कल्याण की ही बातें करते रहे । तुम्हारे भ्रम ही केवल हो गया । चार कथायें उसने कहीं व चार कथायें मुनि ने । कुपूत कथा सुन रहा था, उसके एकदम वैराग्य उत्पन्न हुआ । कहा पिताजी वह हंडा मैंने निकाला था । महाराज पर संदेह न करो । मुझे घर में अब नहीं रहना है । यह लो ताली और अब हम धर्म ध्यान में अपना समय बितायेंगे । वह साधु बन गया । अभी किसी को आपने कुछ उधार दिया तो आपको उसके आचरण पर संदेह होने लगता है । तो भीतर से परिग्रह का जो सम्बन्ध है यह धर्म ध्यान में अधिक बाधक होता है । और जिनका विश्वास ठीक है, जिनके हृदय में मलिनता नहीं आती उनके ऐसा साहस बना रहता है जिससे वे अपने आपके स्वरूप को कभी-कभी तक सकें और उसमें ही प्रसन्न रह सकें ।

स्वयं भिन्न परपदार्थोंके भिन्नत्वका प्रकाश होने में परमविश्वास—न किञ्चन यस्य स अकिञ्चनः, अकिञ्चनस्य भावः आकिञ्चन्यम् । मेरे से अतिरिक्त कुछ भी मेरा नहीं है, इस भावपूर्ण प्रत्यय को आकिञ्चन्य कहते हैं । इस भाव के फलस्वरूप सर्वप्रकर के परिग्रह के त्याग को भी आकिञ्चन्य कहते हैं । मैं जगत् में बाह्य पदार्थों को नहीं करता । सर्व पदार्थ अपने परिणमन से स्वयं परिणमन करते हैं मैं उनमें किंचित भी सुधार बिगाड़ करने में समर्थ नहीं हूँ । स्त्री, पुत्र, धनादि की तो बात ही क्या है, यह शरीर जो कि बिल्कुल मिला हुआ सा प्रतीत होता है वह मेरे अधीन नहीं । मेरा जगत में कुछ भी बाह्य अर्थ नहीं । मेरा तो केवल यह आत्मा है और जगत् के कुछ भी पदार्थ मेरे नहीं हैं । इस प्रकार का विचार, प्रत्यय करके जो सब परिग्रह का त्याग कर देना है वह कहलाता है आकिञ्चन्य व्रत । लोग इन बाह्य संपदा वैभव आदि पदार्थों को पाकर अपने आपको सुखी मान रहे हैं, परन्तु इनका वियोग होने पर महान् दुःखी होना पड़ता है और यह भी निश्चित ही है कि जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग अवश्य होगा । जगत् के बाह्य पदार्थों से हमारा वियोग होगा ही, इसलिये हम क्यों उनकी परिणति में अपना मन लगावे ? जिस रूप जो पदार्थ परिणमन करता है करने दें—क्यों उनमें ममत्व करें ? जब वे हमसे छूटेंगे ही और हमें वियोगजन्य दुःख मानना ही पड़ेगा तो हमारा कर्तव्य है कि इससे पहले वे हमें छोड़ें, हम ही उन्हें छोड़ दें । भैया, हम परको छोड़ क्या दें वे तो छूटें ही हैं, प्रत्यक्ष भिन्न ही है । हां, जो हमने उनमें अपनत्वबुद्धि कर रखी है, ममत्व कर रखा है वह छोड़ दें तो वियोग के समय दुःख ही नहीं होगा । हमें तो केवल अपने ज्ञानस्वभाव का आदर करना चाहिये और उसकी आराधना करनी चाहिये । इस ज्ञान की प्राप्ति से जो फल मिल सकता है वह समृद्धशाली लोगों से नहीं मिल सकता । भगवान की जो उदार प्रकृति है, वह उत्कृष्ट है, उनकी वह उत्कृष्टता बड़े-बड़े समृद्धशाली लोगों के पास भी नहीं मिल सकती । बड़े-बड़े पर्वत जो बिल्कुल पत्थर के हैं, बड़ी-बड़ी नदियां उनसे ही निकलती हैं, परन्तु समुद्र

जो पानी से लवालब भरा हुआ है, नदियां उससे नहीं आतीं। वे तो पर्वत ऊंचा है इसलिए उससे ही निकलती हैं। आत्मा को जो समृद्धि प्राप्त होती है, वह अनादि अनन्त ज्ञान स्वभाव की खोज से प्राप्त होती है।

आकिञ्चन्य भाव के अभाव से दुःख भाजना—अब तक अपने आकिञ्चन्य के अभाव से दुःखी हैं, परपदार्थों में ममत्व कर करके, उनका सहकर्मकं महान् दुःखी हो रहे हैं। तनिक भी आकिञ्चन्य भावना भा लो, दुःख नहीं भिटे तो कहना कि शास्त्रों में झूठ बात है। जो अपने आप में यह भावना भावेण वह नियम से सुखी होगा, कभी भी उसको दुःख नहीं होगा। अतः इन सब वस्तुओं को बाह्य वस्तु जानकर इनसे राग हटाना चाहिये। जगत् में लगने वाली ये सुन्दर वस्तुयें क्या हैं, सुन्दर का अर्थ ही क्या है? 'सु' उपसर्ग है, 'उन्दी क्लेदने धातु' है और उसमें 'अर्च्' प्रत्यय का अर्थ है, अर्थ यह हुआ—जो तड़फा तड़फाकर मारे, अच्छी तरह से क्लेद करे, दुःखी करे, उन्हें क्लेते हैं सुन्दर। इन सब सुन्दर पदार्थों से मैं जुदा हूँ। ये जगत् के बाह्य पदार्थ बिल्कुल भिन्न दिख रहे हैं, फिर भी भिन्नता की श्रद्धा नहीं करते। जिनको जगत् में रिश्तेदार, नातेदार मानते हैं वे भी हमसे भिन्न हैं। बस उनसे अपने को जुदा समझो। धन है, वह भी प्रत्यक्ष भिन्न है उसको भी भिन्न समझो। अपने शरीर से भी अपने आपको जुदा समझो। इसक बाद कर्मों से, कर्मण शरीर जो आत्मा के साथ सिद्ध न होने तक रहता है, उससे भी अपने आपको जुदा समझो। अपने आपसे अपने आपको दुःख नहीं होता, परन्तु परका संग होने से दुःख पैदा होता है। कर्मों के उद्वयसे उत्पन्न होने वाले रागद्वेष आदि भावोंसे भी अपने आपको जुदा समझो। जो छोटे-छोटे ज्ञान बन रहे अर्थात् मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्याय, थोड़े-थोड़े सुख बढ़ रहे, थोड़ी बुद्धि होती आई इनसे भी अपने आपको न्यारा समझो। मैं इतने थोड़े ज्ञानरूप पर्याय वा नहीं हूँ। जहाँ शुद्ध अवस्था को भी मैं प्राप्त हो जाऊंगा, वहाँ प्रगट होने वाली शुद्ध तरंग से भी मैं जुदा हूँ, फिर औपाधिक भाव की बात क्या कहूँ।

निज अन्तस्तत्त्व से अन्य का पार्थक्य—इस ज्ञान स्वभाव से ये सब पर अद्भुत तत्व जुदे हैं, परन्तु अद्भुत अनादि, अनन्त, ज्ञान स्वभाव ही मेरा है ऐसी श्रद्धा से ही अकिञ्चन भाव है। इस प्रकार जगत् से न्यारे इस आत्मा को जो भाता है उसके दुःख नहीं आ सकता। काम, क्रोध, माया, लोभ आदि विभाव कभी आत्मा को सता ही नहीं सकते। केवल परिग्रह ही इस जीव को दुःखी करने वाला है। इसलिये २४ परिग्रह, १० बाह्य और १४ अन्तरंग, इन सब परिग्रहों का त्याग करना ही आकिञ्चन्य कहलाता है। असल में दुःखदाई चीज तो अंतरंग परिग्रह हैं। जब तक इसका त्याग नहीं होगा, बाह्य त्याग से कोई लाभ नहीं। जिनके अन्तरंग परिग्रह नहीं रहता, उनके बाह्य परिग्रह भी नहीं रहता। बाह्य परिग्रह तो उनके स्वयं ही छूट जाता है। जितने भी लोग अन्तरंग परिग्रह के त्यागी बने, वे बाह्य परिग्रहों के त्याग सहित बने। जब अन्तरंग में मोह ही नहीं रहा तो बताओ—बाह्य के स्त्री, पुत्रादि, धनादि, वस्त्रादि को कौन संभाले? इनकी संभाल बरने वाला तो मोह परिणाम ही था। बाह्य अर्थों के ममत्व के त्याग की आवश्यकता है, यदि सुखी होना है तो। थोड़े दिनों का जीवन है, व्यर्थ इन विभावों की प्रेरणा में हम पाप कार्य के कर्ता हो रहे हैं। अतः इस अल्प से जीवन का ध्यान रखकर इन विभावों की प्रेरणा में नहीं पड़ना चाहिये, ऐसा जानकर आकिञ्चन्य व्रत का पालन करो।

आकिञ्चणु वउसंगहिणिवित्त, आकिञ्चणु चउसुज्जाणसत्ति ।

आकिञ्चणु वउवियलियममत्ति, आकिञ्चणु रयणत्तयपवित्तु ॥

निर्भार, कृतार्थ निजतत्त्व के ध्यान का आदेश—आत्मा शरीर - भिन्न ज्ञानस्वरूप है। इसके बिना अपना कोई कार्य ही नहीं सकता। ऐसे निरुपग्र सुख और ज्ञान से स्वयं परिपूर्ण, भय का जिसमें नाम नहीं, ऐसे निज ज्ञान स्वरूप आत्मा का ध्यान करो और बाह्य जगत् के पदार्थों से सम्बन्ध त्यागो। अपने को निरुपरिग्रह देखो। परिग्रह से दुःख ही होता है, परिग्रह की मुर्छा त्यागो। लालच ऐसी ही चीज है यह बाह्य परिग्रह क्या-क्या नहीं

कराता । दस हजार रुपया सेंट्रल बैंक में जमा करा दो तो यह फिर रहता है कि कहीं बैंक फेल न हो जाये । ये बाह्य पदार्थ ऐसे ही हैं कि जहां जाते हैं वहां ही अविश्वास पैदा हो जाता है, और की बात जाने दो, अपरिग्रही गुरुओं पर भी परिग्रही का अविश्वास जम जाता है । समस्त परिग्रहों ये निवृत्ति होना सो आकिचन्य है । चारों प्रकार की ध्यान करने की शक्ति हो सो आकिचन्य व्रत है ।

अपनी यथार्थ परिपूर्णता के भाव से चिगने में अपदाओं की भरमारी—दुःख इस जीव को क्या है ? अधूरा तो कुछ होता है नहीं कि अभी कुछ बनना बाकी है । जितने भी सत् होते हैं वे सब पूरे हैं तो सत् है अधूरा कुछ नहीं है । एक परमाणु है वह भी पूरा का पूरा है । जीव है वह तो पूरा है ही । चींटी हो, कीड़ा हो, पेड़ हो, मनुष्य हो, देव हो और चाहे किसी भी परिणति में हो, प्रत्येक समय पूरे के पूरे ही है ये सब । ये ज्ञानमय पदार्थ हैं, इनका काम है जानते रहें । जैसे अरहंत और सिद्ध देव प्रति समय सर्व विश्व को जानते रहते हैं । यह उनका सही काम है । तो इसी प्रकार जानते रहना ही अपना काम है । इससे आगे बढ़े और किसी परिग्रह में थोड़ासा बोले तो वह विवृच जायगा । इसका बंधन बंधता चला जायगा । सर्व परिग्रहों से बाहर बने रहना, यही एक श्रेयस्कर है । ये सब श्रद्धा की बातें कही जा रही हैं । जो बाह्य पदार्थों में फंसे हैं उन्हें अनाकुलता तो कभी मिल ही नहीं सकती, क्योंकि श्रद्धा विपरीत है तो अनाकुलता गट कहां से निकले ? जैसे अजायब घर में केवल देखने की इजाजत है, किसी चीज को छुये, उठाये तो वह विवृच जायेगा, फंस जायगा दण्ड पायेगा । इसी तरह इस आत्मा का काम तो केवल जानना देखना है । इससे बढ़कर कोई इसमें बोले, रमे तो वह विवृच जाता है । सुख और शांति उसकी गायब हो जाती है ।

परसम्पर्क की विवृचन का फल महाक्लेश—एक साधु था, सो वह आराम से अपने में रूस्त रहता था । एक दिन राजा आया, बैठ । साधु ने देखा और कहा राजन् ! क्या चाहते हो ? बोला—महाराज मेरे कोई लड़का नहीं है सो लड़का चाहता हूं । साधु ने कहा—अच्छा जावो, होभा । चला गया राजा । दो चार माह बाद में साधु को याद आई कि रानी के गर्भ में लड़का आ गया क्या ? इस समय रानी के गर्भ हो सकने का समय भी है । देखूं संसार में कोई जीव मर रहा है क्या ? इस समय तो कोई नहीं मर रहा है । तो खुद मरो और चलो रानी के पेट में, नहीं तो बचन झूठा हो जायगा । मरा और पेट में पहुंचा । सो जब किसी बात में फंस जाता है तो यह संकल्प होता है कि अब तो ऐसा नहीं करेंगे । बही संकल्प कर लिया कि अब नहीं बोलेंगे । थोड़ा सा बोल दिया तो इतना फंसे । निकला पेट से, सात आठ साल का हो गया और बोला नहीं वह । राजा को चिन्ता हुई कि बच्चा तो बोलता ही नहीं है । उसने घोषणा करा दी कि जो मेरे बच्चे को जो बोलना बता देगा उसको बहुत सा इनाम मिलेगा । राजपुत्र बगीचे में जा रहा था । वहां देखा कि एक चिड़ीमार जाल बिछाये था जब कोई चिड़िया नहीं मिली तो जाल लपेटकर जा ही रहा था । इतने में एक पक्षी एक पेड़ की डाली पर बोला, फिर चिड़ीमार ने जाल बिछाया और छिप गया । वह पक्षी आकर फंस गया । इतने में राजपुत्र बोला—'जो बोले सो फंसे ।' अब चिड़ीमार ने सोचा कि इस चिड़िया की क्या कीमत है ? चलें महाराज से कहें कि आपका बच्चा बोलता है । वह गया और बताया । इतनी बात सुनते ही राजा बोला अच्छा जावो १० गांव तुम्हारे नाम कर दिये । राजपुत्र कुछ देर में आया पर बोला नहीं तो राजा को चिड़ीमार पर क्रोध आ गया बोला, मेरा पुत्र मूंगा है और यह चिड़ीमार भी मुझसे दिल्ली करता है । उसे फांसी का हुकम दे दिया । तख्ते पर खड़ा किया राजा ने कहा कि अन्त में जो कुछ तुझे खाना हो खा ले, जिससे मिलना हो मिल ले । कहा महाराज मुझे कुछ खाना नहीं है, केवल ५ मिनट के लिये आप अपने पुत्र से मुझे मिला दीजिये । मिला दिया । राजकुमार से चिड़ीमार बोला—भैया ! मुझे मरने की परवाह नहीं, पर लोग मुझे कहेंगे कि चिड़ीमार झूठा है, झूठ बोलता है । सो आप अधिक न बोलें उतना ही बोल दीजिए जितना

आपने बगीचे में बोला था। तो उससे न रहा गया। सारा किस्सा सुनाया, 'जो बोले सो फंसे।' मैंने पूर्व जन्म में राजा से बोला था सो फंस गया, और फिर चिड़िया ने बगीचे में बोल दिया तो वह फंस गई, यह चिड़िया राजा से बोल गया सो वह फंस गया।

लक्ष्यविशुद्धि व आकिञ्चन्य की धुन में विसंवाद व फलह का अभाव—भैया ! हम वस्तुस्वरूप पर दृष्टि दें, ज्ञानके मार्ग पर चलें, जितना निभा सकते हैं निभायें, पर लक्ष्य तो सबका एक होना चाहिये। किन्तु श्रेय है कि लक्ष्य सबका एक नहीं है। कल चोदस आयेगी, झगड़े होंगे। क्रिंतु अगर एक लक्ष्य हो कि हमें ज्ञानमार्ग में चलना है, संसार के क्लेश कैसे मिटें, इसका उपाय खोजना है, इससे दिमाग में पितूर न आयेगा और न झगड़े होंगे। परन्तु रागबुद्धि जब तक है तब तक अनेक प्रकार के विवाद होंगे। हमें ऐसे क्यों नहीं पूछा? हमारा सम्मान क्यों नहीं किया, इससे कितने ही तरह के झगड़े होंगे। यहाँ की तो नद्री कह रहे हैं। यहाँ के तो बड़े भले लोग हैं पर प्रायः ऐसा होता है। सब जगह प्रायः हिसाब-किताबों में झगड़े होते हैं। ये झगड़े क्यों होते हैं, उनका लक्ष्य एक नहीं है। जहाँ एक आत्महित का लक्ष्य हो जाय वहाँ धर्म के जगह पर कलह होने की कुछ गुंजाइश ही नहीं है। विवेक में तो वात्सल्य गुण बढ़ता है न कि विरोध भाव बढ़ता है। हमारा काम, आत्मा का काम केवल ज्ञातादृष्टा रहना है। यह काम स्वरसतः आत्मा में होता है। इससे अतिरिक्त संकल्प-विकल्प सब दोष है, कलंक है इस जीव पर। आकिञ्चन्य एक अमृत भावना है।

भैया ! सरकार की आपत्तियों के बीच, समाज की, परिवार की, आपत्तियों के बीच सर्वत्र इस आकिञ्चन्य भाव की दृष्टि हो जाय तो यह सद्भाव अचूक औषधि का काम करता है। यहाँ यह देखिये कि मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ, इसके साथ तो कोई जाल ही नहीं लगा है। ऐसी स्वरूप की दृष्टि समझने का कारण बनता है। यहाँ तो कोई रोड़ा ही नहीं है, कोई अटकव ही नहीं है, खुला हुआ मार्ग है सुखी एवं शांत होने का। सर्व संकट, सर्व जाल एक साथ समाप्त हो जाते हैं। परन्तु जब आत्मा के स्वभाव की दृष्टि नहीं होती है तब दृष्ट अनिष्ट रागद्वेष पक्ष सब धर कर जाते हैं, और जहाँ कुछ पक्ष पड़ गया घर में, पुत्रों में, मित्रों में, इज्जत में तो उस पक्ष में फिर क्लेश ही रहता है। वहाँ वस्तु स्वरूप का परिचय ही अपना भला कर सकता है।

पक्षभाव में बुद्धि की विपरीतता—एक हंस हंसनी थे। सफेद होते हैं हंस, चले जा रहे थे। रास्ते में हो गई शाम, सो कौवों के घर में ठहर गये। कौवों ने ठहरा लिया। जब सुबह हुई तो हंस हंसनी चले। कौवे आ गये सामने, कहा—कहाँ जाते हो? रातभर तुम्हें ठहरने दिया और हमारी स्त्री भगाए लिये जा रहे हो। हंस ने कहा यह तो हमारी स्त्री है। तुम तो काले हो और हमारी स्त्री गोरी है। तो कौवा बोलता है क्या यह जरूरी है कि काले पुरुष की स्त्री काली ही हो? हंसनी को छुड़ाने लगा, अब हंस क्या करे? कहा न्याय करा लो। न्याय करने को ५ कौवा बैठ गये। दो भये हंस की ओर और दो भये कौवे की ओर एक हो गया सरपंच। सब विरादरी के ही लोग थे। दो ने कहा कि यह कौवा की स्त्री है। दो ने कहा यह नहीं हो सकता है, यह तो हंसनी है। अब निर्णय रहा सरपंच पर जैसा निर्णय दे दे। थोड़ी देर में सरपंच कहता है कि यह स्त्री तो कौवा की है। जो कौवा लड़ रहा था वह बेहोश होकर गिर पड़ा। कौवे लोग पूछते हैं—तुम क्यों बेहोश हो गये? तुम्हारे तो पक्ष में मामला आया है। बोला—मैं इसलिये बड़ा दुःखी हुआ कि पहिले मैं अन्याय पर उतारूँ था। क्या कौवे यह नहीं जानते हैं कि यह कौवनी नहीं है, यह हंसनी है? अब जो सरपंच था वह भी अन्याय कर गया सो बड़ा विषाद हुआ है। भैया ! किसी प्रकार का पक्ष आ जाय तो वहाँ बुद्धि व्यवस्थित नहीं रहती है, क्योंकि ज्ञान का सम्बन्ध जब किसी राग और द्वेष के साथ होगा तो वहाँ शुद्ध स्वरूप की खबर कहां रह सकती है?

आत्मधर्म के पर्युषण में आत्मलाभ—पर्युषण पर्व की उपासना करना है तो चाहे किसी भी स्थिति

आये, पर शुद्ध स्वरूप का दर्शन बना रहे। सम सन्मार्ग पर चाहे न चल सकें, पर सत्यपथ के निर्णय से तो हम विचलित न रहें। मैं अकिंचन हूँ। देह भी मेरा नहीं है। मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसा जानकर आत्मा की श्रद्धा, आत्मा का ज्ञान और आत्मा का आचरण करो, यह अकिंचन्य भाव है। दसलाक्षणी का आज रिजल्ट है। ब्रह्मचर्य तो सिद्धि है। अकिंचन्य की साधना पर परम ब्रह्मचर्यकी सिद्धि निर्भर है। भैया! बाह्य पदार्थों से मनुष्य की महिमा नहीं होती। वहाँ वह जो कुछ भी कर डालता है केवल राग के कारण। जो भी काम करो अपनी आत्मा के कल्याण के लिये करो। जहाँ भगवान की पूजा करते हो, वहाँ भी वह तुम अपना ही काम कर रहे हो। जहाँ भक्ति करते हो वहाँ भी अपना ही काम करते हो। मैं अकिंचन हूँ। भगवान का आदर्श स्वतन्त्र सुखपूर्ण भाव की स्थिरता के लिये है। आत्मा स्वतन्त्र और महान् है। वह दूसरी वस्तुओं के कारण बड़ा नहीं हो सकता। कुबुद्धियों की दृष्टि में कुबुद्धि ही बड़ा हो सकता है परन्तु ज्ञानी की दृष्टि में तो ज्ञानीजन ही बड़े हो सकते हैं। वे ज्ञान को बड़ा मानते हैं, धन को बड़ा नहीं मानते। ज्ञानस्वभाव ही अमृत है, वह सदा रहने वाला है। इसलिये ज्ञानियों की दृष्टि केवल ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप की दृष्टि में रहती है। बड़े-बड़े पापी भी ज्ञानामृत पीकर पवित्र बन जाते हैं। एक निज आत्मा की श्रद्धा बिना कोई पवित्र एवं महान् नहीं बन सकता।

स्वयं के लिये स्वयं की महत्ता—एक पुरुष बड़ा पापी था। उसकी पत्नी ने उससे कहा कि देखो आप केवल एक काम करो और मैं तुमसे नृच्छ नहीं कहती। उसने एक बट्टी दी और वहाँ—देवता यह है, इसकी रोज पूजा कर लिया करो और पूजा करने के बाद पाप कर्म २४ घण्टों के लिये छोड़ दिया करो। पति ने सोचा यह तो बहुत सरल बात है सो वायदा कर लिया। उसको यह बुद्धि नहीं आई कि इस प्रकार तो मेरा पाप जिन्दगी भर के लिये छूट गया। खैर, वह रोजाना ही पूजा करने लगा और पूजा के बाद २४ घण्टों के लिये पाप छोड़ देता। चावलों से वह पूजा किया करता। एक दिन वह पूजा कर ही रहा था कि एक चूहे ने वे चावल खा लिये। तब वह सोचने लगा कि ये देवता बड़े नहीं हैं, बड़ा तो यह चूहा है जो ये चावल खा सकता है।

अतः वह नित्यप्रति चूहे की पूजा करने लगा। एक दिन बिल्ली चूहे पर झपटी, तब वह समझने लगा कि अब तो पूजा के योग्य यह बिल्ली है, अतः वह बिल्ली की रोजाना पूजा करता और बाद में २४ घण्टे के लिये पाप छोड़ देता। एक दिन कुत्ता आया और वह बिल्ली पर झपटा। तब वह समझा कि अब तो कुत्ता ही बड़ा है और कोई बड़ा नहीं है। यह समझकर कुत्ते की पूजा करने लगा और पूजा के बाद २४ घण्टे के लिये पाप छोड़ देता था। एक दिन जब वह खाना खा रहा था, वह कुत्ता रसोईघर में घुस गया तो उसकी स्त्री ने बेलन की मार दी। कुत्ता भाग गया। अब उसके विचार आया कि अब तो स्त्री ही कुत्ते से बड़ी है, इसलिये वह स्त्री की ही पूजा उन्हीं चावलों आदि उपकरणों से किया करता था। व पूजा के बाद २४ घण्टों के लिये पापकर्म छोड़ देता था। कुछ दिनों बाद स्त्री को धमंड हो गया कि हमारी तो देवताओं की तरह पूजा होती है। एक दिन पति जब खाना खाने बैठा तो साग में उसे नमक अधिक लगा। उसने पत्नी से कहा कि आज साग में नमक अधिक कैसे हो गया? पत्नी ने कहा कि हो गया होगा, हाथ ही तो है। पति को गुस्सा आ गया और तीन-चार तमाचे स्त्री के मार दिये। स्त्री रोने लगी। तब वह सोचने लगा कि अरे, मैं ही तो संसार में बड़ा हूँ। मैं कहां-कहां भटका, बड़ा तो मैं ही हूँ। इसी तरह यह जीव भी संसार में न जाने कहां-कहां भटकता है? कुछ भी देखो, सुनो, कहीं भी जाओ, अपने आपमें यही ज्ञानस्वभाव आत्मा बड़ा मिलेगा। जगत् में कोई पदार्थ इससे बड़ा नहीं मिलेगा। यही सभी प्राणियों की व्यवस्था है। जैसे-जैसे अपने में अकिंचनभाव पैदा किया जायेगा बाह्य पदार्थों से ममत्तभाव दूर किया जायेगा। जैसे-जैसे इसी से ज्ञान भी बढ़ता जाएगा और महान होता जायेगा।

अपने को बाह्य की ओर से अकिंचन मानने में अपना महत्त्व—भैया! सब कुछ पाकर भी

अपने को ना कुछ समझो। धन पाया, कुटुम्बपाया, प्रतिष्ठा पाई, नाम पाया, रुब ही कुछ तो पाया परन्तु कहीं भी मुख शांति न मिली—सदैव उनके वर्तमान में, रक्षण में आकुलित ही तो बने रहे। अब जरा मन में यह श्रद्धा तो कर लो कि ये मेरे कुछ भी नहीं हैं, मैं तो अकिञ्चन हूँ। देखें कैसे सुख नहीं होता? अवश्य होगा। आकिञ्चन्य किसे कहते हैं? सर्व परिग्रह के त्याग का नाम आकिञ्चन्य है। मैं जगत् में बाह्य पदार्थों को नहीं करता, मेरा जगत् में कुछ भी बाह्य अर्थ नहीं, अपने आप ही कर्म को निमित्त मात्र पाकर उठने वाली तरंगें राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि ही मेरे नहीं हैं, जिनमें से मैं गुजर रहा हूँ। अपने आपके भी परिणमन से जो रहता है उसमें भी आत्मवृद्धि नहीं करते, ऐसे सम्यग्ज्ञानी परिग्रह का त्याग करके आकिञ्चन्य व्रत के पालक कहलाते हैं। यह धर्म आत्मा के शुभ ध्यान रूप होता है और इसकी शक्ति को प्रकट करता है। ममत्व परिणाम को त्याग करना ही आकिञ्चन्य व्रत है। अपने आपको जगत् का कुछ मानना दरिद्रता है और मेरा जगत् में कुछ नहीं है ऐसा मानना अपनी श्रीमत्ता है। एक जगह लिखा है कि दरिद्रता क्या है? दरिद्रता है असन्तोष। जहाँ सन्तोष है वहाँ श्रीमत्ता है जहाँ असन्तोष है वहाँ दरिद्रता है।

सदा सन्तोष कर प्राणी अगर सुख से रहा चाहे।

घटा दे मन की तृष्णा को अगर दुःख से बचा चाहे ॥

संतोष भाव से दरिद्रता का विनाश—एक फकीर को एक पैसा मिल गया। उसने उस पैसे को लेकर यह निश्चय किया कि जो सबसे गरीब होगा उसको यह पैसा दे दूंगा। वह गरीब को ढूँढने लगा। कोई भी ऐसा गरीब उसे न मिला। एक दिन एक नगर का बादशाह एक दूसरे राजा पर चढ़ाई करने और उसका राज्य छीनने जा रहा था। उस फकीर ने पूछा तो पता लगा कि वह किसी राजा का राज्य छीनने जा रहा है। उसने अपना पैसा उस बादशाह के हाँदे में डाल दिया। बादशाह ने जब देखा तो उससे पूछा कि तुमने मेरे पास यह पैसा क्यों डाला है? तो उसने उत्तर दिया कि—महाराज! हमें यह पैसा एक स्थान पर मिल गया था, हमने यह विचार कर रखा था कि जो सबसे अधिक गरीब आदमी हमको मिल जायेगा उसको यह पैसा दे दूँगे। आप ही हमको सबसे अधिक गरीब नजर आये। बादशाह ने पूछा कि हम कैसे सबसे अधिक गरीब आदमी हैं? हमारे पास इतना बड़ा राजपाट, इतने नौकर-चाकर, इतनी रानियाँ, इतनी बड़ी सेना आदि सब तो हैं। फिर हम कैसे गरीब हुये? तब वह फकीर बोला कि महाराज! इतना सब कुछ होत हुये भी आप एक गरीब राजा का राज्य हड़पने जा रहे हैं, फिर आप गरीब नहीं तो और क्या हैं? राजा की समझ में यह बात आ गई और उसने तुरन्त अपनी सेना को लौट जाने का आदेश दिया। उस फकीर के पैसे ने उसे धनी बना दिया। संतोषपना ही धनीपना है। इसलिये जो कुछ तुम्हें मिला है उसमें सन्तोष करो। जो कुछ तुम्हें मिलता है, उसके विभाग करके काम में लाओ। कुछ खाने के लिये रखो और कुछ धर्म में लगाओ। उसी में पूर्ण सन्तोष रखो। सन्तोष के सिवाय शांति का मार्ग और कोई नहीं है। यह आकिञ्चन्य व्रत मान लो रत्नत्रय का ही पिंड है। जहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य प्रकट होते हैं वहाँ ही उत्तम आकिञ्चन्य व्रत होता है।

आकुलता के समागमों से दूर रहने में ही आत्महित—इन्द्रियों के वश होकर जो अपने विषय कषायों में विकार उत्पन्न करता है, उन विभावों को संयमित करना, दूर करना, आत्मध्यान करना सो आकिञ्चन्य व्रत है। देखो भैया! इन्द्रियों के दास रहने में चाहे इस भव में सुखी हो लें, परन्तु परमव में दुर्गति से कौन बचायेगा? इसमें उत्तम यही है कि संयम कर लें, आत्म स्थिरता पा लें, और यदि विचार करके देखो तो भैया, इन्द्रिय के विषय यहाँ भी सुखदायी नहीं हैं। उनके प्राप्त होने से पहले आकुलता, उनके काल में आकुलता और उनके गद में आकुलता और जहाँ आकुलता है वहाँ सुख शांति कहाँ? एक बार एक राजा ने अपने दरबार में एक

प्रतिष्ठित साधु को जङ्गल से बुलाया। उस साधु ने सोचा कि नहीं जाऊंगा तो राजा उपद्रव करेगा। अतः चलना ही ठीक है, किंतु कुछ सोचकर अपना मुंह काला करके गया। राजा ने पूछा कि आप काला मुंह करके क्यों आये? साधु ने उत्तर लिया—प्रहाराज! इस तरह दरबारों में आने से, अपनी सेवायें इस तरह से कराने से इस भव में काला मुंह नहीं करूंगा, तो हमें परभव में काला मुंह करना पड़ेगा। इसलिये परभव के काले मुंह से डरकर मैं इसी भव में काला मुंह करके आया हूँ। राजा के दिल में यह बात बैठ गई और उसने उस दिन के बाद कभी किसी भी साधु को अपने दरबार में नहीं बुलाया। इसलिये जो यह ध्यानता है कि यह कुछ मेरा है, उसका कुछ भी नहीं रहता और जो कहना है कि जगत् का कोई पदार्थ मेरा नहीं है, वह महान् बन जाता है। उस महान् आत्मा का ममत्व धन में नहीं होता। उसका ममत्व अपने ज्ञान में ही होता है और उसकी वृद्धि की ही तृष्णा होती है अर्थात् न ममत्व होता है, न तृष्णा होती है। घेरे पास तो कुछ भी नहीं रहेगा, सभी लोग ऐसा समझें।

ज्ञान के पर में हठ बुद्धि का अभाव—ज्ञानी के पर में हठ बुद्धि नहीं होती। ज्ञानी जन कोई शास्त्र पढ़ रहा हो और कोई दूसरा आदमी उससे वह शास्त्र मांगे तो वह कभी नहीं कहेगा कि मैं पहले पढ़ लूँ, फिर दूँगा अभी नहीं देता। अज्ञानी जन तो ऐसी भी धारणा बना लेते हैं कि मैंने यह विद्या सीखी है, अब मैं दूसरों को नहीं सिखाता, यदि सिखा दूँ तो वह भी मेरी बराबरी करने लगे। ज्ञानी जन तो यह सोचते हैं कि मैं स्वयं ही ज्ञान से परिपूर्ण हूँ। बाह्य पदार्थ से मेरा ज्ञान पूरा नहीं होता। वह शास्त्र दे दिया तब कुछ क्षण तो विकल्प हटाने का अवसर मिल गया। भाइयो! ये जितन भी बाह्य वैभव हैं कोई तुम्हारा साथ नहीं देगे। इसलिये इनका सदुपयोग करो। इमको मिटना तो है ही। चाहे तुम इनको छोड़ जाओ, चाहे ये तुमको छोड़ दें, वियोग तो होना ही है। सयुक्त वस्तु का वियोग तो नियम से होता ही है। इसलिये अपने तत्त्वज्ञान को बढ़ाओ और जगत् के बाह्य पदार्थ मिले ही हैं तो इनका सदुपयोग करो। दुनिया के विषयों से अपना मन हटाने से आकिंचन्य व्रत होता है। केवल ज्ञाता द्रष्टा रहने की ही परिस्थिति स्वाधीन सुख है। मैं स्वाधीन सुख से सुखी हूँ। स्वाधीन आनन्द की प्राप्ति के अर्थ चारों कषाय मंद करे सत्यव्रत का पालन करे। अब इसके फल में क्या होना चाहिये? अपने उस आकिंचन्य ज्ञान-स्वरूप का दर्शन होना चाहिये जिसके लिये यह सब पहिले से उपाय किया गया है।

समस्त जीवन में धर्म का पालन का कर्तव्य—ममाज में तो प्रायः ऐसा देखा गया है कि दसलाक्षणी जब गुजर जायगी तो पूने के सुबह में सन्नाटा हो जायेगा। ज्यादा समय न बीतेगा। बात यह करना है कि जितनी धर्म की वास्तविक ऊँची परिणति आप दस लाखों में कर सकते हैं इतनी वर्ष के ११ म ह २० दिन में नहीं की जा सकती है तो उसका चतुर्थांश तो करो। वह तो प्रगति के लिये सामूहिक कार्य-क्रम से नहीं होता। धर्म का सम्बन्ध केवल अपने एकत्व से होता है, अकेलेपन से होता है। सो जो शेष बचे हुए महीने हैं उनमें इन दस धर्मों का प्रयोग यथाशक्ति करो। इन दस दिनों में तो मानों पाठशाला में धर्म पालन की बात सीखी। अब जो कुछ सीखा उसको प्रयोग करके देख डालें। ऐसा यदि कुछ कर सके तो फल है और न कर सके तो जो था सोई चल रहा है।

आकिंचणु आउचियेहि चित्त, पसरंतउ इंदिय वणिवित्तु ।

आकिंचणु देहणेहचित्त आकिंचण जं दे भवसुइविरत्त ॥

आकिंचन्य व्रत में इन्द्रिय विषयनिवृत्ति—यह आकिंचन्य व्रत इन्द्रिय बन में फँलने वाले मन को आकुञ्चित करता है, बस करता है। मन बस में हो तो ये इन्द्रियां बस में हों, और देखो संस्कृत जानने वाले समझते हैं पुरुष-लिङ्ग, और नपुंसक लिङ्ग। यह पुस्तक नपुंसक लिङ्ग है। यह मन नपुंसक लिङ्ग है। मनः, मनसी, मनांसि ऐसे रूप चलते हैं। ये इन्द्रियां ये अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं। मन विषय नहीं कर सकता। विषयों में प्रवृत्त होती हैं ये इन्द्रियों के पीछे-पीछे फिरता है। इस मन में वह वृत्ति नहीं होती है जो मन में है। और यह नपुंसक मन न

उनम आकिञ्चन्य धर्म

इम मन की स्तोड जब इन्द्रियां को प्राप्त होती है, तब ये इन्द्रियां उद्वत हो जाती हैं। इस कारण ज्ञान के सांकल से इस मनरूपी हस्ती को बांधने का प्रधान उपदेश दिया जाता है। आकिञ्चन्य भाव वहां है जहां इन्द्रिय विषयों की निवृत्ति है। देह की ममता का जहां त्याग है वहां आकिञ्चन्य व्रत है। सीधी बात है सबको भूल जायें और स्वाधीन आनन्द भोग लें। यदि किपी का स्थाल बनायें रहें तो क्लेश भोग लें।

विशुद्ध भावों का प्रभाव—भैया ! सारभूत निर्णय इतना है जिसे प्रयोग करके देख लें। कांई किसी को पालता पोषता नहीं है, किन्तु दूसरों का पुण्य प्रबल है तो उसके पुण्य का काम तो होना ही चाहिये ना ? सो उसकी दासता करनी पड़ती है। बच्चा होना है, कुछ दिनों का ही पंदा हुआ है। वह बच्चा शुद्ध है, पवित्र है, उसमें विकार नहीं है। पूर्व जन्म का पुण्य लेकर आया है। ताजा पुण्य है सो उसके पुण्य में उसका पिता, मौसा, चाचा, फूफा सब-कोई उस बच्चे पर निगाह रखते हैं, उसको खुश रखते हैं, हंसते हैं, उस बालक की नोकरी बजाते हैं क्योंकि ताजा पुण्य है। जब बच्चा बड़ा हो जाता है, विषय कषाय आ जाते हैं तो फिर उसे कौन पूछता है ? वह झंझटों में पड़ जाता है। इस लोक में अगना कोई शरण नहीं है। केवल अपने आकिञ्चन्य भाव का स्वीकार करना ही शरण है। इतनी बात अगर आई तो फिर इस लोक में क्या होगा ? जो धर्म मार्ग में रहेगा उसके लिये तो अपने आप ही पर-इतनी बात अगर आई तो फिर इस लोक में क्या होगा ? जो धर्म मार्ग में रहेगा उसके लिये तो अपने आप ही पर-मार्थ, सम्मान, पोजीशन, महत्त्व सब बढ़ेगा। देखो—लकड़हारे, घसियारे लोग कितना काम करते हैं और जो बड़े पुरुष होते हैं, कोई ऊंचे अफसर होते हैं वे केवल २-४ घण्टे कुछ देख सुन लेते हैं, मुंह-मुंह का केवल काम है। उन घसियारे, लकड़हारों को तो शरीर का भी काम है। यों ही यहां समझिये महत्ता काम करने से नहीं है। महत्ता शुद्ध भावों में है। जिनके भाव ऊंचे हैं, ऊपर के ढंग है वे ऊंचे पुरुष कहलाते हैं, और जिनकी वृत्तियां निम्न श्रेणी की हैं, अनुदारता की हैं वे इन लौकिक जनों की श्रेणी में रहा करते हैं। पवित्रता बढ़ती है तो आकिञ्चन्य भाव से बढ़ती है। इस आकिञ्चन्य भाव के बिना निरन्तर चिंता बनी रहती है।

स्वप्न की तरह विभ्रम में विडम्बना—किसी को स्वप्न आया कि मुझे ३ हजार रुपयों की थैली मिल गई है। तीन हजार रुपयों का भैया कितना वजन होता है ३७। सेर वजन होता है। अपने कंधे पर ३७। सेर वजन का थैला लिए जा रहा है। स्वप्न की बात बता रहे हैं। स्वप्न में न जाने क्या बात है कि शरीर के श्रम का स्वप्न आया है तो शरीर थक जाता है। श्रम कुछ नहीं किया, उसी जगह पड़ा है। कंधे पर लादे जा रहा है। सो उसका कंधा बहुत दुःखने लगा, उसके मारे नींद खुल गई। नींद खुलने के बाद रुपया तो कुछ नहीं रहा, पर कंधा दुःख रहा है, पर पाया कुछ नहीं। केवल वेदना ही हाथ रही। इसी तरह ये सारे रुमागम है, मिलता कुछ नहीं, पर आंतरिक वेदना शब्द संस्कार साथ ही जायेंगे। और श्रद्धावान् पुरुष हैं उनका कहीं कुछ नहीं है। ऐसी जो श्रद्धा है उससे उनके महान बल है। उनका डर खत्म हो जाता है डर यह है कि आज सम्पत्ति है, कल न रहे तो क्या होगा, नये-नये कानन बन रहे हैं। जमींदारी की तरह ये मकान छुटा लेंगे तो ? नाना प्रकार के विकल्प बने हैं। घय होता है, और जिसने अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप का निर्णय कर लिया है कि मैं तो ज्ञान मात्र हूं। न रहेगा कुछ तो न सही, जो स्थिति आयेंगी उसमें ही गुजारा करेंगे मुझे बड़ा न मानना तो इससे कोई नुकसान नहीं है। मैं तो ज्ञानमात्र हूं ऐसा शुद्ध बल प्राप्त हुआ है तो दुःख नहीं होता है और जिसको यह ज्ञानबल प्राप्त नहीं है उसे अपने आपका पता ही नहीं रहता, वह सोच सोचकर दुःखी हो रहा है। संसार के दुःखों से विरक्त होने का नाम आकिञ्चन्य व्रत है।

आकिञ्चन्य भाव में विरक्ति का आदर्श—एक नगर का राजा मर गया। मंत्रियों ने सोचा कि अब किसे राजा बनाया जाय ? तय कर लिया कि सुबह के समय अपना राजफाटक खुलेगा तो जो फाटक पर बैठा हुआ मिलेगा उसको ही राजा बनायेंगे। फाटक खुला तो वहां मिले एक साधु महाराज। उस साधु का हाथ पकड़ कर ले गये। तुम्हें राजा बनना पड़ेगा !... अरे नहीं-नहीं, हम राजा नहीं बनेंगे !... तुम्हें राजा बनाना ही पड़ेगा। उत्तारो

यह लंगोटी और ये राजाभूषण पहिने। साधु कहता है अच्छा अगर हमें राजा बनाते हो तो हम राजा बन जायेंगे पर हमसे कोई बात न पूछना, सब काम-काज चलाना। हां-हां, यह तो मंत्रियों का काम है, आपसे पूछने की क्या जरूरत है? सब काम चला लेंगे। उसने अपनी लंगोटी एक छोटे से संदूक में रख दिया और राजवस्त्र पहिन लिये। दो चार वर्ष गुजर गये। एक बार शत्रु ने चढ़ाई कर दी। मंत्रियों ने पूछा राजा! अब क्या करना चाहिये? शत्रु एकदम चढ़ आये हैं। अब हम लोग क्या करें? साधु बोला अच्छा हमारी पेट्टी उठा दो। सब राजाभूषण उतारकर लंगोटी पहिन लिया फिर कहा हमें तो यह करना चाहिये तुम्हें जो करना हो करो, ऐसा कहकर चल दिया। यह प्रकृति की बात है, गृहस्थों में भी साहस होता है। बहुत सी घटनाओं में अरे रहने दो, क्या है हमारा, जाता है तो जाने दो। गृहस्थों में क्या कम बातें पायी जाती हैं?

आकिञ्चन्य भाव में सत्य का आदर—मुजफ्फरनगर में, जो कि मेरठ के पास है वहां एक सलेखचंद जैन थे। उनकी दुकान थी मनहारी की। सो उस दुकान का सेलर्टक्स का मुकदमा पहुंचा। वकील थे राजभूषण जी, वे भी जैन थे। जज ने पूछा की तुम्हारी दुकान कितनी बड़ी है तो वकील कहता है कि ७ फुट लम्बी और ४ फुट चौड़ी है। सलेखचंद कहते हैं कि और एक हाल भी है वकील ने सोचा कि देखो हम तो मुकदमा सम्हालते हैं और यह कहता है कि एक हाल भी है। जज ने पूछा कि दुकान में रोज कितनी बिक्री होती है? वकील साहब बोले कभी ५० रुपये की और कभी ६० रुपये की तो फिर सलेखचंद बोले हां कभी ५० रुपये की कभी ६० रुपये की, कभी २०० रुपये की और कभी ५०० रुपये की भी। कोई बहुत दिन पहिले की बात नहीं है। अभी १० वर्ष पहिले की बात है। वे तो गुजर गये अब। जज कहता है कि वकील साहब तुम कितना ही धुमाकर रहो, पर यह तो सच ही बोलने वाला आदमी है। जो उसने हिसाब दिया उससे भी घटा करके उससे सेलर्टक्स लिया। ऐसे चमकते रत्न विरले ही होते हैं, जो सच्चाई को लिये रहते हैं। यह सब आकिञ्चन्य भाव का ही, प्रताप है कि जो मूलतः सच्चाई का भाव रहे।

तिणमित्त परिग्गह जत्थ णट्थि मणिराउ विहिज्जइ तव अवत्थि ।

अप्पापर जत्थ वियार सत्ति पयडिज्जइ जहि परमेट्ठिभत्ति ॥

आकिञ्चन्य धर्म की उपासना के अभाव में भ्रमजन्य विडम्बनायें—जहां तृणमात्र भी परिग्रह न हो नहीं ही आकिञ्चन्य व्रत होता है। जहां आकिञ्चन्य व्रत है वहां स्व और पर का भेदविज्ञान होता है। देखिये भ्रम का कुछ भी तो मामला नहीं और मामला उतना बड़ा बन गया कि मनुष्य था अब मरकर पेड़ हो गया। तो अब पसरे पत्ती-पत्ती डाली-डाली। पत्तों की तरह से पसरे जो उस पेड़ की नसें, डालें हैं उन रूप फेले। ज्ञान का तो विकास वहां कुछ है नहीं। कीड़े मकोड़े हो गए तो फिर इधर-उधर। वहां तो वित्कुल विवशता हो जाती है। इतने संकट इस जीव पर बढ़ गये हैं, किन्तु बात कुछ नहीं है। जैसे कमी कोई झगड़ा व्यर्थ का बन जाय तो उसमें मूल बात कुछ नहीं है, पर झगड़ा कितना बढ़ गया? इसी तरह मामला कुछ नहीं है पर के साथ, सब अपने-अपने स्वरूप में हैं, पर जो विकल्प किया, सो ऐसा गहरा मामला बन गया कि अब दुख हो रहा है।

भ्रम में संकटों का भोग—दीपावली के दिन थे। दीपावली को पुताई होती है, तो गेरुये रंग से भी पुताई होती है। तो एक सेठ जी थे। उनके घर में गेरुये रंग की पुताई हो रही थी। शाम को पुताई करके सेठ की लड़की ने गेरुये रंग से भरा लोटा सेठ जी के नीचे रख दिया। सेठ जी को सवेरे ही लोटा ले जाकर शौच जाने की आदत थी। सो सुबह वही लोटा लिया और शौच चले गये। सो वह गेरुये रंग का लोटा था। वह तो लाल-लाल होता है ना? जब शुद्ध करने लगे तो एकदम दिल में धक्का पहुंचा, हाय भेरे कितना खून निकल गया? जब और अधिक भ्रम हो गया तो सोचा हाय, यह तो लगभग आधा सेर खून निकल गया। जब भ्रम हो जाता है तो शक्ति

घट जाती है। सेठ जी तुरन्त घर पहुँचे। बड़े जोर से बीमार हो गये। अचानक की बीमारी कैसे ठीक हो? सेठ जी तो बीमारी में पड़े हैं। अब जब सूर्य चढ़ा तो लड़की ने पूछा, दहा वह गेरुये रंग का लोटा कहाँ है, जो हमने पुनाई करके आपकी खाट के नीचे रख दिया था। सेठ ने सोचा अरे वह गेरुये रंग का लोटा था? लो सब बीमारी खत्म हो गई। वह तो बीमारी भ्रम की थी, हाथ खून निकल गया। जब जाना कि वह तो गेरुवा रंग था, तबियत अच्छी होने में देर नहीं लगी। तो केवल भ्रम करके और कल्पनायें करके ही तो इस जीव का दुःख हो जाते हैं, और तनिक ठीक बात ज्ञान की सही आ जाय तो ये सारे बनावटी संकट हैं, बनावटी बीमारियाँ हैं वे सब दूर हो जायें। ज्ञान होता है तो बीमारी खत्म हो जाती है, आत्मा में बीमारी कहाँ है? दुःख कहाँ है? ये तो सब बनावटी चीजें हैं। ज्ञानमात्र आत्मा की मुझे पहिचान होनी चाहिये फिर सारे दुःख मिट जाते हैं। जहाँ आकिञ्चन्य भाव का परिणाम आया वहाँ सारी वेदना समाप्त हो जाती है।

नैर्ग्रन्थ में आकिञ्चन्य धर्म—जहाँ तृणमात्र भी परिग्रह नहीं अथवा तृणमात्र में भी मूर्छा नहीं है, वहाँ ही आकिञ्चन्य व्रत है। कहा भी है—“फांस तनिक सी तन में साले, चाह लंगोटी की दुःख भाले” एक लंगोटी का धारण करना भी मोक्ष मार्ग को रोक दिया करता है। भैया! बिना मुनिलिङ्ग धारण किये मोक्ष हो ही नहीं सकता। जहाँ तृणमात्र भी परिग्रह नहीं, वहाँ अकिञ्चन्य व्रत है। ये नग्न दिगम्बररूप जो मुनि हैं वे आकिञ्चन्य व्रत की मूर्ति हैं। यदि सुखी होना है तो सब परपदार्थों को छोड़ो और अपने आपमें आकिञ्चन्य भावरूप अमृत को पाओ। कई लोग कहते हैं कि नङ्गा होना बुरा है, परन्तु वह बुरा तभी है जबकि उस नग्न हो जाने में विकार आ जाये। विकार नहीं आये और नग्न हो जाये तो वह बुरा नहीं है। अविकारी रूप से नग्न होकर बताओ और फिर कहो कि नग्न होना बुरा है। अविकारी रूप से जो नग्न दिगम्बर साधु होते हैं, वे वास्तव में साधु कहे जाते हैं। पहले जमाने में १०-१० वर्ष के बच्चे भी नंगे फिरा करते थे और ७-८ वर्ष की बच्ची नंगी फिरा करती थीं, परन्तु आज तो छोटे-छोटे बच्चों को भी नंगे नहीं फिरने दिया जाता। पहले तो उसके नंगे रहने में किसी प्रकार का विकार पैदा नहीं होता था, परन्तु अब वातावरण दूषित होने से विकार का भाव पैदा होने के कारण नंगे नहीं फिरने दिया जाता। बड़े-बड़े लोग कहते हैं कि नंगा होना बुरा है, यही भाव बच्चों में है। आज तो लोगों को विकार जरासी बात में हो जाता है। यह विकार आकिञ्चन्य भाव के अभाव में प्रकट होता है। नग्नरूप का दिख जाना, यह विकार का कारण नहीं। विषयेच्छा ही विकार का कारण है। जहाँ तृणमात्र भी परिग्रह नहीं, वहाँ ही आकिञ्चन्यव्रत होता है।

पर से भिन्न अकिञ्चन आत्मनिधिसम्पन्न ज्योति की उपासना में आकिञ्चन्य धर्म—जहाँ आत्मा और परका भिन्न-भिन्न विचार प्रगट हुआ वहाँ आकिञ्चन्यव्रत होता है। यदि आत्मा विषयवशार्थों के दुःख से मर रहा है तो सर्व पदार्थों को त्याग दो और अपने आपकी, आत्मा की रक्षा करो। सर्व पदार्थों से त्याग के बिना सुख हो ही नहीं सकता। आज की यह आकिञ्चन्य भावना परम अमृत भावना है। सुखे इस भावना के मानने से ही मिलेगा। जहाँ परमेष्ठी की भक्ति की जाती है वहाँ आकिञ्चन्य व्रत के पालन करने वालों की ही स्तुति हुई और उनकी क्या स्तुति हुई? आकिञ्चन्यगुण की स्तुति हुई, उसकी रुचि हुई और रुचि होने से वहाँ ही आकिञ्चन्यव्रत होता है। आकिञ्चन्यव्रत का धर्म अकिञ्चन के ही उपजेगा, सकिञ्चन के नहीं उपजेगा। जगत् के अन्दर जो चाहेगा कि बाह्य वस्तु मेरी है, उसके हाथों में दुर्गति ही मिलेगी। जहाँ बाह्य वस्तुओं का त्याग किया जाता है वहाँ ही आकिञ्चन्य धर्म प्रगट होता है। जहाँ तुच्छ संकल्पों का त्याग किया जाता है, वहाँ ही आकिञ्चन्य धर्म प्रगट होता है। इसी आकिञ्चन्य भावना के प्रभाव से तीर्थंकर मोक्ष गये।

दस धर्मों के नामक्रम में स्वभावविकास के आविष्कार की पद्धति का दर्शन—ये दस धर्म क्या

है ? पहले क्रोध का त्याग कराया, फिर मान, माया, लोभ का त्याग कराया, फिर सत्य, संयम, तप, त्याग और आकिंचन्य बताये उससे क्या किया ? ब्रह्मचर्य पाया, आत्मा की स्थिति पाई, आत्मा का मर्म पाया, आत्मा का शुद्धरूप पाया। यह कैसे हुआ ? एक प्रयोग करो। एक आतशी शीशे का कांच लाओ। यदि उससे रई जलानी हो तो सूर्य के सामने कांच को इस तरह रखो कि सूर्य की किरणें उस पर केन्द्रित हो जावें, इसे ही संयम कहते हैं। संयम इस शीशे में आये तो शीशे से ताप पैदा होता है। उस ताप की गरमी से यह असर होता है कि उस रई में जो मलिनता है उसका त्याग होने लगा। त्याग से आकिंचन्य आया, अब रई में मलिनता कुछ भी नहीं रही, यह तो उसका ब्रह्मचर्य है। अब इस प्रयोग को अपने में घटाओ। क्रोध, मान, माया, लोभ के त्याग से सत्य अपनाओ और ज्ञान को केन्द्र में केन्द्रित करो। इस प्रकार संयम पैदा होगा, उस संयम से चैतन्य प्रतपन पैदा हो गया। उस तप से रागादि, द्वेष आदि आत्ममैलों का त्याग हो गया। इसके त्याग होने से आकिंचन्य रह जायेगा अर्थात् केवल आत्म-स्वभाव रह जायेगा और कुछ भी उसके पास नहीं रहेगा। ऐसे आकिंचन्य होने के बाद ब्रह्मचर्य में अपने आपकी शुद्ध स्वभावरूप उसकी स्थिति हो गई। इस प्रकार ब्रह्मचर्यमय धर्म आकिंचन्य से प्रगट हो जाता है। अतः आकिंचन्य धर्म का सदा आदर करना चाहिये। अर्थात् मैं दूसरों का नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं हैं, मैं एक ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा सदैव ध्यान रखना चाहिये।

जह छडिज्जन्द संकप्प दुट्ठ भोयण बंछिज्जइ जह अणिट्ठ ।

आकिंचण धम्मजि एम होइ तं झाइज्जइ णरु इत्तुलोइ ॥

संकल्पमात्र के त्याग में आकिंचन्य धर्म—जहाँ पर सदा के लिये दुष्ट संकल्पों का त्याग किया जाता है वहाँ आकिंचन्यधर्म है। जहाँ रुचिकर भोजन का त्याग है वहाँ पर आकिंचन्य व्रत है। सर्व दुःख अज्ञान से हो जाते हैं। कामना, काम करना, कितनी-कितनी तरह की परेशानियाँ हैं पर २४ घण्टे में लगभग १५ मिनट के लिये ऐसा आत्मस्वरूप का चिन्तन करो कि सबको भूल जाओ, यह समझो कि ये भिन्न चीजें हैं, असार हैं। इतना ज्ञान हो जाये तो सारी परेशानियाँ समाप्त हैं। आपका घर वही है, वैभव वही है, सब बातें वही हैं। सब कुछ करते हुये भी कभी १५ मिनट तो सबको भूलकर अपने आप उस प्रभुत्ता के दर्शन करो। इतना साहस बना लो तो क्या विगड़ता है ?

एहुज्जिपहावे लद्धसहावे तित्थेसर सिवणयरिगया ।

ते पुण रिसिमारो मयण वियारा वदणिज्ज एतेण सया ॥

इस आकिंचन्य धर्म के प्रभाव से तीर्थंकर मोक्षरूपी नगरों को प्राप्त हुए हैं। ऋषिजन सदा इस आकिंचन्य प्रभु स्वरूप की आराधना करते हैं। इसी कारण प्रभु और ऋषिजन सब मेरे बंदनीय हैं।

दुःख में सभारता के अनुभव का बोझ—दुःखी होते हुए मनुष्य अपने में अन्दर से कुछ बोझ का अनुभव करते हैं, यह बात किसी को छिपी नहीं है। किसी तरह से दुःख आया हो उसमें भीतर से यही महसूस किया जाता है कि मेरे पर तो बड़ा बोझ है। चाहे इष्ट वियोग का दुःख हो, चाहे अनिष्ट संयोग का दुःख हो, चाहे वेदना का दुःख हो, समस्त क्लेशों में यह जीव अपने को भारयुक्त अनुभव करता है। घर में और दुःख किस बात का ? आप अपने को ऐसा बोझ वाला अनुभव करते हैं कि मेरे पर इतने लोग लदे हैं। प्रयोजन यह है कि सब दुखों में बोझ की बात जरूर आती है। अब जरा अपने आप में यह निर्णय करना है कि बोझ यह मिथ्या है या सचमुच का है ? मैं क्या हूँ—यह निर्णय किये बिना हम शान्ति का मार्ग नहीं प्राप्त कर सकेंगे और न समस्या का सही हल कर सकेंगे। मैं क्या हूँ—इस यदि परखना है तो सभी पदार्थों के स्वरूप परखने की जो विधि है वह विधि यहाँ भी लगाओ। देखिये—चौकी का असली रूप क्या है ? इसे आप इस तरह समझिये कि अपने आप में जो कुछ हो, न उस पर रंग

ही, न कोई उस पर आवरण हो और अपने आप में जो कुछ हो बस वही चौकी का अदली रूप है, ऐसे ही आत्मा की भी बात देखिये—आत्मा में अपने आप स्वयं अपने ही सत्व से जो कुछ हो वही मेरा स्वरूप है। क्या है स्वरूप ? केवल एक ज्ञानज्योति, एक ज्ञानप्रकाश। इस देह देवालय में विराजमान जो परमब्रह्म है वह एक ज्योतिर्मय है, ज्ञानस्वरूप है, प्रतिभासमात्र है। जानना जिसका कार्य है बस वही मैं आत्मतत्त्व हूँ।

गृह, परिजन, देह, कर्म, कर्म फल के भार से रहित अन्तस्तत्त्व की भावना—मुझ पर घर का बोझ नहीं, घर तो ईंट पत्थर का है, वह मेरा नहीं। मुझ पर परिजनों का बोझ नहीं, अंदर से सोचो—परिजन दूसरे जीव हैं, अपने-अपने कर्म लिये हुए हैं, अपने उदय से उनका कार्य होता है। तेरीतो पहिचान ही नहीं उनसे। तूने मोह में मान रखा है कि मेरा इनसे परिचय है। जैसे जगत के अन्य जीवों से आपका कोई परिचय नहीं है ऐसे ही घर में बसने वाले जीवों का आपको कुछ परिचय नहीं है। आपने तो जैसा मन में आया वैसा सोच रखा है। इन परिजनों का भार भी इस आत्मतत्त्व पर नहीं है। शरीर में बंधे हैं आप, मगर थोड़ी देर को इस शरीर को भूलकर केवल एक विश्राम से बैठ जाये, खुद में, जब शरीर का पता ही न हो कि मेरे कोई शरीर लगा है, उस समय अनुभव करके देखो कि इस आत्म स्वरूप पर शरीर का भी बोझ नहीं है। अपने परमब्रह्म अंतस्तत्त्व की बात कही जा रही है जो सबके अंदर मौजूद है और जिसके दर्शन बिना धर्म के नाम पर कितने ही हाथ पैर पटक लो, पर धर्म न होगा कर्म न कटेंगे, कल्याणमय परमशिव अंतस्तत्त्व की बात कही जा रही है। इस पर शरीर का भी बोझ नहीं है पर देखते हैं तो एक बड़ा बोझ मालूम देता है। जब हम इनमें विशेष ममता रखते हैं तो और बोझ लगने लगने लगता। हमारा उपयोग जब शरीर में आता है तो उससे बोझ मालूम होता है। इस अमूर्त गगनवत् दिलीप अंतस्तत्त्व पर बोझ किस बात का ? इस पर कर्म का भी बोझ नहीं है, बन्धन है, निमित्तनैमित्तिक भाव है। कर्म के फल में जब कुछ अपना उपयोग लगाते हैं तो बोझ कर्म का होता ही है। हम कर्म के फल को न चाहें तो मुझ पर कर्म का बोझ अब भी नहीं है और रहा सहा जो बोझ है वह सब मिट जायगा। हम बोझल बनते हैं अपने विकल्पों द्वारा। जैसे एक दोहा है ना—‘हाले फूले ने फिरे, होत हमारो व्याव। तुलसी गाय बजायके देत काटमें पाव ॥’ याने अपने आप में विपत्ति ले लेना—यह बात अन्दर अन्दर चल रही है। हम कर्म के फल में रुचि बनाते हैं, तो कर्म का बोझ लद जाता है। एक जगह लिखा है कि लोगों को कर्म फल देते हैं, क्या फल है कर्म का ? जीवन न रहे या धन वैभव न रहे। दोनों बातों से लोग डरते हैं। मेरा जीवन मिट न जाय। मेरे धन वैभव में कहीं घाटा न आ जाय, दो बातों से डरते हैं, और यदि एक ऐसा ज्ञानामृत का पान हो जाय, ज्ञानप्रकाश में आ जाय, जिससे कि अपनी सम्हाल बन जाय कि मैं स्वयं पूर्ण हूँ, अपूर्ण हूँ ही नहीं, तो डर किस बात का ? मैं स्वयं आनन्दमय हूँ। डर तो है ही नहीं। इसका अन्तः परिचय बनता है तो यह हिम्मत बनती है कि जीवन जाय तो जाय। मेरी भावना में कह तो देते हैं कि लाखों वर्ष तक जीवू या मृत्यु आज ही आ जावे, और पैर में कहीं काट खाये चींटी तो झट घबड़ा जाते हैं, अरे चींटी का ख्याल क्यों करते ? बोलने की बात और है और अन्दर सामने की बात और है।

अकिञ्चन अतुलनिधिनिधान अन्तस्तत्त्व की भावना—मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, यह बात जब समायगी तब ज्ञानमय आत्मा अपने आपसे परिचित हो जायगा। ये दिखने वाले परपदार्थ मेरे कुछ नहीं लगते, ये कोई मेरे प्रभु है क्या ? जो आपका प्रेमपात्र हो ऐसा पुत्र भी आपके लिए कुछ नहीं है, आपके लिए शरणभूत नहीं है, बल्कि बरबादी का हेतुभूत है। उसका आश्रय करके राग होता है। हम प्रतिक्षण मरते जा रहे हैं, पर उस मरण की ओर दृष्टि नहीं करते। जहां पापमयी परिणाम बना, वहां पाप बना, जहां द्वेष हुआ वहां पाप बना, अपना जो ज्ञानज्योति स्वरूप है वह बरबाद हो रहा है, इस मरण की कुछ सुध नहीं लेता, और उस मरण का ख्याल कर रहे कि एक दिन होगा जब कि इस शरीर को छोड़कर जाना पड़ेगा। अरे उस मरण से भी इस रोज-रोज का मरण बड़ा भयंकर है। एक

बार का मरण कोई भयंकर नहीं है, उससे आत्मा की कोई हानि नहीं है। शरीर छूट गया, चला गया इससे कोई हानि नहीं। जैसे आपसे कहें कि आप वहाँ बैठ जाओ, तो आप झट वहाँ से उठकर बैठ जाते हैं, आपको इसमें कोई कष्ट तो नहीं होता, ऐसे ही आपसे कोई विधि कहे कि आप इस शरीर को छोड़कर इस शरीर में आ जाओ तो इसमें आपको क्या कष्ट ? मरण में क्या नुकसान ? लेकिन जो २४ घंटे रात दिन रागद्वेष मोह करके अपने प्रभु को मलिन कर रहा है वह मरण बरबादी का कारण है। तो जब तक अपने अकिंचन स्वरूप निःसंग स्वरूप सर्वभावों से रहित केवल ज्ञानज्योतिमात्र अपने आपके स्वरूप का निर्णय न होगा तब तक धर्म की बाह्य बातें कपोलवाद है। अनुभव करें अपने आपको कि मैं कृतार्थ हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, मेरे को कोई काम नहीं पड़ा, मेरे ये कोई क्लेश की बात नहीं। हिम्मत बनाओ कौसी भी समस्या आये तो उसका स्वागत करें आती विपत्ति तो आने दो, परिश्रम होते हैं तो होने दो। कदाचित् मरण भी हो जाये तो उससे क्या नुकसान है ? कुछ भी नहीं, उसे देखकर एक ज्ञान कर लें। हां हो रहा कर्म का विपाक है, उससे मेरा क्या नुकसान ? जब तक ऐसा भाव चित्त में न आये कि मेरा बाहर कहीं कुछ नहीं है, इस प्रकार की श्रद्धा जब तक न आये तब तक शान्ति नहीं मिलती।

निःसंगता में ही आत्महित—परिश्रम तो दुःख का हेतुभूत है—केवल एक मोहवश ऐसा मान रखा है कि परिश्रम से बड़ी इज्जत है अरे कुछ साधियों द्वारा प्रशंसा के शब्द गा दिए गए तो उससे क्या लाभ ? ये काम न देंगे, किन्तु एक अकिंचन निःसंग आत्मत्व की उपासना में वह इज्जत बनेगी कि तीन लोक का अधिपति हो जायगा। तो चित्त में आना चाहिए कि परमाणु मात्र भी मेरा कुछ नहीं है। घर-घर में दुःख है, मेरे को कम मिला, इनको अधिक मिला, मेरे को कम अच्छे कपड़े मिले, इनको खूब अच्छे कपड़े मिले। अरे ये सब व्यर्थ की बातें हैं। इनसे कुछ भी लाभ न मिलेगा। लाभ मिलेना धर्म करने से, इससे शोभा है, बाहरी बातों से क्या शोभा ? तो ये सब परिश्रम बुद्धि के ही तो नुकसान हैं। अब आजकल तो कुछ स्त्रियां बाजारों में सफेद राख पोतकर (पाउडर लगाकर) और होठों में खून पोतकर (लाली लगाकर) घूमती हैं। जब कोई उन्हें देख लेते हैं तो उन्हें बड़ा भद्दा लगता होगा। भला बतलावो ये व्यर्थ के अटसट क्यों किए जा रहे हैं ? क्या दूसरों को प्रसन्न करने के लिए ? परिश्रम में, शरीर में जब तक ममताबुद्धि लगी है तब तक सदबुद्धि कहां से आये ? अपने आपको विचारो—अहमिबको खलु सुद्धो दसणणाण-मइओ सदाऽऽस्वो। ज्वि अत्तिव मज्झ किचिवि अण्णं पः माणुमित्तिपि। मैं एक हूँ, अकेला हूँ, सबसे निराला हूँ, ज्ञान-दर्शनमात्र हूँ, मेरा तो परमाणु मात्र भी कुछ नहीं, मुझ पर कोई भार नहीं। तत्त्वज्ञानी पुरुष जानता है कि ये जो रागद्वेषादिक भाव होते ये मेरी चीज नहीं, इनसे मुझ पर कोई बोझ नहीं, मैं तो रवभावतः एक अविकार निश्चल निष्काम ज्ञानाद्रष्टा हूँ। यह एक अमूर्त तत्त्व है।

आकिंचन्य प्रतीति सहित परमविराम का अनुपम फल—एक जगह गुणभद्र स्वामी ने कहा कि हे शिष्य ! देख मैं तेरे कान में एक बात कहूंगा ? अरे जोर से क्यों न कहोगे ? .. देख मर्म भरी बात चित्तलाने से हृदय में नहीं उतरती, गभीर दृष्टि से विचार—अकिंचनोहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः। योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्य परमात्मनः ॥ मैं अकिंचन हूँ। यह बाहरी रूप मेरा स्वरूप नहीं, मुझ में बाहरी चीज कुछ मेरी नहीं ऐसा जानकरतू विग्रामसे एक क्षण को बैठ नोजा, देख तू तीनलोक का अधिपतिहो जायगा। किसी कोबड़ा ज्ञानीबननाहो, तो बड़ा ज्ञानी कौन कहलाता जो तीन लोक काल की सत्र बातों को जानता है अगर आपको सबसे बड़ा ज्ञानी बनना है। कानो सर्वज्ञ बनना है तो आप विद्यार्थी सीख-सीखकर, ज्ञान अर्जन करके सर्वज्ञ नहीं बन सकते हैं। अभी इसे जाना, फिर इसे जाना ऐसा धीरे-धीरे पढ़ लिखकर सर्वज्ञ बन जाय सो नहीं बना जा सकता। तो कैसे बना जा सकता है ? सर्वज्ञ बनने का भाव छोड़ दो, यह बाहरी सब चीजों की बात भूल जाओ, केवल अपने आप में विश्राम से बैठ जाओ, ऐसा कर्मफलका विनाश होमा कि यह सर्वज्ञ बन जायेगा। तो जैसे स्वज्ञता बनने का उपाय थोड़ी-थोड़ी बातों का

सीखना नहीं हैं। इसी तरह तीन लोकका अधिपति बनना वैभवका रखना जोड़ना नहीं हैं, किन्तु सब वैभवोंको तिलाञ्जलि देकर अपने आपको आकिञ्चन निर्भर अनुभव करें, यही अधिपति होने का उपाय है। भागवत में एक निःसंगताका वर्णन है। द्वितीय स्कंध के ७ वें अध्याय के १० वें छन्द में वहाँ बताते हैं कि नाभेरसावृषभ आस सुदेविसृष्टयो वै चचार समस्यद्वोधचर्याम्। यत्पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति, स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः। ऋषभदेव, सुदेवी मरुदेवी के सुतः नाभिनन्दन जो निःसंग हो स्वस्थ हो, इन्द्रियाँ जिसकी प्रशान्त हैं जिनके परमहंसमय पदको ऋषिजन प्रणाम किया करते हैं वे इस तरह की दृष्ट्या में आचरण कर रहे कि सर्व पदार्थों में समान दृष्टि रखें। बड़े-बड़े पुरुषों ने सब कुछ पाकर छोड़कर निःसंग होकर, अपरिग्रही होकर अपने आप में अपनी सुविधा का अनुभव किया और यहाँ के सुभट उसकी खबर भी नहीं करते।

श्रम की भार—ये संभार सुभट बाह्य परिग्रहों की ओर ऐसा दीड़ लगाये है कि जैसे बहकाया हुआ लड़का भागता फिरता है। किसी ने बहका दिया कि रे बेटे तेरा कान कौवा ले गया तो वह बालक दीड़ता है और चिल्लाता है, अरे मेरा कान कौवा ले गया। अरे भाई वहाँ भागे जा रहे हो ?—अरे मत बोली—मेरा कान कौवा ले गया।...अरे जरा टटोल कर देख तो सही, कहां तेरा कान कौवा ले गया ? तेरा कान तो तेरे ही पास है ? जब टटोल कर देखा तो कहा—अरे है तो सही मेरा कान मेरे ही पास। बस उसका रोना बन्द हो गया। ठीक ऐसे ही मंसारी प्राणी बाह्य पदार्थों के पीछे दीड़ लगा रहे हैं, उन्हें यह पता नहीं कि मेरा सारा वैभव तो मेरे ही पास है। इस अपने वैभव का पता न होने से यह बाह्य पदार्थों के पीछे दीड़ लगाता फिरता है और दुःखी होता है। कोई भी परपदार्थ इसके लिए बोझ नहीं बनता, पर यह ही उन परपदार्थों के प्रति नाना प्रकार की कल्पनाएँ करके अपने पर बड़ा बोझ मानता है। जैसे किसी सेठ का कोई नौकर ऐसी कल्पना कर ले कि मेरे ऊपर तो सेठ की सारी जायदाद का बोझ है तो वह घबडाता फिरता है, पर उसकी इस घबड़ाहट को देखकर लोग उसकी मजाक करते हैं। कहते हैं कि देखो इसका है कहीं कुछ नहीं, है तो सब सेठ सेठानी का, पर कैसा यह सारी जायदाद को अपनी मानकर उसको बोझ मानता है। ठीक यही हाल तो आप सबका है। घर के जिन दो चार जीवों के लिए आप रात दिन बड़ा श्रम कर रहे हैं उनकी आप नौकरी ही तो कर रहे हैं। तभी तो आपको रात दिन इतना अधिक श्रम करना पड़ता है। जब उनके पुण्य का उदय है तब आपको उनकी नौकरी तो बजानी ही पड़ेगी। पर आप अपनी कल्पनाएँ बनाकर उनके पालन-पोषण करने वाले बनते हैं और अपने ऊपर उनका बहुत बड़ा बोझ अनुभव करते हैं। आप कभी अपने को निर्भर नहीं अनुभव कर पाते। तो यह परिग्रह का ही तो संग है। परिग्रह का संग हम आपके लिए बहुत बुरा है। जब तक अपने आपको निःसंग नहीं अनुभव किया जायगा तब तक तो लोक व्यवहार में भी चैन नहीं मिल सकता।

अकिञ्चन, परविद्विक्त, ज्ञानदर्शनमय अन्तरतत्त्व की भावना—मैया ! आत्मस्वरूप ही निःसंग है, अकेला है, इस पर दृष्टि देते हुए समय-पर में कहा है कि मेरा यहाँ परमाणुमात्र भी नहीं है। मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानमात्र हूँ। मेरा स्वरूप क्या ? ज्ञानप्रतिभास स्वरूप। आत्मा का कोई काला, पीला, नीला, लाल आदिक वर्ण नहीं होते, खट्टा, मीठा, कड़वा आदिक रस नहीं होते, आत्मा में कोई गंध नहीं होते। वह तो आकाशवत् अमूर्त है। आकाश में और मुझ आत्मा में फर्क यह है कि मैं आत्मा जानता देखता हूँ और यह आकाश कुछ जानता देखता नहीं। जैसे यह खम्भा पड़ा है तो यह भी कुछ जानता देखता नहीं, न इसमें कोई रागद्वेषादिक विकार ही होता है, पर ऐसे ही इस आत्मा में भी स्वभाव से कोई रागद्वेषादिक विकार विषय कषाय आदिक के भाव नहीं होते। ज्ञानी पुरुष जानता है कि आत्मा में होने वाले ये विकारभाव इस मुझ आत्मा के नहीं हैं आत्मा तो इन सबसे निराला ज्ञानमात्र एक सत्त्व है, इस प्रकार के ब्रह्मस्वरूप की जब तक दृष्टि नहीं बनती तब तक आत्मा कल्याण का पात्र

नहीं है। बाह्य में जहाँ जो होता हो, हो, उनसे मेरा कुछ वास्ता नहीं। जो इस तरह से बाहरी परिणतियों की अनसुनी कर देगा वह सुखी रहेगा, शान्त रहेगा। मात्र ज्ञातादृष्टा रहो। एक जगह लिखा है कि जो स्वयं दृष्टा है उसे देखो, जो आप स्वयं हैं उसके दर्शन करें। मान लो आप यहाँ भेरठ में न पैदा होते, मान लो इंग्लैंड वगैरह किसी दूसरे देश में पैदा होते तो फिर यहाँ की वृद्ध भी चीज आपके लिए क्या थी? यहाँ के ये परिचित लोग फिर आपके लिए कौन थे? क्या इनमें फिर आप अपनी प्रशंसा की चाह करते? तो इस थोड़े से जीवन के लिए ऐसा ही समझलो कि हम यहाँ पैदा ही नहीं हुए, हमें यहाँ का कोई समागम क्लिप्त ही नहीं। अरे यहाँ तो यह सब व्यर्थ का झमेला है, सारभूत काम ये कुछ नहीं हैं। यहाँ किसी भी पुर पदार्थ की परिणति से रच भी श्रुद्ध न हों, किसी परपदार्थ की ओर आकर्षित न हों, किसी को अपने चित्त में न बसायें, ऐसा भाव अपना न बनायें कि मेरे प्रति बहुत अधिक लोगों का आकर्षण हो, सभी लोग मुझे बहुत-बहुत घेरे रहें, मेरी बहुत-बहुत पूछताछ करते रहें। अरे तुम तो अकिंचन स्वरूप हो, उसको तो तुम देखते ही नहीं, अपनी दृष्टि तो बाहर-बाहर ही लगा रहे तब तो फिर निश्चित है कि इससे तो इस आत्मा का अकल्याण है।

अन्तस्तत्त्व के लगाव बिना अनेक दोषों से आक्रान्त होने के कारण बिडम्बिता—देखो अपने आपके इस ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व की ओर न देखोगे तो बिडम्बिता बनेगी, पक्षपात होता रहेगा, रागद्वेष होगा, बहुत-बहुत बातें सोचनी पड़ेंगी, बड़ी हैरानी करनी पड़ेगी। राग के होते हुए प्रेम, विरोध के रहते हुए न्याय न रहेगा, वहाँ पक्षपात ही होगा। तो यही तो परिग्रह है। कोई यदि ऐसा सोचे कि परिग्रह तो बाह्य पदार्थों का नाम है सो बात नहीं है। जहाँ आत्मा में रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक विकार हो रहे हैं वे सब इस आत्मा के लिए परिग्रह हैं। आत्मा के लिए वास्तविक परिग्रह यही हैं, ये धन वैभव मकान महल आदिक कोई भी परपदार्थ इस आत्मा के लिए परिग्रह नहीं हैं। हाँ अगर इन बाह्य पदार्थों के प्रति ममता है, मूर्खा है, इनके प्रति व्यर्थ का भ्रम बना डाला है तो यही इस आत्मा का परिग्रह है। यहाँ तो धन वैभव मकान महल, सोना, चाँदी आदिक को उपचार से परिग्रह कहा गया है। क्योंकि उनका विषय करके, उनका आश्रय करके ये कषाय उत्पन्न होती हैं, ये विकार भाव उत्पन्न होते हैं। असली परिग्रह तो वह है जो इस आत्मा को निरन्तर शल्य की तरह दुःख देता है। ये कषायभाव इस आत्मा के लिए महान् परिग्रह हैं क्योंकि ये निरन्तर इस जीव को दुःख दिया करती हैं। तो अपने आत्मस्वरूप को अकिंचन देखो, मेरा संसार में कहीं कुछ नहीं है। मेरा तो केवल एक ज्ञान मात्र स्वरूप है और भी देखिये अकिंचन की सेवा करेंगे तो अपने आपका अतुल खजाना मिलेगा। समृद्ध (धनिक) पुरुषों की सेवा करने से इस आत्मा को लाभ कुछ न मिलेगा। व्यवहार में भी आप समझ रहे होंगे।

अकिंचन तुङ्ग से से सिद्धि की संभावता—आप सभी लोग जिन भगवान की पूजा करने आते हैं, उनमें ऐसी कोन सी विशेषता है जिससे आप उनके दर्शन करने आते हैं? अरे वे अकिंचन हैं। उनके पास स्त्री, पुत्र, धन, दौलत आदिक कुछ भी परिग्रही नहीं रहे। वे अकिंचन हो गए, उन्होंने अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूप को प्रकट कर लिया है। तो आप उस अकिंचन प्रभु की भक्ति करते हैं, पर उसमें ही इतनी शक्ति है कि आपकी मनचाही सारी वस्तुओं की प्राप्ति उनकी भक्ति से प्राप्त हो सकती हैं। यहाँ के धनिक जो बड़े-बड़े धन वैभव आरम्भ परिग्रह के बीज हैं उनसे आपको कुछ भी सारभूत बात नहीं प्राप्त हो सकती। अकिंचन से जो बात प्राप्त हो सकती है वह बड़े बड़े समृद्धशालियों से भी नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसी बात तो यहाँ भी देखने में आती है। विषापहारस्तोत्र में धनञ्जय कवि ने कहा है कि—“तुङ्गात्फलं यत्तर्काचिचनाच्च प्राप्यं समृद्धास धनेश्वरादेः। निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रैः नैकापि निर्यातिघ्नी पयोधैः ॥ हे प्रभो! देखो जो तुङ्ग है (ऊँचा पर्वत है,) अकिंचन है, वहाँ जल की एक बूँद नहीं दिखती, फिर भी बड़ी-बड़ी नदियाँ उन पर्वतों से ही निकलती हैं, और जो समुद्र अथाह जल से भरा हुआ है उससे

कोई नदी निकलते हुए किसी ने न देखा होगा। तो ऐसे ही हे प्रभो ! आप ज्ञानानन्द के पुंज, गम्भीर हैं, तुङ्ग हैं, उच्च हैं, अकिंचन हैं। आपसे सब कुछ प्राप्त हो सकता है। अब जरा अपने आप पर दृष्टि दो। जो कुछ प्राप्त होता है वह सब भीतर के खजाने से निकलता है, बाहर से कुछ नहीं आता। अब आत्मा में ज्ञान और आनन्द गुण हैं, बस वही निकलता है हर जगह। चाहे विषयसुख में आनन्द मिले तो भी विषय से आनन्द नहीं निकलता, किन्तु आपके आनन्द स्वरूप से आनन्द निकलता है, मगर वह आनन्द मिला है तो आपको स्वरूप से निकलकर मिला है, न कि भोजन आदिक किसी विषय साधन से निकला। तो जो तुंग है, अकिंचन है उससे सब कुछ प्राप्त हो सकता है, लेकिन जो समृद्ध है, बाह्य परिग्रह में आसक्त है, परिग्रहवान है उसे कुछ भी नहीं प्राप्त हो सकता। अकिंचन्य भाव स्वयं अमृत है। अकिंचन्य सुधापान करके अमर, निराकुल सत्य समृद्ध प्रभु की उपासना में अद्वैत निधि प्राप्त हो, इसमें क्या आश्चर्य है अपना हित इसी में है कि अपने को बाह्य से अकिंचन और निज में स्वरूप समृद्ध अनुभव करें।



उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

ब्रह्मन्वत्तु दुद्धं धारिज्जइ बरु केडिज्जइ विसयासणिह ।

तियसुखयत्तो मणकरिमत्तो तं जि भय्य रवसेहु थिरु ॥

ब्रह्मचर्य का अन्तर्वाह्य स्वरूप—अब आज उत्तम ब्रह्मचर्य का वर्णन है ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं? ब्रह्म माने आत्मा—आत्म स्वभाव है ज्ञानदर्शन और ज्ञानस्वभाव में ठहरना इसे कहते हैं ब्रह्मचर्य। रागद्वेष रहित निर्विकल्प ज्ञान स्वभाव निज आत्मतत्त्व ज्ञान स्वभाव में स्थिर रहना और वेदल ज्ञाताद्वैता ही बने रहना, यही उत्तम ब्रह्मचर्य कहलाता है ब्रह्मचर्य के घातक पापों पाप हैं। हिंसा से भी ब्रह्मचर्य नष्ट होता है। झूठ बोलने से चोरी से कुशील सेवन से और परिग्रह के कारण भी ब्रह्मचर्य नष्ट होता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए पापों पापों का त्याग बताया है ब्रह्मचर्य में इन पापों में से कुशील नामक पाप के त्याग की प्रसिद्धि है। कुशील के त्याग से ब्रह्मचर्य है। कुशील एक ऐसा बुरा पाप है जिसमें कामी पुरुषों का चित्त टिकाने नहीं रहता। उसे कुछ भी नहीं सूझता। वह शरीर को, उसके बीज को नष्ट करके भी अपने आपको सुखी करना चाहता है। कामीजन राग रङ्गरेलियों में आसक्त होते-होते अपने आपको सुखी समझते हैं। काम के बराबर जगत् में कोई व्याधि नहीं। काम-वासना की व्याधि नहीं। काम-वासना की व्याधि सबसे बड़ी व्याधि है कुशील आत्मा के भूल हित को जड़ से नष्ट कर देता है। इस पाप के समय आत्मा को निजस्वरूप की सावधानी नहीं रहती, ब्रह्मचर्य की समृद्धता नहीं रहती।

इसलिये कुशील के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

ब्रह्मचर्य की विशेषतायें—ब्रह्मचर्य का बड़ा महत्व है। ब्रह्मचारी सदाशुचिः। जिसके परद्रव्यविषयक रुचि नहीं रही है, कामवाधा का तो निशान भी नहीं है, ऐसे आत्मसन्मुख दृष्टिवाले भव्य अंतरात्मा सर्वशक्तियों से रहित, सत्यानंदमय रहते हैं। कदाचित् कर्मोदय को निमित्तमात्र करके उदित स्वयं की आशक्तता के कारण गार्हस्थ्य-जीवन में किसी ज्ञानी की परिस्थिति हो तो वहां भी ये ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन रखते हैं और सतत यही प्रत्यय करते हैं कि वस्तुतः मैं निष्कर्मा हूँ, ये क्रियायें क्षणिक विभाव हैं और आसक्ति को दूर करने की भावना रखते हैं। इसके पालन करने वाले स्वदारसंतोषी गृहस्थ की संतान सुभग और बुद्धिमान होती है ब्रह्मचर्य कुशील के त्याग को कहते हैं। गृहस्थों का धर्म ब्रह्मचर्य अणुव्रत है कि अपनी स्त्री में ही सन्तोष रखना, अपनी स्त्री से मनमाना काम सेवन न करना, अपनी स्त्री के भोग में भी काम वासना का भाव अधिक न रखना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। गृहस्थ को कितनी बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—व्यर्थ मजाक न करना, जैसे कि प्रायः पति पत्नियों में हर्ष में रागमय बोलने की आदत पड़ जाती है तो वह भी बुरी बात है। हर्ष में तो धर्म की आदत होनी चाहिये, धर्मयुक्त वचन श्रवण चाहिये। ज्ञानी पुरुष के सामने तो विषय का प्रसंग आ जाये तो वह ज्ञानी दुखी होता है। वह अन्तरङ्ग से दुखी होता है। गृहस्थों को बच्चों के समाने मजाक भी नहीं करनी चाहिये। अधिक समय ब्रह्मचर्य का भाव कंदर्प आदि अतिचारों से दूर रहने वाले ही रखते हैं।

सुशील माता के चरित्र का सन्तान पर सत्प्रभाव—गुजरात का जिक्र है कि एक राजा था। राजा पर मुगलों ने चढ़ाई कर दी। मुगलों की सेना से लड़ने के लिये राजा का लड़का गया। वह वीरता से युद्ध करता करता रहा। अवसर कि बात है कि युद्ध में उस राजा के लड़के का सिर कट गया। फिर भी उसके हाथ की तलवार ने बहादुरी से १०-११ मुगलों को मार दिया। मुगलों के राजमंत्री ने सोचा कि यह कितना बहादुर है, फिर वह तो ओर भी अधिक बहादुर होगा, जिसकी यह सन्तान है। जिस सन्तान ने मर जाने पर भी १०-११ सैनिकों को समाप्त कर दिया। यह बात जाकर उसने मुगल बादशाह से कही। बादशाह ने कहा कि उस राजा को हमारे राज्य में लाओ ताकि हम उसका विवाह अच्छी लड़की से कर देंगे, जिससे ऐसी ही बहादुर संतान हमारे राज्य में भी हो। वह मंत्री उस राजा के पास गया और बोला कि महाराज हमारे बादशाह ने बुलाया है। राजा ने पूछा कि क्यों बुलाया है? तो उसने कारण नहीं बताया। राजा उसके साथ हो लिया। रास्ते में राजा ने बहुत जिद्द की कि हमें कारण बताओ तो मंत्री बोला कि महाराज, आपके पुत्र के बल की प्रशंसा सुनकर हमारे राजा ने आपको अपने राज्य में बुलाया कि आपकी शाही राज घराने की किसी भी लड़की से कर देंगे ताकि आप उनके राज्य में रहकर वंसी ही संतान पैदा करें। तब राजा बोला कि अच्छा भाई, वहाँ हमारे लायक कोई लड़की भी मिलेगी? तो मुगल मंत्री बोला कि अच्छी से अच्छी लड़कियाँ, सुन्दर सुन्दर हमारे राज्य में हैं। तब राजा बोला कि मुझे सुन्दर लड़की नहीं चाहिये। मुझे ऐसी ही लड़की चाहिये जैसी कि मेरी रानी थी। तब मंत्री बोला कि महाराज आपकी रानी कैसी थी?

अब राजा ने अपनी रानी का चरित्र सुनाना प्रारम्भ किया कि जो राजपुत्र लड़ाई में मारा गया, जब वह केवल ६ मास का था और पानने में सो रहा था तो मैं रानी के कमरे में गया और कुछ राग भरी बात रानी से कहने लगा। तब रानी ने टोका कि इस बच्चे के सामने रागमिश्रित बात मत बोलो। यह परपुरुष है। तब मैंने कहा कि इतने छोटे से बच्चे के रहने से क्या होता है? ऐसी हम बातें कर ही रहे थे कि उस बच्चे ने शर्म से अपना मुँह झाँक लिया। यह बात रानी ने देख ली और वह बोली कि देखो आप इसके सामने राग भरी बात करते थे, इसलिये इसको भी शर्म आ गई और इसने अपना मुँह चादर से ढाँक लिया। यह कहकर अपनी जीभ निकालकर, उसे दाँतो

के बीच चबाकर मर गई। यह उसके शील की थोड़ी-सी कहानी है। सारी चर्या का तो कहना ही क्या? अतः यदि तुम्हारे राज्य में ऐसी ही शीलवती लड़की हो तो मैं उससे विवाह कर सकता हूँ, तब ही एसी बलवान सन्तान पैदा हो सकती है। मन्त्री अपना सा मुँह लेकर चला गया। इससे क्या निष्कर्ष निकला? सन्तान में बुद्धि का आना, बल का आना, ज्ञान का बढ़ना, योग्यता का आना, माता पिता के शील-स्वभाव पर निर्भर है। इसलिये बच्चों के आगे व्यर्थ मजाक न करो और असमय में भी व्यर्थ मजाक न करो। धर्म से रहो तो सन्तान और पति पत्नी सब पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

सम्यग्ज्ञानी के ब्रह्मचर्य की सुगमता—ब्रह्मचर्य आत्मा में लीन रहने का उपदेश करता है। इस समाधिभाव की प्राप्ति के लिये कुशील के त्याग करना पूर्ण आवश्यक है। सन्तोष धारण करने वाले गृहस्थजनों को सदा शील का पालन करना चाहिये इससे आत्मशील प्राप्त होता है। आज दशलाक्षणी का अन्तिम धर्म है ब्रह्मचर्य व्रत। आत्मा के ज्ञानरूप में लीन हो जाना सो ब्रह्मचर्य है, और इस लोक व्यवहार में कुशील अवस्था का त्याग कर देना सो ब्रह्मचर्य है। यह ब्रह्मचर्य विषयाशा का त्याग कर देने से सुगम सिद्ध होता है। विषयों से जीव का हित नहीं है। जैसे कोई अविनयी पुरुष डाकुवों के गुण्डों के गिरोह में फँस जाय तो वह बहुत लुट पिटकर पीछे पछतावा करता है। इसी प्रकार विषयों में आसक्त पुरुष विषयों में रमकर अपने तन मन वचन सब कुछ खोकर पछतावा करता है। जब जिन्दगी चली जाती है, तब याद आती है कि इस जीवन को यदि हमने धर्म में लगाया होता तो आज कुछ हमारे साथ रहता। यह शील, ब्रह्मचर्य यद्यपि दुर्धरव्रत है, पर ब्रह्मचर्य से कठिन तो कुशील की प्रवृत्ति है। कितनी बातें सहते, व्यभिचारीजन, कितने ही कष्ट सहते, कितने ही अपमान सहते, कितनी आशा प्रतीक्षा का मङ्गलेश सहा करते, किन्तु ब्रह्मचर्य में अपनी आत्मदृष्टि है, निजतत्त्व में रमण है। यह जीव स्त्री सुख में लीन होकर मनरूपी हाथी से भी कठिन मदोन्मत्त हो रहा है। हे भव्य जीवो! इस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो।

चित्त भूमि मयणुवि उप्पज्जइ तेण जु पीडउ करइ अकज्जइ।

तियहं सरीरइ णिदइ सेवइ णियपरणारि ण मूढउ वेयइ ॥

कामविकार की व्यर्थ अनर्थ माया—इस काम नाम है मनोज। यह कोई रोग नहीं है, यह कोई वेदना नहीं है। काम का भाव कोई हिसाब में नहीं आता है। जैसे कि बलिष्ठ भोजन कर लिया तो हिसाब लग जाता है कि आज तो पेट दर्द करेगा। यह हिसाब में सम्मिलित नहीं है, यह तो मन की ढील से जब चाहे उत्पन्न हो जाती है। बीमारी का तो हिसाब है अब इतना तेज बुखार आ गया, अब बढ़ रहा है, अब ६८ डिग्री से ६६ डिग्री हो गया, ६६ डिग्री से १०० डिग्री हो गया, मियादी बुखार है, ७ दिन में उतरेगा। पर ऐसी कोई चीज हो तो हिसाब लगे, यह काम तो कोई चीज स्वयं नहीं है। काम कोई शारीरिक दशा नहीं है, वह तो मनोज है। मन में संकल्प हुआ और मनगढ़न्त कष्ट सहने लगा, इस काम से पीड़ित होकर यह जीव अकार्य कर देता है। इस स्त्री के निन्द्य शरीर का यह मूढ़ राग करता है, और यह स्वस्त्री का, परस्त्री का कुछ विवेक भी नहीं करता। ऐसा यह मोह और मिथ्यात्व का मद होता है। होगा क्या इससे? संसार में रलना, जन्म मरण का पाना। हाय, काम से वासित होकर जीव ने अपने को इस दुर्लभ नररत्न को पाकर भी इस दुःखमयी संसार में डुबो दिया।

ब्रह्मचर्यव्रत की अत्यावश्यकता—हे भव्य जीव! ब्रह्मचर्य व्रत महान् दुर्धरव्रत है। यदि कठिन चीज पर अपना वश हो जाये तो वह प्राणी सदा के लिये सुख का मार्ग पा लेगा। इन विषयों की आशा को दूर करके इस दुर्धर धर्म को अच्छी तरह से पालना चाहिये। अपनी स्त्री के अतिरिक्त सबको माता, बहिन, पुत्री समझो। स्त्रियाँ भी अपने पति के अतिरिक्त सभी पुरुषों को पिता, पुत्र, और भाई के समान समझें। ऐसी समझने की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, यदि उनमें उपयोग ही न जाये। ऐसे दुर्धर ब्रह्मचर्य धर्म को धारण करना चाहिये जिससे

कि विषयों की आशा ही पैदा न हो सके। विषयों के आसक्त सप्तम नरक के नरकी से भी पतित हैं। वे तो सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं, परन्तु भोगासक्त को सम्यक्त्व की गन्ध (आभास) भी नहीं हो सकती।

ब्रह्मचर्य सिद्धि के लिये असत्संगति और अभक्ष्य के त्याग की परम आवश्यकता—एक कवि ने एक वेश्यागामी का ऐसा चित्र खींचा है—वेश्या की नाचने गाने की सभा लग रही है, मंजीरे भी बज रहे हैं, मृदङ्ग भी बज रहे हैं, वेश्या नाच रही हैं, जितने बादमी उस सभा में बैठे हैं वे अपना सिर हिला रहे हैं। तो वह कवि कह रहा है कि...मृदङ्ग कहे धिक् है, धिक् है, मंजीरे कहे—किनको-किनको तब वेश्या हाथ पसार कहे, इनको, इनको, इनको, इनको। जितने भी व्यक्ति उस वेश्या की सभा में बैठे थे, उनकी उपमा दी गई कि मृदङ्ग तो कहता है धिक्कार है, मंजीरे कहते हैं कि किनको धिक्कार है? जब वेश्या उन बैठे हुये लोगों की तरफ हाथ पसार कर कहती है कि इनको धिक्कार है जो यहां अपना समय नष्ट कर रहे हैं। वेश्याओं के यहां जाने वालों का यही हाल है। यही सिनेमा देखने की बात है। लोग कहते हैं कि क्या होता है सिनेमा देखने में? आजकल के सिनेमा कहते हैं कि हमको शिक्षा का प्रसार करने के लिये ईश्वर ने भेजा है, परन्तु अच्छे से अच्छा सिनेमा होगा तो वहां भी खोटी बात अवश्य मिलेगी। धार्मिक सिनेमा भी कोई इन कम्पनियों में बनता है तो उसमें भी बीच बीच में ऐसी बात आ जाती है कि लोगों को पाप की ओर की रुचि उनमें मिल सके। जिनको अपने ब्रह्मचर्य को स्थिर रखना है, उन्हें सिनेमा को त्यागना चाहिये। अच्छी-अच्छी रीलें यदि बनाई जायें तो उनमें अश्लील बातें नहीं आनी चाहियें। ब्रह्मचर्यार्थी को बाजार की अभक्ष्य चीज के खाने का त्याग हो। कितनों ही में यह प्रथा चल गई कि अण्डे और मांस खाये बिना चैन ही नहीं पड़ता, परन्तु यह नहीं सोचा कि ये अण्डे और मांस हैं क्या? अण्डे जब गर्भ में आते हैं तो जीव आ जाता है। पहले तो रज-वीर्य में ही बहुत से जीव रहते हैं, फिर अन्य जीव के आने का कारण उसमें कठोरता आती है। पहले तो मांस जैसे ढीले ढाले से रहते हैं फिर कठोर हो जाते हैं। वह पंचेन्द्रिय जीव अण्डे हैं। मांस—उसमें भी जीव हैं और पकते हुये में भी जीव पैदा होते रहते हैं। उसमें तो हर समय जीव पैदा होते रहते हैं। इन अभक्ष्य चीजों का त्याग ब्रह्मचर्य धारण करने के लिये आवश्यक है। अनुचित आहार-विहार से मैथुन तपस कामभाव बढ़ता है। मैथुनप्रसङ्ग शरीर का राजा जा वीर्य है उसको समाप्त कर देता है। इसलिये अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य धारण करो। महीने में २५ दिन, २६ दिन, २८ दिन लगातार तीन महीने, ६ महीने जितने दिन अधिकाधिक हो सके, पूर्णतया ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिये।

कुशील की कुशीलता जानकर कुशील के त्याग का आदेश—मरठ में एक ३०-४० वर्ष की आयु का युवक था। पहले उसका कैसा चरित्र था, यह हम नहीं कह सकते। यही समझ लो कि हर एक काम में परफेक्ट था। जब से धर्म में लगन लगी तो वह मुझे कहता था कि २-३ वर्ष से आपके समागम कभी-कभी प्राप्त होते रहने के कारण हमारे जीवन में बहुत परिवर्तन हुआ। ऐसे जीव ने आजीवन महीने में २६ दिन का ब्रह्मचर्य रखा और उस मर्यादा में एक दिन भी उस कमरे में नहीं सोया जहां उसकी स्त्री सोती थी। जमीन पर भी सो जाता, काय-क्लेश भी महता और स्त्रीकाम केवल एक दिन रखा, सो उस दिन भी ब्रह्मचर्य का पूर्ण ध्यान रखता था। उसे अनुभव में आ गया कि कुशील बहुत नची चीज है। इससे दूर रहकर जो रह सकता है वह अपनी आत्मा का उत्थान करेगा। यह ब्रह्मचर्य व्रत वास्तव में तो ज्ञानी धारण करते हैं। अनादि, अनन्त, अहेतुक, ज्ञानस्वभाव को जानकर किसी प्रकार के विषयकषाय में विषयबुद्धि नहीं करना, यही ब्रह्मचर्य है। आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य यही है। इस दृष्टि से विषयकषायों में रत रहने वाला व्यभिचारी कहा जाता है। सबसे बड़ी बात विषयभोग के त्याग की होती है। इसके त्याग वाले को अन्य विषयों के त्याग अति सरल हैं।

कामविकार की चिडम्बना—यह काम का रोग और किसी तरह कुछ नहीं पैदा होता, मनका विकल्प

होने से ब्रह्मचर्य का घात होता है। यह काम मलोज है। पुरुष स्त्रियों के अत्यन्त निन्द्य शरीर का सेवन करता है और स्त्री भी पुरुषों के अत्यन्त निन्द्य शरीर का सेवन करती है। कामवासना के वशीभूत होकर कितने ही पार्श्व निजस्त्री और परस्त्री में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करते, छोटे से छोटा काम कर देते हैं। एक बार राजा भोज के सामने एक वेश्या अमरफल लाई। उस अमर फल की कथा यह है कि राजा कहीं से आ रहा था तो रास्ते में किसी ने वह अमरफल उसे भेंट किया था। उसने सोचा कि मेरी स्त्री मुझे सबसे प्यारी है इसलिये इस अमरफल को मैं उसे दूंगा। तब उसने महलों में आकर-उसे रानी को दे दिया और कह दिया कि इसे तुम खा जाओ, तुम अमर हो जाओगी और मैं सुखी हो सकूंगा। रानी का कोतवाल से प्रेम था, इसलिये उसने स्वयं न खाकर वह फल कोतवाल को दे दिया, परन्तु कोतवाल का प्रेम एक वेश्या से था। अतः उसने वह फल वेश्या को दे दिया। उसी अमरफल को वह वेश्या राजा को भेंट कर देती है। तब राजा विचार करता है और सब कुछ तुरन्त समझ जाता है। तब वह कहता है कि—

“यां चिन्तयामि सतत मयि सा विरक्ता साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।

अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या, धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥

अर्थात् जिस स्त्री का मैं विचार करता हूँ वह मुझ से विरक्त है, वह स्त्री जिसका विचार करती है (कोतवाल), वह स्त्री से विरक्त है और वह कोतवाल जिस वेश्या से प्रेम करता है वह वेश्या कोतवाल से विरक्त है। ऐसे कामियों का यही स्वरूप है। यह मनुष्य काम के वश में होकर अपना जीवन खो ता है। धिक्कार है उस स्त्री को, उस पुरुष को, इस काम को और इस वेश्या को और मुझे भी। धिक्कार ‘मन के द्वारे हार है’ की कहानी मात्र है।

कामी की तुच्छता का उदाहरण—एक सिपाही एक वेश्या से प्रेम करता था। उसके चक्कर में उसने अपना सारा धन उसे लुटा दिया। बहुत दिनों बाद जब वह सिपाही बुढ़ा हो गया तो वेश्या ने उसे उतार दिया और अपने यहाँ आने नहीं दिया। तब वह सिपाही वेश्या के सामने जो वृक्ष था उसके नीचे बैठ रहा वहाँ। किसी ने उससे पूछा कि तुम यहाँ बैठकर क्या लेते हो? तब वह उत्तर देता है कि मैं यहाँ इसलिये बैठा रहता हूँ कि मेरा इस वेश्या से प्रेम है, यह मुझे अपने यहाँ तो आने नहीं देती, कदाचित् किसी समय किसी काम से छत पर चढ़े तो उसके दर्शन ही हो जायें करेगे। वह इसी तरह वहाँ तपस्या करता हुआ बैठा रहता। ऐसे कुकर्मी लोग इसी तरह की पीड़ा सहते हुए बुरी मौत भरते हैं। छोटा भाव तो बिना शिक्षा दिये भी ग्रहण में शीघ्र आ जाता है।

कामभाव के उपसर्ग से बचने की सावधानी की आवश्यकता—आज का समय बड़ा नाजुक हो गया। ऐसे समय में माता पिता आदिक की चाहिये कि जब बच्चा अपनी जवानी के सम्मुख हो तब उस पर पूर्ण निगाह रखनी चाहिये, नहीं तो वह लावारिष सा हो जाता है और बुरी संगत में पड़ जाता है। कोई बच्चा कहीं भ्रष्ट हो जाता है और कोई कहीं। इस लिये उन पर पुरी निगाह रखने की आवश्यकता है, जिसे किसी प्रकार का उनके दिल में कुभाव पैदा न हो सके। २० वर्ष का जीवन इस प्रकार व्यतीत कर ले तो इनके संतान भी होगी तो ऐसी, जो अपनी धर्म निष्ठा चारित्र्य शक्ति के द्वारा हर प्रकार के मनुष्यों की रक्षा करने में समर्थ होगी। जितना आज मनुष्य परोपकार कर जाये व अपने आपको सम्यक्ज्ञान से जितना निर्मल बना ले वही ठीक है। ये सब चीजें यहाँ की यहाँ ही नष्ट हो जायेंगी। ऐसा सुना जाता है कि इस काम वासना के वश में होकर मनुष्य कहीं कुछ भेदभाव नहीं रखता। बड़े होकर भी कितने ही लोग तो यह कुटुम्ब के परिवार जनों में अपनी कुबुद्धि लगाते हैं, यह कहाँ तक उचित है? ऐसी बात शोभा नहीं देती। पहिले तो एक ईशा पुराण की सुनी जाती थी, अब कोई कहता है कि किसी-किसी घराने में भी होने लगा। धिक्कार है काम भाव को।

कामी की कुबुद्धि और दुर्गति—एक राजा के यहां उसकी सुन्दर लड़की थी। उसका लड़की पर दुर्भाव हो गया। तब उसने अपने दरबारियों से सलाह की कि राज्य के अन्दर जो सबसे बढ़िया चीज है उस पर विसका अधिकार होना चाहिये? कुछ लोगों ने कह दिया कि राजा का होना चाहिए। फिर उसने यही प्रश्न कुछ ज्ञानी लोगों से भी पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया—महाराज! परस्त्री, पुत्री, मां, बहिन आदि के सिवाय और जो बढ़िया चीज राज्य में है, उन पर राजा का अधिकार होता है। कथा आगे लम्बी है। प्रयोजन मात्र यह है कि कोई एक कथा ऐसी सुनी जाती थी, वहां भी विवेक से संभाल हो जाती थी। आज तो लोग विवेकियों का समागम न रखने के कारण अंधकार में जा रहे हैं। अधिक कष्ट न हो तो कम से कम इतना तो जनसमुदाय करे कि वे सत्पुरुषों की संगति का अधिक से अधिक लाभ उठाते रहें। सत्समागम वाले के कुबुद्धि आवे भी तो वह घर नहीं कर सकती। जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं करता, वह जीव नरकों में पड़कर महादुःख भोगता है। परस्त्री गामियों को वहां लोहे की गरम गरम सलाखों से चिपटाया करते हैं। नारकी अनेकों दुःख दिया करते हैं। काम का ऐसा खोटा फल हुआ करता है। ऐसा जानकह ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये मन वचन से भी इसका पालन करो। ब्रह्मचर्य का विरोधक केवल अपने पर ही अनर्थ नहीं करता, किन्तु सन्तान पर भी अन्याय करत है। माता-पिता के अल्प कुभाव से ही महा अनर्थ सम्भव हो जाता है।

माता के कुविकल्प का सन्तान पर दुष्प्रभाव—एक ब्राह्मण माता-पिता के एक लड़का था, उन्होंने अपने लड़के से कहा कि तू विवाह कर ले। पहले तो वह इन्कार करता रहा, फिर जब माना पिता ने जबरदस्ती की तो उसने कहा हम अन्धी लड़की के साथ विवाह करेंगे। उसकी शादी अन्धी लड़की से कर दी गई। उसके तीन लड़के पैदा हुए। तब उस अन्धी स्त्री ने अपने पति से कहा कि आप ब्राह्मण हैं और अनेक प्रकार के मंत्र विद्या आदि जानते हैं। हम चाहते हैं कि हमारी आंखें खुल जायें ताकि हम भी इस संसार को देख लें। ब्राह्मण ने कहा कि देखो तुम आंखें मन खुलाओ, परन्तु वह न मानी। तब ब्राह्मण ने उसकी आंखें खोल दीं। फिर उसके एक लड़का और पैदा हो गया। बहुत दिनों के बाद स्त्री ने पति से कहा कि आप हमारी आंखें क्यों नहीं खोलना चाहते थे तब ब्राह्मण ने कहा मेरी बात की परीक्षा करके देखो। आज के दिन तुम रोटियां मत बनाओ। जब लड़के रोटी मांगने आवें तो उनसे यह कहना कि तुम्हारा बाप हमें पीटता है, इसलिये हमने रोटी नहीं बनाई। स्त्री ने ऐसा ही किया। सबसे पहले बड़ा लड़का आया, उसने कहा माता जी भूख लगी है भोजन दो। तब माता ने उसको बताया कि तुम्हारे पिता मुझसे लड़ते हैं, मुझे पीट भी देते हैं, इससे चिन्ता में मैंने रोटी नहीं बनाई। तब लड़के ने उत्तर दिया कि आप माता हैं और वे पिताजी हैं हमको बीच में बोलने का अधिकार नहीं है, परन्तु हमें भूखे तो नहीं रखना चाहिये। दूसरा लड़का आया तो उससे भी उसी प्रकार मां ने कहा और उसने वैसे ही उत्तर दिया। तीसरे ने भी उसी प्रकार का उत्तर दे दिया। अब चौथा लड़का आया जो आंख खुलने के बाद पैदा हुआ था। स्त्री ने उससे भी वही बात कह दी तो उसने उत्तर दिया कि मां तुम रोटियां बनाओ, मैं बाप-फाप को अभी देखता हूँ कि वह तुम्हें कैसे मारता है? सबकी बातें स्त्री ने अपने पति से कही। तब पति ने पूछा कि यह बताओ कि जब चौथा लड़का तुम्हारे गर्भ में था तब तुम्हारे मन में क्या विकार आया था? तब स्त्री ने उत्तर दिया कि मेरे मन में कोई बुरा विकार तो नहीं आया, परन्तु एक दिन मैं छत पर खड़ी थी, नीचे दृष्टि पड़ी तो एक पहलवान जा रहा था। तब हमारे मन में यह विचार अवश्य आया कि पहलवान कंसा हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला है? इसके अतिरिक्त हमारे मन में कोई अन्य भाव नहीं आया। तब पति ने कहा कि बच्चे में तुम्हारे इस विचार का ही प्रभाव आया है, तभी वह यह बोलने को तैयार हो गया कि मैं बाप-फाप को देखता हूँ, अम्मा तुम रोटी बनाओ। इसीलिये मैंने तुमसे कहा था कि तुम अपनी आंखें मत खुलवाओ, परन्तु तुम न मानी और यह बच्चे का खयाल पैदा हो गया।

परिवार के हित में गृहस्थ की ब्रह्मचर्य विषयक जुम्मेदारी—तात्पर्य यह है कि संसार में गृहस्थों की बड़ी जुम्मेदारी है। यदि पूर्ण ब्रह्मचर्य से भी न रह सको तो कुछ ऐसी कोशिश करो कि भारत भूमि पर ऐसे लड़के तो पैदा नहीं हों जो भारग्रहण हो जावें। इसलिये देश और आत्मा को उठाने के लिये ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने की बड़ी आवश्यकता है। गृहस्थी में ऐसे नियम बना लेने चाहिये कि एक मास में इतने दिन ब्रह्मचर्य रखूंगा। स्त्री से पूछ लेना और जो सलाह बैठे सो कर लेना। गर्भ में बच्चा आये तब से लेकर दो साल तक भोग नहीं करना चाहिये। गर्भस्थ स्त्री से भोग नहीं करना और बच्चा पैदा हो उसके बाद भी दो वर्ष पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना। यदि ऐसा नहीं किया गया तो सन्तान पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। जिसको अपने शुद्ध स्वभाव का ज्ञान होगा, उसके मन में कभी दुःख पैदा नहीं होगा। मन गन्धी और गया कि पीड़ा होने लगी और जहां बुरे कर्मों की ओर दृष्टि नहीं होगी वहां पीड़ा चित्त में आयेगी ही कैसे? ब्रह्मचर्य अच्छी तरह से तभी निभेगा जब कि बुरे कामों की ओर दृष्टि नहीं होगी।

अध्रुव जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत की संभाल करके भव पार होने के उपाय बना लेने का अनुरोध—ब्रह्मचर्यव्रत से मनुष्य संसार-समुद्र से पार होता है। कुशील, परस्त्रीगमन, कामवासना, व्यभिचार आदि से न कोई कभी शान्ति पा सकता और न मोक्ष मार्ग का पालन कर सकता है। इस ब्रह्मचर्य के बिना तपस्या आदि करना सब व्यर्थ है। "जगत् चवेना काल का, कुछ मुख में वृद्ध गोद। विषय सुखन के राज में, मूर्ख माने मोद।" अर्थात् यह जगत् का चवेना है कोई तो काल के मुख में है, कोई काल की गोद में है और कोई हाथ में है। ये जगत् के प्राणी बहुत देर तक तो रह नहीं सकते, जीवन और यह समागम सब क्षणभंगुर हैं। फिर किसके लिये ये छोटे काम किये जायें? आजन्म ब्रह्मचर्य लोग यही सोच कर पालते हैं। ब्रह्मचर्यपालन में सन्देह क्या, जब मन ही में कोई बात नहीं आती। भूल की व्यथा तो कठिन है, पर व्यभिचार की व्याधि कठिन नहीं। मन का विकल्प दूर हो तो ब्रह्मचर्य का पालन हो जायेगा। इसके पालन में बड़ी से बड़ी स्थिरता रहनी चाहिये।

स्वात्मानन्दपद प्रवेशरूप ब्रह्मचर्य से सर्वसिद्धि—हे भव्यजीव! इस बाह्यस्पर्शन इन्द्रिय से आत्मा को बचाओ। ब्रह्मचर्य का आनन्द तो ज्ञानस्वभाव निज आत्मा में शान्ति से रिचर हो जाने में है। वहां ब्रह्मचर्य का परम माहात्म्य मालूम होता है। 'वीरग्य शतक' जो भर्तृहरिका बनाया हुआ है उसमें लिखा है कि—

कि वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः,

स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।

मुक्त्वैक भवदुःखमाररचनाविध्वंकालानलं,

स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वाणिग्वृत्तयः ॥

अर्थात् वेदों और शास्त्रों के पढ़ने से और घंटों व्रतों का कार्य करने से क्या? आत्मा में रागद्वेष दुःख की ज्वाला, जो जल रही है, उसको नष्ट करने में समर्थ यह ज्ञान दृष्टि ही है। इसके अतिरिक्त आत्मा किसी भी तरह शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। बाह्य में ये जो विषयकषाय होते हैं, जिनकी प्रवृत्तिमात्र से कोई शान्ति और दुःख चाहे तो नहीं सो सकता। शान्ति तो एक ज्ञान भाव की भावना से ही मिल सकती है। बाह्यस्पर्शन इन्द्रिय से आत्मा की रक्षा करो और अपनी आत्मा में ही परम ब्रह्मचर्य व्रत को देखो। इसका स्वरूप ज्ञानस्वभाव यह निज आत्मतरंग, धट-धट में विराजमान है। क्यों उस पर दृष्टि नहीं पहुँचती? इसलिये कि हम बाह्य पदार्थों का लक्ष्य कर करके आध्यात्मिक विचार भुला रहे हैं।

कामविजयी प्रभु की आराधना में उत्कर्ष—इन बाह्य पदार्थों से दृष्टि हटाई जाये तो आध्यात्मिक वैभव आ जाता है। एक स्थान पर ध्यान में मग्न जिनेश के प्रति कामदेव—रति बार्ते करते जा रहे थे—

कोऽयं नाथ जिनो भवेत्तव वशी, ऊं हूं प्रतापी श्रिये,
 ऊं हूं तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यावलेपकियां ।
 मोहजेन विनिजितः प्रभुरही तत्किकराः के वय,
 इत्येवं रतिकामजल्पविषयः सोऽयं जिनः पातु वः ॥

‘यह कौन है’ नाथ ! ऐसा रति के पूछने पर कामदेव बोला कि यह जिनेन्द्र है । रति पूछती है कि क्या ये भी तुम्हारे वश में हैं ? कामदेव ऊं हूं ये संकेत से इन्कार कर देता है । फिर रति कहती है तो फिर आज से तू अपना धर्म छोड़ दे कि मैं सारे जगत् को वश में किये हुए हूँ । तब कामदेव बोला कि इन्होंने मोह को ही बीत लिया है अतः हृष किकर इनको क्या वश में कर सकते हैं ? इस तरह जिसके विषय में काम व रति जल्पना कर रहे हैं वह जिनेन्द्र हम तुम सबकी रक्षा करें । रक्षक यहां भी निज भाव ही है । ऐसे जिनेन्द्र की आराधना निर्विकार निर्विकल्प ज्ञानरूप परमात्मा की आराधना हमारे हित के लिये है । वैसे तो पुजारी सभी हैं, भक्त सब ही हैं, पूजा और भक्ति के बिना कोई नहीं रहता । कोई स्त्री का पुजारी है, कोई पुत्र का पुजारी है, कोई देश का पुजारी है तो कोई जिनेन्द्रका भगवान का पुजारी है, और कोई अपने निज ज्ञान स्वभाव का भक्त है । जिनके मिथ्यात्व का उदय होता है उनकी भक्ति छोटे विषयों में पहुंचती है और जिनके सम्यक्त्व का विकास होता है, उनकी भक्ति निज आत्मा स्वरूप और परमात्मा में रहती है । मैं जगत् के बाह्य पदार्थों से भिन्न निज ज्ञानस्वभावी चैतन्यस्वरूप आत्मा, यही मैं हूँ, उसी में लीन होना सो उत्तम ब्रह्मचर्य कहलाता है । ज्ञानस्वभाव की दृष्टि स्थिर करना यह उत्तम ब्रह्मचर्य के पाने का अन्तःसाधन है । जो अपनी आत्मा में ही लीन है उसको यह ब्रह्मचर्य व्रत प्राप्त होगा । ज्ञान की ओर दृष्टि रखना, अन्य विकल्पों में न पड़ना ही ब्रह्मचर्य साधना का उत्तम उपाय है । आत्मानुभव से बढ़कर आनन्द है कहां ?

विषडइ गिरइ महादुह भुंजइ, जो हीणु जि बंभव्वउ भंजइ ।

इय जाणेप्पिणु मण-वय-काएँ, वंभचेरु पालहु अणुराएँ ॥

ब्रह्मचर्य भंग का फल दुर्गति जानकर ब्रह्मचर्य के पालन करने का आदेश—जो हीन पुरुष ब्रह्मचर्यव्रत का भंग करता है वह नरकों के महान् दुःखों को भोगता है याने दुर्गति को प्राप्त होता है । ऐसा जानकर हे भव्यजीवों ! मन वचन और काय से अनुरागपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो । धर्म का मार्ग सीधा सादा है । वस्तुस्वरूप का सम्यग्ज्ञान करो और अपने आत्मा के दर्शन करके प्रसन्न रहो । अपने पर कुछ बोझ मत मानो । हम आपने स्वयं बोझ मान लिया है, नहीं तो कोई बोझ नहीं है । स्त्री है तो उसका भाग्य, बच्चे हैं तो उनका भाग्य, जो अन्यजन हैं उनका अपना भाग्य । किनके बोझ लदा है ? ऐसा निर्णय मन में रखो । जो सहज होता है होने दो, पर अपने में विकल्प मत लावो । किसी का बोझ तुम पर नहीं लदा है । मेरे लिये तो केवल यह मैं ही हूँ—ऐसा जानकर सबसे विरक्त होओ और अपने ब्रह्मचर्य का पोषण करो ।

तेण सहु जि लब्भइ भवपारउ, बंभय विणु वउ तउ जि असारउ ।

बंभव्वय विणु कायकिलेसो, विहल सयल भासियइ जिणेसो ॥

ब्रह्मचर्य बिना व्रत तप आदि की निष्फलता—ब्रह्मचर्य से यह जीव संसार से पार होता है । ब्रह्मचर्य के समान पवित्र और क्या धर्म है । जिसने ब्रह्मचर्य लिया उसने सब त्याग ही लिया । ये जो पहिले संस्कार चलते थे १६ संस्कार, गर्भ हो तब संस्कार, जन्म हो तब संस्कार, तो यह अदिक अच्छी परम्परा थी कि इस जीवन को साध लिया करते थे । जितने भी तप, व्रत हैं वे सब इस ब्रह्मचर्य से ही शोभा पाते हैं । अन्यथा सब व्रत, तप निष्फल हैं ।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

बाहिर फरसें दिगसुहरक्खउ परमवंबु आभितर पिक्खउ ।
एण उवाए लब्भइ सिवहरु हम रइधू वह भणइ विणययर ॥

निरन्तर ज्ञानोपयोग में ब्रह्मचर्यव्रत की सिद्धि—स्पर्शन इन्द्रिय के सुख से, इन्द्रिय के विषयों से आत्मा को दूर रखो, परमब्रह्म को निज रखो। इस उपाय से मोक्ष प्राप्त होता है। दौ बच्चे बनारस में पढ़ते थे। बड़ा बच्चा पढ़कर घर आया तो उसकी शादी कर दी। वह अपनी स्त्री के पास नहीं सोता था। स्त्री ने यह बात ननद से कह दी और ननद ने अपनी मां से कह दी। तब मां ने समझाया कि स्त्री के पास सोया करो, सोना चाहिये, इससे लड़का पैदा होता है। तब लड़के ने उत्तर दिया कि मां तू बड़ी झूठी है। झूठ बोलते तुझे शरम ही नहीं आती। देख हम और छोटा भाई ८ वर्ष तक बनारस में एक बिस्तर और एक रजाई में सोये तो भी कोई लड़का पैदा नहीं हुआ। मां को बच्चे का उत्तर सुनकर हंसी आ गई। इसलिये तो ज्ञानी कहते हैं कि अनजान बच्चों को ब्रह्मचर्य सिखाना भी बुरा है। न जानता हो तो बुरी बात जान जाये कि कुशील क्या होता है? हां, जो कुशील में है या कुशील के योग्य हो रहे हैं। उन्हें कुशील के दुर्गुण समझ में आये बिना कुशील से निवृत्ति नहीं होती। इसी तरह जो विभाव में रहते हैं उन्हें विभावों की अहितकारिता पहिचाननी चाहिए। सो अय्या! बच्चों को तो सिखाते हैं—राजा राणा छत्रपति... दिसे चाम चादर मढ़ी... आदि, परन्तु हम बड़ों ने ज्ञान की परवाह नहीं की। अब तो हम बड़ों को जगत् का स्वरूप समझना चाहिये और कुवासना में अपनी बुद्धि नहीं जाने देना चाहिये। ज्ञान का ही लक्ष्य रखना चाहिये। ज्ञानभाव में ब्रह्मचर्य निहित है और ब्रह्मचर्य में शेष सभी धर्म निहित हैं।

दशलक्षण धर्म की आज्ञावन आराधना से लाभ—इन दस लक्षण धर्मों के पालन करने से मनुष्य, जीवन का आदर्श प्राप्त करेगा। इसके पालन करने से वह आत्मा में लीन होता है और उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। आज दस लक्षण पूर्ण हो रहे हैं। प्रायः ऐसा रिवाज होता है कि दस लक्षण तक तो ठीक रहता है, फिर धर्म में कमी कर दी जाती है। परन्तु धर्म एक दिन में प्राप्त नहीं हो जाता और अन्तर्मुहूर्त में भी प्राप्त हो जाता है। इनकी उपासना बारहों महीना करने से इनकी प्राप्ति होती है। हमारी ही आत्मा में तो ये धर्म सब बिराजमान हैं, उन धर्मों के प्रतिनिधि ज्ञानस्वभाव पर हमें दृष्टि देनी चाहिये।

जिणणामहिञ्जइ मुणि पणमिञ्जई वहलक्खण पालीहणिर ।

ओ खेमसियासुय भव्वविणयजुय होलुवमण इह करहु थिर ॥

धर्मपालन में परम आनन्द का लाभ—जिसकी जिनदेव ने महिमा गाई है, मुनिजन जिसको प्रणाम करते हैं ऐसे दस लक्षण धर्म का उत्तम प्रकार से पालन करो। हे भव्य जीव अपने धर्म में इस मनको स्थिर करो। इन धर्मों का पालन करोगे और आत्मदर्शन आदि करोगे तो ऐसा करने से सहज जीवन स्थिर होगा, परमसुखशांतिमय परिणमन रहेगा। ये दस धर्म आत्मा के स्वभाव हैं। अतः आत्मा में आत्मा को पाते हुये इनकी रक्षा करनी चाहिये। इनके अतिरिक्त जगत् में कोई किसी की रक्षा करने वाला नहीं। रक्षा करने वाली तो केवल ज्ञानस्वभाव की दृष्टि है जो सबसे मौजूद है, इस दृष्टि को स्थिर करते हुये अपने चैतन्य स्वभाव की रक्षा करो। इसकी रक्षा ब्रह्मचर्यव्रत के पालन करने से हो सकती है तथा सब पापों से बचने से ही पूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। इन सब बातों के लिये व्यवहार-नय से सर्व परिस्थिति जानकर शुद्धनय से आत्मा के एकत्व का आलम्बन करना चाहिये। इसकी श्रद्धा ज्ञानाचरण पर्याय की निर्मलता का कारण है। जब आत्मीय सब गुण एकत्व अथवा निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त होते हैं अर्थात् द्रव्यस्वरूप (आत्मस्वभाव) के अनुसार चारित्र्य होता है तब स्वभाव व पर्याय समरस एक समान हो जाते हैं। यही परमकल्याण है। यही परमब्रह्मचर्य है। यही परमार्थ है। यही परम आनन्द है।

ब्रह्मचर्य का स्वरूप—शरण और अशरण के स्थान निराले-निराले परस्पर प्रतिपक्षी दो हैं—शरण तो है ज्ञानानन्द स्वरूप अन्तस्तत्त्व का दर्शन और अशरण है अपने स्वरूप दर्शन से च्युत होकर बाह्य में परभाव में किसी भी प्रकार की लगन शरण में पहुँचने का नाम है अशरण और अशरण की बात में जाने का नाम है अब्रह्मचर्य । यह परमार्थ की व्याख्या कही जा रही है । अपने स्वरूप में न रमकर किसी बाह्य पदार्थ में दृष्टि गड़ाना, उपयोग लगाना यह सब है व्यभिचार और अपने आपके स्वरूप में लीन होना इसका नाम है ब्रह्मचर्य यह है एक उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य की व्याख्या, और इसकी दृष्टि होने पर फिर जो भी कार्य बाह्य के भी किए जाते हैं, चूंकि दृष्टि का सम्बन्ध है इसलिए रूढ़ि नहीं है, उन अन्य कामों को व्यभिचार कहने की केवल परस्त्री सेवन, वेश्यासेवन आदि कुशील कार्यों को व्यभिचार कहने की पद्धति है । पर ब्रह्मचर्य का उत्कृष्ट स्वरूप क्या है, सो कहते हैं ज्ञानार्णवमें कि विन्दति परमं ब्रह्मायत्समालम्ब्य योगिनः । तद्ब्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्वीरधीरेय गोचरम् ॥ जो समता का आलम्बन करके योगीजन परमब्रह्मस्वरूप का अनुभव करते हैं उसका नाम है ब्रह्मचर्य । वास्तव में ब्रह्मचर्य का ध्यान करने वाले ये हैं हिंसा करने वाले, झूठ बोलने वाले, चोरी करने वाले, कुशील सेवने वाले और परिग्रह जोड़ने वाले । लोग इन सब कामों के करने वालों को व्यभिचारी नहीं कहते, सिर्फ कुशील पाप को व्यभिचार कहते हैं । उसका कारण यह है कि यह कामवासना एक बड़ा भयंकर पाप है । इस कामवासना के रहते हुए मन बड़ा क्षुब्ध रहता है, भीतर ही भीतर खोलता रहता है । उसे ब्रह्मस्वरूप के दर्शन करना बहुत दूर हो जाता है । इस कामवासना के पाप में बड़ी बेहोशी रहती है । इसके समान अन्य पाप में बेहोशी नहीं होती, इसी कारण इस कामवासना के पाप को व्यभिचार शब्द से कहा गया है ।

ब्रह्मचर्यसाधना का एक सुगम उपाय गुणवृद्धसेवा—जिन्हें ब्रह्मचर्य की साधना करनी हो उनका कर्तव्य यह है कि वे गुणवृद्धों की संगति करें, छोटे अभिप्राय वाले लोगों की संगति का त्याग करें । यहां वृद्ध शब्द का अर्थ बूढ़े से न लेना किन्तु गुणों में वृद्ध से लेना । ज्ञानार्णव में वृद्ध सेवा की बड़ी महिमा बतायी है । एक स्थल पर लिखा है—तपः कुर्वन्तु वा मा वा चेद्वृद्धान समुपास्ते । तीर्त्वा व्यसनकान्सारं, यान्ति पुण्यां गतिं नराः ॥ कहते हैं कि यदि वृद्धों की सेवा की जा रही हो—गुणों में वृद्ध, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र क्षमा नम्रता आदिक में बड़े हुए लोगों की सेवा में यदि बहुत रहा जाय तो वह तपश्चरण करे अथवा न करे, वह समस्त विपत्तियों के बन से तिरकर पवित्र गति में प्राप्त हो जायगा सत्संग का इतना महत्त्व है । रूढ़ि भी तो है, अगर प्रवचन सभा होती है तो कहते हैं कि भाई सत्संग हो रहा, वहाँ चलो तो सत्संग का क्या मतलब ? सुनने वाले भी अच्छे हैं, बोलने वाला भी अच्छा है । वहाँ चर्चा आत्मगुणों की है, इसलिये वह सत्संग कहलाता है । जहाँ प्रवचन सुनने वाले भी सज्जन समझदार, बोलने वाला भी सुलझी हुई बुद्धि का, ऐसे लोगों का जमाव हो तो उसका नाम है सत्संग । वहाँ क्या प्रवचन हो तो वह सत्संग कहलाता है । सत्संग में बहुत प्रभाव है । असत्संग मत करें । चाहे पाप के उदय कितने ही आयें, चाहे कष्ट कितने ही आयें मगर असत्संग मत हो । असत्संग से बड़ी विपदा होती है ।

मनका ऊधम मनोजता—आज का विषय है ब्रह्मचर्य । आत्मा की पवित्रता ब्रह्मचर्य से है । ब्रह्मचारी सदा शुचिः । साधुजन स्नान नहीं करते, मगर वे ब्रह्मचर्य के स्नान से अत्यन्त पवित्र हैं, अनादि से अब तक काम, क्रोध, मान, माया, लोभ में समय बिताया, लेकिन यह मोही प्राणी अफरा नहीं । अफरा कहते हैं—पेट मर जाय, सन्तुष्ट हो जाय, और इन सबमें भी काम रोग इतना गन्दा रोग है कि जिसकी कुछ जड़ भी नहीं । किसी को यदि भूख लगी है और वह तड़प रहा है—भाई दया करनी चाहिए, तो वह बता तो सकता है, फोड़ा हुआ है, रोग हुआ है, बुखार हुआ है, सिरदर्द है । हां भाई बेचारा दुःखी है । मगर कामवासना की बात देखो—वहाँ तो कोई बात ही नहीं है । केवल एक मन का ऊधम है । मनका ऊधम तो स्वयं अपवित्रता है । इसके लिए क्या करें ? अपने को

अच्छे कामों में बहुत-बहुत लगाये रहें सामायिक, पूजन, विधान, बन्दना, धन कमाने आदि में। धन कमाना भी गृहस्थों के लिये अच्छा काम है, कोई बुरा नहीं है यदि न्याय से कमायें, क्योंकि धर्म की भावना है, यहां करना पड़ रहा है, चित्त को ठाली न रखो, उसको किसी न किसी काम में लगाये रहो। यदि यह मन ठाली रहेगा तो इसे खुराफात सूझेगी। ब्रह्मचर्य सबके लिये उपकारी चीज है—बच्चे से लेकर वृद्ध तक। और बच्चों को तो ब्रह्मचर्य की क्या शिक्षा देना? वे तो स्वयं ब्रह्मचर्य की मूर्ति हैं। उनका तो प्रकृत्या ही सरल चित्त है। यदि ब्रह्मचर्य की रक्षा करने की बात-मन में आती हो तो इस मन को किसी न किसी अच्छे काम में लगाये रहो। बिना किसी काम के ठाली बैठना यह तो एक शत्रु है। बच्चों को ब्रह्मचर्य की क्या शिक्षा देनी, अरे उन्हें पढ़ने लिखने आदिक के कार्यों में लगाये रहो। बच्चे लोग पढ़ें लिखें, काम करें यह भी उनका एक तप है।

व्यभिचार की कठिनता व ब्रह्मचर्य की सुगमता व सुखदता—लोग कहते हैं कि ब्रह्मचर्य बड़ी चीज है, असिधारा है, पर बात क्या है? ब्रह्मचर्य सरल है और व्यभिचार कठिन है। व्यभिचारी पुरुष को न जाने कितना क्षुब्ध रहना पड़ता, उसमें न जाने कितनी बेचैनी है कितनी पराधीनता है और क्या है कि खुद खुद में रम रहे, पहले भी आनन्द, बाद में भी आनन्द। ब्रह्मचर्य में बुद्धि स्वच्छ है, प्रभु का स्मरण है, आत्म कल्याण है, वह सरल ही है, उसका आदर करना चाहिए। पर बात एक है कि सत्संग बिना ये सब बातें कठिन हो जाती है। आब-कल के जमाने में तो सत्संग और स्वाध्याय इन दो का बड़ा सहारा है। प्रयोजन क्या रखो, सत्संग त्रयों करना कि जो आनन्दधाम निजस्वरूप है उस स्वरूप में मेरा उपयोग बैठ जाय, बस सारे संबन्ध समाप्त हो जायेंगे, प्रयोजन यह है। देखो जगत में जितने भी जीव हैं वे सब समान हैं, सबका एक स्वरूप है और जो स्वरूप है वही उनका धाम है और जो उनका धाम है उसमें पहुंचना ही धर्म है यदि किसी को कल्याण की तीव्र वाञ्छा हो, मेरे को तो कल्याण चाहिए, सुख चाहिए, शान्ति चाहिए, मुझे जाति, कुल, मजहब आदि की कुछ बात नहीं, सोचना है, मैं तो एक निष्पक्ष रूप से समझना चाहता हूं कि मेरा कल्याण किस में है? यदि निष्पक्ष बुद्धि हो जाय तो वह अपने आप अपना कल्याण कर सकता है। यह तो जाति कुल, समाज, मजहब आदि की एक रुढ़ि, परम्परा चली आयी है वह तो आत्म कल्याण में बाधक है। उसी कुल परम्परा में वे रचपच जाते हैं। यदि धर्म भी सच्चा हो तो उस रंगढंग के कारण भी उस सत्य धर्म की ओट हो जाती है। जिसे अपना धर्म चाहिए, शान्ति लाभ चाहिए तो उसकी एक यह दृष्टि रहे कि मैं तो एक आत्मा हूं, यह शरीर भी मैं नहीं, ये जाति, कुल, धर्म वाला भी मैं नहीं। ये तो व्यावहारिक चीजें हैं। मुझे इनमें नहीं अटकना है। मुझे तो मात्र आत्मतत्त्व पर दृष्टि रखना है। इसमें कोई कठिनाई नहीं, स्वाधीन बात है।

ब्रह्मचर्य साधना के लिये हेयत्याग व आदेयोपादान की आवश्यकता—इस ब्रह्मचर्य के घातको तो सभी लोग धिक्कारते हैं। यह ब्रह्मचर्य उत्तम चीज है। उससे मन खुश रहे, निःसंगता रहे, प्रभु के दर्शन हों, पर इसके लिए कुछ बाहरी विग्रह भी चाहिए। किस तरह से हम रहें, क्या करें, कुछ ऐसे निर्मित भी चाहिए। उन नियमों के झारे में प्रभुस्मृति तक भी कहती है कि देखो ब्रह्मचारी कितनी बातों का परिहार करें? मांस भक्षण, मांस खाने वाले से ब्रह्मचर्य नहीं बन सकता। एक तो वह आदत भी बुरी है, फिर कुछ पदार्थगत भी विशेषता है कि मांस एक कामोत्पादक चीज है। मद्य और मधु भी एक दोषकारी चीज हैं। देखो—जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन। जैसा पीवे पानी वैसी बोले बानी ॥ तो अभक्ष्य भक्षण के त्याग का बहुत ख्याल रखना चाहिए। मद्य, मांस, मधु ये तो अभक्ष्य हैं ही, साथ ही ऊमर, कठूमर, गूलर, पीपर आदिक भी अभक्ष्य हैं, इनका भी परित्याग करें। अभक्ष्य भक्षण से दूर रहे, मांस भक्षण के त्यागी में पात्रता होगी अच्छे-अच्छे विचारों के लिए तो अपना मन अभक्ष्य भक्षण का त्याग करके पवित्र रखना चाहिए। वृद्धसेवा करके पवित्रता रखनी चाहिए, सत्संगति में रहकर अपने को पवित्र

बनाना चाहिए। कुछ समय मनुष्यका जरा अच्छे संग में व्यतीत हो जाय तो जीवन तो जाना ही है मगर सतसंग से जो कुछ भीतरमें शुद्धभावना बनानी जायगी वह आगेभी काम देगी। लोग जो वह डालतेकि थोड़े दिनोंका जीवन है, इसमें खूब सुख भोग लो, अरे यह क्यों नहीं कहते कि थोड़े दिनों का जीवन है, उसमें ~~जुद्ध~~ वैराग्य बना लें, जिससे कि आगे भी काम आये। तो ब्रह्मचर्य के अनेक गुण हैं और गृहस्थों के लिए भी ब्रह्मचर्य के अनेक प्रभाव हैं। संतान खुश रहे, संतान सदाचारी भी रहे, यह सब ब्रह्मचर्य का ही तो प्रताप है। इसका प्रभाव खुद पर भी है, समाज पर भी है, संतान पर भी है, धर्म में समय बिताना, लगे रहना यह एक बहुत ही उपकार का काम है। प्रभु भक्ति है, पूजा है, ध्यान है। अपने चित्त को किसी न किसी अच्छे काम में फंसाये रहें, यह चित्त राक्षस है, दैत्य है, इसे खाली मत बैठने दो। परोपकार करो, स्वाध्याय करो, दीन दुःखियों की सेवा करो, तो वहाँ एक भीतर में प्रबोध होगा, विशुद्ध आनन्द होगा। जहाँ तक अपनी सामर्थ्य है तहाँ तक अपना और दूसरों का उपकार करें। अपना उपकार तो ज्ञान में है, अगर ज्ञान सीखें, ब्रह्मविद्या सीखें, आत्मज्ञान करें तो यह आत्मप्रभु का उपकार है।

दुर्लभ मानव जीवन का सदुपयोग करने का अनुरोध—यह मोह ही तो समस्त अनर्थों की जड़ है। मोह खतम हो जाये तो सारे ऐब खतम हो जायें, तो दुर्लभ मानव जीवन में इस मोह को ध्वस्त करने की चेष्टा करें। ऐसा दुर्लभ मानव जीवन का पाना बहुत कठिनाई की बात है। इसको पाने के लिए इन्द्र भी तरसते हैं। जब प्रभु तीर्थकर विरक्त होते हैं तो ऐसा वियोग होता है कि स्वर्गों से इन्द्र आते हैं और उनकी प्रशंसा करते हैं, उनकी वन में ले जाने के लिए पालकी बन में ले जाते हैं, वहाँ प्रभु दीक्षा लेते हैं। तो जब प्रभु विरक्त हुए, तो इन्द्र आये पालकी सजायी, और जब पालकी उठाने को तैयार हुए तो मनुष्य ने रोक दिया। मनुष्य बोले—इस पालकी को उठा कर हम लोग ले जायेंगे। तो इन्द्र बोले—अरे कीड़ों की तरह मनुष्यो, तुम पालकी नहीं उठा सकते। देखो जब ये प्रभु गर्भ में आये तब हम देवों ने इनका गर्भ कल्याणक बनाया, जब प्रभु ने जन्म लिया तब हम देवों ने इनका जन्म कल्याणक बनाया। अब हम देव लोग ही प्रभु का तप कल्याणक मनायेंगे, हमी लोग पालकी उठावेंगे। यों मनुष्यों और देवों में विवाद बढ़ गया। दोनों में यह तय हुआ कि चलो इसका न्याय किन्हीं ज्ञानी पुरुषों के मध्य में हो, जो देवों की भी सुने और मनुष्यों की भी। गए ज्ञानी पुरुषों के मध्य तो वहाँ उन्होंने यही निर्णय दिया कि देखिये—जो प्रभु की तरह प्रभु के साथ दीक्षा ले सके वही इस पालकी को उठाने का अधिकारी है। लो यह बात सुनकर देवों के होश उड़ गए। देखिये इन्द्र देवगति के जीव हैं, बड़े पुण्यशाली हैं लेकिन वे संघम नहीं पाल सकते। उन्हें भी मनुष्य का अवतार लेना पड़ेगा तब तपश्चरण करके मुक्त होंगे। इन्द्र सीधा मुक्ति न पायेंगे। तो उस समय इन्द्र मनुष्यों के आगे झोली फँलाकर कहते हैं कि ऐ मनुष्यों, तुम मेरा सारा इन्द्रत्व ले लो, पर अपना यह मनुष्यत्व मुझे दे दो। तो इतना किमती है यह मनुष्यत्व, इसे यों ही न गंवा दो। ज्ञान और वैराग्य का आदर इस मनुष्यत्व में कर लो। देखो जैसे गन्ना होता है ना, तो गन्ने का नीचे का हिस्सा तो चखा जा सकने वाला होता नहीं, उसमें तो जड़ें बहुत अधिक कड़ी होती हैं, और उसके ऊपर के ४-६ पोर भी चखने योग्य नहीं रहते, क्योंकि उनमें कुछ स्वाद नहीं होता, अब रहा बीच का हिस्सा, उसमें लग जाय कीड़ा तो वह चखने योग्य तो नहीं रहता, फिर भी उसे कोई चखे तो न तो उसे ही कुछ स्वाद आयगा और न गन्ना ही किसी काम का रह जायगा, गन्ना भी खराब हो जायगा। इससे अच्छा यह है कि उसे न चख करके उसे जमीन में बो दिया जाय तो फिर उससे नये-नये गन्ने उत्पन्न हो जायेंगे, ठीक ऐसे ही इस जीवन में तीन पन होते हैं—बचपन, जवानी और बुढ़ापा। बचपन में तो कुछ कल्याण किया नहीं जा पाता क्योंकि अज्ञानदशा रहती है, बुढ़ावस्था भी एक बेकार ही सी है। उसमें शरीर असमर्थ हो जाता है, फिर कल्याण का काम नहीं किया जा पाता। अब जो रही बीच की उम्र (युवावस्था) उसमें भी बन जाय विषयों का कीड़ा तो समझ लो कि सारा जीवन यों ही व्यर्थ खो दिया। अरे इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर, सब

प्रकार के समर्थ साधन पाकर अपना आत्म कल्याणक का कार्य कर लेना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिये वृद्ध सेवा का महत्त्व—अपने जीवन में यदि ब्रह्मचर्य की सिद्धि करना हो तो वृद्धसेवा करना बहुत आवश्यक है । अपने जीवन में सत्संग करें, असत्संग से दूर रहें । असत्संग के कारण तो हम आपकी बड़ी हानि है । जो संसार भोग विषयों से विरक्त हों, जिनको ज्ञान प्रिय है ऐसे पुरुष का सत्संग करें । किसलिए करें ? अपने सहज आनन्द का जो धाम है, ब्रह्मा है, निज स्वहृत् है उसमें लीन होने के लिए, उसमें रमने के लिए सतत प्रयत्नशील रहें । यह सब भुक्त संगता में सुलभ है । अतः परं सूक्ष्मप्रमथ्यकतं निविशेषणम् । अनादि मध्य निघनं नित्यं वाङ्मनसः परम् । यह भागवत का श्लोक है । अताओ परमब्रह्म किसे दिखता ? अनुमान तक नहीं होता । वह ज्ञानगम्य है । वह तो विशेषण से भी नहीं पहिचाना जा सकता । वह तो एक अनुभव से ही समझा जाता है । जो आदि, मध्य, अन्तरहित है, थोड़ा जरा दो चार मिनट को धैर्य धारण करके सुनो, यदि कुछ उपयोग इतर लगाओगे तो बड़ी आसानी से बात समझ में आ जायगी, बात कुछ कठिन न लगेगी । देखो जो ॐ शब्द लिखा जाता है उसमें ५ भाग हैं ॐ-०-ॐ सबसे पहले ३ जैसा लिखा है । उसका अर्थ है अनेक व्यवहार । उसके बाद जो ॐस जैसा बीच में डण्डा है वह है प्रमाण का प्रतीक, उसके बाद जो ० है वह शून्य निश्चयनय का प्रतीक है । यह शून्य आदि मध्य अन्त रहित है ऐसा है परम-ब्रह्म अतः उसका वाचक भी ऐसा ही है निश्चयनय । तो दो नए हो गए—निश्चयनय और व्यवहारनय । इन ३ और शून्य (०) के बीच में जो डंडा सा लगा है वह है प्रमाण का संकेत करने वाला, अर्थात् न तो कोरा व्यवहार कार्यकारी होता और न बीरा निश्चय, अतः दोनों ही चाहिए । अगर व्यवहार और निश्चय दोनों एक साथ न जुड़े हों तब तो फिर कोई यह भी कह सकता कि अरे खूब मनचाहा जो चाहे करो जब चाहे खावो, यों तो फिर स्वच्छन्दता आ जाती है । व्यवहारनय, निश्चयनय व प्रमाण का उपयोग करके अब उनसे परे एक अनुभव में आ जावो—प्रमाणनय, निक्षेप कुछ न रहो, स्व-अनुभूति ही रहो तब क्या होगा ? उस अनुभूति का फल है कि सिद्ध बन जायगा । इस ॐ शब्द में जो ऊपर अर्द्धचन्द्र सा है वह है अनुभूति, ऊपर का शून्य है वह सिद्धि के स्वरूप का सूचक है । यों हम ब्रह्मस्वरूप में पहुँचे उसके लिए हमें जो कुछ भी करना चाहिए उसके करने में संकोच न करें । यदि एक सरसरी निगाह करके देखें तो यह सारा संसार, ये सब मनुष्य क्या हैं ? “जगत चवेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद । विषय सुखन के राज में, भूख माने मोद ॥ जैसे यहाँ बच्चे लोग चने चबाते हैं ना तो कुछ चने गोद की झोली में रखे रहते हैं, और कुछ चने मुख में रखकर चबाते रहते हैं, तो बताइये झोली में रखे हुए चनों की खैर कब तक है ? बस थोड़ी ही देर में उनका भी नम्बर आ जाता है, वे भी चबाये जाते हैं ठीक ऐसे ही हम आपका यह जीवन है सभी प्राणी काल के चवेना हैं-। कुछ लोग तो काल के गाल में आ चुके हैं । और कुछ आने वाले हैं यह काल किसी को छोड़ता नहीं है । तो भाई इस जीवन का भरोसा कुछ नहीं है, इस-लिए यहाँ किन्हीं बाहरी बातों से कुछ भोज न मानो । अद्भूत तेज है अद्भूत आनन्द है ब्रह्मस्वरूप के बोध में । बाकी सब सारहीन बातें हैं । तो ऐसा जो सारभूत तत्व है उसकी ओर दृष्टि दें । भयम् ! काम तो करने का एक है—क्या, कि इस भव दुःख की भार रचना का विध्वंस करके एक निज ब्रह्म से आनन्द पद में प्रवेश करें । बाकी तो सब फिजूल बातें हैं । यदि एक परमब्रह्मस्वरूप को ध्येय में न रखें तो ये वेद, स्मृति, पुराण शास्त्र आदिक पढ़ने से क्या लाभ है ? यदि कोई करने योग्य कार्य है तो यही एक काम है, बाकी तो सब एक रोजिगार हैं । जहाँ कुछ लेना-देना नहीं, मतलब नहीं । कभी सुखी होते, कभी दुःखी होते, कभी गरीब बनते कभी कंगाल बनते । यों यहाँ कोई सारभूत चीज नहीं है । यहाँ सारभूत चीज तो एक स्वात्मपद है ।

दसलक्षण धर्मों के क्रम में मुक्ति के उपाय का संदर्शन—देखो क्या-क्या बातें अभी तक आयी ? क्षमा, मार्दव, आर्जव शौच धर्म का पालन करें याने क्रोध, मान, माया लोभ इन चारों कषायों का त्याग करें

जब इन चारों कषायों का त्याग किया तो अब एक सच्चाई आई। अब क्या करना है? सो इसे यों समझो कि जैसे एक आक्सी कांच होता है, तो उस पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो उसके नीचे रखे हुए कागज के टुकड़े जल जाते हैं, तो जैसे कागज जलाने की शक्ति आयी किरणों के केन्द्रित करने से, ऐसे ही फँसे हुए उपयोग को ब्रह्म स्वरूप में केन्द्रित करना संयम है, और इप्रकार के नियमित रूप से संयम करने से उपयोग को केन्द्रित करने से तप परमार्थतपन प्रकट होता है। तप से मूल जलते हैं, तब अपने आपका आर्किकन्य स्वरूप प्रकट होता है। तो जब चारों प्रकार की कषायों का त्याग कर चुके तो अब क्या करें? अब संयमी बनकर संयम को अपनायें। हम अपने ज्ञान को इस ब्रह्म स्वरूप में जोड़ दें यही हुआ संयम। जैसे कि सूर्य की किरणों का जब संयम किया गया तो आधार में तप पैदा हुआ, ऐसे ही जब अपने अन्दर से चारों प्रकार की कषायें निकल गईं तो अन्दर से एक तप पैदा हुआ। उस तप से शब्द बचे हुए रागद्वेषादिक विकारों का त्याग हुआ। अब रह गये आर्किकन तो फिर यह ब्रह्म अपने आपके स्वरूप में लीन हो जायेगा। यही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

संसार संकटों से छूटने का निर्णय हो जाने पर छूटकारा पाने की अवश्यभावितता—यदि अपने आपके चित्त में यह जिज्ञासा हुई है, ऐसा संकल्प किया है कि मुझे तो संसार के दुःखों से छूटना ही है तो वह नियम से संसार के दुःखों से छूट जायगा। सच बात तो यह है कि अब तक चित्त में यह बात नहीं समायी कि मुझे तो संसार के दुःखों से छूटना है। आप लोग सोचेंगे कि यह क्या कहा जा रहा है? सभी लोग दुःखों से छूटकारा चाहते हैं और बताया यह जा रहा है कि अभी तक इन्होंने यह संकल्प ही नहीं किया कि मुझे तो संसार के संकटों से छूटना है। यदि संकल्प किया होता, मन में यह बात समायी होती कि मुझे संसार के दुःखों से छूटना है तो संसार में फिर उनका यह जन्म मरण न चलता। जिस चाहे घटना में अनेक प्रकार की कल्पनायें करके दुःख मानने लगते हैं, और भी अनेक संसार की घटनायें हैं जिनसे अपना कोई मतलब नहीं। बाह्य पदार्थ हैं, कर्म की चीज हैं। वे जैसे परिणम, जैसा कहा जाता हो, उससे मेरा कुछ वास्ता नहीं। संसार में दुःख है क्या चीज? अपने आपके स्वरूप के ज्ञान से, श्रद्धानसे, रमण से च्युत होकर बाह्य पदार्थों की ओर उपयोग का लगना यह है सारा दुःख। दुःख नाम तो उसी का है कि जिसमें क्षोभ हो, अकुलता हो। बाह्य पदार्थों में जिनका उपयोग लगता है उनको नियम से दुःख है। चाहे वह पदार्थ रुच रहा है प्रेम राग, लेकिन उस प्रेम की मदिरा में ऐसा बेहोश है यह प्राणी कि वह अपने दुःख के कारण को नहीं पहिचानता। सब दुःखों की जड़ एक प्रेम ही तो है, और उस प्रेम में ऐसा मुग्ध है यह जीव कि अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया।

वस्तु स्वरूप के विरुद्ध विचार बनाने की विपदा का लेखा-जोखा देख लेने का कर्तव्य—भैया! खूब सावधानी से सुनो और अपने चित्त में उतारो कि मैंने अपने आपके श्रद्धान ज्ञान और आचरण से च्युत होकर किसी बाह्य पदार्थ में यह अभिलाषा रखी है कि इससे मेरा हित है, यह मुझे सुख देगा और उस ही ओर आकर्षण होता है। यह जो भीतर में उपयोग स्वसे हटकर बाह्य की ओर लगा है यही है विपदा, यही है संकट। पुण्य का उदय है तो कुछ लग रहा होगा ऐसा कि मेरे को क्या संकट है? ये तो मामूली सी बातें हैं? हां उदय है अच्छा। मिल गए हैं विषय साधन, मगर ये आग हैं, संकट हैं, क्लेश हैं। इनसे छूटकारा पाने का जो उपाय है वह है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य। चित्त में ऐसी भावना जगनी चाहिए और ऐसी हिम्मत बनाना चाहिये कि ये बाह्य पदार्थ, त्रिलोक सम्पदा, समस्त वैभव ये सब कुछ मेरे लिये कुछ नहीं हैं, मेरा उनसे कोई संबन्ध नहीं उनसे मेरे में कुछ आता जाता नहीं। भला वस्तु का स्वरूप तो परखो, प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में है, अपने स्वरूप में परिणमन करता है, अपने स्वरूप में ही सदा काल रहता है। यदि ऐसा न हो तो दुनिया में फिर कोई व्यवस्था ही न बन पायगी। जैसे देखो—कि यह घड़ी है और यह चौकी चौकी में है,

घड़ी घड़ी में है, सब आप जान रहे होंगे। घड़ी का कोई भी परिणमन चौकी में नहीं आता और चौकी का कोई परिणमन घड़ी में नहीं आता। ये दोनों ही चीजें अलग-अलग हैं, दोनों का अपना अपना अलग-अलग परिणमन है। तो ऐसे ही जगत में जितने भी जीव हैं वे सब स्वतंत्र हैं, उनका उनमें परिणमन है। ये भेरे में कुछ नहीं कर सकते।

दृष्टान्तपूर्वक वस्तुस्वातन्त्र्यका प्रकाश—कुछ ऐसा पूछा जा सकता है कि लो गुरु पढ़ाते हैं, मास्टर पढ़ाता है, लड़को को कुछ ज्ञान मिलता है। कैसे कहा जा रहा कि कोई किसी का कुछ नहीं करता। यहां भी गुरु आपका कुछ नहीं करते। मास्टर बच्चों का कुछ नहीं करता, गुरु को अपने में एक कण्ठा उत्पन्न हुई है तो वह अपने ह्याल के कारण अपनी चेष्टा करता है उन शिष्यों में ऐसी समझ है कि वे अपने आपकी समझ द्वारा अपने आपमें ज्ञान प्रकाश पाते हैं, हां ये मास्टर वगैरह निमित्त जरूर हुए, पर वे किसी में कोई जबरदस्ती नहीं करते। अगर मास्टर बच्चों को ज्ञान देने लगे तो १०, २०, ० शिष्यों को ज्ञान देने के बाद मास्टर तो कोरा रह जायेगा। पर ऐसा नहीं होता। कक्ष के अन्दर जितने भी विद्यार्थी हैं, सबकी बुद्धि अलग-अलग है। जिस बालक में जैसी योग्यता है उस रूप वह अपना विकास कर लेता है। तभी तो देखा जाता है कि कक्षा में कोई बालक बड़ा बुद्धिमान निकलता है और कोई कम। तो ऐसे ही आप सर्वत्र समझ लीजिये। इस लोक में आप सर्वत्र अकेले हैं, अकेले ही रहते हैं, अकेले ही अपने आप में परिणमते हैं, तो इसी तरह अपनी बात सोचो ना। जब जगत में किसी दूसरे जीव से मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं, केवल एक कारण कलापवश एक जगह सयोग हुआ है तो उससे मेरा क्या भला होगा? अपना भला होगा अपने रत्नत्रय धर्म से। परख लो बाहर में बहुत भटके अब तक, पर कहीं शान्ति न मिली। अब एक बार अपने आपके इस ज्ञान प्रकाशमय आनन्द स्वरूप निज आत्म उपवन में आयें और अपने आपमें परम विश्राम पायें। संसार के दुःखों से छूटना है तो विश्वास बनाओ अपने आत्म स्वरूप का। बात अंजल में यह है कि दुःख नाम की चीज तो यहां कुछ है नहीं, पर मानते सभी हैं बड़ा दुःख।

ज्ञान कला के उपयोग में क्लेश का अभाव—एक धटना है बदरवास नामक ग्राम की। वहां एक हलवाई था, वह बड़ा निर्मोही प्रकृति का था। एक बार उसका लड़का अचानक ही गुजर गया, तो उसकी सहानुभूति प्रकट करने बहुत से लोग आये, सभी वहां आने पर रोने जैसी शकल बना लें। देखो यह भी सहानुभूति प्रकट करने की एक पद्धति है। मान लो कोई किसी दूसरे गांव से आ रहे हों, चाहे वे रेलगाड़ी में रास्ते में गप्पसप्प करते हुए, तास खेलते हुए आये, पर जब उसके घर के निकट या तस गांव के पास पड़ीस में आ जाते हैं, तो एक रोने जैसी शकल बना लेते हैं, तो ऐसे ही बहुत से लोग सहानुभूति प्रकट करने आये। सभी लोग तो रोते थे, पर वह हंमता था। वह जानता था कि अरे जो आया है वह तो एक दिन जायगा ही, फिर उसके पीछे रोने से फायदा क्या? यदि ऐसा भाव सम्यक्त्वपूर्वक हो तो ऐसी बात तत्त्वज्ञानी पुरुष में आ सकती है। एक तत्त्वज्ञानी पुरुष लोगों को तो ऐसा ही दिखता है कि वह कैसा बहुत से कार्यों में फंसा है, व्यक्त है, पर उसकी दृष्टि बड़ी निर्मल रहती है। वह किये जाने वाले उन समस्त कार्यों को एक शंझट समझता है। वह प्रधानता देता है अपने आत्महित के कार्यों को। उसकी दृष्टि बदल कर सकने वाला कोई नहीं है। आत्म स्वरूप के दृष्टिको ऐसी कला उसके उत्पन्न हुई है कि जिस कला के आधार पर वह समस्त दुःखों से छुटकारा पा सकता है।

दृष्टान्त पूर्वक अन्तस्त्व में मग्न होने की कला का स्मरण—जैसे जमुना नदी में तैरने वाला कछुवा पानी से ऊपर अपनी चोंच निकाले हुए तैरता रहता है। तो उसकी चोंच को चोटने के लिए अनेक पक्षी

उस पर मंडराते रहते हैं। वह बेचारा कछुवा उन पक्षियों से हैरान होकर इधर उधर भागता फिरता है, दुःखी होता फिरता है। पर उसे कोई समझा दे कि अरे कछुवे, तेरे अन्दर तो ऐसी कला है कि जिसके उपयोग से तेरे सारे संकट दूर हो सकते हैं। वह कला क्या है? वस पानी में ८ अंगुल अपनी चौंच डुबा लो—फिर संकटों पक्षी भी तेरा क्या कर सकेंगे? ठीक ऐसे ही हम आप पर अनेक उपद्रव छाये हैं, बड़ी विपत्तियों से घिरे हुए हैं, पर इन सारी विपत्तियों से बचने के लिए एक जरा सा ही तो उद्यम करना है, क्या, कि अपने ज्ञानसागर में जरा डुबकी तो लगा दें, वस सारे संकट एक माथ ही सन, पन हो जायेंगे। तो भाई इन समस्त संकटों से छुटकारा प्राप्त करने का सर्वप्रथम काम है आत्मविश्वास। अभी तक आपने अनेक पुरुषार्थ किए, बाहरी-बाहरी अनेक धारणायें बनाकर अनेक गर्व अनुभव किये-भेरे पास इतना वैभव है, भेरे पास इतने मकान हैं आदि, लेकिन तेरे ये सब अहंकार व्यर्थ के थे। जैसे कोई सांड घूरे को अपनी भीगी से उलीचता है और एक बड़ी अहंकार भरी मुद्रा बनाता है ऐसे ही यह मोही प्राणी भी जरा-जरा सी बातों में गर्व करता है। तो अभी तक न जाने कितने-कितने गर्व किए, पर वह तो एक घूरे का उलीचना जैसा रहा। उसमें इस जीव के लिए कोई बड़प्पन की बात नहीं है 'ऐसा व्यर्थ का गर्व भी करें और चाहें कि समस्त दुःखों से हमें छुटकारा प्राप्त हो जाय तो यह कैसे हो सकता है? बल्कि फल उसका यह मिलता है कि ज्यों-ज्यों दुःख से छुटकारा पाने का बाहर में पौष्य बनाते हैं त्यों-त्यों दुःखों में और बढ़ जाते हैं। लोग सोचते हैं कि देखो मैंने १० वर्ष पहिले ऐसा विचार किया था कि मेरी ऐसी स्थिति हो जाय, मेरे ये ये काम निपट जायें, फिर मैं इन सारे झंझटों से निवृत्त होकर आत्म साधना के कार्य में लगूंगा, पर वे उल्टा पाते क्या है कि अपने को पहिले से भी अधिक फंसा हुआ पाते हैं तो फिर भला बतलाओ इन संकटों से छुटकारा कैसे हो ?

संकट मुक्ति का उपाय ब्रह्मबोध—सर्व दुःखों से छुटकारा करने का सहज सुगम स्वाधीन उपाय यह है कि अपना स्वरूप समझें, अपने को सबसे निराला देखें और तृप्त रहें। यह भी सत्य बात है, और यही अनुभव करने के योग्य है। यह मैं ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ इसके अतिरिक्त अन्य परवस्तु मेरी कुछ नहीं। वस निज में ही अपना उपयोग लगावें, बाकी सारा बातों को भुला द। बाहर में कभी अपना बड़प्पन मत चाहो, किसी से अपनी प्रशंसा की भीख मत मांगो। अपने आप में प्रसन्न रहने का प्रयत्न करो। यह है दुःखों से छूटने का उपाय, ऐसी श्रद्धा को कहुँगे सम्यग्ज्ञान की किरण। ऐसा सम्यक्त्व पाकर फिर बाद में जो स्वयं में हो वह सब सम्यक् कहलायगा। सम्यक्त्व जब तक नहीं है तब तक आप कैसा ही निर्णय कर रहे, वे सब निर्णय मिथ्या हूँ। चाहे आप नदी को नदी जान रहे हैं, घर को घर, चौकी को चौकी आदि, लेकिन यह ज्ञान मिथ्या है, उनका जिनको सम्यक्त्व नहीं है। सम्यक्त्व के बिना जो ज्ञान है उसमें प्रथम बात तो यह है कि उसमें रागद्वेष बढ़ते रहते हैं, तो मिथ्या कामबनाये जाते इसलिये ये मिथ्या हैं। दूसरी बात यह है कि वह व्यक्ति जान तो रहा सब, पर उनका वास्तविक स्वरूप नहीं समझ रहा। इसमें क्या शक्ति है, इसमें क्या गुण है, पर्याय है आदि, ये कोई बातें उसे नहीं मालूम हो पाती जिसके सम्यक्त्व नहीं है। सम्यग्ज्ञान सहित जो आचरण होगा, जो रमण होगा, अपने आपकी दृष्टि बनेगी वह तो एक अद्भुत चीज होगी।

दुःख मुक्ति का उपाय परमार्थ ब्रह्मचर्य की वृत्ति—दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने का उपाय मात्र यही है कि दुःखरहित सबसे निराले ज्ञानमात्र, स्वयं उत्तर दायी, जिस पर किसी का भार नहीं, ऐसे इस परमात्म-स्वरूप को निरखें, और ऐसा ही ज्ञान बनाओ और ऐसा ही अपना उपयोग रमाओ, यह है दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पाना। इसके अतिरिक्त और क्या उपाय बतायें? जो भी अन्य उपाय बतायेंगे वे सब बाहरी-बाहरी उपाय होंगे, उन उपायों में आप थोड़ी देर को तो शान्ति अनुभव करेंगे, पर थोड़ी ही देर में वही का वही दुःख सामने बढ़ा हो जायगा। मान लो आपने किसी को घर दिला दिया, किसी का रोजगार लगा दिया, किसी का अन्य कोई काम बना दिया तो कहीं इतने मात्र से उसके दुःख तो न मिट जायेंगे और न कोई दुःख सदा के लिए मिटेगा। सर्व

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

[१२५]

दुःखों से छूटने का एक मूल उपाय है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति, जिसकी आप भावना कर रहे हैं। तो अब सोच समझकर अपने कदम सही दिशा की ओर बढ़ाओ। मुझे सही ज्ञानार्जन करना है, सम्यग्ज्ञान का प्रकाश पाना है, उसमें ही मेरा वास्तविक बहृष्यन है। तो अपने आपका कल्याण का उपाय बनाना चाहिए। अब अधिक न कह कर केवल इतना कहना है कि अपने आपके इस ज्ञानमूर्ति निज परम ब्रह्म का आदर करें तो नियम से नारे दुःख छूटेंगे। यही परम ब्रह्मचर्य सहज आनन्द का वाग है।

॥ धर्म प्रवचन समाप्त ॥



अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुत्लक मनोहर जी वर्मा
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

॥ शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः प्राप्स्यन्ति चापुरचल सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि अपतो निजमूलमत्र, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निकोपमाननयसर्वधिकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरमकर्तुं न भोक्तुं गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतज्ञहमसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, नित्यारिणामिकपरात्परजल्पमेकम् ।
यददृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्टयाम् ।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्र-पिन्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गमुविशाविकासभूमि, नित्यं निवारणमञ्जनमुक्तभीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्यायशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

आयन्ति यागकुशला निगदन्ति यद्वि, यद्दधानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहज परमात्मतत्त्व स्वस्मिन्नुभवति निविकल्पं यः ।

सहजानन्दसुबन्ध स्वभावमनुपर्यायं याति ॥

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

धर्म प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

उत्तम क्षमा

आज से दशलाक्षणी पर्व प्रारम्भ हो रहा है। ये दशलाक्षणी पर्व प्रतिवर्ष आते हैं। मान लो धर्म की याद दिलाते रहते हैं, इनका पयुषण भी होता है, अर्थात् आत्मा की प्रीतिपूर्वक सेवा करना सो आत्मसेवा का दिन है। वैसे तो प्रत्येक मनुष्य को आत्मसेवा के इस नर-जीवन रूप पर्वपर ध्यान रखना चाहिये। फिर भी कुछ कारणों से इन भादों के १० दिनों में गृहस्थ लोग अपना अधिक समय दे पाते हैं, इसलिए इन दिनों में ऐसी स्पीड कर ली जाय कि वर्ष भर को एक नया नियम बन जाय। यह पर्व भादों सुदी पंचमी से लगता है। इसमें एक कल्पना हो सकती है कि जब भी प्रलयकाल होता है तो किसी वर्ष के अन्त में अर्थात् आषाढ़ के अन्त में वर्ष समाप्त होता है और सावन के महीने से नया वर्ष लगता है।

यद्यपि अनेक प्रकार से और अनेक सम्बन्धों के आधार से कोई चैत सुदी से वर्ष मानते हैं और कोई आषाढ़ से ही मानते हैं। अंग्रेजी में अन्य तिथियों से मानते हैं, पर प्राकृतिक वर्ष का प्रारम्भ सावन से होता है। जब प्रलय-काल होता है सो आषाढ़ सुदी पूर्णिमा को वर्ष मानते हैं और सावन बंदी से नया वर्ष मानते हैं। सावन से लेकर ४६ दिन तक ये सुवर्षिये चलती हैं और ४६ वां दिन समाप्त होता है भादों सुदी चौथ को। जब सुवृष्टि हो चुकती है तब जीव को उल्लास होता है और धर्म के वास्ते विशेष प्रभावना जगती है। यह पयुषण पर्व भाद्र सुदी पंचमी से माना गया है। यह दशलाक्षणी धर्म क्या है, कौन-कौन है, इसको अंग पूजा में क्षमा धर्म से पहिले बताया है।

उत्तमखम महउ अज्जउ सच्चउ पुण सउच्च सज्ज सुतउ।

चाउ वि आकिच्चणु भवभय बंचणु बंधचेर धम्मजु अखउ ॥

दशलाक्षणधर्म व प्रथम उत्तमक्षमाधर्म—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य तथा ब्रह्मचर्य—ये १० धर्म हैं। धर्म कहते हैं स्वभाव को। यह आत्मा का स्वभाव है। उन दसों उपायों द्वारा हम आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति कर सकते हैं। इसलिए यह दश धर्म कहलाता है, इसका वर्णन प्रतिदिन एक का आयगा। आज उत्तम क्षमा का दिन है इसलिए उत्तम क्षमा के विषय में यह वर्णन आ रहा है। आज उत्तम क्षमा का दिवस है। क्षमा आत्मा का गुण है। आत्मा में विकार न आकर सत्य शांति रहना क्षमा है। क्षमा क्रोध

के कितने ही साधन हों उनके निमित्त से हृदय में विकार भाव नहीं आने देती। ऐसी क्षमा का धारण करना क्षमा है और इसका धारण सम्यग्दर्शनपूर्वक हो तो वह उत्तम क्षमा है। ऐसा न समझना कि गृहस्थों की क्षमा, क्षमा है और साधु संतों की क्षमा उत्तम क्षमा होती है। साधु जनों के सर्वांग जैसी उत्तमक्षमा होती है, उस जाति की सम्यग्दृष्टि गृह जाल में पड़े हुए गृहस्थ जनों के एकदेश उत्तम क्षमा होती है।

उत्तमखम तिल्लोयहिंसारी, उत्तमखम जम्मोदतिहारी ।

उत्तमखम रयणत्तयधारी, उत्तमखम दुग्गइदुहहारी ॥

उत्तमक्षमा की त्रिलोकसारता—उत्तमखम तिल्लोयहिंसारी—उत्तम क्षमा तीन लोक का सार है। जगत के अनेक संकट मिटाने का कोई शरण है तो विषय कषायों का अभाव है। कषाय चार प्रकार के हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। जो क्रोध के अभाव में क्षमा गुण प्रकट होता है, मान के अभाव में मार्दव, माया के अभाव में आर्जव और लोभ के अभाव में शौच धर्म प्रकट होता है। यहाँ उत्तम क्षमा के सम्बन्ध में वृत्त है कि यह गुण तीन लोक में सार है। क्षमा सम्यग्दर्शनपूर्वक निष्कषाय आत्मस्वभाव की दृष्टि रखकर स्वयं सहज स्वरूप हो जाना सो उत्तम क्षमा है। यह क्षमा अपने आपके कल्याण के लिये आती है, दूसरे के कल्याण के लिए नहीं आती है।

परमार्थतः स्वयंपर क्षमाकी शक्यता—वास्तव में अपने आपपर ही यह क्षमा कर सकता है। लोक में दूसरी आत्मा को न कोई क्षमा कर सकता है और न दूसरे के क्षमा करने से उत्तम क्षमा आ सकती है। यह तो खूबि है कि हमसे कोई अपराध बन जाये तो हम उससे क्षमा मांग लें, झूटी पूरी कर लें, तो क्षमा हो गई, परन्तु भैया! जरा विचारो तो सही कि क्या तुम्हें कोई अन्य क्षमा कर सकता है एक द्रव्य जब दूसरे द्रव्य का कुछ कर ही नहीं सकता तो क्या तुम किसी को क्षमा कर सकते हो? अरे क्षमा तो आत्मा का निज धर्म है। मेरा जिस मनुष्य से कुछ बिगाड़ हो गया, उससे मैं क्षमा मांगू अथवा किसी ने मेरा अपराध किया तो मैं उसको क्षमा दे दूँ तो मेरा धर्मका मार्ग आगे चल सकता है, नहीं तो नहीं चल सकता, ऐसा अटकाव धर्म के लिए नहीं होता। हम दूसरे को क्षमा ही क्या कर सकते हैं अथवा दूसरा हमें क्या क्षमा कर सकता है? क्षमा तो निजका परिणाम है। कोई द्रव्य किसी परद्रव्य का परिणमन नहीं कर सकता। क्षमा तो सच्ची यह है कि यदि कोई अपराध किया गया तो इस अपराध को ही क्षमा कर दें। निरपराध ज्ञानस्वभाव के अभिमुख होकर अपराध को फिर न होने दें।

अपनी भलाई के लिये दूसरों पर क्षमा की कृति—परमार्थ से जो पुरुष दूसरों को क्षमा कर देता है वह अपना ही भला करता है। इस जगत में अनन्त जीव हैं। ऐसा नहीं है कि गृहस्थ की क्षमा तो क्षमा कहलाती है और साधुकी क्षमा और कुछ कहलाती है। किन्तु जो सम्यक्त्वसहित क्षमा है उसको कहते हैं उत्तम क्षमा और जो सम्यक्त्वरहित क्षमा है उसको कहते हैं लौकिक क्षमा। यह अपना उपयोग अपने आपके ज्ञानमय प्रभुपर कितना संकट डाल रहा है? पंचेन्द्रिय के विषयों में लगकर बाह्य पदार्थों में दृष्टि देकर यह अपने आपका कितना विनाश कर रहा है? जिस विनाश के फल में जीव मरकर ८४ लाख योनियों में परिभ्रमण करता है। तो इस अपने आपके प्रभुपर महान् अन्याय हो रहा है, इस अन्याय को मिटाना और इन निरपराधों की क्षमा करना, शुद्ध शांतस्वरूप ज्ञानात्मक आत्मतत्त्व की दृष्टि करना यही सर्वोत्तम क्षमा है। इस क्षमा के होनेपर जब बाह्य जीवों से व्यवहार चलता है तब उन सब जीवोंपर यह क्षमा व्यवहार कहलाता है। दिखावटी क्षमा से आत्मा को लाभ नहीं है। एक ज्ञानघन प्रभु की आपत्तियाँ दूर करने के लिये, दूसरे जीवों का संक्लेश परिणाम हटाने के लिए जो लौकिक और पारमार्थिक उपाय किया जाता है वह वास्तव में क्षमा है। यों तो कोई सोचे कि क्षमा या क्षमा के दस्तूर को कोई निभा वे तो कुछ आत्मा की उन्नति हो जाय, सो नहीं हो सकता है।

अपने उपशम भाव में ही वास्तविकी क्षमा—हमारा किसी ने अपराध किया, उसे हमने क्षमा कर

दिया, ऐसा भाव करे तो परमार्थ से इस भाव में भी विकल्प ही तो किया। यदि हम दूसरे से क्षमा मांगने में ही रहे और पुनः पुनः वही अपराध हम करते रहे तो वह क्षमा की दिशा भी नहीं, बच्चों का खेल है और भाई आजकल प्रायः ऐसा ही होता है। वहाँ हम समझ बैठते हैं कि हमने व इसने क्षमा माँग ली, चलो, छुट्टी हुई। दूसरे से क्षमा माँगो, दूसरे को क्षमा करो या दूसरे के प्रति क्षमा याचना करो इत्यादि विकल्पभावों का उद्दाना भी तो उत्तम क्षमा का लक्षण नहीं है। विकल्प को तो धर्म नहीं कहते। इसमें तो विकल्प भाव छिपा हुआ है। अतः क्षमा क्या है, यह जाने बिना क्षमा करने कराने के विकल्प अवस्था में भी क्षमा की शैली नहीं आती। हाँ, यह बात अवश्य है कि जिसके ज्ञानदृष्टि हुई, अपराध से अरुचि होकर ज्ञानाराधना की रुचि हुई, उनके विकल्प होता है तो वे क्षमा माँगने जाते ही हैं। वहाँ भी उसके क्षमा कर देने से क्षमा गुण प्रकट नहीं हो जायेगा, किन्तु मेरे निमित्त से इन्हें ध्वेष नही रहा। इस भाव के बाद परिस्थितियों का सहयोग मिल लेता है, जिनके अनन्तर क्षमा प्रकट हो लेती है।

क्षमा के रस्म-रिवाजमात्र में क्षमा के तथ्य का अभाव—एक बुढ़िया थी, अपने घर को गोबर से लीप रही थी। कच्चा घर था, गोबर को खूब पतला कर लेती है किसी बर्तन में, और उससे लीपती है। वह बुढ़िया बेचारी जैन थी। सो क्षमा तो पालना था ना, सो वह गोबर से लीपती जावे घर, और कहती जाये कि 'चीटी-चांटी चढ़ो पहाड़, तुमपर आयी गोबर की धार। तुम न चढ़ो तो तुमपर पाप, हम न कहें तो हमपर पाप।' यह तो बुढ़िया ने जीवों के प्रति निभाया किन्तु अंत में जीवकी प्रभुतापद रुचि आये तो वह सद्भावपूर्वक जीवों की दया कर सकती है। मुख्य बात यह है कि आत्मा में यह गुण होना चाहिये कि अपने आपकी दया के लिए दूसरों के द्वारा सताये जाने पर भी अपने उत्थान के लिए उन बातों को अपने हृदय में रखो और जानो कि यह संसार मायामय है। ये दिखने वाले लोग मायामय हैं, विनाशीक हैं, इनसे मेरी आत्मा का नाता नहीं है। न ये मेरे गले हमेशा के लिए पड़ गये हैं। ये तो मुसाफिर हैं, एक क्षण का संयोग है। यह यदि किसी के बर्तावपर उससे बदला चुकाने का मनमें आशय रखे तो उस बदले का प्रभाव दूसरों पर पड़े, चाहे न पड़े, पर बदला लेने का आशय होनेपर खुद का अकल्याण हो जाता है। उसे फिर सन्मार्ग नहीं मिलता है। यह उत्तम क्षमा तीन लोक में सारभूत है।

स्वयंपर ही क्रोध की व स्वयंपर ही क्षमा की शक्यता—परमार्थ से तो अपने स्वभाव का घात न होने देना सो उत्तम क्षमा है। किसी ने कोई कषाय चेष्टा की, जिसे हमने अपने बिगाड़ रूप में देखा तो हमें क्रोध आ गया तो हमने उसपर कुछ क्रोध नहीं किया, अपनेपर ही क्रोध किया, तब उस क्रोध के संताप को दूर करने में लिये इच्छा होती है कि इसका बिगाड़ हो जावे या मुझसे क्षमा माँगे। देखो भैया मोह में क्षमा की कैसी अटपटी सूरत बना ली जाती? भैया क्रोध तो तुमने किया तो उसके क्षमा माँगने से क्षमा होगी या तेरे ही सत्य पुरुषार्थ से क्षमा होगी। अपने इस एकाकी चैतन्य भाव को ही देखकर अपने निज ज्ञानस्वभाव की आराधना में लगे तो उत्तम क्षमा प्रकट होती है। क्रोध नहीं करने को उत्तम क्षमा कहते हैं। जीव किसी पर क्रोध नहीं करता। यह तो स्वयंपर ही क्रोध करता है, स्वयं को वरबाद करता है, स्वयं की हानि करता है। इस प्रकार क्रोध न करने की बात तो मुख्य हुई, किसी भी प्रकार का विकार न आने देना आत्मगुणों का घात न होने देना, सो अपने आपको क्षमा करना है।

उत्तमक्षमा से जन्मोदधिनिस्तरण—उत्तमखम जन्मोदहितारी—यह उत्तम क्षमा जन्म रूपी संसार समुद्र में तार देने वाली है। जो समागम मिले, जो वैभव मिला, उसमें मद नहीं आना चाहिए। कर्मों से लिप्त हैं सो अपने को गरीब समझना चाहिये। आज किसी सेठ ने अगर अनाप-सनाप बर्ताव कर लिया तो कुछ पुण्य का उद्वेग है इसलिए जितनी सामर्थ्य है अपपट किया, पर मरण के बाद तो कला न चलेगी। नये जीवन में पशु-पक्षी कीड़े मकोड़े बन जाना ही पड़ेगा, इसलिए इस चार दिनों की चांदनी को देखकर एकदम मस्त नहीं होना चाहिए। कुछ अपने आपपर भी दया करना चाहिए, अपने आपकी भी क्षमा करना चाहिये। ऐसा उपाय करो जिससे तुम्हारा

यह संसार झूट जाय। उन उपायों में प्रधान उपाय है यह उत्तम क्षमा। कोई समझे कि मैं अपने घर में स्त्री सहित बड़े प्रिय से रहता हूँ, मेरे में बाहर वालों का कोई जिगाड़ नहीं होता, बाहर के किसी पुरुषपर या अन्य किसी पर गुस्सा ही नहीं करता, फिर हम तो क्षमावान ही हैं, हमको कहां से क्रोध का बन्ध लगेगा, परन्तु ऐसा नहीं है। स्त्री से प्रेम करते हैं और मोह बढ़ा रहे हैं, तभी वे अपने आपपर खूब क्रोध कर रहे हैं। अपने को क्षमा करो। विकार व विकल्प की रचि मत रखो, खुदके विकार-परिणाम से आत्मा के गुणों का घात होता है। अपनी दया करो। देखो तो ज्ञाता द्रष्टा मात्र-की परिस्थिति रूप शांति का भंडार यह चैतन्यस्वरूप भगवान् इन पर्यायों के रूप से नष्ट (तिरोहित) हो रहा है, जिससे तुम दुःखी हो रहे हो। इस चैतन्यस्वरूप से क्षमा मांगो, किसी से और कुछ न मांगो। हे चैतन्यस्वरूप ! तेरे में परस्पर विरुद्ध दो बातें पाई जा रही हैं। एक तो अंतःप्रकाशमान त्रिकाल में रहने वाला ज्ञानस्वभाव और ऊपर व्यक्त हुआ उससे उल्टा क्रोध भाव। क्रोध भाव परका उपयोग रखाने वाला है। जिससे इसने संकिलिष्ट अज्ञानी बनकर इस सरल महान् चैतन्यस्वरूप पर अन्याय किया है। अतः हे जीव ! ज्ञानस्वभाव का जिसमें तादात्म्य है, ऐसी आत्मा से तू क्षमा मांग। हे व्यवहार ! तू निश्चय से मफी मांग। व्यवहार कहता जा रहा है कि तू ऐसा सोच अथवा व्यवहार में द्रष्ट अपने को, ऐसा सोचना युक्त है।

प्रतिकूल वचनों को अनसुनासा कर देने में लाभ—एक पुरुष समुलल गया। पहुंच गये दामाद साहब। सास भी बड़ी कंजूस। उसने सोचा कि लो अब दो चार रुपया रोज बिगड़ेंगे, जब तक यह रहेंगे। सो कहा लाला जी आपको मैं ऐसा बढ़िया खाना बनाऊंगी जिससे आपका भला होगा, शरीर स्वस्थ रहेगा। यदि बूंदी के सद्दू बना दिया या हलुवा आदि बना दिया तो उससे स्वास्थ्य ठीक न रहेगा। उनके अवगुण बता दिया। कहा तुम्हें हम बढ़िया चीज खिलायेंगी, जिससे आपका शरीर सवाया हो जाय। वही बढ़िया भोजन बनाया। क्या? खिचड़ी। अब वह खिचड़ी जीमने बैठ गया। उसमें धी न डाला। वह दामाद खिचड़ी का एक-एक दाना चुगे। सासने कहा दामाद जी क्यों खिचड़ी का एक-एक दाना चुगते हो। कहा—क्या कर बिना धी के खिचड़ी पेट में नहीं जाती। और कुछ न हो तो केवल धी की हवा तो खिला दो, तो खाकर चले जायेंगे। सो कुछ जाड़े के दिन थे। एक चौड़ी मुँह की डबुलिया में पावधर धी रखा था, सो उसको लाकर सास ने औँघा दिया और थाली भर में फिरा दिया और हवा खिला दिया। अब दामाद सोचता है कि कला तो खूब खेली, पर फेल हो गया। अब क्या कला खेलना चाहिए सो खाते हुए में पानी के लोटे में टेहुनी लगा दी। पानी ढरक गया। पानी जरा दूर से लाना था, सो सास पानी लेने चली गयी। पानी दूर से लाने में लगभग १०-१२ मिनट लग ही जायेंगे सो उतने में दामाद ने डबुलिया को आग में धी पिचला लिया और वैसे ही डबुलिया को रख दिया। इतने में सास आयी। फिर दामाद एक-एक दाना खाने लगा। सासने कहा दामाद जी क्यों खिचड़ी का एक-एक दाना खाते हो? कहा बहुत देर हो गई, कुछ धी की हवा फिर लगा दो। उसने फिर डबुलिया को औँघा दिया तो सारा धी थाली में गिर गया। सास सोचती है कि मैंने बहुत उपाय किया, मगर फेल हो गई। बोली दामाद जी मुझे तुमसे बड़ा प्रेम है। हम तुम्हारी थाली में खाना चाहती हैं। अब वह सारा धी अपनी तरफ करने के लिए उस बातों में लगाया। थाली में अंगुली से लकीर करके सास कहे कि—तुम्हारे पिताजी हमारी लड़की को ऐसा कहते हैं, तुम्हारे भैया हमारी लड़की से यों बोलते हैं। तुम्हारी बहिन हमारी लड़की को यों कहती है, तुम कुछ नहीं बोलते हो। इतने में सारा धी अपनी तरफ अंगुली से कर लिया। दामाद ने सोचा कि हमारी सारी हिकमतें फेल हो गई। सो वह कहता है सास जी तुम्हारी लड़की से कोई कुछ कहे, मगर तुम्हारी लड़की को वे सब बातें यों पी जाना चाहिए यह कहता हुआ दामाद सारा धी एक चुल्हू में लेकर पी गया। इसी तरह भैया ! हमें भी प्रतिकूल बात पीकर उन्हें अलग कर देना चाहिए।

शुद्धात्मतत्त्व से उपेक्षापराध की क्षमा याचना—भैया ! हमारा लक्ष्य तो जब तक विकल्पावस्था

उत्तम क्षमा

हैं, निश्चय के विषयपर अथवा शुद्ध आत्मापर ही रहना चाहिए, परन्तु हम व्यवहार में इतने उलझ जाते हैं कि उसे ही सब कुछ समझ बैठते हैं। जहाँ हमें पहुँचना है वह बिल्कुल भूल जाते हैं। कुछ मलिनता कम हुई या मंद कषाय हुआ तब शुभोपयोग रूप राग होता है। वहाँ दृष्टि गई या वहाँ तक पहुँचे तो उस शुभोपयोग को ही उपादेय समझ बैठते हैं। यह निज चैतन्यस्वभावपर अन्याय नहीं तो क्या है? अतः हे श्रेष्ठ मन वालो! अब हमारा कर्तव्य है कि उस शुद्धात्मा अथवा निश्चय से क्षमा मांगें, जिसको हम आज तक गुलाये हुये हैं और क्षमा मांगना ही क्या, हम उस शुद्ध तत्त्व की ओर अपना लक्ष्य रखें, यही उत्तम क्षमा होगी। हे वर्तमान पर्याय! तू द्रव्य से क्षमा मांग कि मैंने तेरा बड़ा अनर्थ किया। मैं क्रोध में आकर तुम्हारा अब तक अनर्थ करता रहा। क्षमा के बारे में यह बड़ा ध्यान रखना चाहिए। क्षमा एक तप है। अगर कोई गाली देता है या छोटे वचन कहता है तो फिर उसे सहन कर जाय, यह बहुत बड़ा तप है, यदि उस समय नहीं सहन कर सकते तो कुछ बाद ही सही, अपने ज्ञानमात्र एक अमूर्त भावात्मक आत्मा के स्वरूप को जानकर मेरी क्षण तो यही है। अगर कोई दूसरा विगड रहा है तो कहीं वह मेरी क्षण तो नहीं है, वह मेरे आत्मा के परिणामन को पूरा पाड़ तो नहीं देगा। सब विनाशिक हैं भिन्न हैं, पौद्गलिक हैं। उनसे अपने आपके चित्त में एक क्रोध संस्कार न बने, यह है आत्मा की उत्तम क्षमा। उन सब बर्तवियों को यो ही पा जावो और उनके ज्ञाताद्रष्टामात्र रह जावो, यह परिणाम इस जीव को इस संसार समुद्र से तारने वाला होगा।

उत्तम क्षमा में रत्नत्रय का विकास—उत्तमक्षम रयणतयधारी—उत्तम क्षमा रत्नत्रय का धारण करने वाली है, क्रोध सर्व गुणों को फूँक देता है। अग्नि की ज्वाला से अधिक भयंकर क्रोध की ज्वाला होती है, आत्मा का यथार्थ विश्वास, आत्मा का यथार्थ ज्ञान और आत्मा में ही रम जाना—इस रत्नत्रय की पूति साधना क्षमागुण से होती है। जिसके क्षमा नहीं है, जिसके अनन्तानुबंधी कषाय है उनके सम्यक्त्व नहीं रह सकता है जिनके प्रत्याख्यानावरण कषाय है, उनके संयम नहीं रह सकता है और ज्ञान के दोनों साधनों में लगा होना सारतत्त्व है। इसकी शोभा तो उत्तम क्षमा के धर्म से होती है। हे चैतन्यप्रभो! तू अनादि से प्रगट है, परन्तु मैंने अब तक मुझे ढका ही रखा। जैसी जैसी पर्याय मिली वैसा ही मैं अपने को समझने लगा। मनुष्य की देह पाई तो मैं अपने उपयोग में निज द्रव्य को, निज पदार्थ को मनुष्य समझा, देव का शरीर मिला, मैं अपने को देव समझने लगा। जरा शरीर गर्म हुआ तब समझा मुझे बुझा हुआ। इस तरह अपने को पर्यायमात्र समझा, परन्तु उन सब पर्यायों में सामान्यरूप सदा एकसा रहने वाला शुद्ध, निर्विकार, निरंजन, ज्योतिर्मय, सर्व से भिन्न निज परमात्मद्रव्य उसकी मुद्र भी न ली। अहो! वही तो मैं हूँ। तब मेरा, विकृतपर्यायों का, विकार का कितना निष्ठुर व्यवहार रहा! हे निजचैतन्य प्रभो! इससे बढ़कर तुझपर और कोई अन्याय क्या हो सकता है? इस इस तरह अपने आपसे क्षमा मांगो। हे चैतन्य भगवान्, मैंने तेरा अपमान किया। तेरी खबर भी नहीं ली। अब मैं क्षमा चाहता हूँ। अब मैं तेरी भक्तिपूर्वक सेवा करूँगा। मैं क्रोध, मान, विषय, कषाय आदि भावों में अपने आपको नहीं लगाऊँगा। इस तरह के भाव से क्षमा मांगना उत्तम क्षमा है। ऐसी उत्तम क्षमा के धारी ज्ञानी जीव बाह्य में किसी भी तरह का अहित, विकल्प नहीं करते। उनका जब जो व्यवहार होता है उससे परको पीड़ाकारी योग नहीं होता। यदि कोई पर्याय बुद्धिभ्रम से दुःखी हो तो यह दुःखी होने वाले का ही दोष है। ज्ञानी व्यवहार में विरुद्ध नहीं और सत्य क्षमाशील है। किसी दुष्ट के द्वारा पीड़ा दिये जानेपर भी वह भव्य जीव कभी क्षामाभाव को नहीं छोड़ता।

उत्तमक्षमा की दुर्गतिदुःखहारिता—उत्तमक्षम दुग्गद्दुहहारी—उत्तमक्षमा दुर्गति से दूर करने वाली है, यहाँ की दुर्गति और परलोक की दुर्गति दोनों से ही दूर करने वाली यह क्षमा है। दोनों ही दुर्गतियों से दूर करने की सामर्थ्य इस क्षमा में है। जिसे कहते हैं गम खाना। क्रोध की वृत्ति जो बना रहे है उनको जगह जगह दण्ड मिल जाता है। जिनको क्षमा की प्रकृति आयी है उन्हें सब जगह सत्कार या सद्व्यवहार होता है, तो इस लोक में भी

दुर्गति नहीं हो पानी, जो क्षमा अंगीकार करता है और पृथ्वी में भी उसकी दुर्गति नहीं होती, खांटी पर्यायों में जन्म नहीं होता। गृहस्थ को दो ही बातों से तो प्रयोजन है, एक तो आजीविका और दूसरा आत्मकल्याण। पर ऐसी व्यर्थ की बातों में क्यों उद्योग फंसाया जाय, जिससे न कोई अजीविका के साधन में सहायता मिलती है और न आत्मकल्याण के साधन में। ऐसे व्यर्थ के बोल बर्ताव के व्यवहार से इस जीव को क्या लाभ मिलेगा? अपनी दुर्दशा यदि समाप्त करना है तो सम्यग्दर्शनरूप उत्तम क्षमा को धारण करो और सब जीवों में विकास को ही निहारकर उनकी लगन रखो। यह उत्तम क्षमा ही समस्त दुर्गतियों को मेटेगी क्षमा करने के कितने ही प्रयोजन हैं। जैसे किसी का किसी बन्धनान से मुकाबिला हुआ। वह बलवान का कुछ बिगाड़ नहीं सकता है, अतः गम खाने की सोचता है। नहीं तो हड्डी और पसली टूट जायगी। अच्छा जाओ उसे क्षमा करो। इस प्रकार की क्षमा या गम खाना उत्तम क्षमा नहीं। बलवान का मुकाबिला नहीं कर सकते। इसलिए झक मारकर गम खाना पड़ रहा है और भीतर अनिष्ट बुद्धि ही है, यह उत्तम क्षमा नहीं है। क्योंकि मुकाबिला न होने पर भी उसके विरोध का भाव नहीं मिट रहा, उसके अनिष्ट करने की बुद्धि विद्यमान है। इसलिए इसे क्षमा नहीं कहा जा सकता। हां, यदि आक्रान्ता बलवान भी हो, फिर भी अनिष्ट बुद्धि न होकर सहजवृत्ति से जो गम खाय वह उत्तमक्षमा हो सकती है, क्योंकि अनिष्ट बुद्धि में क्रोध तो अंतरंग में भड़मड़ाया करता है, परन्तु कायरतावश कुछ नहीं कर सकता। तब क्या वह शांति का लेश भी अधिकारी है? अतः जो गम अथवा क्षमा आत्मा को सुख देवे वही पास्तव में क्षमा है।

उत्तमखम गुणगणसह्यारी, उत्तमखम मुणिविदपियारी।

उत्तमखम बुहयणचितामणि, उत्तमखम संपञ्जइ धिरमणि।।

उत्तमक्षमा से गुण का विकास—उत्तमखम गुणगण सह्यारी—उत्तम क्षमा अनेक विकास के गुणों की सहकारी है। उत्तम क्षमा से सब गुण शोभा पाते हैं। किसी में उदारता हो, समाज का जो उपकार करता हो, सबके काम में आया हो, अन्तरङ्ग में किसी के प्रति कोई मायाचार न रखता हो, किसी भी प्रकार का घमंड न हो किन्तु क्रोध की प्रमुखता हो तो वे सब गुण मानो क्रोध अग्नि में भस्म हो जाते हैं। आप किसी की कितनी ही सेवा करें, हर तरह से सेवा करें और जरा दुर्वचन बोल दें कुछ अपना क्रोध जाहिर कर दें तो उन सब सेवाओं पर पानी फिर जाता है। भैया! इसी तरह कोई यह सोचे कि क्षमा करो, क्योंकि क्षमा से लोक में बड़ी प्रतिष्ठा होती है, बहुत आराम मिलता है आदि। इस तरह की क्षमा भी उत्तम क्षमा नहीं है। इससे तो राग द्वारा आकुलता ही तो मची रहती है। उस क्षमा में अपनी लोकप्रतिष्ठा की ही तो बुद्धि आई, उसने आराम बढ़ाने के लिये ही तो क्षमा की। इस प्रकार प्रतिष्ठा में, आराम में उसको राग हुआ। यह तो आत्मा को बरबाद करता है। इसी तरह कोई कोई साधु यह तो चाहता है कि वह क्षमा करे, किन्तु यदि वह क्षमा यह समझकर कर सकता है कि इनसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो इस प्रकार के भाव से क्षमा करना भी उत्तम क्षमा नहीं है, क्योंकि इससे तो उसने मिथ्यात्व को ही बसाया, संसार ही बढ़ाया, अभी तो भ्रम भी दूर नहीं किया, उत्तम क्षमा तो दूर ही है। उत्तम क्षमा में अनादि, अनन्त, अहेतुक, ज्ञानस्वभाव का विशुद्ध विकास है। इस उपादान का विचार करके इस ज्ञानस्वभाव में क्षमा परिणति रूप उपयोग को स्थिर रखने से रागादि भाव नहीं आयेगा। ऐसी स्थिति को उत्तम क्षमा कहते हैं। जहां मिथ्यात्व की स्थिति नहीं है, फिर भी क्रोध आये तो सोचो, क्या यह क्रोध मेरे स्वभाव से बना है? नहीं, क्रोध व्यवहारिक पर्याय है, मेरे स्वभाव में नहीं है, मैं उसका ज्ञाता मात्र हूँ, इस प्रकार क्रोध का ज्ञान होनेपर भी क्रोध के बिना ज्ञान-स्वभाव की जागृति रखना वहां उत्तम क्षमा आंशिक है।

उत्तम क्षमा से संवर व निःश्रेयस—दशलक्षण धर्म से संवर होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से ही तो संवर होता। दशलक्षण धर्म अंतरंग चारित्र है, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का अविनाभावी है। धर्म

तत्पूर्व ही है, अतः जहाँ सम्यक्दर्शन का लेश नहीं वहाँ उत्तम क्षमा का आभास नहीं हो सकता। उत्तम क्षामा में ही यह सामर्थ्य है कि समस्त गुणों के विकास को बढ़ा देती है। यह उत्तम क्षामा अनेक उपद्रवों को लीला मात्र में हटा देती है। एक साधु था। उसके उपसर्ग आया। उसके भक्त ने उसके उपसर्ग को दूर किया, बचा लिया, परन्तु उपसर्ग में व उपसर्ग के बाद साधु को वह विकल्प ही नहीं था कि यह तो उसका भक्त है और यह उसका दोषी है। उसके यह जानने का विकल्प ही नहीं आया कि कितने मेरा उपसर्ग दूर किया? जिसके मन में मित्र और शत्रु का विकल्प ही नहीं उठता ऐसे साधुओं का वह उत्तम क्षामा धर्म है। भगवान् पार्श्वनाथपर कमठ ने तरह-तरह के उपसर्ग किये। भगवान् के उन उपसर्गों का धरणेन्द्र पद्मावती ने निवारण किया, परन्तु भगवान् का यह लक्ष्य ही नहीं था कि कमठ तो उपसर्ग का करने वाला है और धरणेन्द्र, पद्मावती रक्षा करने वाले हैं। इसी वीतरागमय उत्तम क्षामा से अंतर्मुहूर्त में केवल ज्ञान हो गया।

रागद्वेष के प्रतिषेध में उत्तम क्षामा का अभ्युदय—उत्तम क्षामा वह कहलाती है जिसका न इष्ट में राग जाय और न अनिष्ट में द्वेष ही जाय। जगत में जितने भी झगड़े होते हैं वे राग भाव से होते हैं, द्वेषभाव से नहीं होते। द्वेषभाव से जितने झगड़े हो रहे हैं, उन द्वेषों की जड़ क्या है? उत्तर मिलता है कि अमुक चीजपर राग था तब उसमें बाधा देने वाले को हमने द्वेषी समझा। अर्थात् उस द्वेष की जड़ राग ही हुई। यदि मूल बात विचारो तो यही सिद्ध होता है कि क्रोध राग से किया जायगा, द्वेष तो क्रोध है ही। इस प्रकार राग ही क्रोध है, परन्तु यह चैतन्यस्वभाव तो स्वयं एकाकी है, यह किसी से राग क्यों करेगा? ऐसे चैतन्यस्वभाव का अवलोकन करने वाले ज्ञानी मुनि ही होते हैं। उन्हीं के उत्तम क्षामा होती है, वहाँ न राग है; न द्वेष है। यदि उनकी विषयों में प्रवृत्ति होती तो वे राग का त्याग नहीं कर सकते थे।

उत्तमक्षामा की सज्जनप्रियता—उत्तमखम मुर्णिविदपियारी—यह उत्तम क्षामा मुनियों को प्रिय है। अहिंसा की पूति इस उत्तम क्षामा से होती है। अहिंसा का पालन भी क्षामा का अंग है। धर्म का पालन किसी के ठेके में नहीं है। कोई भी पुरुष हो जो अहिंसा में रुचि रखता है उसको लाभ मिलता है। कुछ समय पहिले की एक घटना है कि एक नवाब की लड़की किसी अच्छे धनी मुसलमान के घर ब्याही गयी थी। पाप का उदय आया, गरीब हो गई। उसका पति मांस खाने, मदिरा पीने और अन्य सब प्रकार के व्यसनों में रहने लगा। निर्धन भी हो गया। कोढ़ भी उसके निकल आया। इतने पर भी लोगों ने उस लड़की को समझाया कि दूसरा विवाह कर लो, पर उसने कहा कि यह नहीं होगा। वह पति की सेवा करे और शिक्षा भी दे कि मांस-मदिरा के हिंसामय प्रयोग से यह तुम्हारी अवस्था हुई। इन सबको त्याग दो। वह गरीब स्त्री जैनी लोगों के यहाँ से रोटियां मांग लाये व अपने पति को खिलाये और अपना पेट भरे। मगर दुर्व्यसन और दुराचार का उसका मन नहीं होता था। अहिंसा की श्रद्धा हुई। कुछ समय बाद अपने आप ही पति का कोढ़ मिटा और अहिंसा व्रत का नियम लिया। तो धर्म जो पात्रेगा उसी को लाभ है। उत्तमक्षामा सहज स्वभाव से उदय में आती है।

क्षामागुण की सहज सिद्धि—मैं क्षमा करूँ तो अमुक लाभ होगा, इस भाव से उत्तम क्षामा नहीं होती। एक राज्य में राजाज्ञा हुई कि कोई चोरी न करे और १०, ००० से अधिक सम्पत्ति न रहे। तो जो राजाज्ञा से चोरी नहीं कर सकता था, जिसने १०, ००० से अधिक सम्पत्ति का त्याग कर दिया तो क्या वह परिग्रहत्यागी बन गया? नहीं, राजाज्ञा से उसने सम्पत्ति का त्याग किया, परन्तु हृदय में तो तृष्णा है। सम्पत्ति से उसका राग तो नहीं गया। अतः तृष्णा और राग होने के कारण वह परिग्रहत्यागी नहीं हुआ। इसी तरह उत्तम क्षामा भी जबर्दस्ती से नहीं होती है। अहेतुक स्वभाव की दृष्टि में क्रोध स्वतः नहीं रहता। क्रोध के करने से दुर्गति में चले जावेंगे, यह समझकर क्रोध न होने देने का परिश्रम करना भी उत्तम क्षामा नहीं कहला सकती। ऐसे धर्म मानने के अभिप्राय

पर्यायबुद्धियों के ही होते हैं, परन्तु ज्ञानी इमलिये क्रोध नहीं करता, उसके तो क्रोधरहित राग भाव रहित ज्ञान-स्वभावपर ही लक्ष्य रहता है, ऐसा ही आत्मीय स्वलक्षण जहाँ समझा गया, वहाँ क्रोधभाव स्वतः नहीं होता। ऐसा उत्तम क्षमा का स्वरूप ज्ञानस्वभाव है। ज्ञानी के कदाचित् यदि क्रोधभाव भी रहता तो भी भेदविज्ञान के बल से अन्तर में उत्तमक्षमा के अंश रहते ही हैं। हमको तो यह चाहिये कि कहीं से कुछ भी बात आये, कुछ भी उपसर्ग आये, उससे लक्ष्य हटायें, वह भेदविज्ञान का सहारा लें और उपयोग के शुद्ध लक्ष्यपर हीने के वाद अभेदस्वभाव में स्थिर होकर क्षमाशील रहें।

क्षमाप्रयोग से शान्ति का लाभ—कोई बाघु बम्बई जा रहे हों और पड़ौस की स्त्रियाँ आकर कहें कि हमारे बाबू को खिन्नी का हवाई जहाज ले आना, कोई स्त्री कहे कि हमारे बाबू को खेलने का रेल का इञ्जन ले आना और कोई गरीब बुद्धिया आकर यह वहे कि बाबूजी हमारे पास ये दो पैसे हैं इन्हें लो और हमारे बबुवा को एक मिट्टी का खिन्नी ला देना। तो बबुवा कितना खेलेगा? बबुवा उस गरीब बुद्धिया का ही खेलेगा। तो गपो-दियों ने लाभ नहीं होना, किन्तु गुप्त ही अपने आप छिपे हुए अपने उद्धार के लिए संसार के जन्म मरण के चक्रों से छूटने के लिए अपने आपके ज्ञानस्वभाव की आराधना हो तो यही उत्तम क्षमा है। यह उत्तम क्षमा चिन्तामणि की तरह है। जैसे चिन्तामणि से जो विचारो सो मिल जाये। इसी तरह उत्तम क्षमा का सद्भाव करे उसके परिणाम से शान्ति उसे तुरन्त मिलेगी। शान्ति का बड़ा प्रभाव होता है। घर में रहने वाले पुरुषों में एक मुख्य पुरुष यदि शान्ति का स्वभाव रखना हो तो घर के सब परिवार जनों का उस शान्ति में ढलने का व्यवहार बन जाता है।

शान्त पुरुष की वृत्ति का सत्प्रभाव—एक सेठ सेठानी थे। सेठानी क्रुद्ध थी और सेठ शांत था। बजाजी की दूकान करता था। दूकान में बहुत काम करना होता था। रात दिन वहीं रहे। समयपर भोजन खाने घर आये। सो उम सेठानी को और कोई सम्य न मिले कि वह सेठ से कुछ कह सके। जब सेठ जी भोजन करने आते तो उमी समय वह अपना क्रोध निकालती, मुझ अमुक चीज बनवा दो, मुझे कभी बनवाकर नहीं देते और दो-चार गालियाँ भी मुना दे, वह बेचारा आराम से मुन ले और भर पेट भोजन करके अपना चल दे। एक दिन भोजन करके सीढ़ियों से नीचे उतर रहा था। सेठानी को बड़ा गुस्सा आया तो जो दाल चावल का धोवन होता है उसे सेठ की पगड़ीपर डाल दिया। सेठ के कपड़े भीग गये। सेठ सीढ़ियों से ऊपर चढ़कर सेठानी से कहते हैं कि सेठानी जी! तुम गरजती तो बहुत थीं पर बरसी आज हो। बड़ी शान्ति से उन्होंने जवाब दिया। तो सेठानी शर्म के मारे गड़ गई कि हमने कितना उग्रव किया, मगर इनकी क्षमाशीलता को धन्य है। अब वह सेठ के पैरों में गिर गई और बोली—अब मैं कभी क्रोध न करूंगी। वह क्षमा विद्वानों का आभूषण है। विवेकी पुरुषों को यह क्षमा अन्तरङ्ग में रखनी चाहिये। जैसे मान लो कोई तुम्हें मार रहा है, वहाँ तुम यह समझ लो कि यह मुझे तो नहीं मार रहा है इस शरीर को ही मार रहा है, परन्तु शरीर तो मैं नहीं हूँ, इस विवेक से क्षमा आ ही जायगी। मान लो व्यवहार में यदि कोई गाली-गलाज अथवा घुरा भला कह रहा है तो समझ सकते हो कि यह मुझ तो नहीं कह रहा, जिसने कुछ किया है उसे कह रहा होगा। जिसको कह रहा हो कह ले, यह उसके कषाय का विपाक है। वह इस चतन्यस्वभाव को तो नहीं कह रहा है, यह समझकर उन बुरे वचनों को भी पी जाये अर्थात् उपेक्षित कर दे, इसी को उत्तम क्षमा कहते हैं, क्योंकि ऐसा विचार करने से उसे अवसर मिलता है कि वह अनन्तर निर्विकल्प तत्त्व को अवलोकन करे। इस प्रकरण में उसके दिल में क्रोधभाव उत्पन्न ही नहीं होता।

क्षमा से मन की स्थिरता—उत्तमस्व संपज्जइ विरमणि—यह क्षमा मन को स्थिर रखने में समर्थ है। क्रोध को रखते हुए हृदय स्थिर नहीं हो पाता है। भैया मनकी स्थिरता तो सभी चाहते हैं, किन्तु मनकी स्थिरता रखने का अच्छा उपाय है क्षमा करना। एक घर में एक गांव था। जब उस घरमें बच्चे को दूध पीने के

लिए कटोरा भर दिया जाता तो वह सांप आये और उस दूध को पी ले। बच्चा उस सांप को हाथ से मारता जाय, मगर उस सांपने क्षमा ब्रत लिया था, सो वह खूब आराम से रहे। एक दिन दूसरे सांपने देखा कि यह तो दूध पी आया है और मस्त है। कहा यार तुम तो बड़े मस्त हो, दूध से मुख भंडा है, आप कहां दांव मारा करते हो? हम तो बच्चे के पास से दूध पी आते हैं। हमें बता दो, हम भी पी लिया करें। तुम नहीं पी सकते हो। क्यों? बोला दूध वही पी सकता है जिसमें क्षमा हो। वह बच्चा थप्पड़ मारता है। जिसको थप्पड़ सहने की शक्ति हो वही दूध पी सकता है, अरे तो हम भी सह लेंगे। कहा—नहीं सह सकते हो। द्वितीय सांपने संकल्प किया कि अच्छा तो लो १०० थप्पड़ तक हम जरा भी नहीं क्रोध करेंगे। उसने १०० थप्पड़ तक सहने का नियम ले लिया। सो वह दूध पीने गया। बच्चा थप्पड़ मारे। जब ८०, ६०, ६५, ६७, ६६ और १०० थप्पड़ हो गये तब तक कुछ न कहा पर जब १०१वां थप्पड़ बच्चे ने मारा तो उसने फुंकार मारी, बच्चा डर गया, चिल्ला पड़ा। घर के लोग दौड़े, सांप को देखा और मार आला। तो सुख और शांतिपूर्वक अपना जीवन चलाने के लिये क्षमा का गुण होना चाहिए।

क्षमागुण से सर्वत्र उत्थान—घर में भी, समाज में भी, देश में भी जिसका उत्थान होता है वह क्षमा-गुण के कारण होता है। बड़े-बड़े नेताओं को देखो—उत्तम क्षमा सम्पूर्ण गुणों के साथ रहने वाली है। ऐसा नहीं होगा कि कोई सोच ले कि मैं उत्तम क्षमा रख लूँ और गुण रहूँ या न रहूँ। उत्तम क्षमा वहां ही रहती है जहां और सब शुद्ध गुण भी रहते हैं। इसके आते ही और गुण भी प्रगट होने लगते हैं। मुनिजन उत्तम क्षमा को नहीं छोड़ते। जरा भी अवसर क्षीम भाव के पैदा होने का आवे तो स्वामाविक सत्य शांति के लिए वे बहुत विह्वल रहते हैं। उनकी आकुलता तब तक है जबतक वे क्षामाभावको नहीं पालेते। जब वे क्षमाको प्राप्त करनेके लिये ऐसा अन्तरंग तप करते हैं तब हमें तो, जिनको सदा क्रोध की संभावना रहती है बहुत ही सावधान रहना चाहिये। हमारी तो विजय इस सत्य श्रद्धापर है कि “मैं परका कुछ नहीं कर रहा हूँ” फिर मुझे क्रोध कहां? “मैं परको करता हूँ” इस प्रकार का मिथ्यात्व ही उस व्यक्ति के लिए क्रोध बन गया, जिसने ऐसा विचार किया कि मैं परका कर्ता हूँ। अतः आत्मा से इस क्रोधभाव को मिटाओ।

उत्तमक्षम महणिज्ज सयलजणि, उत्तमक्षम मिच्छत्त तमोमणि।

जहि असमत्थहि दोस खमिज्जइ, जहि असमत्थहि ण उ रुसिज्जई ॥

उत्तमक्षमा की सकलजनमहनीयता—उत्तमक्षम महणिज्ज सयलजणि—यह क्षमा समस्त पुरुषों के द्वारा पूज्य है, सब इसकी आराधना करते हैं। क्षमा नाम पृथ्वी का भी है। संस्कृत शब्द है क्षमा। इन पृथ्वी को क्षमा क्यों कहते हैं कि पृथ्वीपर लोग टट्टी करें, पेशाब करें, कूड़ा जलायें, फिर भी यह पृथ्वी अचल स्थिर रहती है। इस प्रकार एक क्षमा का परिणाम ही ऐसा गुण है कि बड़े-बड़े उपद्रव और उपसर्ग भी आयें तो भी उनमें अपने मन में कषाय नहीं बांधते। यह क्षमा समस्त जनों के द्वारा पूज्य भाव है।

उत्तमक्षमा से मिथ्याभाव का विहंडन—उत्तमक्षम मिच्छत्त विहंडणू—यह उत्तमक्षमा मिथ्यात्वरूप अंधकार को नष्ट करने के लिए मणि समान है। है ना ऐसा? क्रोध में अपना सन्मार्ग अथवा आत्मस्वभाव या परमात्मा का स्वरूप—ये सब भूल जाते हैं और पर्यायबुद्धि घर कर लेती है। मिथ्यात्व न आ पाये ऐसी शक्ति क्षमा गुण में है। क्षमा गुण के प्रसाद से मिथ्यात्व अंधकार नहीं आता। जहां वस्तु का, स्वरूप का बोध हो जाता है वहां यह सोचता है कि परपदार्थ चाहे जैसे परिणामो, इससे मेरा कोई सुधार बिगाड़ नहीं है। यदि कोई उपसर्ग भी हमपर करे, कोई गाली भी देवे तो एक उपाय यह करे, यह समझे कि यह हमारी परीक्षा करने के लिए तो नहीं कह रहा है। एक पाकेटमार किसी की पाकेट में से नोट निकाल रहा था। नोट निकालता हुआ वह पकड़ा गया तो बोसता

है कि मैं तो आपकी परीक्षा कर रहा था कि आपको ध्यान भी रहता है या नहीं। आप सावधान भी हो या नहीं। अतः यदि किसीने गालीगलौज दी भी तो सोच लो वहीं यह परीक्षा तो नहीं कर रहा है। पहले ही क्रोधी बन जाओगे तो जब वह यह कह देगा कि मैं तो परीक्षा कर रहा था तो तुम्हें नीचा देखना पड़ेगा अथवा क्रोध करनेपर वह यह कह सकता है कि मैं तो परीक्षा कर रहा था कि आपमें क्रोध भी आ सकता है या नहीं। बहुत से सचमुच हमारी परीक्षा लेने के लिए क्रोध कराने का प्रयत्न करते हैं। अतः परीक्षा को ठीक रखना और मन में क्षोभभाव को नहीं लाना। अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभाव को कारणरूप से उपादान करके ज्ञानोपयोग का परिणाम होना सो उत्तम क्षमा है। अपनी दृष्टि निर्मल बनाओ, विशुद्ध एक ध्येय बना लो, फिर स्वव्यवसाय चल उठेगा, फिर कोई शक्ति विचलित नहीं कर सकेगी।

असमर्थ प्राणियों के दोषों की क्षमा को महनीयता—जहं असमर्थहं दोष खमिज्जई—दोष वहां नहीं है जहां असमर्थ पुरुषके दोषोंको क्षमा कर दिया जाता है। एक बार कोई बादशाह शिकार खेलने जंगलमें गया। साथ में मन्त्री भी गया। एक हिरणी के पीछे उसने दौड़ लगाना शुरू कर दिया। हिरणी कुछ तो दौड़ी और बाद में उसने सोचा कि हम बच थोड़े ही सकती हैं, सो एक दयाभरी निगाह से बादशाह को देखने लगी, खड़ी हो गई, वहां से न हटी। बादशाह मन्त्री से कहता है कि देखो यह हिरणी अपने प्राण गंवाने के लिये यहां खड़ी हुई है। मन्त्री बोला—महाराज यह हिरणी आपसे दया चाहती है। यह निवेदन कर रही है कि मेरे बच्चे दो दिन से बिना दूध पिये हुये भूखे पड़े हुये हैं। उन्हें मैं दूध पिला आऊँ और फिर इसी जगह अपने प्राण देने के लिये आ जाऊँगी। बादशाह बोला—यह कैसे हो सकता? मन्त्री ने कहा महाराज एक बार देख लो क्या हर्ज है? बहुत से शिकार हैं, दूसरे को मार डालना। देख तो लो कि आखिर भाव ठीक हैं कि नहीं? कहा—जाओ, अपने बच्चों को दूध पिला आओ। दौड़कर अपने बच्चों के पास पहुंची। अपने बच्चों से कहा—ऐ बच्चों! जल्दी दूध पियो, मैंने शिकारी से वायदा किया है, तुम्हें दूध पिलाने के लिए शिकारी ने छोड़ दिया है। बच्चों ने कहा—जाओ, जल्दी जाओ, हमें दूध नहीं पीना है, तुम जल्दी जाओ, कहीं तुम्हारा बचन भंग न हो जाय। एक दिन हमने दूध पी लिया तो उससे क्या होगा? तुम जल्दी से शिकारी के पास पहुंचो। हिरणी तुरन्त उसी स्थानपर शिकारी के पास पहुंची। बादशाह ने यह देखकर अपने हथियार डाल दिये और यह प्रण किया कि अब किसी भी प्राणी को न सतायेंगे। जहां असमर्थ व्यक्तियों पर द्वेष नहीं किया जाता है उसे उत्तम क्षमा कहते हैं। यह तत्त्व आत्मा में भर लिया जाय तो बहुत काम देगा।

उपशम भाव से भव्य सृष्टि—इन लौकिक जीवों को इस जगत से मरण होने के बाद कौन रचना करता है कि मनुष्य बन जाय या पशु पक्षी बन जाय? ये भाव ही रचना करते हैं। जीवन में सद्भाव हो, क्षमा का परिणाम हो तो उससे ऐसी सृष्टि होगी कि जहां मन भी गायब हो जायगा। असंज्ञी जीवों में जन्म होगा। यह अपने सद्ब्यवहारों पर निर्भर है। देखो भैया! क्रोध से कर्म बंध होता और अपने आपमें आकुलता बढ़ाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता, किन्तु क्षमा से स्वयं और अन्य भी सुखी रहते हैं। यह उत्तम क्षमा तो क्रोध के अभाव से ही पैदा होती है। क्रोध करके कोई चाहे कि मैं क्लेश से छूट जाऊँ यह असम्भव है, उत्तम क्षमा ही जन्म-मरणरूपी संसार से छुटकारा दिलाने वाली है। कोई क्रोध करके इस संसार से तिरने वाला नहीं है। क्रोध तो ब्रत, संयम, तप, चारित्र्य सब गुणों पर पानी फेर देता है, ब्रत, संयम, चारित्र्य दुनिया का परोपकार आदि सर्व गुण क्रोध के साथ नहीं रहते। इसके विपरीत उत्तम क्षमा दुर्गति के दुःखों को हरने वाली है और रत्नत्रय की रक्षा करने वाली है।

जहि आकोसण वयणि सहिज्जइ,
जहि परदोसु ण जणि भासिज्जइ ।
जहि चैयणगुणचित्ता धरिज्जइ,
तहि उत्तमखम जिणें कहिज्जइ ॥

आक्रोशवचन सहन व परदोषाभाषण में उत्तमक्षमा की ज्योति—उत्तम क्षमा वहां होती है जहां दूसरों के गालीगलौज के वचन भी सह लिये जाते हैं। उत्तम क्षमा वहां पर है जहां दूसरों के दोषों को कहीं मनुष्यों में कहा नहीं जाता। जब इतनी आत्मा की तैयारी होती है तब यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना अस्तित्व लिये हुये हैं। उनके गुण पर्याय उन्हीं में हैं। किसी पदार्थ से किसी अन्य पदार्थ में कोई बाधा नहीं पहुंचती है। कोई पुत्र इस विविक्त आत्मा को दुःख नहीं पहुंचाता है। किसी आत्मा में किसी भी दूसरी आत्मा का कोई दखल नहीं है। हम अपने आपमें ही रहते हुए अपने परिणामों को, अपनी तकदीर को बनाते रहते हैं। जिसको पदार्थों के सत्यस्वभाव का ज्ञान हुआ वह मनुष्य अपनी उन्नति के काम का प्रयोजन रखता है। वह दूसरों की प्रवृत्तियों से अपने आपके उद्देश्य को नहीं बदलता। भैया! हमें चाहिये कि कोई हमें कुछ कहे, गाली दे, हमें सब बातों को पी जाना चाहिए अर्थात् उपेक्षा कर देनी चाहिए अर्थात् अब लोगों की प्रवृत्ति की उपेक्षा कर देनी चाहिए या फिर इस तरह से पी जाना चाहिए कि फिर यहां परिणाम द्वेष को प्राप्त नहीं हो सकें। कुछ दिनों का ही यह जीवन है। फिर किसी से विरोध क्यों पैदा करना? इस थोड़े से नर-जीवन को पाकर चैतन्य भगवान, जो निर्मल आत्मा में विराजमान हैं, उसको निर्मल बनाओ। जिनके किसी भी पदार्थ का विषय लेकर क्रोध भाव रहता है, ऐसी जगह भगवान का स्वरूप कभी विराजमान नहीं होता। क्रोध अग्नि के समान माना गया है। वह अग्नि के समान नगरियों तक को भी जला दिया करता है। वह क्रोध महती आग है। जो भी उसके तेजस्व के रूप में आता है, उसको वह भस्म कर देता है। साधु में रहने वाले क्रोध का स्वरूप बताया गया है कि चाण्डाल जैसी चीज साधु में कोई है तो वह क्रोध है। साधु अपने आपकी सुध नहीं रखता, यदि क्रोध उसके पास हो। अतः जिस प्रकार भी अपने चैतन्यस्वभाव की सुधपूर्वक जो क्षमा आवे वही उत्तम क्षमा है। ऐसी क्षमापरिणति को धारण करो।

परदोष के अभाषण में विपदा का परिहार—एक किसान और किसानिन थे। किसान तो उजड़ और किसानिन थी शांत। १०-१२ वर्ष दोनों को घर में रहते हुए हो गए थे, पर किसान उसे पीट न सका था। उसके मन में यह चाव सदा रहता था कि कभी तो इसके दो चार मुक्के लगायें। पर उसे कभी मौका नहीं मिल सका। एक बार आषाढ़ के दिनों में दोपहर के समय किसान खेत जोत रहा था, और वह स्त्री रोज रोटी देने उसी समय आती थी। किसान ने जोतना बंद कर दिया और एक बैल को पूरब की तरफ मुंह करके जोत दिया और एक बैल को पश्चिम की तरफ मुख करके जोत दिया और हल को फसा दिया। सोचा यह अनहोनी घटना को देखकर स्त्री कुछ न कुछ तो कहेगी ही। ऐसे ही बच्चों का पालन-पोषण हो जायगा, ऐसे ही काम चल जायगा, कुछ न कुछ तो बोलेंगी ही, बस हमें पीटने का मौका लग जायगा। वह स्त्री रोटी लेकर आयी और दूर से ही देखकर समझ गई कि आज हमें पीटने के ढंग हैं। वह आयी और बोली चाहे सीधा जोतो चाहे आँधा, हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं है। हमारा काम तो केवल रोटी देने का था सो लो। यह कहकर रोटी देकर वापिस चली गई। फिर भी किसान पीट न सका, सोचता ही रह गया। भैया! हमें भी ऐसा सोचना चाहिये कि कोई भी पदार्थ चाहे उसके अनूकूल परिणामे चाहे प्रतिकूल, हम उसमें क्या कर सकते हैं और मेरा उससे सुधार बिगाड़ ही क्या? वह तो अत्यन्ताभाव वाला पदार्थ है। इस प्रकार की श्रद्धा रखने वाले ज्ञानी जीव कठिन से कठिन उपसर्ग आनेपर भी अपने ज्ञानस्वभाव में सन्मुख रहता है, मैं भी तो ज्ञानस्वभावी ही हूँ। अतः कोई कितना भी उपसर्ग करे, मैं निज ज्ञानस्वभाव से क्यों

चिन्तित तथा हमारी ओर से यदि शान्त प्रवृत्ति रहेगी तो उसका भी क्रोध हमपर रह नहीं सकता। तत्तन्ज्ञानपूर्वक शान्ति होना उत्तम क्षमा है। ज्ञानी जन अपनी उत्तम क्षमा को नहीं खोते। जहाँ क्षमाभाव आ गया, वहाँ उसे चिन्तामणि मिल गया। जिसके होते जो विचारो सो मिल जाये वह चिन्तामणि कहलाता है। जिसके होते जो सोचे वही मिल जाये ऐसा चिन्तामणि कोई पत्थर है क्या? नहीं। चेतन्यभाव की दृष्टि का नाम ही चिन्तामणि है। ज्ञानस्वभावदृष्टि होनेपर जगत में कोई इच्छा नहीं होती, तब सभी मिल गया, सो यह उत्तम क्षमा चिन्तामणि है।

उत्तमक्षमा से मन की स्थिरता व सम्मान्यता—उत्तम क्षमा से ही स्थिर मन होता है। क्रोध होनेपर मनमें स्थिरता नहीं रहती है। तभी तो कहते हैं—कहींका कोई ऐसा पत्र आवे कि जिसको पढ़ने से क्रोध पैदा हो जावे तो उसका उत्तर कल लिखो। इसका कारण यह है कि क्रोधभाव में योग्य क्रिया नहीं हो सकती। क्रोधभाव मनको स्थिर नहीं होने देता। क्रोधी का कोई सरकार नहीं करता। उसको सब लोग टालते हैं, उपेक्षा करते हैं और सम्मान नहीं करते। दृष्ट अनिष्ट बुद्धि ही क्रोध लाती है अतः किसीको दृष्ट मत समझो, क्योंकि कुछ दृष्ट समझनेपर उसके बाधकपर क्रोध आया करता है। जब किसी भी पदार्थ में दृष्टबुद्धि ही न करोगे फिर क्रोध आयेगा कैसे? अर्थात् दृष्टबुद्धि न रखने पर क्रोध आयेगा ही नहीं। क्रोध से इहलोक परलोक दोनों में ही हानि होती है, किन्तु क्षमा से दोनों लोकों में शान्ति रहती है और लोकप्रमण से जल्दी ही छूट जाता है। उत्तम क्षमाशील लोगों की तीनों लोकों में पूजा होती है। यह उत्तम क्षमा मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सर्व ज्ञानधारी मुनि की तरह है। जिसमें उत्तम क्षमा है उसमें मिथ्यात्व का अन्धकार नहीं रहता।

विवेक से निर्मलता का लाभ—अपनी आत्मा को जगत में एकाकी समझो, मित्रता-शत्रुता की कल्पना मत करो, किसी को दुःख आपके निमित्त से हुआ हो तो चाहे वह छोटा ही हो, उसके पास जाकर उसका दिल साफ कर दो। कहो कि मेरे से बड़ी गलती हुई है मुझे क्षमा कर दो और अपने विषय में ऐसा सोचो कि यदि कोई मेरा दोष बखानकर सुखी होना चाहता है तो सुखी रहे। कोई गालीगलौज देकर सुखी होना चाहता है या धन लेकर सुखी होना चाहता है, होवे। किसी भी प्रकार वह जीव सुखी हो, परन्तु मेरे निमित्त वह दुःखी नहीं होना चाहिये। यदि किसी आधार से ज्ञात हो—कोई पीठ पीछे हमारी बुराई भी कर रहा था तो करे, परोक्ष में ही तो कर रहा था, सामने तो नहीं कर रहा था। जिस परिवार में सब ही लोगों की ऐसी प्रवृत्ति हो वह परिवार सुखी ही रहता है। क्षमाशील व्यक्ति का हर एक कोई सम्मान करता है। आगरे के भगवतीदास जी थे। उन्हें एक आदमी ने आकर कहा कि आपके लिए अमुक आदमी ऐसे कह रहा था। उन्होंने उत्तर दिया कि वह कह रहा था या नहीं, कह रहा था मुझे पता नहीं, परन्तु तुम तो मेरे सामने ही कह रहे हो। अतः सोचना चाहिये कि कोई कुछ भी करे, परोक्ष में ही तो करता है, सामने तो नहीं करता। सामने भी कहे तो अपनी जीभ ही तो चला रहा है, पीटता तो नहीं, यदि पीटे भी तो उससे शरीर का ही तो आघात है प्राण तो नहीं लेता, प्राण भी ले तो सोचते हैं मेरे रत्नरथ रूप अंतरंग का तो आघात नहीं करता अर्थात् भावप्राण तो नहीं ले रहा है, द्रव्यप्राण ही तो ले रहा है, जो त्रिकाल रहते नहीं हैं। इस तरह ज्ञानी शुद्ध अन्तर्ज्ञेय में ही परिणमते रहते हैं। वह मेरे अन्तर्ज्ञेय को तो कुछ क्षति नहीं पहुंचाता। यह बात सुनकर कोई भाई मनमें हंस भी सकते हैं, परन्तु भैया जी जब ज्ञानदृष्टि हो जाती है तो ज्ञान-स्वभाव की निर्मलता ही प्रिय होती है।

कष्टे प्राणानुपेक्षन्ते ज्ञानं रक्षन्ति योगिनः।

ज्ञानं स्ववृत्तित्ता तस्मात्स्यां स्वस्मं स्वे सुखी स्वयम् ॥

असमर्थ के अपराधों की क्षमा से अपना विकास—उत्तम क्षमा वहाँ प्रगट होती है जहाँ असमर्थों के दोषों को भी क्षमा कर दिया जाय। असमर्थ ने यदि दोष किया है तो उसको भी क्षमा कर देवे। यहाँ भी बड़े-बड़े

लोगों की ऐसी ही प्रकृति होती है कि छोटे-छोटे लोगों से, सेवकों से अपराध बन जाय तो उसे क्षमा कर देते हैं। आज वैसे ही आजानी है। नौकरपर गुस्सा करोगे तो वह कहेगा बाबू जी लो यह रखी आपकी नौकरी, और यदि आप उसे क्षमा कर दो तो वही तुम्हारा सेवक हो जायगा। असमर्थ तो वह है ही, अब उसके दोषों को क्या अपने में लगाए रखना? उसको क्षमा कर देना। बनारसीदास जी राजदरबार में जा रहे थे। वह रास्ते में पेशाब करने बैठ गये। वहां पर पहरा देने वाले सिपाही ने उनके एक थप्पड़ लगा दिया। बनारसीदास ने उसे कुछ नहीं कहा और उन्होंने अपना नम्र नोट कर लिया। फिर दरबार में जाकर राजा से कहा कि अमुक नम्बर के सिपाही को बुलाओ। सिपाही आया तो उसने बनारसीदास जी को दरबार में देख लिया और थर-थर कांपने लगा। सोचा अरे ये तो वे ही हैं जिनको मैंने थप्पड़ लगाया था, पता नहीं आज मेरा क्या होने वाला है? बेचारा कांपने लग गया। बनारसीदास जी ने उससे पूछा, “तुम्हें कितना वेतन दिया जाता है?” उसने समझा, अवश्य मेरा वेतन कम किया जायगा। उसने डरकर कहा, “१० रुपये।” तब उन्होंने राजा जी से कहा कि राजन्! इसके दो रुपये बढ़ा दीजिये। सिपाही ने सोचा कि कहीं ये मजाक तो नहीं कर रहे हैं। बनारसीदास जी ने फिर कहा कि यह सिपाही बड़ा ईमानदार है। मैं रास्ते में लघुशंका करने बैठा तो अपनी ड्यूटी का पक्का निकला और मुझे रोक दिया। क्षमाशील पुरुषों की ऐसी बातें होती हैं। एक जयपुर का किस्सा लीजिये। अमरचन्द जी दीवान थे। ऐसा ऐलान राजदरबार से हुआ कि शेर को वे खाना खिलायेंगे। शेर मांस खाता था और अमरचन्द जी जैन थे, इसलिये मांस खिला नहीं सकते थे। उन्होंने जलेबी से भरा थाल मंगवाया और थाल लेकर पिंजड़े में खुद ही घुस गये और शेर से बोले—हे बनराज? यदि आपको मांस ही खाना हो तो मैं आपके सामने खड़ा हूँ, खा लो और पेट ही भरना है तो जलेबी को खा लो। यह कहनेपर शेर ने वे जलेबी ही खा लीं। दर्शकों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

आत्मदर्शी तत्त्वज्ञ पुरुष के क्षमा की सुरम्यता—जिन्होंने आत्मस्वरूप जाना और उसी को सबमें निरखा, उनसे सबकी मित्रता ही रहती है। इसलिये ही कहा है कि क्षमाशील पुरुष हमेशा सुखी रहते हैं और जिनके क्षमा नहीं है वे सदा दुःखी रहते हैं। ऐसे क्रोध से कोई लाभ नहीं जो स्वयं को दुःखी करे। क्षमा वह कहलाती है जहां अक्षमर्थों पर भी क्रोध नहीं किया जाता। उपद्रुत होनेपर भी ज्ञानस्वभाव से चिगना नहीं हुआ वह कहलाती है उत्तम क्षमा। अन्य के दोषों को क्या देखते हो, जो क्रोध हो रहा है इस अपने महान् दोषों को क्यों नहीं देखते? स्वयं में जो औषाधिक दोष है, उसे दोषरूप समझ लेना क्षमा की अनुग्रहपूर्वक दृष्टि पाने का मंगलाचरण है। क्षमा वहां मिलती है जहां चैतन्य गुण में चित बसा रहता है। अतः उत्तम क्षमामें भगवान् का वा-ना है। उसकी आराधना करो और मोक्षमार्ग में लगे। अपने आपमें चैतन्यस्वभाव की दृष्टि रखे रहो। उत्तम क्षमा धारण करने वाले के आत्मस्वभाव में स्थिरता होने से स्वभाव का निरुषाधिक स्वच्छ विकास होता है और पूर्ण विकास होनेपर स्वयं शांत बुद्ध शिवस्वरूप भगवान् हो जाता है। यह उत्तम क्षमा आत्मा का रूप है। इस स्वरूप में यह आत्मा है। इसी आत्मा की वह क्षमा पर्याय है। उत्तम क्षमा कहीं बाहर से लाने की चीज नहीं, अपने स्वरूप में रहि व लक्ष्य करो, विभाव से मुख मोड़ो, क्षमा सुतरां आवेगी। ऐसी उत्तम क्षमा को धारण करो। जिसके उत्तम क्षमा होती है उसे मनुष्य भी, देव भी सभी नमस्कार करते हैं। यह तो मात्र लौकिक चमत्कार है, तात्त्विक फल शाश्वत सत्य शान्ति है। ऐसी क्षमा सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होती। अतः तत्त्वज्ञानपूर्वक सम्यग्दृष्टिको उत्तम क्षमावान् रहना चाहिये।

गुणग्राहिता का महत्त्व—भैया! परवस्तुओं के परिणमन को निरखकर उनके ज्ञाता दृष्टा रहने का साहस बन जाय, यह बड़े ऊंचे महत्त पुरुषों का काम है। पर ये महत्त पुरुष कहीं से टपककर नहीं आते। एक अपने स्वरूप का पता होने से ही महत्त पुरुष बनते हैं। हम अपने सब गुणों का आदर करें तो महान् बन सकते हैं और ऐसे महान् बनने के लिय अपने जीवन में एक साधन करना होगा भैया, कि हम प्रत्येक मनुष्यों के गुणों को तो निहारें

और उनके गुणों को देखकर अपने में अमोघ भावना बनायें कि हे भाई ! आप अपने गुणों को देखकर महान् बन गये हो, हमें भी अपने गुणों को पहिचानकर महान् बनना है जिसकी रचि होती है उसकी उसपर ही शक्ति पहुँचती है । जिस मनुष्य के दोषों का परिणाम है वह सर्वत्र ही दूसरों के दोषों को तकेगा और जिसके गुणों का परिणाम है वह सर्वत्र दूसरों के गुणों को ही तकेगा । यह अपने उद्धार का एक मूलमंत्र है । लोटा किस किसका छानोगे ? एक अपने ही परिणाम को उत्तम दृष्टि में बना लो तो अपना उद्धार हो जायगा ।

चित्त में आत्मगुणों का वास होनेपर उत्तम क्षमा का अभ्युदय—जहं चेतनगुण चित्त धरिज्जहं—उत्तम क्षमा वहां होती है जहां चेतन गुण अपनी चेतना में धारण किया जाता है । नई ही तो कथा थी भैया—भगवतादास जी आगरा के ही रहने वाले थे । उनसे यदि कोई कहे कि आपको देखो अमुक आदमी इस इस तरह से गाली दे रहा था । तो वे उत्तर देते थे कि वह गाली देता हो या न देता हो, पर तुम तो हमारे सामने ही गाली दे रहे हो । उत्तम क्षमा वहां होती है जहां चित्त में आत्मगुण बसता है ।

इह उत्तमखमजुय णरसुरखगणुय केवलणाणु लहेवि थिरु ।

हुय सिद्ध णिरंजण भवदुहभंजणु अगणिय रिसिपुंगव जि थिरु ॥

इम प्रकार उत्तम क्षमा से युक्त मनुष्य, देव और विद्याधरों से वंदित होता हुआ, भव को नाश करने वाले केवल गुणों को प्राप्त करता है और सदा के लिए संसार से मुक्त हो जाता है ।

आत्मा के नाते धर्म, चर्या आदि के निर्णय के यत्न में सत्य निर्णय की संभवता—संसार का प्रत्येक प्राणी सुख शान्ति चाहता है और जितने भी प्रयत्न करता है वह सुख शान्ति के लिए ही करता है, किन्तु सुख शान्ति अब तक मिली नहीं उसका कारण क्या है ? सुख शान्ति कैसे प्राप्त हो यह विषय सबको भली-भांति समझ लेना चाहिए । जो कुछ बात हो, चर्चा हो, अध्ययन हो सबको आत्मा के ही नाते से सुनो तो आत्मा में बात बनेगी और यदि ऐसे नाते लगाकर सुनें कि मैं अमुक हूँ, मुझे सुनना चाहिए, मैं अमुक जाति का हूँ, अमुक कुल का हूँ, ऐसी पोजीशन का हूँ आदि, तो उससे कुछ लाभ न मिलेगा । भीतर में एक ऐसी बुद्धि रखकर सुनें कि मैं जीव हूँ, सुख दुःख पाता रहता हूँ, मुझे तो ऐसा उपाय जानना है कि मेरे दुःख दूर हों, मैं सुखी होऊँ और मुझे वास्तविक शरण की प्राप्ति हो । यह उद्देश्य यदि बन गया तो सब बातें बड़ी सुगमता से समझ में आ जायेंगी । आज अनेक प्रयत्न करनेपर भी सुख शान्ति नहीं प्राप्त कर पा रहे तो उसका कारण क्या है ? उसका कारण है ५ प्रकार के परिणाम—भ्रम, क्रोध,मान,माया, लोभ । भ्रम के मायने यह है कि जो बात जैसी नहीं है उसे वैसी न मानें । ये सारे दुःख इस भ्रम के ऊपर डटे हुए हैं । भ्रम दूर हुआ कि दुःख भी दूर होने लगता है । यह अपनी बात है, अपने आपके अन्दर-समझ में आने वाली बात है । खुद के भीतर खुदको निरखना है इस ढंग की तैयारी करके अपनी बात समझिये । दुःख का कारण है भ्रम । भ्रम क्या ? जैसे कि यह देह तो मैं नहीं हूँ, मैं तो हूँ एक चैतन्यस्वरूपमात्र आत्मा, पर मानें कि यह मैं हूँ, बस यही भ्रम सारे दुःखों का कारण बन जाता है । ऐसी ही और-और भी बातें मानें कि मैं ऐसी पोजीशन का हूँ, ऐसा ठाठ-बाठ झाला हूँ आदिक, ये सब भ्रम की बातें हैं । मैं एक ज्ञानमय पदार्थ हूँ । सुख शान्ति प्राप्त करने के लिए एक बड़ा ही साहस बनाना होगा कि मेरा इस संसार में कहीं कुछ नहीं है । ये दिखने वाले बाह्य पदार्थ सब मायारूप हैं, इनसे मेरा कोई सम्बंध नहीं, इनसे मेरा कुछ भी सुधार बिगाड़ नहीं । मुझे ये कोई भी बाह्य पदार्थ न चाहिए । मुझे तो बस एक अपने आत्मा की शान्ति चाहिए । ऐसा जिसने महान संकल्प किया हो वही शान्ति पा सकेगा । तो समस्त दुःखों का सर्वप्रथम कारण है भ्रम । इस भ्रम के कारण यह जीव अपने आपका कुछ भी सही निर्णय न कर पायगा, और जब तक अपने आपका सही निर्णय नहीं होता तब तक

ये क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक धर्म टिक नहीं सकते। तो अपने आपमें इस क्षमाभाव को विराजमान करने के लिए सर्वप्रथम अपने आत्मा के अस्तित्व का निर्णय करें।

जीव के अस्तित्व के निर्णय के आधारभूत छह साधनों का निर्देशन—मैं एक जीव हूँ, इसका पहिला एतद् यही निर्णय है कि जितने शब्द हैं, जितने पद हैं उनका वाच्य-अवश्य है। चाहे वह बाहर हो, कहीं हो, कोई कहे कि आकाश का फूल कहां है? अरे आकाश तो है, फूल तो है। अरे आकाश न होता, फूल न होता तो ये शब्द कहां से आ जाते? जितने शब्द ये कहे जाते हैं वे यह साबित करते हैं कि हां है कुछ। जीव को समझने के लिए अधिक क्या कोशिश करना? बड़ी आसानी से समझ में आ जाता है। समन्तभद्राचार्य स्वामी ने आप्तमीमांसा में कहा है कि जीवशब्दः स बाह्यार्थः संज्ञत्वाद्धेतु शब्दवत्। जीवशब्द बाह्य अर्थसहित है याने जीव शब्द जीव अर्थ का वाचक है, क्योंकि यह संज्ञा है हेतु शब्द की तरह। तो पहिले शब्द ही बताते हैं कि हां है जीव। यह बात इसलिए कही जा रही है कि हम अग्य लोग दुःखी तो होते जाते, पर यह नहीं जान पा रहे कि वास्तव में दुःखी कौन हो रहा और क्यों हो रहा? एक बाहर-बाहर ही अपना उपयोग करके दुःख भेटने का प्रयत्न कर रहे हैं। सबसे पहिले तो आप इस बात का निर्णय कर लीजिए कि मैं एक जीव हूँ या नहीं? जीव भी कोई चीज है या नहीं? ...अरे जिसे यह समझ बन रही, बस वही तो जीव है। ये पत्थर खम्भा आदिक चीजें पड़ी हैं, ये तो ऐसा नहीं सोच पाते कि मैं दुःखी हूँ। तो पहिले यह सोच लो कि मैं हूँ या नहीं। मैं जीव हूँ या नहीं? जीव भी कोई चीज है क्या? अरे इस प्रकार का कुछ भी जो सोच रहा हो वही जीव है। जीव को समझने में कोई अधिक कठिनाई नहीं है, किन्तु समझना न चाहे तो उसके लिए कठिन है और असम्भव है। हम जब देखते हैं दुनिया में पशु पक्षी आदिक अनेक शरीर तो हम अंदाज लगा लेते कि यह जीव है। कौन नहीं समझता कि यह जीव है? देखो जब किसी कुत्ते को या गाय, भैंस आदिक को कोई मारता है तो लोग कहने लगते कि अरे क्यों मारते हो इस बेचारे को? और कोई भीत को मार रहा हो उससे कोई नहीं कहता तो क्या उसकी समझ में यह बात नहीं है कि यह जीव है? जीव की बात समझना कोई कठिन बात नहीं है। अच्छा चलो—जो यह कहते कि मैं जीव नहीं हूँ तो कहने वाला कौन? जो मना कर रहा वही जीव। जीव को सिद्ध करना भी क्या कठिन है? कठिन तो थोड़ा यह है कि भली-भांति जान लें कि यह मैं जीव अपने आप सहज कैसा हूँ? वह समझ में आ गया तो समझ लीजिए कि परमात्मा समझ में आ गया, ईश्वर समझ में आ गया, सारी समस्याएँ हल करने की विधि आ गई। वह बात कही जायगी अवसर पाकर, पर यह ध्यान दीजिए कि जीव जरूर है और यह मैं जीव हूँ। इस मुझको अपने दुःख दूर करना है, इसमें ही हमारा हित है। यदि इन मोह ममता की ही बातों में पड़ें रहे तो यह ही जन्म मरण उसका फल है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अपनी मानी हुई इज्जत की कुर्बानी करनी होगी। कोई अपने चित्त में ऐसा समझे कि मैं अमुक हूँ, ऐसी पोजीशन का हूँ, लोक में मेरा ऐसा स्थान है, ऐसी बातपर जो ध्यान देता हो उसे भीतर का परमात्मा दिख नहीं सकता। बड़ी कुर्बानी के साथ अपने आपके मोक्ष के मार्ग में आयेगे तो ऐसा रास्ता मिलेगा कि सदा के लिए हमारा दुःख दूर हो जायगा। जीव की बात कह रहे। जीव को कौन नहीं जानता? भला जो बड़े-बड़े वैज्ञानिक लोग हैं वे इस जीव के द्वारा जो अश्वु बहाने आदि के कार्य दिखते हैं उन्हें बनाकर दिखा तो दें। यद्यपि मूर्तियां तो ऐसी ऐसी बना देते हैं कि वे सचमुच के मनुष्य (स्त्री, पुत्र, बालक आदिक) लगते हैं, पर उनके निकट जाकर देखो तो वे पत्थर की जैसी अचेतन, जड़, नजर आती हैं। तो इस जीव को कौन नहीं पहिचानता? अब अपने आपके जीव को पहिचनना है और यह समझना है कि मैं वास्तव में जीव कैसा हूँ? यदि यह बात भली-भांति समझ में आ गई तो समझ लो कि हमें दुःखों से दूर होने की एक दिशा मिल गई।

जीव के अस्तित्व के निर्णय के आधारभूत अन्य तीन साधनों का प्रकाशन—भैया ! अपना ऐसा

ही उद्यम करना है कि कोई ऐसा काम बना लें कि फिर भविष्य में बड़े आराम से रहें, कोई तबलीफ न उठानी पड़े, इसके लिए क्या आप तैयार बैठे हैं? अपनी यात्रा तो देखो—कोई मनुष्य—जिन्दगी ही पूरी यात्रा नहीं है। एक यह मनुष्यभव भिट गया तो क्या आप भिट गए? अरे अभी तो अनन्त कालकी यात्रा सामने लगी है। जो है उसका अभाव नहीं है, ऐसा तो सभी लोग कहते हैं। अस्तु का कभी रुद्धभाव नहीं होता और स्तु का अभाव नहीं होता। तो यह मैं आप जीव कभी मिटेगा नहीं। तो मेरे को भविष्य में किस तरह रहना चाहिए? यहां तो लोग इस १०-२०-५० वर्ष के जीवन के लिए सब प्रकार की सुविधायें बनाने की चिन्ता करते, उतने ही जीवन को अपना जीवन समझते, उसके आगे के अनन्तकाल के लिए जो समय पड़ा हुआ है उसका कुछ भी नहीं सोचते। देखिये अब दशलक्षण धर्म के दिन हैं, इन दिनों और सब बातों की तो उपेक्षा कर दीजिए, एक धर्मपालन की ओर मुद्यता से ध्यान दीजिए। धर्मपालन की विधि ही ऐसी है कि उसकी धुन अच्छी बने, सत्संग में रहें, स्वाध्याय करें, मनको संयत बनायें तब यह बात मिल पायगी कि ये दुःख न रहेंगे। हां तो पहिले जीव की बात देखो, जीव का अस्तित्व ऐसे भी लोग समझ सकते जो जाति स्मरण की बातें अनेक जगह सुनते हैं, देखते हैं। अखबारों में तो ऐसी बहुतेसी घटनायें निकला करती हैं कि अमुक ने अपने पूर्व भव की बातें बतायीं। आप लोगों ने भी ऐसी अनेक घटनायें देखी भी होंगी। तो वह बात क्या हो नहीं सकती? अरे हो सकती है। यह जातिस्मरण की बात भी यह सिद्ध करती है कि जीव है। अच्छा आप यह बतलावो—अगर पूर्वभव में जीव न होता तो ये जो बच्चे उत्पन्न होते हैं वे उत्पन्न होने के साथ ही अपनी मां का स्तन चूसने लगते हैं। उन्हें यह बात किसने सिखा दी? अरे उनके पूर्वभव में भी ऐसी आहार करने की संज्ञा थी इसलिए वह तुरन्त ही बिना सिखाये ही सारी क्रियायें करने लगता। यहां तो किसी को कोई काम सीखना होता है तो उसे सीखने में काफी समय लगता है। बड़े काम सीखने की तो बात छोड़ो, छोटे-छोटे काम सीखने में भी काफी समय लगता है। जैसे गुरु जी (धुल्लक गणेशप्रसाद वर्णा जी) सुनाते थे कि बहुत से लोग लोटे में पानी भरकर लोटे को बिना मुख में अड़ाये, यों ही ऊपर से पानी की धार मुख में डालते रहते हैं और पीते रहते हैं, उससे लोटा जूठा नहीं होता। तो हमने (धुल्लक गणेशप्रसाद वर्णा जी ने) सोचा कि हम भी इस तरह से पानी पीना सीखें, तो उसे सीखते-सीखते एक माह लग गया था। बताओ इतने बड़े पुद्घ को और इस छोटीसी बात को सीखने में एक महीना लगा, तब फिर उस पैदा हुए बच्चे को दूध मुख से पीने, उसे घूँटभर पेट तक ले जाने की कला सीखने में कितना समय लगना चाहिए था? पर कहां अधिक समय लगता, वह तो तुरन्त ही अपनी मां के स्तन से दूध पीने लगता है। तो इससे यह निर्णय करलो कि जीव है और उसके साथ पिछले भवों के संस्कार लगे हैं। इस जीव का (आत्मा का) निर्णय किए बिना कोई धर्म के मार्ग में आ नहीं सकता। भले ही कोई कोई थम बढ़ा अधिक कर डाले, प्रयत्न बहुत-बहुत कर डाले। इस तरह से धर्मपालन करने का पर उससे कुछ वास्तविक लाभ न मिल पायगा, मोक्षमार्ग न मिल पायगा, संसार के दुःखों से छूटने का उपाय न मिलेगा जब तक मैं अपने आत्मा के सत्यस्वरूप को न समझूँ। वैसे तो यदि कठिन विपत्ति की स्थिति आ जाय तो झट समझ में आयेगा कि हां है भगवान और भगवान को पुकारने लगेगा, अपने में क्लेश अनुभव करने लगेगा। पर जरा आराम में, शान्ति से ही आत्मा को जान लो। आत्मा का निर्णय कर लेना एक बड़े महत्त्व की चीज है। जो बड़े-बड़े दार्शनिक ग्रन्थ हैं उनका भी माध्यम यही है। आत्मनिर्णय करने के बाद आत्महित की बात अधिक सोची जा सकती है।

क्षमा से आत्मगुणों का विकास—आज उत्तम क्षमा का दिन है। क्षमा क्या चीज कहलाती है और उस क्षमा का इस आत्मा के कल्याण के लिए कितना सहयोग है? जिसने आत्मतत्त्व का निर्णय किया, वास्तव में क्षमा बही कर सकता है और जिसने नहीं जाना आत्मा को फिर भी अपनी शक्तियों के अनुसार क्षमा का अगर वातावरण उसके रहता है तो उसका जीवन शान्त और सुखी रहता है। क्षमा कहते हैं क्रोध न होने को। किसी जीव

ने अवरतः क्रिया, तुरन्त क्रिया हो या पहिले क्रिया हो, विकार न आ सके चित्त में, उसके विनाश की भावना न आ सके चित्त में, ऐसे परिणाम को क्षमा कहते हैं। देखो क्षमा करने में तत्काल भी आत्मा में आनन्द आ जाता है। जो कोई जो कुछ करता है वह अपने लिए करता है। यदि आप क्षमा की आदत बना लेंगे तो उससे आपको भी सुख मिलेगा और दूसरा भी सुखी हो जायगा। क्षमा वीरों का आभूषण है, कायरों का नहीं। क्षमा करने से फायदा मिलेगा खुद को। आत्मनिर्णय करने के बाद यह सोचें कि मेरे आत्मा की भलाई किस बात में है? क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चारों कषायों के दूर करने में अपनी भलाई है। यह बात कोई अधिक समझाने के लिए नहीं है, क्योंकि सब समझते हैं कि क्रोध में कितना अनर्थ हो जाता है। जो क्रोध करता है उसके क्रोध में पसीना तक आ जाता है, स्वयं आकुलित हो जाता है, दुःखी हो जाता है। तो अपना दुःख दूर करने के लिए, अपने पर दया करके इस क्षमाभाव को अपनाना चाहिए, अपनी ऐसी प्रकृति बतावें। वस्तुतः देखो—मेरेको तो कोई जानता ही नहीं, मैं तो एक चैनन्यस्वरूप हूँ, हम मुझको तो कोई जानता भी नहीं। कोई इस शरीर को देखकर अगर गाली देगा या प्रशंसा करेगा तो उससे मेरे में बिगाड़ क्या अथवा सुधार क्या? प्रशंसक अथवा निन्दक दोनों के प्रति समता की दृष्टि रहे। बल्कि उस निन्दक को तो अपना परममित्र समझ लो, क्योंकि वह बेचारा तो अपना खुद का सारा बिगाड़ करके, नुकसान करके मेरे दोषों को निकाल रहा है। तो सब जगह यही भावना रहे कि मेरे लिए सब जीव एक समान हैं, न कोई मेरा शत्रु और न कोई मेरा मित्र। सब जीवों के प्रति सुखी होने की भावना रहे। आप इस बात का अन्दाज कर लें कि यदि आप किसी जीव को दुःखी करने का विचार करते हैं तो आप स्वयं ही पहिले दुःखी हो जाते हैं तब कहीं उस दूसरे को दुःखी कर पाते हैं। आपके दुःखी करने से दूसरा दुःखी हो अथवा न भी हो। तो सबके प्रति अपना यही भाव रहे कि जगत के सभी जीव सुखी हों। यदि ऐसा भाव आपने बना लिया तो इससे आपका भला ही होगा, बुरा न होगा, पर दूसरे को दुःखी करने, सताने के परिणाम में आप पायेंगे कुछ नहीं, खुद दुःखी होंगे। यहां तो कोई कुछ भी कहे पर उन सब बातों को यों पी जावो कि मानो किसी ने कुछ कहा ही नहीं। चित्त में ऐसी बात न बसाये रहें कि इसने मुझे यों क्यों कह दिया? अरे क्यों के कहने वाले लोगों! यह संसार दुःखमय है, अपने को सावधान बना लो, यह संसारसागर दुःखमय है। मैं कैसे सुखी-हो सकता हूँ, शान्त हो सकता हूँ, इसका यत्न करलो। तो जीवन में एक क्षमा की आदत बन जाय, दूसरों को क्षमा करें, बड़प्पन इसी में है।

क्षमा में वीर की भूषणरूपता—क्षमा को वीरों का भूषण कहा गया है। किसी बलवान ने मुझ सतया और मैं कुछ न कह सका, भीतर ही भीतर उसके प्रति बड़ी बेचैनी बनी रही तो वह हमारी क्षमा नहीं कहलायी। क्षमा का फल है शान्ति, आनन्द। क्षमा करना कायर का काम नहीं। कायर वह कहलाता है जो विषयों का लोभी हो, और उस विषय के सुझाने के बल पर उसे क्रोध उदरान्न होता है। तो कायरों से क्षमा नहीं बन सकती। वह कायर तो सोचता है कि इसने मुझे गाली दी और ये इतने लोग मुझे क्या कहेंगे? अरे तुम्हें कोई कुछ कह दे तो उसमें तुम्हारा बिगाड़ क्या हो गया? तुम तो अपने आपको सम्हालो। इन बाहर बाहर की बातों का ध्यान रखकर तो वह अपना ही पतन कर रहा है, उसे अपने आपके स्वरूप का कुछ पता नहीं। ज्ञानी पुरुष किस तरह का विचार करता है—इसका चिन्तन समाधिगत के एक श्लोक में देखिये—मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः। मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ ये दिखने वाले लोग, मायामयी पदार्थ, ये कोई मेरे कुछ नहीं लगत, इनसे मेरा कुछ सम्बंध नहीं कोई नाता नहीं, न कोई मेरा शत्रु, न मित्र। इनसे न मेरा कुछ सुधार है न बिगाड़ है। यहां तो जितना जो व्यवहार है वह इस मूर्त शरीर को देखकर किया जा रहा है। माया की माया से पहिचान है। इस मुझ आत्मतत्त्व को तो ये कोई जानते ही नहीं हैं। मैं तो एक गुप्त तत्त्व हूँ। गुप्त का अर्थ है सुरक्षित

होना। यहां जो लोग गुप्त का अर्थ "छिपा हुआ" करते हैं, पर संस्कृत जानने वाले लोग जानते होंगे कि इस गुप्त का अर्थ है गुप्त सुरक्षणे सुरक्षित होना। तो मेरा वह आत्मतत्त्व सुरक्षित है, उसको तो कोई जानता ही नहीं। हां वह आत्मतत्त्व आज इस देह में फंसा हुआ है, इसलिए खाने पीने आदि की क्रियायें करनी पड़ रही है, सभी से व्यवहार करना पड़ रहा है। ज्ञानी पुरुष व्यवहार की समस्त क्रियाओं को करता हुआ भी श्रद्धा यही बनाये रहता है कि ये मेरे वास्तविक कर्तव्य नहीं, ये मेरे कोई कुछ नहीं।

क्रोध से अन्तरङ्ग बहिरङ्ग दोनों सौन्दर्यों का विनाश—देखो—जब कभी किसी को क्रोध आता है तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उसके सारे गुण समाप्त हो जाते हैं। जब कभी कोई क्रोध करता है तो उस समय उसके चेहरे की शकल भी बिगड़ जाती है। जरा आपके पास कैमरा हो और आप उस क्रोध करने वाले का फोटो ले लें तो देखिये कितना बुरा चेहरा बन जाता है उसका? लोग कहा करते हैं कि देखो यह स्त्री अथवा यह पुरुष कितना सुन्दर है, तो उसकी सुन्दरता कब है जबकि वह शान्त है। यदि वह जरा-जरासी बात में क्रोध करे तो देखिये उस क्रोध करते हुए समय में उसकी सुन्दरता खतम हो जाती है। क्रोध करने वाला पुरुष अथवा स्त्री कोई हो, वह किसी को नहीं सुहाता। तो इस सुन्दरता में सहयोग देते हैं समता, सद्बिचार, और सद्बिबेक। कोई मूर्ख भी हो और कहा जाय कि भाई तुम यहां विश्राम से बैठ जाओ तो विश्राम से बैठे हुए में उसमें सुन्दरता रहती है तो भाई यह क्रोध बैरी इस जीव का शत्रु है, इससे दूर रहने में ही आत्माका हित है। तो अपने अन्दर क्षमाभाव रहना चाहिए, क्षमा करें हृदय से, अपने आपपर दया करके कि मुझे तो सुखी होना है इसलिए मुझे क्षमाभाव करना चाहिए। मानव मानव के प्रति, मानवसमाज के प्रति एक रस बन जाओ, जो मैं हूँ सो ये हैं। जो मेरा स्वरूप है सो इनका है। किसी के प्रति रंज भी बैर विरोध न रखो, सबको अपने ही स्वरूप के समान समझकर सबके प्रति क्षमाभाव धारण करो। खुद के भी सुखी रहने की भावना रखो और दूसरों के भी सुखी रहने की भावना रखो।



उत्तम मार्दव

दस लाखणी धर्म के भौगोलिक प्रसंग में आज दूसरा दिन है, और दसलाक्षणी में मार्दव धर्म का दिवस है। मार्दव का अर्थ है कोमल परिणाम रखना। कोमल परिणाम होते हैं जब मानकषाय नहीं रहता है। मान कषाय की तीव्रता और मंदता की शास्त्रों में कठोरता से व नम्रता से रूपमा दी है।

मार्दव स्वरूप का विवरण—“मृदोर्भावः मार्दवम्” कोमलता के परिणाम को मार्दव धर्म कहते हैं। परिणामों में वास्तविक कोमलता का आविर्भाव सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता। वस्तुस्वरूप के बोध बिना परस्पर सम्बन्धबुद्धि कर्तृत्वबुद्धि आदि अभिप्राय से भाव कठोर ही कहलाते हैं, जिसमें शुद्ध चैतन्यानुभवामृत का प्रवेश नहीं होता। जिसने उत्तम मार्दव को भले प्रकार समझ लिया है, जिसकी दृष्टि में “उत्तम मार्दव हमारा चैतन्यस्वभाव है” इस ङकार का विचार व श्रद्धान आ गया है, उस महात्मा के उत्तम मार्दव का चैतन्यस्वभाव में भान होते ही मानकषायें अपने आप निकल जाते हैं। मानकषाय के न होने को ही उत्तम मार्दव कहते हैं। इसी का आज विवेचन है। मैं इसको करने वाला हूँ व मैंने इसको बनाया, पाला आदि मिथ्या अभिप्रायवश जीव का अहंकार बना रहता है और इस अहंकार भाव से यह जीव चाहता है सम्मान और होता रहता है अपमान। ऐसे मान का आदर ही संसार है। यह मार्दव संसार का मर्दन करने वाला है, औपाधिक व परकीय अवस्था करने रूप संसार को नष्ट कर देता है, मान कषाय का सर्वथा नाश कर देता है। मार्दव और मान कषाय—दोनों आत्मा की पर्याय हैं। इसमें एक स्वभाव पर्याय है और दूसरी औपाधिक पर्याय है। जिस काल में मान कषाय रहता है उस काल में आत्मा में मार्दव धर्म नहीं रहता और जिस काल में मार्दव धर्म रहता है उस काल में आत्मा में मानकषाय नहीं रहता। यह मार्दव दयाधर्म में चित्त को दृढ़ करता है। मार्दव गुणधारी अन्य को दुःखी देखकर दयार्द्र हो जाते हैं। घमंडी पुरुष दया धर्म नहीं कर सकते। यह मार्दव धर्म आत्मा का अविनाशी गुण है। मार्दव आत्मा का स्वभाव है। अतः मानकषाय रहनेपर भी शक्तिरूप व यथायोग्य विकासरूप यह रहता ही है। इसी से सब जीवों का हित होता है। जैसे पत्थर, लकड़ी, बज्र बेंत आदि जो जितने कड़े हैं वे उतने ही घमंडी हैं। है तो मृदोर्भावः मार्दवः किन्तु कठोरता को मार्दव कहते हैं, कोई ऐसी हंसी कर दे तो, कि भैया कल तो क्षमा थी, आज मार दो। क्या समझें? मार दो। क्षमा तो कल ही थी और आज क्या, मार दो? कल क्षमा थी तो आज क्षमा बनी रहे और मार्दव धर्म की शोभा बढ़ायें। इस दस लाखणी में ऐसा नहीं सोचना कि क्षमा का समय कल था। आत्मा का स्वभाव तो सदैव विकसित होना चाहिये उस ही में आनन्द है। आज मार्दव धर्म के विषय में वर्णन किया जा रहा है।

महवमवमद्गु माणणिकदणु दयधम्हु मूलजु विमलु।

सम्बहं हिययारउ गुणगणसारउ तिसहु वउ संजम सहलु ॥

मार्दवधर्म की भव मर्दनता—यह मार्दव धर्म संसार का मर्दन करने वाला है। विनय परिणाम से, कोमलता से संसार के सब संकट दूर हो जाते हैं। यह मार्दव धर्म मानको दूर करने वाला है। मान होता है कर्तृत्वबुद्धि के साथ—मैं यह काम करता हूँ, मैंने यह किया, मैं ऐसा कर दूंगा, मुझमें ऐसी सामर्थ्य है। परवस्तुओं के परिणामन के सम्बन्ध में कुछ कर्तृत्व की बात सोचना यही तो मानकी जड़ है। यह आत्मा जो अमूर्त है, ज्ञानानन्दभावमय है वह अपने ज्ञान और आनन्द के परिणामन के सिवाय अन्य क्या कार्य कर सकता है? पर मोह में ऐसा मूर्खता है कि मैं ऐसा-ऐसा कर दूँ।

कर्तृत्वबुद्धि व अहंकार की व्यर्थता—एक सेठ के चार लड़के थे। बड़ा लड़का तो कमाऊ था, उससे छोटा जुवारी था, उससे छोटा अया था और सबसे छोटा पुजारी था। पूजा भक्ति में उसका बड़ा मन रहता था।

बड़े लड़के की स्त्री रोज लड़े कि तुम्हीं तो सब कमाते हो और ये तीनों बैठकर खाते हैं, न्यारे हो जावो ना, तो सब तुम्हारा ही हो जाय। बहुत दिनों के बाद पिताजी से कह बैठे कि पिताजी अब स्त्री नहीं मानती है, न्यारा होने का तकाजा करती है। सेठ जी बाने बेटा कुछ डर नहीं, हो जावो न्यारे, पर यात्रा सब लोग मिलकर कर लो, फिर न जाने किसका कैसा भाग्य होगा? सो सब यात्रा करने चले। एक शहर के बाहर चार दिन के लिए डेरा डाल दिया। पहिले तो कमाऊ पूत को सेठ ने १० रु० दिये और कहा बेटा जाओ भोजन की सामग्री ले आओ। वह सोचता है कि १० रु० का क्या लाये? एक बाजार से कुछ खरीदकर दूसरे बाजार में बेच दिया। एक रुपया मुनाफे का मिल गया। अब वह ११ रु० की भोजन-सामग्री लेकर आया। दूसरे दिन जुवारी को १० रु० देकर कहा जावो भोजन-सामग्री ले आओ। तो वह शहर में गया, रास्ते में कहीं जुआ हो रहा था। उसने १० रु० दांव में लगा दिये, समय की बात वह जीत गया। तो वह २० रु० की भोजन-सामग्री ले आया। तीसरे दिन अंधे को १० रु० देकर कहा जावो भोजन सामग्री ले आओ। अंधे के साथ उसकी स्त्री भी चली, अंधे को रास्ते में एक पत्थर की ठोकर लगी। सोचता है कि हम जैसे और अंधों को भी ठोकर लगेगी तो दुःख होगा। इसलिए उस पत्थर को निकालकर बाहर कर दिया। तीन घंटे में तो वह पत्थर निकला। निकलनेपर स्त्री देखती है कि ओह! यहाँ तो अशर्फियों का भरा हंडा निकला। खूब भोजन सामग्री लाये और सँकड़ों अशर्फियां उड़ेल दीं।

चौथे दिन पुजारी को १० रु० देकर कहा—जावो भोजन सामग्री ले आओ, वह गया। उसे एक सराफि का दूकान मिली, सो वहाँ से एक चांदी का कटोरा लिया, घी वाले के यहाँ से घी लिया, माचिस लिया और देवालय में जाकर आरती लेकर बैठ गया। शाम के चार बज गये। वह भक्ति में है। उस मन्दिर का अधिष्ठाता देव देखता है कि इसके घर के लोग भूखे हैं, इसमें तो धर्म की अप्रभावना है, सो खुद ही बच्चे का रूप बनाकर गाड़ियों पर गाड़ियां भोजन सामग्री ले जाकर वहाँ दे आया। सबने खूब खाया और गाँव की खिला दिया। अब जब शाम के ७ बज गए, पुजारी रोनी सूरत लेकर अपने पिता के पास पहुँचा, कहा—पिताजी आप भी भूखे हैं सब लोग भूखे हैं, रोने भी लगा। पिताने कहा—क्या हुआ बेटा! क्यों रोते हो? तुमने तो खूब खिलाया और सबको बांट दिया। चार दिन के बाद कमाऊ पूत से पूछा—बेटा बतलाओ तुम्हारी सकदीर से कितने की भोजन-सामग्री आयी? बोला ११ रु० की, और जुवारी तुमसे दूने का लाया, अंधा तुमसे हजार गुने का लाया और पुजारी-पुत्र के विषय में कहता है कि यह तो तुमसे अनगिनते गुने लाया। इसके गुने का कुछ हिसाब ही नहीं है। इसके तो देव भी दास बन गये। तो बेटा तुम्हें न्यारा होना है? बोला नहीं पिताजी, मैंने सब बातें समझ ली हैं। हम पद-पदपर कर्तव्य का अभिमान कर रहे हैं, इसी से बीसों झगड़े हैं और झगड़े बाहर में हैं कहां?

कलह का मूल अमादवता—जितनी लड़ाइयां आज जगत में दिखती हैं वे सब मान कषायकी लड़ाइयां हैं। ये मुसलमान हैं, ये हिन्दू हैं, यह हमारे धर्म का है, इसलिए इसका उद्धार करो (अन्य में तो मानो चेतना भी न हो), इस प्रकार की मान्यताएं ही लड़ाई का कारण हैं। कहीं तो सिरफुटौवल भी हो जाती है। यह सब मान-कषायों का ही तो फल है। सब जीवोंपर एक समान चित्त रखो, द्रव्यदृष्टि द्वारा कभी तो दृष्टिपात करो, कर्मकृत विविधता में क्यों सीमित हुए जा रहे हो? खेद है 'पाकिस्तान में ऐसी बाढ़ आई कि गाँव के गाँव बह गए' यह खबर अखबारों में पढ़कर हिन्दुस्तान के कुछ लोगों का दिल फूल गया और यहाँ से गजट पाकिस्तान में जाये कि बिहार में बाढ़ आई तो पाकिस्तानी फूले नहीं समाते। यह मेरा है इसलिए अच्छा है और यह परका है इसलिए बुरा है ऐसी कुबुद्धि है। प्राणियों का अपमान दुःख आदि अनिष्ट तन, मन, वचन की प्रवृत्तियों से होता है। जिनके वस्तुत्व का श्रद्धान है और इसी कारण ममत्व न होने से हृदय स्वच्छ हो गया है, उनकी प्रवृत्तियां स्वपर की बाधक नहीं होतीं। जिनके परद्रव्य में आत्मीयता की मान्यता नहीं, क्रोधादि विभावों में आत्मीयता की श्रद्धा नहीं, मान

नहीं, मानका भान नहीं, उस विवेकी के कर्तृत्वबुद्धि नहीं हो सकती और कर्तृत्व न होने से वह शान्त, योग्य प्रवर्तक तथा कल्याणस्थियों के लिये आदर्श हो जाता, किन्तु इसके विपरीत जिनके भाव मिथ्यात्व मानके ग्रस्त हैं उनको व भी शांति प्राप्त नहीं हो सकती। उनसे सर्वदा विसंवाद ही बढ़ता है।

निभ्रान्त होकर आनन्दलाभ लेने का अनुरोध—यह आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र केवल अपने ज्ञानानन्द के विकार या विकास को ही करने में समर्थ है, परपदार्थों का यह कुछ परिणमन नहीं करता है। उसका समस्त परसे अत्यन्ताभाव है। देखो भैया ! जो कुछ भी सम्पर्क में आया है वह रहता जाता जरा भी नहीं, परन्तु उन विषयक अनेक मान्यताओं के कारण, इस प्रकार की पर्यायबुद्धि के कारण, ममत्वबुद्धि से ही अनादि से यह जीव संसार में भटक रहा है और महान् दुःखी हो रहा है। इसका इतना कड़ुवा फल चख रहा है फिर भी आँख नहीं खुलती। अरे भाई ! निगोद से निकलकर व अनेक दुर्गमन से निकलकर यह नरजन्म पाया तो विवेक करलो—मैं आत्मा सबसे न्यारा अपने ही परिणामों में परिणमने वाला हूँ, वेह, कर्म आदि की क्रिया मेरी परिणति के बाहर है, फिर मेरा जगत में क्या है ? मानकषाय छोड़ो और आनन्द का अनुभव करो।

मार्दव भाव की दयामूलता—यह मार्दव परिणाम दया धर्म का मूल है और निर्मल है। जिसके अभिमान है उसके दया कहां ठहर सकती है ? वह तो अपने गर्से चकचूर है। जो विनयशील है, कोमल परिणामी है उसमें ही दया हो सकती है कहते भी है लोग कि तुम बड़े कठोर हो गए। जो कठोर है उसके चित्त में दया का प्रवेश नहीं होता। तो जिसमें मान भरा है उसमें दया नहीं आती। यह मार्दव धर्म समस्त जीवों का हित करने वाला है। और समस्त गुणों में सारभूत इस मार्दव धर्म से ही व्रत और संयम की सफलता है। यह मान कितना बेहूदा परिणाम है कि तन से सेवा भी कर लो और धन भी खर्च कर लो और एक अभिमान भरा वचन बोल दो तो सारी शान धूल में मिल जाती है और चाहे कुछ भी दूसरों का उपकार न हो सके किन्तु विनयशील है तो सबसे बड़ा दान एक यही दान हो गया। यह मार्दव धर्म समस्त गुणों में सार है और इस मार्दव धर्म से व्रत और संयम सब सफल हो जाते हैं। यह जीव मान किसलिए करता है ? केवल इसलिए कि लोग मुझे कुछ अच्छा कह दें। किसी को सबने कभी अच्छा कहा है ? गांधी जी के विषय में कितने ही मनुष्य डटकर बोलते हैं कि उन्होंने देश का ऐसा हित किया। जिसने गांधी जी को गोली से मारा था उसके अदालत में बयान हुए, कुछ संकेत में आया तो उसने यों बताया कि इनसे देश का अहित हो रहा है। कुछ लोग ऐसे भी हैं। भगवान के कई लोग समर्थक हैं और कई लोग विरोधक हैं। कहते हैं कि जो व्यर्थ में भगवान की रटन लगाते हैं इन्होंने देश को बरबाद कर दिया। कहते नहीं बनता, भगवान-भगवान चिल्लाते हैं ऐसा भी कहने वाले बहुत से लोग हैं। किससे अपने को अच्छा कहलाने की मन में रखते हो ?

मानकषाय से अनुल आत्मनिधि का विनाश—मानकषाय से इस लोक में भी सुख नहीं है और परलोक में भी सुख नहीं है। यहां तो मानी को हर कोई नीचा दिखाने की घात में रहता ही है और परलोक में भी मानकषाय के द्वारा बंधे कर्म के उदय को निमित्त पाकर उसे कुगति के अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। मानकषाय को अपने हृदय से निकाल दो और यह तभी निकाल सकते हो जब आत्मा के स्वभाव को पहचानो। अरे, किस चीज पर मान करते हो ? धन, वैभव, सम्पदा, पुत्र, मित्रपर ? अरे न मालूम कितनी बार तो सम्राट हो लिये, कितनी बार महाराज हो लिये, कितनी बार देवों में जाकर पुण्य के ठाठ भोगे, यहां जरासी सम्पदापर जो कि पूर्व भोगी हुई सम्पदा के सामने न कुछ ही समझो—क्यों इतराते हो ? काहें को मान करके दुखी हो रहे हो ? और भैया ! जरा सोचो तो तुम्हारी आत्मा तो अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, कीर्त्य स्वभाव वाली है, फिर इन थोड़े से चांदी सोने के टुकड़ों को पाकर, कुछ पुत्र पुत्रियों को पाकर क्यों अपने को कुछ समझ बैठे हो ? अरे, अपने निज गुणों का विकास

करो, त्रिलोक के पदार्थ तुम्हारे चरणों में आ पड़ेंगे। इसके लिये अधिक मुमीबत सहने की आवश्यकता नहीं। मात्र हंसी से खुशी से उत्तम मार्दव धर्म का पालन हो सकता है।

हठ से अपनी बरबादी—एक घटना है टीकमगढ़ शहर की। गुरुजी सुनाया करते थे। वहां एक सुनार सुनारिन थे। सुनारिन के यह हठ हो गया कि मुझे तो मुजा में पहिनने को ४० तोला सोने के बखौरे चाहिये, तब हमारी शोभा है, हठ कर लिया। किसी तरह से कर्ज लेकर सुनार ने बखौरे बनवा दिये। बखौरे ठोस सोने के बनते हैं जिसे बेचा जाय तो उनमें ही बिक जायें। अब वहां मोटी धोती पहिनने का रिवाज और समस्त अङ्ग ढककर चलने का रिवाज था। किसी ने न देखा तो प्रशंसा ही कौन करदे? उसके मन में बड़ा दुःख हुआ, सोचा बड़ा हठ करके तो बखौरा बनवाया और कोई पूछता भी नहीं है। सो उसके गुस्सा इतनी बड़ी कि उसने अपने घर में आग लगादी। अब घर जलने लगा तो उसे चिन्ता हुई, लोगों को बुलाने लगी हाथ फटकार-फटकार कर, अरे वह कुवां है, वह बाल्टी है, अब जब हाथ थोड़ा-सा निकल गये तो एक स्त्री ने बखौरा देख लिया। बाली, अरी जीजी ये बखौरे कब बनवाये, ये तो बड़े ही सोने हैं। तो वह सुनारिन कहती है कि अरी रांड इतनी बात तू पहिले ही कह देती तो हम घर में आग ही क्यों लगाती? देखो उसने अपने को अच्छा कहलाने के लिए घर में आग लगा दी। अरे किनमें अपने को अच्छा कहलवाना चाहते हो? इन मोही जन्ममरण के चक्र में फंसे हुये जीवों से अपने को अच्छा कहलवाने की धुन इस अभिमानी पुरुष के लग गई। जिसके अभिमान है उसने व्रत किया, संयम किया, धर्म किया तो भी उससे फायदा कुछ भी नहीं है।

मानमर्दन से प्रभुभक्ति व अनन्त आनन्द का लाभ—जब मार्दवधर्म होता है तभी अर्हत भगवान में भक्ति होती है और जिसके घमंड हो गया वह कैसे भक्ति कर सकेगा? घमंड का मर्दन हो तभी भगवान की भक्ति हो सकती है। यदि भक्ति चाहते हो तो मानकषाय को हृदय से बिल्कुल निकालो। चक्रवर्तियों के भी इतनी बड़ी भारी विभूति थी, वह भी उनके साथ नहीं रही तो मैं उनके आगे क्या हूँ? हम यहां कितनीसी सम्पत्ति पाकर मान करें? किनको पाकर मान किया जावे? भगवान को देखो, सब कुछ उन्हें वैभव प्राप्त है और वे हैं कि आंख उठा कर भी इधर नहीं देखते, अपनाना तो बहुत दूर की बात है। यहां भी देखो तो बड़े-बड़े विद्वान् मिलेंगे हमसे बड़-बड़कर, बड़े बड़े धनी मिलेंगे हमसे अधिक, बड़े बड़े कीर्तिशाली मिलेंगे हमसे कहीं अधिक, कुटुम्ब में भी ज्यादा हमसे मिलेंगे—तो फिर हम उनके सामने किस बात का मान करें? यह मान तो हमें बहुत ही दुःखी करने वाला है। मान हमें दूर करना ही होगा। इस मान के मर्दन से ही हमें अनन्त सुख मिल सकेगा।

महूउ माणकसाय विहडणु महूउ पंचिवियमणदंणु ।

महूउ धम्मं कस्सणावस्ली पसरइ चित्त महीहि णवस्ली ॥

मानकषाय में अपमान का प्रसङ्ग—यह मार्दव धर्म मान कषाय का नाश करने वाला है। कषाय बढ़ती है कब? जब दोनों ओरसे मानकी बातें चलती हों। भाव के कारण ऐसे झगड़े खड़े हो जाते हैं कि उन झगड़ों का मूल तो कुछ भी नहीं है और इतना बड़ा रूप हो जाता है कि फिर उन्हें सुलझाना कठिन हो जाता है। यह मार्दव धर्म उन समस्त विसम्बादों को मिटा देने वाला है। जैसे पहाड़ की चोटीपर खड़ा हुआ पुरुष नीचे रहने वाले सब आदमियों को छोटा देखता है, कीड़े की तरह ये चले जा रहे हैं और ये नीचे जासे वाले हजारों आदमी ऊपर वाले पुरुष को देख लेंगे कि यह भी कीड़े के बराबर दिखता है। यहां मन तो एक है। वह पुरुष अकेला ही सबको छोटा देखता है पर ये पुरुष उस एक मानी को छोटा देखते हैं। दुनियादारी का ज्ञान और यह सब दृश्यमान चीजें नष्ट हो जाने वाली हैं, इनसे बुद्धि हटाकर एक चैतन्यस्वभाव को देखो, उसी को निरखो और उसी में प्रसन्न (स्थित)

रहो। यह मार्दव चित्त में कुबुद्धि को नहीं आने देता। बातचीत में दूसरों के प्रति अनिष्ट की बात निकल जाये, यह घमंड ही की तो बात है। यदि मान न हो तो सर्व हित के ही वचन मुंह से निकलेंगे। मार्दव धर्म घमंड का नाश करता है। दर्शन, ज्ञान, चरित्र ये रत्नत्रय मार्दव धर्म से ही बढ़ते हैं। जिसके मानकषाय नहीं होती, उसकी दुनिया में बुराई नहीं होती तथा मालीकी सदा निन्दा होती है और उसे अपमान सहना पड़ता है। कहा भी तो है "मानी का सिर नीचा" ये बड़े-बड़े नेता इसी मार्दव के कारण तो बड़े बन गए। मानसे तो कुछ भी नहीं मिलता। मार्दव धर्म से तो अनेक लाभ हैं, परन्तु मानकषाय से तो कोई लाभ नहीं है। मानकषाय से तो जीव दूसरों का अपमान करके मान चाहता है, परन्तु परका अपमान करके स्वयं का मान त्रिकाल में भी नहीं हो सकता।

संसार संकटों के लाभ में मान का मुख्य हाथ—अब तक जो संसारमें चलते चले आये हैं। इसमें इस मानका बड़ा हाथ है। एक छोटे बच्चे को भी गोद से नीचे उतार दो तां वह भी यह महसूस करता है कि हमें ऊपर से नीचे पटक दिया। मिखारी लोग भी मान कषाय में आकर अपनी गोष्ठी में बड़-बड़ बातें किया करते हैं। मान कषाय को चूर करने वाला धर्म मार्दव है। यह मार्दव धर्म पंचेन्द्रिय और मानको नाश करने वाला है। यह मार्दव अर्थात् विनय परिणाम इन्द्रियों के विषय को भी हटा देता है। यह मोटर रखना, आरम्भ को बढ़ाना, दो-दो चार-चार मित्र खोलना, बंगला बनवाना, सिपाही पहरेदार रखना, बाग बगीचे बनवाना, अपने महलों को सुन्दर सजाना—ये सब बातें जो बढ़ती हैं वे एक दूसरे की देखादेखी बढ़ती हैं, क्योंकि उनमें होड़ हो जाती है कि मैं अमुक पड़ोसी से कम क्यों रहूँ? विषय बढ़ने लगते हैं तो इन्द्रिय विषयों का दलन करने वाला एक मार्दव धर्म है। अभिमान तब होता है जब चित्त में यह बात रहती कि मैं सबसे महान् हूँ। ऐसा सोचना अमृत भी है और विष भी है। आत्म-कल्याण की दृष्टि, स्वभाव में निगाह करके अपने आपका जाने कि मेरे लिये तो यह मैं ही महान् हूँ, तो वह अमृत है और पर्यायबुद्धि करके इन पर्यायबुद्धि जीवों में इन पर्यायों का बड़प्पन बनाने के लिए भाव होता है कि मैं महान् हूँ तो वह भाव विष है। कहीं भी कुछ भी देखो अन्त में अपने को यह निर्णय होगा कि मेरे लिए मैं ही महान् हूँ, मैं ही उत्तरदायी हूँ, मैं ही अपने भविष्य का निर्मापक हूँ।

खुद के लिये खुद का महत्त्व—सुना होगा एक पुरुष परस्त्रीगामी था। स्त्री ने बहुत समझाया, न माना तो कुछ विशेष सेवा करके एक बार कहा कि तुम और कुछ नहीं कर सकते तो लो, बटरिया देकर कहा कि लो रोज इनकी पूजा कर लिया करो और फिर २४ घंटे को यह पाप त्याग दिया करो। कहा अच्छा कर लेंगे। वह रोज उन बटरियों को पूजकर २४ घंटे को उस पाप को छोड़ दे। पाप तो छूट गया। अब वहाँ क्या हाल हुआ कि उस देवता पर चढ़े चावलों को चूहा खा जाया करे। सोचा अरे इससे तो बढ़कर यह चूहा है। सो उस चूहे की ही वह पूजा करने लगा। एक दिन एक बिल्ली चूहेपर झपटी तो सोचा—अरे इस चूहे से तो बड़ी बिल्ली है। सो बिल्ली की पूजा करने लगा। बिल्लीपर कुत्ता झपटा तो समझा कि बिल्ली से तो कुत्ता बड़ा है। सो उस कुत्ते की पूजा वह करने लगा। एक दिन कुत्ता रसोई घरमें घुसने लगा, स्त्री ने बेलन फँककर मारा। उसने सोचा अरे इस कुत्ते से तो मेरी स्त्री बड़ी है। वह रोज स्त्री की पूजा करने लगा, रोज चावल चढ़ाकर पौर छुए। एक दिन स्त्री भोजन बना रही थी सो दाल में नमक अधिक गिर गया। कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि नमक डालने के बाद भी यह ध्यान हो जाता है कि अभी नमक नहीं डाला। सो नमक ज्यादा हो गया दाल में। पूछा—दाल में नमक कैसे ज्यादा हो गया? स्त्री बोली—ज्यादा हो गया तो क्या करें? पानी मिलाकर पी लो। वह तो गर्व में थी, क्योंकि उसका वह पूजा करता था। उसने तीन चार तमाचे स्त्री के मार दिए। स्त्री रोने लगी। अब उसने सोचा कि अरे मैं ही सबसे बड़ा हूँ। दुनिया में बहुत भटका अपने से बड़ा देखने को, पर बड़ा पाया अपने आपको ही। खूब देख लो, दुनिया में

अपने आपसे बड़ा कोई न मिलेगा। यह दुनिया की चमचमाहट कब तब साथ निभायेंगी ? अपने विराट स्वरूप की प्रतीति करो।

दया, नम्रता की वल्ली—मार्दव धर्म विनय की बेल है और यह चित्तस्वी भूमि में फैलती है। जैसे बेल भूमिपर फैलती है इसी प्रकार जिसके मान नहीं है, मार्दव धर्म से ओतप्रोत है उसमें दया, क्षमा भर जाती है। मार्दव गुणधारी की प्रवृत्ति कभी भी अन्याययुक्त नहीं होती। अन्याय तो तभी हो सकता है जब अपने को लोक में ऊँचा दिखाने की बात हो। इस मार्दव धर्म से लोक में अनेक तरह के विरोध और शत्रुता समाप्त होती है। मार्दव से ही परिणाम निर्मल होते हैं। जिस जीव को अपने विषय में यह ज्ञात है कि मैं आत्मा एक त्रैकालिक तत्त्व हूँ, सदैव रहने वाला हूँ, कभी नष्ट नहीं होऊँगा और सब तो नष्ट होने वाली चीजें हैं और इसी तरह से जगत के सारे पदार्थ नष्ट होने वाले हैं, ऐसी जिनको श्रद्धा है वे मानकषाय नहीं करते और मान करें भी तो किस चीज का, जब सभी चीजें नष्ट हो जाने वाली हैं। मैं बड़ा बलवान हूँ, चिबेकी हूँ, चतुर हूँ, मानकी यह श्रद्धा आत्मा को नष्ट करने वाली है। यह पर्याय बुद्धि है। पर्याय सदैव नाशवान है, उनमें अपनत्व मानकर उनके नाश होनेपर दुःखी होता है। समझ रहा है कि मैं बलवान हूँ, कल को शरीर में कमजोरी आ जाती है, दुःखी हो जाता है। आज धनी है, धन नष्ट होनेपर या उसमें कमी आ जानेपर महान् परेशान होता है इत्यादि। इस प्रकार पर्यायबुद्धि सदैव दुःख देने वाली है और यह पर्यायबुद्धि मानके उदय में होती ही है और ऐसी बुद्धि से ज्ञान का मरण हो जाता है। मार्दव के बिना आत्मा के परिणाम निर्मल नहीं होते। जब आत्मस्वभाव की पहिचान हुई, विषयों से मन हटा, परपदार्थों से अर्हति हुई कि मार्दव धर्म प्रकट हुआ।

मद्दु जिनवर भक्तिपयासइ मद्दु कुमईपसरु गिण्णासई।

मद्द्वेण बहु विणय पवट्टइ मद्द्वेण जणवइरु उहट्टइ ॥

मार्दवधर्म से प्रभुभक्तिप्रसार—मार्दव धर्म जिनेश्वर/देव की भक्ति को प्रसारित करता है। अभिमानी पुरुष तो भगवान को भी नहीं पूज सकते। औरों से नम्र बात कहने की बात दूर रही, प्रभु के आगे भी अपना सिर नहीं नवा सकते। यों ही खड़े-खड़े चूँकि सभी भगवान की पूजा में रहते हैं तो हाथ जोड़ लिया, लज्जा आती है क्योंकि मान कषाय ! ना कि मैं ऊँचा हूँ, अफसर हूँ, अमुक हूँ। मार्दव हो, मान का अभाव हो तो उससे प्रभु की भक्ति विस्तृत होती है। जब तक मानकषाय रहता है तब तक बुद्धि बिगड़ी रहती है, मान कषाय से कुबुद्धि का प्रसार होना है, पर मार्दव धर्म से मानका अभाव होता है तो कुबुद्धि का प्रसार रुक जाता है। मानकषाय में ही ती हठ बढ़ा लेते हैं और हठ का परिणाम यह निकलता है कि कोई उससे विशिष्ट बली और हठी हुआ तो उसकी बुद्धि ठिकाने आ जाती है।

मार्दव की कुमतिप्रसारनिर्नाशिकता—यह मार्दव धर्म सब मान कषायों का नाश करने वाला है और पांच इन्द्रियों और मन का नियंत्रण करने वाला है। इन्द्रियविषयों के सेवते हुए अज्ञान भाव में मान आया करते हैं। रस गौरव तो बहुत संभावनीय है। किसी वस्तु के स्वाद की वजह से भी मान नहीं करना चाहिये। परके लक्ष्य होने पर कोई न कोई जाति की मानवृत्ति हो जाती है। देखो भैया, और तो जाने दो कभी त्याग करके भी तो पदार्थों को नहीं खा रहे हैं, ऐसा सोचने में मान आ जाता है। काजू और मूँगफली दोनों के स्वाद में खास फर्क नहीं, किन्तु मूँगफली के मुकाबिले में काजू बहुत महंगी है, इसलिए काजू का स्वाद अच्छा लगने लग गया, इस आसक्ति को मान कर रहा है। परकी रुचि अपने आपमें मान कषाय बनाये बिना कैसे होगी ? जिसने निर्मानस्वभावी निजको देखा उसे स्वाद में क्या आसक्ति होगी ? वैषयिक बात सोचना ही मान से हो पाता। इसी तरह की प्रक्रिया पाँचों इन्द्रियों में आ जाती है। मानसिक विषय का मान तो बड़ा ही भयंकर है। महायुद्ध का मूल मानसिक मान है। मानसे

दुनिया में सब लोगों का बिगाड़ भी होता और अपना भी बिगाड़ होता है। कोई सोचता हो मैं चतुर हूँ, मेरा हठ रहना ही चाहिए तो वह चतुर नहीं है, उससे सवाया कोई मजा चखाने वाला मिल ही जाता है।

मानकी प्रतिक्रिया में विडम्बना—एक घर में पति-पत्नी थे। पत्नी हठीली थी। स्त्रियो के एक तो स्वभाव से हठ होता है पर वह बहुत हठीली थी। उसके एक दिन ऐसा मनमें आया कि हमारी बात तब रहेगी जब मैं अपने पति की मूँछ मुँडवा के रहूँ। पहिले समय में मूँछ मुँडवाना बुरा माना जाता था। उसने पेट दर्द व सिर दर्द का बहाना कर लिया, लेट गई। पतिदेव ने डाक्टर बुलाया, वैद्य बुलाया। किसी तरह से ठीक न हुआ। पति कहता है कि देवी जी ! किसी तरह से ठीक होगा ? स्त्री आंखें मीचती हुई कहती है कि लो हमको देवता लोग बता रहे हैं कि तुम्हारी बीमारी तब ठीक होगी जबकि तुमसे जो प्यार करता हो वह मूँछ मुँडाकर सुबह होते ही दर्शन दे तो ठीक हो सकती हो, नहीं तो तुम्हारे प्राण चले जायेंगे। पति झट गया सैलून की दूकान में, मूँछ सफाचट करवाकर आ गया। लो देवी जी देख लो। इतने में तबियत ठीक हो गई। हो गई चंगी। सुबह चक्की पीसे तो गाना गाये। अपनी टेक चलाई, अरु पति की मूँछ मुँडाई। यह भजन बन गया। चार-छः दिन यही सुनकर हैरान हो गया। उसने सोचा कि इसे भी मजा चखाना चाहिये। ससुर जी को झट चिट्ठी लिखी कि तुम्हारी लड़की बहुत बीमार है। देवताओं ने बताया है कि सवेरा होते ही गुजर जायगी, और बच तब सकती है जबकि इसके मां-बाप, भाई, बहिन, बुवा आदि जो इससे प्यार करते हों वे मूँछ मुँडाकर या जिसके जो बाल हों मुँडाकर सवेरा होते ही दर्शन दे जायें तो ठीक हो सकती है। ममता ठहरी। घर भरने सिर मूँछ मुँडवाया और सवेरा होते ही बिटिया के घर पहुँचे। उस समय वह स्त्री वही गाना गा रही थी। अपनी टेक चलाई अरु पति की मूँछ मुँडाई। पति कहता है कि पीछे देख लुगाई मुँडो की पल्टन आई। उसने देखा तो कहा बड़ा गजब हो गया। तो यह मान कषाय जब हृदसे ज्यादा हो जाता है तो फिर स्नेह छूट जाता है ! यह मार्दव धर्म कुबुद्धि के प्रसार को दूर करता है।

मार्दव से विनय व विद्यालाभ—मार्दव धर्म से बड़ी विनयहीन शिष्य विद्या प्राप्त नहीं कर सकता। कितना ही धन खर्च करके अध्यापक रखते हो, अध्यापकों की ड्यूटी दिलाते हो, कितना भी व्यय करें, यदि हृदय में विनय भाव नहीं है तो विद्या नहीं आ सकती। कदाचित् लौकिक विद्या आ भी जाय, मगर धार्मिक विद्या, आध्यात्मिक विद्या विनय के बिना नहीं आ सकती। बिना विनय के धार्मिक विद्या का ज्ञान कैसे आ सकता है ? बनारस में एक पंडित थे, उनके पास १०-१२ लड़के पढ़ते थे। उनमें से एक लड़के को बहुत अधिक पढ़ाते थे, अधिक समझाते थे। गुरुजी ने स्त्री बोली कि तुम इस एक लड़के को अधिक पढ़ाते हो और बाकी सब लड़कों की उपेक्षा कर देते हो। पंडित जी बोले कि हम तुन्हें सब समझा देंगे कि क्यों मैं अधिक समझाता हूँ। हाँ बतलाओ पंडित जी ! कहा अच्छा। पंडित जी ने एक छोटासा पका आम अपनी मुजा में बांध लिया और ऊपर से कपड़े से लपेट दिया। सब लड़कों को बुलाया। गुरुजी बड़ी तकलीफ में हैं, उनके फोड़ा हो गया है, वे बड़े बेचैन हैं। बच्चों ने पूछा, गुरुजी कैसे मिटेगा ? डाक्टर बुला दें ? वैद्य बुला दें ? गुरुजी ने कहा—बेटा किसी दवा से न मिटेगा। इसकी सरल औषधि यह है कि कोई अपने मुख से इसे चूस ले तो अभी ठीक हो जायगा। सब लड़के बगली झांकने लगे। फोड़ा, इसकी पीप, मुख से कैसे चूसी जा सकती है ? किन्तु उस एक बालक ने चूस लिया। इस घटना को देखकर स्त्री समझ गई, वाह, यह बालक तो अधिक विनयशील है और इसमें विद्या पाने की योग्यता है। इस कारण इसको अधिक पढ़ाते हैं। विनय के बिना प्रगति नहीं हो सकती। इस मार्दव धर्म से मनुष्यों का बैर भी समाप्त हो जाता है। विनय से बोल दो तो सारा बैर भी खतम हो जाता है। इस छोटे से जीवन में किसी से बैर रखने से क्या प्रयोजन है ? न यह रहेगा और न ये रहेंगे, किन्तु जो कषाय भाव बना लेता है उसको फल जरूर भोगना होगा। इस मार्दव धर्म से समस्त बैर समाप्त हो जाता है।

मददवेण परिणामविशुद्धि, मददवेण विहु लोयहं सिद्धी ।

मददवेण दोविहु तउ सोहह, तिजगु विमोहह मददवेण गरु ॥

मार्दव से परिणामविशुद्धि व मान्यता— मार्दव धर्म के कारण परिणामों में निर्मलता होती है, मानी घमंडी पुरुष के परिणाम कभी निर्मल हो सकते हैं क्या ? नहीं नहीं । वह तो तनी हुई छाती से सबको तुच्छ देखा करता है । कितना अंधेर है ? यह पड़ा तो है महान् संकट में, कर्मों का जाल है, शरीर का फंसाव है, विभावों की परेशानी है और भविष्य का कोई ठिकाना नहीं, कितने तो संकट इस जीवपर छाये हैं, पर भ्रम से पर्यायों में अहंकार रखकर यह अपने ही पर्यायों को श्रेष्ठ मानता है और दूसरों को तुच्छ समझता है । चाहे कंसी ही चपटी नाक हो, घुसी हो, छोटी आंख हो, कंसी शकल-सूरत हो, पर जब दर्पण हाथ में लेता है, चेहरे को देखता है तो एक बार घमंड तो भ्र ही जाता है । इस पर्यायपर इतना अभिमान है, जिसमें कोई सार नहीं है, मिट जाने वाली चीजें हैं । जब तक मान रहता है तब तक परिणामों में निर्मलता नहीं रह सकती है । एक गुरु शिष्य थे । चलते-चलते शाम हो गई । तो पास में राजा का बगीचा था वहां जाकर ठहर गये । दो कमरे थे । उनमें बढ़िया तख्त पड़े हुये थे । एक कमरे में गुरुजी बैठे और दूसरे में शिष्य । गुरुजी ने कहा—बेटा ! तुम कुछ नहीं बना । हां गुरुजी हम कुछ नहीं बनेंगे । शाम को राजा के सिपाहियों ने उन कमरों में देखा कि एक-एक आदमी बैठे हैं । राजा से कहा—महाराज दो आदमी बैठे हैं । अच्छा, जावो पूछ आवो कि कौन हैं ? सिपाही शिष्य के पास गया, पूछता है कि तुम कौन हो ? शिष्य बोला देखते नहीं मैं साधु हूं । कहा महाराज वह तीर्थों कहता है कि देखते नहीं मैं साधु हूं । कान पकड़कर निकाल दो । सिपाही ने ठोका पीटा और कान पकड़कर निकाल दिया । दूसरे कमरे में गया । पूछा तुम कौन हो ? गुरु जी मौन थे । कहा—महाराज वह तो बोलते नहीं, आंख मीचे बैठे हुये हैं । राजा बोला, उनसे कुछ न कहो, वे कोई साधु महाराज होंगे । राजा तो घूमकर चला गया । अब शिष्य गुरु से क्या कहता है कि महाराज तुमने ऐसा ठहराया कि मेरी तो मरम्मत हो गई और कान पकड़कर बाहर निकाल दिया गया । गुरुजी कहते हैं तुम कुछ बने तो न थे । अरे महाराज मैं कुछ नहीं बना था । सिपाही ने पूछा था कि तुम कौन हो ? तो मैंने कहा कि अरे देखते नहीं, मैं साधु हूं । गुरु ने कहा, बनना यही तो हुआ ।

मार्दव से लोकद्वयसिद्धि— जब मान कषाय होता है तो परिणामों में निर्मलता कहां से रहेगी ? इस प्रकार की कल्पनायें मान कषाय में होती हैं । मार्दव धर्म के द्वारा तीनों लोकों में सिद्धि होती है । इस लोक में भी साता रहती है और परलोक में भी सुगति प्राप्त होती है । हस्तिनापुर के मन्दिर पर बनवाने वालों का नाम तक भी नहीं है । कितने निर्मल परिणाम थे उनके ? भैया ! मानकषाय का परिणाम अपने मन में रहा तो कुछ आत्मलाभ नहीं हो सकता । पर पदार्थ भी दिया तो वह तो अपना था ही नहीं, फिर किस बात का घमंड ? सम्पदा के रहते हुए, भोगते हुए, दान करते हुये किसी बात का घमंड नहीं होना चाहिये । मार्दव धर्म से दोनों लोकों का सुधार होता है कौवे भी क्वार बदी १ से क्वार बदी १५ तक घमंड करते हैं परन्तु उसके बाद उनके घमंड कुछ नहीं रहता । इस प्रकार घमंडी चाहे कुछ दिन इतरा ले, परन्तु अन्त में झुकना ही पड़ेगा । इसलिये हमें तो घमंड बिल्कुल नहीं करना चाहिये । मार्दव धर्म से यह मनुष्य तीनों जगत को मोहित कर लेता है । मार्दव धर्म के द्वारा दोनों प्रकार के तपों की शोभा होती है । आभ्यंतर तप और बहिरङ्ग तप । १२ प्रकार के तप भी तपें, बड़ी ऊंची तपस्या करें और मान कषाय बगरावें, एंठ जतावे कि मैं कितना तपस्वी हूं ऐसा तप क्या और कोई कर सकता है ? ऐसी मुद्रा दिखावे तो उससे तप की क्या शोभा रही ? ज्ञान की विराधना हो गई । तप का फल भी मिट गया । ज्ञान भी एक तप है । स्वाध्याय को तो तप लिखा ही है । यदि मार्दव धर्म हो तो इस ज्ञान की भी शोभा बढ़ती है ।

मान में आपदा—एक पया-पढ़ा-लिखा पुरुष बी० ए० पास होकर आया। रिजल्ट तुरन्त निकले तो मोज सूझती है। समुद्र के किनारे गया। नाविक से बोला, माझी तू मुझे समुद्र में सैरा करा दे। बाबू जी आठ आने लगेंगे, चलो समुद्र की सैर करावो। जो ठलुवा होते हैं उन्हें गम्पों की सूझती है। वह बोला तुम कुछ पढ़ा लिखा है? नहीं मालिक। तू ए० बी० सी० डी० भी नहीं जानता। नहीं बाबू जी। बेवकूफ, नालायक, ऐसे लोगों ने ही भारत को बरबाद कर दिया। जब तीन-चार फर्लाङ्ग दूर नाव पहुँची, समुद्र में तूफान आया, नाव उगमगाने लगी। अब बाबू साहब हाथ जोड़कर नाविक से बोले—भैया जल्दी नाव ले चलो। तो माझी कहता है कि नाव तो डूब जायगी। हम तैरकर निकल जायेंगे। फिर हाथ जोड़ते हैं बाबू जी। माझी ने कहा, तुमने तैरना सीखा है? तैरना तो नहीं सीखा। उल्लू, नालायक, ऐसे ही लोगों ने तो भारत को बरबाद कर दिया। कल्पना करो कि अगर सब मैट्रिक पास हो जायें तो फिर गुजारा कैसे होगा? कलायें तो सभी तरह की होती हैं। कोई अपनी कला पर धमंड बगराये तो देखो भैया सब विधावों का निधान तो केवलज्ञान हुआ, इसके बाद सब विद्यायें छोटी होती हैं, उन विधावों में क्या मान करें? भैया! ज्ञानकी, उपकी, उपकार की, सबकी शोभा मार्दव धर्म से होती है। यह धर्म सब अमृत है। अपने जीवन में उतारो तो आनन्द भी पा लो। मार्दव धर्म के द्वारा यह तीनों लोकों को मोहित कर सकता है। जो विनयशील होगा वह अपरिचित भी हो तो भी आप मोहित हो जायेंगे, उसकी सेवा में लगा जायेंगे। यह घर में जो बाप बेटों में लड़ाई होती है या सास बहू की लड़ाई होती है उसमें बाप सोचता है कि यह मेरा वही बेटा है जिसको डाटते थे, सो वह हुकूमत चलाता है, पर वह नहीं जानता कि बेटा ओवरसियर हो गये। अब इसकी बात कौन सहेगा? तो यह मार्दव धर्म तीनों लोकों को मोहित कर देता है और फिर यहां धमंड करें किरा बात पर? सभी चीजें विनाशीक हैं।

अकिञ्चनता का एक कथाचित्रण—एक घटना है इसी भारत की; घटना पुरानी है। जब राजा मोज थे, बड़ा विद्वानों का आदर करने वाला यह राजा हुआ है। एक दिन रात्रि को पलंग पर लेटे वह कविता बना रहे थे और उसी दिन एक कवि के मन में आया कि कुछ चोरी कर लायें तो गुजारा चलेगा। तो चोरी और किसके यहां कर, राजा के ही यहां कर। राजा के ही यहां चोरी कर तो कुछ कष्ट भी उन्हें नहीं होगा अगर दो चार हजार ले आवेंगे तो। सो वह वहां गया और डरके मारे पलंग के नीचे पड़ गया। राजा कविता बनाता है। “वेतो-हरा युवतयः सुहोदोऽनुकूलाः, सद्धान्धवाः प्रणतिगर्भगिरश्च भृत्याः। गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलारतुरङ्गाः” क्या वह रहा कि मेरी स्त्री एक से एक मनोरम हैं, चित्त को हरने वाली हैं, मेरे मित्र मेरे अनुकूल हैं। मेरे भाई नम्रता से भरे हुये हैं। मेरे नौकर मेरी आज्ञा मानने वाले हैं। अश्वशाला में घोड़े हीसते हैं, हाथियों की शाला में हाथी गरज रहे हैं। राजा अपने वैभव का वर्णन कर रहा है। तीन चरण बन गए हैं, चौथा नहीं बन पाया। अब नीचे वाले से न रहा गया। जिसमें जो कला होती है उससे रहा नहीं जाता है। सो वह बोला “संभ्रालने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति”। इसका अर्थ है कि सब कुछ है पर नेत्रों के मिच जानेपर यह कुछ भी नहीं रहता है। चौथा चरण भी बन गया। एक नो यह उस राजा को खुशी हुई और दूसरे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ यह खुशी। सो उस कवि को गले से लगा लिया, कवि बोला मैं तो चोर हूँ। राजा ने कहा तुम चोर नहीं, तो किस बातपर अभिमान हो, ये सब ठाठ विनाशीक हैं।

मद्दु जिणसासणं जाणिज्जइ, अप्पापरसरूवमासिज्जइ ।

मद्दु दोस असेम णिवारउ मद्दु जणणसमुद्दहं तारउ ॥

मार्दव से सम्यग्ज्ञान का लाभ—इस मार्दव धर्म के होने से समस्त जिन-शासन जान लिया जाता है। शासन का मर्म क्या है। ज्ञान, बिना विनय के नहीं आ सकता और विनय मार्दव धर्म का प्रधान अंग है। पहलवानी करके किसी शक्ति से कोई ज्ञान थोड़े ही बढ़ता है, वह तो विनय से ही बढ़ता है। यह आत्मा तो मार्दव

धर्म से ही ज्ञान को जानता। जैसे कहावत है बन्दर समुद्र को लांघकर लंका चले गये, परन्तु समुद्र में जो रत्न थे उनका उनको ज्ञान कहां था? इसी तरह मार्दव धर्म के बिना कुछ नहीं जान सकते कि इस जैन शासन में क्या-क्या रत्न भरे पड़े हैं? श्रैय, मार्दव धर्म के द्वारा ही आत्मा व परका सच्चा स्वरूप जाना जा सकता है। मार्दव धर्म समस्त दोषों का निवारण कर देता है। इस मार्दव धर्म द्वारा संसार-समुद्र से सुगमतया पार होकर निर्दोष आनन्द के भोक्ता हो सकते हैं। मार्दव धर्म में आत्मा और परका स्वरूप जानने में आ जाता है। और न मार्दव धर्म हो, घमण्ड हो तो स्वरूप की स्मृति की बात तो दूर जाने दो, यह अपनी किसी प्रकार से शान रखने में ही लगता है।

लोक में कोरी शान का नाटक—एक बार ऐसी ही बड़ी सभा बैठी हुई थी, राजा का दरबार था। राजा ने कहा कि कोई मनुष्य ऐसी कविता बनावे जो आज तक किसी ने न बनायी हो। एक पंडित जी ने अपनी जेब से एक कोरा कागज निकाला, जिसमें कुछ न लिखा था और यों देखकर कहा कि मान लो बांच रहे हैं। कहा महाराज यह कविता है इससे बढ़कर कोई कविता न कभी सुनी न देखी। मगर इस कविता में यह गुण है कि जो एक बाप का होगा उसको ही दिखेगी। अन्य की आंखों से न दिखेगी। कहते हैं ना, कि जो असल का होगा उसे ही इस कागज में लिखा हुआ दिखेगा। राजा ने देखा तो उसमें कुछ न लिखा था, मगर यदि कहते हैं कि इसमें कुछ नहीं लिखा तो नकली हुए जाते। इसलिए कहते हैं वाह कितनी सुन्दर कविता है? ऐसी कविता तो आज तक दिखने में नहीं आयी। पास में और भी पंडित बैठे थे उनको दिखाया। उसमें कुछ न लिखा था, पर शान तो रखनी थी ना। नकली न कहलायें इसलिए शान में आकर सभी ने यही कहा कि वाह कितनी सुन्दर कविता है? ऐसी कविता तो आज तक नहीं देखने में आयी। जो १०-५ लोग और बैठे थे, उन्होंने भी यही कहा। सो भाई जो कषाय में रहते हैं उन्हें अपने स्वरूप का क्या बोध हो? सबको अपने पर्यायों की शान निभाने की पड़ी है?

समागम की असहयोगिता का चित्रण—जिस समय सिकन्दर बादशाह मरने लगा तो उसने मंत्रियों से कहा कि भाई जिस समग्र मेरी अर्थी श्मशान भूमि को ले जाई जावे तो मेरे दोनों हाथ अर्थी से बाहर निकाल देना, ताकि दुनियां देख ले कि जब यह आया था तो मुट्ठी बन्द किये आया था और जब यह जा रहा है तो इतना वैभव होते हुये भी खाली हाथ जा रहा है। तो भाई, आना-जाना कुछ साथ नहीं है, व्यर्थ में मोह बढ़ा-बढ़ाकर दुःखी हो रहे हो। यह मोही प्राणी जीवनभर तो उनमें राग का संस्कार लगाता है और मरते समय छोड़ते हुए दुःखी होता है। वैभव की बात को भी छोड़ो, प्यारी स्त्री, प्यारा पुत्र, धन सम्पत्ति जिनको एक समय के लिये भी अपने से विलग नहीं करना चाहता था। सब कुछ मरते समय छूट जाता है। उस समय कोई साथ नहीं देगा। और की तो बात जाने दो, यह शरीर जो हर समय इसके साथ ही रहता है, जिसके पोषण में यह न्याय अन्याय कुछ भी नहीं देखता, वह भी इसका साथ निभाने में असमर्थ रहता है।

स्वजनों की स्वार्थान्धता का चित्रण—एक सेठ ने अपना सब धन अपने पुत्रों में बांट दिया। अपने हिस्से का धन उसने भीत में गाड़ दिया। मरते समय लोगों ने उससे कुछ दान पुण्य करने के लिए पूछा। उसकी जबान बन्द हो चुकी थी। इसलिए उसने इशारे से बताया कि सामने की दिवार में मेरे हिस्से का सारा धन है, वह सबका सब मैं दान करता हूं। पंच लोग कुछ समझे नहीं, उन्होंने लड़कों से पूछा कि भाई तुम्हारा पिता क्या कह रहा है? तो लड़कों ने उत्तर दिया कि पिताजी कहते हैं कि मेरे पास धन कहां है, वह तो इन बीवारों के बनाने में खर्च हो गया अर्थात् मकान आदि बनाने में तमाम धन लग गया। अब मेरे पास बचा ही क्या है? लड़कों को तथ्य का पता था और पिता के भाव भी जान गये, परन्तु लोभ में उनके भी भाव बदल गये। उन्होंने सोचा कि यदि यह धन दान में न दिया गया तो हमारे ही हिस्से में आ जावेगा। इस तरह मरते समय पुत्र हो चाहे कोई हो, हर एक के भाव बदल जाते हैं। जिन्दा कोई नहीं रहने वाला है, मरना तो है ही, जैसे चाहो मरो। मरते समय प्रिय से प्रिय

उत्तम मार्दव

आदमी के भाव भी बदल जाते हैं। वे सोचने लगते हैं कि मरने वाला तो मर ही जायेगा, काहे को धन बरबाद किया जाये ?

मार्दव धर्म के बिना अनेक आपदाओं का संपात—मार्दव धर्म के बिना संसार के सारे जीव दुःखी होते हैं और मान कषाय में लगे रहते हैं तथा परिणामों में निर्मलता नहीं आती। मानकषाय अज्ञानियों में ही सबसे ज्यादा रहता है, ज्ञानियों में नहीं रहता। उनके ही मार्दव धर्म प्रगट हो सकता है जिनके मोह नहीं है। मार्दव धर्म से यह लोक और परलोक दोनों लोक सिद्ध होते हैं। रावण का यह लोक और परलोक भी मानकषाय में ही मिटा। रावण को हुए १० लाख वर्ष के करीब हो गए और आज तक भी सबको उसका नाम सुनते ही घृणा सी होती है तो यह मानकषाय का ही तो प्रभाव है। वह स्त्री के लोभ से नहीं मरा, वह तो मरा मान से। पहले तो रावण के परिणाम यही थे कि मैं सीता को अपने यहां रखूँ, लेकिन जब बहुत कुछ समझाने बुझानेपर भी सीता तम से मस न हुई तो रावण ने विचार किया कि सीता तो वापिस करनी ही है। राम ने भी कहा कि भाई तुम सीता दे दो, चाहे तुम मुझसे कुछ भी संपदा ले लो। सीता के लौटाने के परिणाम होते हुए भी रावण को उस समय मान का उदय आ गया। उसने मान में कहा—सीता को दूंगा तो जरूर, परन्तु सीता को ऐसे नहीं दूंगा, रामको जीत करके ही दूंगा। उसमें सीता के लौटाने की उदारता तो आई, परन्तु ताकत से देने का मान भी रहा। इस मानकषाय के कारण ही वह मरा। इसके कारण वह नरक भी गया और उससे अपना यह लोक भी बिगाड़ा।

मार्दव व मान में प्रवृत्तियों का एक चित्रण—आजकल कई लोग मन्दिर बनवाते हैं, परन्तु इसलिये कि उनका नाम हो जाए। वह मन्दिर उनका कहलाए। इसके लिए किसी भी पंच का एक भी रुपया नहीं लेते तो जो कुछ भी लगे उसमें मेरा ही लगे, नहीं तो यह पंचायती कहलायेगा और मेरा नाम नहीं रहेगा। ये सब मान की बातें हैं। भाई इन बातों में क्या रखा है? मिल करके काम करो। अब भी कई लोग ऐसे हैं जो मड़ा मन्दिर बनाकर कह देते हैं कि यह तो पंचायती मन्दिर है। देखो—हस्तिनापुर क्षेत्र का मन्दिर है। जब यह पूरा बन चुका, कलश चढ़ना बाकी रहा तो उसके बनाने वालों ने पंचायत से कहा कि भाई मेरे पास धन समाप्त हो गया है, चन्दा करना है। सब भाइयों ने चन्दा किया और कलश चढ़ाया गया। कितनी निर्मलता की बात है? कहां-तो ये परिणाम कि सब कुछ बनवाकर भी उसमें अपनापन नहीं रखते थे और कहां यह परिणाम कि जरा कुछ बनवाते हैं और उससे बड़ा उसपर नाम का पत्थर लगवा देते हैं। मान से अनेक दोष अंकुरित होते हैं। यह मार्दव धर्म समस्त दोषों को दूर करता है। यह मार्दव धर्म जन्ममरण रूप संसारसे उत्तार देता है, किन्तु मान संसारमें परिभ्रमण कराता है।

मम्मदंसणुअंगु मद्दउ परिणाम जु मुणह ।

इमि परियाण विचित्त मद्दउ धम्म अमल थुणह ।

सम्यग्दर्शन के अद्भुत मानवधर्म के अनुसरण का अनुरोध—यह मार्दव परिणाम सम्यग्दर्शन का अंग है। मान न करो, एक सम्यग्दर्शन को पहिचानो, जगत के पदार्थों का जो सत्य स्वरूप है उसकी श्रद्धा करो तो जगत में कुछ बिगाड़ नहीं हो सकता। मार्दव धर्म और विनयभाव के द्वारा मन के सारे दोष दूर हो जाते हैं ऐसा जानकर हे भव्य जीवों! इस अद्भुत और निराले मार्दव धर्म की स्तुति करो। मार्दव धर्म जन्म-मरण से इस जीव को पार कर देता है। एक इस निर्मल मार्दव धर्म को धारण करो, और अपनी आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप में स्थिर रहो, इसको उत्तम मार्दव धर्म कहते हैं।

परमार्थ विनय में परमार्थ आराम—आज मनुष्य को विलक्षण आराम में रखने वाले मार्दव धर्म का वर्णन है। जो मनुष्य अभिमान करता है वह निरन्तर दुःखी रहता है। जिसके अभिमान नहीं, जिसकी अभिमान रहित

परमब्रह्म स्वरूप पर निगाह है वह अतुल आनन्दामृत का पान करता है। मार्ग पुरुष अपने आपको भले ही समझता है कि मैं बहुत ऊँचा हूँ। परन्तु और दुनिया की निगाह में तो देखो वे क्या सोचते हैं? वे मानी पुरुष को नीचा निरखते हैं। भले ही कोई पर्वत की चोटी पर चढ़ा हुआ पुरुष नीचे चलने वाले लोगों को छोटा समझता है परन्तु नीचे चलने वाले उन लाखों लोगों से तो पूछो उनकी निगाह में वह पर्वत के ऊपर चढ़ा हुआ व्यक्ति छोटा दिखाई देता है। मानी पुरुष की ऐसी कल्पना है कि मैं बड़ा हूँ, जो अपने को बड़ा मानकर चलता है वह तो खुद विपदा में है और घटनायें भी ऐसी बन जाती हैं कि जिससे उसे बुरी तरह से दुःखी होना पड़ता है। अभिमान करने से आज तक किसी ने कोई लाभ नहीं पाया। सच पूछो तो यह अहंकार इस आत्मा के पतन का कारण है। ये जो उपनिषद्, अध्यात्मिक ग्रन्थ बने हैं उनकी भूमिका ही यह है कि अहंकार न रहना चाहिए। अहंकार इस-जीव को कब होता है जबकि यद्भव पदार्थ, विनाशीक पदार्थ इसको प्राप्त होते हैं। असली चीजपर अभिमान (स्वाभिमान) करना तो अच्छा है, पर जो गंदी बातें हैं, दूसरों पर कन्ट्रोल करने की मन में बसी हुई बातें हैं, खोटी बातें सोचकर मान करे कोई तो यह गंदा भाव है। जब तक ये अहंकार के भाव, प्रलोभन के भाव दूर नहीं हो जाते हैं तब तक अपने आपमें बसे हुए परमात्म प्रभु का दर्शन न मिलेगा।

प्रलोभन समाप्त होनेपर ही अध्यात्मरस लाभ की पात्रता—ऋग्वेद उपनिषद् ग्रन्थ की भूमिका में बताया है कि नचिकेता का पिता वाजश्रवस सभी को सब कुछ धन सम्पदा आदिक बांट रहा था, तो उसके बेटे ने पूछा—पिताजी आप सबको सब कुछ दे रहे, मुझे किसको दोगे? तो पिता झुंझलाकर बोला—तुझे मृत्यु को (यम को) दूँगे। अब क्या था, वह बालक यम के पास गया। उस समय यम बाहर गये थे, तीन दिन बाद आये तो यम उस बालकपर यह जानकर कि तीन दिन से मेरी प्रतीक्षा में भूखा बैठा है, सो बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—बेटे तुमपर हम बहुत प्रसन्न हैं, तुम्हें जो मांगना हो मांग लो—३ वर मांग लो। दो तो उसने मांग लिये। जब तीसरे वरदान को कहा तो उस बेटे ने क्या वरदान मांगा कि आप मुझे यह दिखा दें कि मृत्यु के बाद मेरे आत्मा का कुछ अस्तित्व रहता है या नहीं? ... अच्छा तो लो समझ लो यमने तब ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, सब रचना उसे समझा दिया। तो वह बालक फिर बोला कि यह तो मैंने सब कुछ समझ लिया, पर अब यह तो बतलाओ कि इस सारी दुनिया में कोई मृत्यु से बचा भी है क्या? जिसकी कभी मृत्यु ही न हो ऐसा भी कोई स्थान है क्या? यमने बताया कि हों ऐसा भी कोई स्थान है। देखिये यह आत्मा मुक्त हो जाने पर फिर कभी मरण को प्राप्त नहीं होता, बाकी तो दुनिया में मृत्यु सब जगह चल रही है। वह मोक्ष ही अमृत है। ... तो बस महाराज, मुझे तो उस अमरत्वकी विधि बताओ यमने कहा—देखो राज्य लो, साम्रज्य लो, और बड़े-बड़े आराम के साधन लो, अनेक स्त्री लो—बहुत प्रलोभन देने पर भी इन्हें बालक उस यमके कहने में न आया, आखिर यम द्वारा उसे आत्मा का स्वरूप समझाया गया। अब आप समझ लीजिए कि आत्मा का स्वरूप समझने का वही पात्र होता है जिसको कि दुनिया में कोई प्रलोभन नहीं।

ज्ञानज्योति का प्रलोभनादि प्रलोभन की सामर्थ्य—प्रलोभन न सताये इसका उपाय पहिला यह है कि अपने इस देह में, इस पथीय में इस क्षणभंगुर काया में मोह को त्यागें। त्यागने वाले त्यागते हैं। जिनको आत्मा से अनुराग है, आत्मा का आनन्द ही जिनके लिए सब कुछ है उनको त्यागने में विलम्ब नहीं लगता। जैसे खूब अच्छा ताजा भोजन मिल रहा हो तो बासी भोजन त्यागने में किसी को विलम्ब तो नहीं लगता। यों ही समझिये कि जिसे स्वाधीन अनुपम आत्मीय आनन्द मिला हो उसको इन बाहरी विषयों के त्यागने में कौनसी अड़चन है? तो थोड़ी देर को अपना कुछ ऐसा उपयोग बनायें कि इन किन्हीं भी बाहरी चीजों में प्रीति न रखें। अपने मनको निष्पाप बना लें। तो आपमें यह बात बहुत जल्दी बन जायगी। लोग कहा करते हैं कि वह तो बहुत अच्छा समझाते हैं, पर

भाई समझाने वाले की क्या तारीफ ? समझने वाले की अधिक तारीफ है। जो हित चाहने वाला है वह अपने हित की बात को सुनकर षट समझ जाता है। तो किसी बात के समझने में समझाने वाले की तारीफ खास मत समझिये—किन्तु समझने वाले की तारीफ समझिये—यदि वह समझने वाला समझने लायक अपना हृदय बनायगा तो उसकी समझ में आयगा, न बनायगा तो न आयगा। वही बात एक बच्चा बोले तो वह षट समझ जायगा और जिसका हृदय शुद्ध नहीं है उसे चाहे ऋषिराज भी कितना ही समझाये, पर उसकी समझ में नहीं आता। तो समझने वाले की तारीफ है। अपने को इस योग्य बनावे कि आत्मा को सारी बातें समझने में आयें। यह आत्मा स्वभाव से नम्र है, अपनी ओर जाने वाला है, अपनी ओर ढल रहा है। जैसे नदी में निम्नगां होने की प्रकृति है, वह नीचे की ओर ही बहने की प्रकृति रखती है। ऐसे ही अपना यह उपयोग भी अपनी ओर ही झुकने का स्वभाव रखता है। हां जैसे कोई यंत्र नदी के जल में डाल दिया जाय तो नदी के जल का प्रवाह विपरीत हो जाता है, यंत्र तब जल बहने लगता है, ठीक ऐसे ही हम आपमें ज्ञान और वैराग्य की प्रकृति तो आत्मा में रहने की ही है, पर रागद्वेष, क्रोध, मान, माया लोभादिक यंत्र उसमें लगा दिए जायें तो उसका उपयोग ध्वर उधर चलने लगता है। यह बहुत सुगम बात है कि अपने आपमें विनय आ जाय और अपने आपमें अपने को विलीन कर दे, यह सुगम बात है, लेकिन जब तक मिथ्यात्व न टले, मोह न टले, इस देह में 'यह ही मैं हूँ' इस प्रकार की विपरीत बुद्धि न भिटे तब तक यह बात कठिन है। तो सबसे अधिक बाधक क्या रहा इस कल्याणमार्ग के लिए ? यही अभिमान।

पर व परभाव की बुद्धि में गर्व करने की व्यर्थता—देखो जो कुछ यहां कर्म व कर्मफल हो रहा है यह प्रकृति के गुणों के द्वारा किया जा रहा है। आप लोग जानते हैं कि जब कर्म प्रकृति का अनुभाग बनता है तो उसके विपाक में ये सब ठाठ बनते हैं। तो हैं ये प्रकृति के धर्म, परकृत परिणाम, लेकिन इसमें जीव मानता है कि मैं करने वाला हूँ। तो देखो जो अपने को कर्ता मानता है वह कितना अपने को हैरान किए डाल रहा है ? जैसे कोई बेलगाड़ी जा रही हो, जिसमें ५०-६० मन बोझ लदा हुआ है तो उसके पीछे कुछ बच्चे लग जाते हैं, उस गाड़ी को ढकेलते हैं और अहंकार करते हैं कि मैं इसे चला रहा है। पर जब कभी वह गाड़ी खड़ी हो जाती तब फिर वे बच्चे यों ही खड़े रह जाते हैं, उस गाड़ी को ढकेल नहीं पाते। खड़े-खड़े दुःखी होते रहते हैं। यों ही ये संसारी प्राणी कुछ पुण्य का उदय पानेपर मानते यह हैं कि मैं ही तो परिवार का पालन-पोषण करता हूँ। मैं ही कमाता हूँ—पर जब कभी पापोदय आता तो फिर कुछ भी कर्तव्य नहीं चलता, यों ही दुःख रहा करते हैं। तो ऐसा अभिमान करना ठीक नहीं कि मैं परिवार का पालन-पोषण करता हूँ, मैं ही धन कमाता हूँ अरे जो कर्तापन के अहंकार में है उसे मृदु स्वभाव वाले इस परमब्रह्म स्वरूप का परिचय नहीं मिलता। नम्रता एक ऐसा गुण है कि जिसके प्रताप से इस लोक में भी सुख मिलेगा और परलोक में भी सुख मिलेगा। ज्ञानार्णव ग्रन्थ में लिखा है—“क्व मानो वाम संसारे जन्तुर्ब्रजविडम्ब के। यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्टामध्ये कृमिर्भवेत्”। अरे इस संसार में मान करने की क्या गुंजाइश ? जहां राजा होकर भी कीड़ा बन जाय। अरे और भव की तो बात जाने दो—एक इसी भव में ऊंचे पद से गिरकर यद्रि नीचा हो जाय तो दुनिया की निगाह में वह तुच्छ कहलाता है। जिस समय कोई मान कर रहा है उस समय सारी दुनिया उसे तुच्छता की निगाह से देखती है। इस मान से इस जीवन में भी नुक्सान है और परभव में भी नुक्सान है। इस जीव के लिए यहां का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो कि हितरूप हो, सब अधेरा है, माया जाल है, धोखा है, कर्णों पदार्थों के पीछे अपने आपको बरबाद किया जा रहा है ?

खुद में खुद की महत्ता प्राप्त करने का संदेश—भैया ! इन समस्त परपदार्थों से अपनी कुछ महत्ता न समझो। ज्ञानी पुरुष तो किसी दूसरे से अपने को महान नहीं बनाना चाहते, वे तो खुद में खुद की महान बनाना चाहते हैं। परपदार्थों में अपनी महत्ता बनाना यह तो अभिमान है और अपने आपमें अपनी महत्ता बनाना यह वास्त-

विक महानता है। दुनिया में सब जगह ढूँढ़ने जाइये—आपको कौन बड़ा मिलेगा? बस खुद ही खुद में महान मिलेगा। अरे भाई आपको जैसा करना हो कर लो, मगर तात्त्विक बात समझ लीजिए। खुद खुदका सहारा है। खुद खुदका धारण है, दूसरा कोई धारण नहीं। अपने आपको देखो—अपने आपमें गुणकारी बनो। और यह बात तब हो सकती है जब हम खुद नम्र बन जायें। अपने लिए नम्र बन जायें। नमने के मायने झुकना, नम गए मायने झुक गए। यदि यह जीव अपने आपके लिए नम्र हो जावे और दूसरों के लिए भी नम्र हो जावे तो यह अवश्य ही अपना अनुपम आनन्द प्राप्त करेगा। देखो—पुराणों में भी बताया है कि भाई किसी के सामने तुम अभिमान भरी बात मत करो। नम्रता का व्यवहार करो, अपने आपके प्रभु को प्रसन्न करो। इस मान कषाय के रहते हुए अपने आपमें बसा हुआ परमात्मतत्त्व निर्मल नहीं हो सकता। एक कवि की कल्पना में एक बात बताई गई है कि जब मनुष्य अहंकार में चलता है तो उसके चलने से जमीन में कुछ गड्ढासा हो जाता है, तो कवि की कल्पना में मानो वह पृथ्वी उस अहंकारी पुरुष से कहती है कि ऐ अभिमानी मनुष्य, तू मेरे खाक का पैवंद होगा, तू मेरे इस गड्ढे को भरने वाला मसाला बनेगा याने मिट्टी में मिला जायगा, तू अकड़कर क्यों चल रहा है?

पर में अहंकार छोड़कर निज ब्रह्मस्वरूप में निविष्ट होने का संदेश—एक मूल बात समझ लीजिए कि समस्त परकी याद भूल जाय तो सारे गुण आने सरल हैं, और सारे अवगुण दूर हो जाने सरल हैं। परमात्मतत्त्व यही है कि यह ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने आपके स्वरूप में ज्ञानस्वरूप के अनुरूप हो जाय। यह काम कोई कठिन नहीं है। देखो सभी आत्माओं की बात है। आत्मा के नाते से अपने आत्मा की बात विचार लो, इसमें कल्याण मिलेगा। यह शरीर पिण्डोला देखकर कोई माने कि मैं तो यह हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, मनुष्य हूँ आदि, तो यह अंधेरा है। भीतर में देखो तो सबका एक समान स्वरूप है। सब ज्ञानमात्र हैं, सब चैतन्यस्वरूप हैं। तो जब स्वरूप सबका एक-सा है तो सबपर जो बात गुजरेगी वह एक विधि की, होगी। जो मेरा नहीं है उसकी निगाह छोड़ें और जो मेरा स्वरूप है उसको निगाह में ले लें। जो भी ऐसा करेगा उसका भला होगा। जो देह मिला है उसमें देहाध्यवसाय न रहे तो इसको अपने आत्मा का जीहर, रत्न, अनुपम ज्ञानप्रकाश इसको स्वयं प्रकाश में आ जायगा। तो मान करने से इस जीवन में भी कुछ लाभ नहीं और परभव में भी कुछ लाभ नहीं। लोग तो कष्ट भी करते हैं कि जब तक यह नाक रहेगी तब तक परमात्मा के दर्शन नहीं होते। तो उनका कहना ठीक ही है। यहाँ नाक का अर्थ है मानसे, अहंकार से। जब तक यह अहंकार है, अभिमान है तब तक प्रभु के दर्शन नहीं हो सकते। अभिमान दूर हो तो मेरे आत्मा का जो सही ज्ञानप्रकाश है उसके दर्शन होंगे। लोग कहते हैं ना—तमसो मा ज्योतिर्गमयः। अर्थात् हे प्रभो मुझे अंधकार से हटाकर मुक्ति में ले जावो—पर जरा सोचो तो सही—क्या कोई दूसरा भगवान किसी को उठाकर मुक्ति में ले जा सकेगा? अरे खुद ही जब उस मार्ग में लगकर ज्ञानप्रकाश पाऊंगा तो खुद ही खुद को मुक्ति में ले जा सकूंगा। इस लोक में भी और परलोक में भी जितना बिगाड़ है वह इस अहंकार के कारण है। अरे अहंकार किस बातपर करते? कितने दिनों की जिन्दगी है? आखिर भरना तो होगा ही।

बेहनिर्मम होकर सत्सङ्ग, ज्ञान व वैराग्य द्वारा विकासोन्मुख होने का संदेश—गीता के भी दसवें अध्याय के २२वें छन्द में एक उदाहरण दिया है—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि शुक्लानि नरोऽपराणि तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ अर्थात् जैसे एक वस्त्र जीर्ण हो जानेपर लोग उसे छोड़कर नवीन वस्त्र धारण कर लेते हैं, इसी प्रकार ये जीव एक शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण कर लेते हैं। समाधि तन्त्र में बताया है कि जीर्ण वस्त्रे यथात्मानं न जीर्णं मन्यते व्यथा। जीर्णं स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते तथा। यह शरीर कितना ही जीर्ण हो जाय, पर ज्ञानी पुरुष उससे अपने को जीर्ण नहीं समझता। जैसे कि कोई जीर्ण कपड़ा कसी ने पहन लिया तो उससे कहीं कोई अपने को जीर्ण तो नहीं मानता देखो जब तक इन्द्रियां ठीक हैं, बल

है, सब प्रकार के ठीक साधन हैं तब तक खूब धर्मपालन का कार्य कर लो, नहीं तो जिन्दगी तो बीती ही जा रही है एक दिन निकट काल में ही मरना सभी को होगा। यदि धर्ममय अपना जीवन रहेगा तब तो यह सब भी ठीक रहेगा और आगे का भविष्यकाल भी ठीक रहेगा और यदि इन विषय कषायों से ही भरा हुआ जीवन व्यतीत किया तो उससे तो आत्मा का पतन ही है। छान्दोग्य उपनिषद की भूमिका में बताया है कि नारद ने सनत्कुमार के पास जाकर कहा कि महाराज मुझे कोई ऐसी विद्या सिखा दो जिससे कि मेरा कल्याण हो जाय तो गुरु ने पूछा कि तुमने अभी तक क्या सीखा...ज्योतिष, आयुर्वेद, साहित्य, व्याकरण, संगीत, नृत्य आदि। ऐसा सब कुछ बताते हुए उसने अन्त में यही कहा कि महाराज अब तो मुझे ऐसी विद्या सिखाओ कि जिससे जीवन में शांति प्राप्त हो, इन किन्हीं भी विद्याओं से मुझे शान्ति न मिली। अब देखिये—सन्तोष प्राप्त होता है एक इस अध्यात्म विद्या से। सब विद्याओं में श्रेष्ठ को एक इस अध्यात्म विद्या का उपयोग करें। जब भीतर में एक रटन बन जायगी कि मुझे तो संसार के इन संकटों से छूटने का उपाय बनाना है तो फिर उसे वह उपाय मिल जायगा, और जिन्हें संसार ही रुच रहा है ऐसे अबोध बालकवद् जीवन बिताने वालों को संकटों से छूटने का उपाय नहीं मिल सकता। तो हम आपको चाहिए कि इस संसार से विरक्त हों और मन में यह भाव हो कि मुझे मोहियों के संग में नहीं रहना है। मुझे तो सत्संगति में रहना है। इन मोहियों के संग में रहकर तो कष्ट ही कष्ट सहना होगा। सत्संग ही करना है। सत्संग से सुवासित हृदय में मोहान्धकार नहीं ठहर सकता। देखो जो पुरुष ज्ञानीजनों का अभिवादन करते हैं, ज्ञानियों का संग चाहते हैं, जिनको ज्ञानियों की प्रशंसा रुचती है उनका कभी पतन नहीं होता।

मार्गवधर्म की उपासना से अपने को निराकुल रखने का संदेश—देखो इस मनुष्य में कितना बल है, कितनी बुद्धि है? एक बड़े हृष्टपुष्ट भैंसे को मनुष्य का एक छोटासा ८ वर्ष का बच्चा गाड़ी में ६०-७० मन बोझ लादकर जहाँ चाहे ले जाता है, मनचाहा पीटता है, मनचाहा नचाये-नचाये फिरता है, उतनी बड़ी ताकत वाला भैंसा भी मनुष्य के एक छोटे से बाकक के भी वश में हो जाता है। तो ऐसे ही जो अहंकारी पुरुष होता है उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उसका मनोबल घट जाता है। एक बात यह भी है कि आप दूसरों के प्रति नम्रता का व्यवहार करेंगे तो दूसरे लोग भी आपके आज्ञाकारी बन सकेंगे, और यदि आप ऐसा करेंगे कि मान न मान, मैं तेरा महिमान, तो भला बताओ आपसे इस परिणाम में आपको निरन्तर कितनी शल्य बनी रहेगी। तो ऐसा अहंकारी पुरुष दुनिया की निगाह में भी तुच्छ है। यदि विनय से आप किसी दूसरे की प्रशंसा करने चर्धें तो आपके चित्त में कोई कष्ट न होगा, आप खुश होकर प्रशंसा करते जायेंगे और यदि आप किसी की निंदा करने बैठें तो पहिले भीतर में आपको अनेक प्रकार के विकल्प करने होंगे, अपने आपको दुःखी बना लेना होगा तब कहीं आप किसी दूसरे की निन्दा की बात बोल सकेंगे। यही तो अभिमान और विनय में अन्तर है। विनय में तो आनन्द ही आनन्द है। आज की विशिष्ट उपासना का विषय है मान न करना, हठ न करना, हठ न करना। हठ भी मान में ही शामिल है और हठ करने वाला जब कुछ समर्थ होता है तब तो उसकी हठ चल जाती है, मगर जब सेर को सवा सेर मिल जाता है तब उसे पता पड़ता है कि मैंने व्यर्थ ही हठ किया था। अब बान हठ छोड़कर वस्तुस्वरूप को जानकर अपने आपमें विरक्ति उत्पन्न करें, खुद में खुद की महत्ता धकट करें यही अपना वास्तविक बड़प्पन है। बाह्य में अपनी महत्ता दिखा देना कोई बड़प्पन की बात नहीं है।

—: ५ :—

उत्तम आर्जव धर्म

आर्जव धर्म की सेवा करके प्रसन्न रहने का अनुरोध—वस्तु स्वरूप को जानकर सरल ज्ञानमय निज ब्रह्म की अभिमुखता पाना, समस्त वक्र-विभावों से दूर होना सो वास्तविक आर्जव है। इस स्थिति में माया का अभाव होता है। यह आर्जव धर्म उत्कृष्ट लक्षणों पर आधारित है। सरलता कितनी अच्छी जीज है? सरल पुरुषों की कितनी उत्कृष्ट बुद्धि रहती है। आर्जव धर्म का उत्कृष्ट लक्षण सरलता है। आर्जव का अर्थ है कपटरहितता याने सरलभाव। कपटी मनुष्य को सदैव चिन्ता बनी रहती है कि कहीं मेरा कपट प्रगट न हो जाये। यदि कभी एक बार कपट प्रगट हुआ कि लोगों की दृष्टि में वह कपटी मनुष्य गिर जाता है तथा वह जिन्दगी भर दुःखी रहता है। जब लोगों की दृष्टि से कपटी गिर जाता है तब एकान्त में कहीं पड़ा सड़-सड़कर उसको मरना पड़ता है। जिसका आदर नहीं, उसका जीना भी मरणतुल्य है। कपट महान अचर्म है। माया अर्थात् कपट तो शल्य है, यह तो कांटे की तरह सदा चुभती रहती है, एक क्षण भी चैन नहीं लेने देती। जगत् का स्वरूप जानकर कपट का त्याग करो। पड़ोसियों के, कुटुम्ब के लोगों के, सगे सम्बन्धियों के सबके विश्वासपात्र बनो और सबसे बड़ी चीज अपने विश्वासपात्र बनो। जो मन में हो सो वचन में हो और जो वचन में हो वही काय की चेष्टा हो। कभी किसी के प्रति अहित की भावना न रखो, इसी से आर्जव धर्म होता है। वह धर्म सब पापों का क्षय करने वाला है। जिसके हृदय में यह धर्म है या कुटिलता जिसके हृदय में वह नहीं घुस सकी, उसके नहीं हृदय में जैन-शासन सरलता से समझ में आ जाता है। अपने हृदय को सरल बनाना चाहिये। जिसका हृदय सरल है वह जैन-शास्त्र का ज्ञान आसानी से कर सकता है। मानी अथवा कपटी का चित्त स्थिर नहीं रहता। आर्जव धर्म की सेवा करो। इस धर्म का पालन करो और आत्मा के ध्यान से सुखी होओ।

धम्महं वर लक्खणु अज्जउ थिरमणु दुरियविहंडणु सुहजणणु ।

तं इत्यु जि किज्जह तं पालिज्जइ तं णिसुणिज्जइ खयजणणु ॥

आर्जवशून्य पुरुष की हीनवशा—आर्जव धर्म, धर्म का श्रेष्ठ लक्षण है। आर्जव कहते हैं सरलता को। सरलता के परिणाम को आर्जव कहते हैं। इस लोक में कौन से पदार्थ ऐसे हैं जिनकी प्राप्ति में आत्मा सदा संकटों से मुक्त हो सके? कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है। जब कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है तब किसके अर्थ अपने परिणामों में कुटिलता करें? कुटिलता परिणाम करने से कोई सिद्धि नहीं होती। यहाँ के वैभव, ठाटबाट तो जो अपने पूर्वभव में आर्जव धर्म किया, उपासना किया, सरलता का परिणाम किया तो उसके पुण्यबंध से ये ठाटबाट मिले हैं। कहीं मायाचार से ये नहीं मिलते हैं। कपट से धन नहीं जुड़ता। धन तो धर्म के साथ लगे हुये शुभ अनुराग के फल में मिलता है। आर्जव धर्म से मन स्थिर हुआ करता है। जो जीव जैसा अपने में विचार करता है वैसा ही दूसरों के लिये कहे और वैसा ही करे तो उसे कहते हैं आर्जव धर्म। आर्जव धर्म का पालन नहीं करने वाले, कपट को बनाने वाले लोग आप अपने प्रति कपट करते हैं। दूसरों के लिये कपट करने वाले अपने आप खुद कपट के गड्ढे में गिर जाते हैं। जो दूसरों के लिये गड्ढा खोदता है वह स्वयं दुःख के गड्ढे में गिर जाता है। उसका कोई बचाने वाला नहीं होता। उसका यह पाप, कपट उसका विश्वास खो देता है। कपटी को बहुत बातें बनानी पड़ती हैं। कहीं कुछ और कह दिया तथा कहीं कुछ और कह दिया। सामने भला कह दिया और पीठ पीछे बुरा कह दिया, यह ही तो कपट है। कपट बहुत दिनों नहीं निभता, कभी एक साथ ही उसका कपट प्रगट हो जायेगा। फिर लोक में उसका विश्वास नहीं रहेगा। कपट से मनुष्य को इस लोक और परलोक दोनों लोकों में दुःख उठाना पड़ता है।

कपट से खुद की ठगवाई—भैया ! इस लोक में तो जगजाहिर है कि कपटी के जिस समय से उसके कपट के परिणाम होते हैं वह बहुत संविलष्ट रहता है और कपट प्रगट होने पर तो जो उसकी दशा होती है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह जीता भी मरे के समान हो जाता है। कहीं आदर नहीं, कहीं पूछ नहीं और परलोक में “माया तैर्यंग्योनस्य” माया तिर्यञ्च गति का साक्षात् कारण बताया ही गया है। जो तिर्यञ्च गति के दुःख मायाचारी को भूगतने पड़ते हैं वह भी किसी से छिपे नहीं हैं। इसलिये सरल पुरुष ही धर्म का अधिकारी है। धर्म को सरल परिणति से जल्दी ही जाना जा सकता है। कपटी मनुष्य धर्म को क्या जानेगा ? वह तो धर्म के जानने में भी कपट ही करता है। लोग समझते हैं कि यह तो सुबह प्रजा करता है, शास्त्र स्वाध्याय करता है, घंटों मन्दिर में लगाता है, परन्तु भैया ! कपटी दूसरों को तो धोखा दे सकता है, परन्तु अपने आपको तो धोखा नहीं दे सकता अथवा दूसरों को तो क्या धोखा देगा, कपटी अपने को ही धोखा देता है। फल तो उसे अपने परिणामों का भोगना ही पड़ेगा। बिना सरलता के धर्म के मार्ग पर नहीं चला जा सकता। धर्म के मार्ग पर तो सरल पुरुष ही चल सकेगा।

सरल भावों के द्वारा आजबधर्म की प्राप्ति—आर्जवगुण कपट करके नहीं, बल्कि सरल प्रकृति से पाया जा सकता है। कपट से किया कोई काम, कपट से कमाया हुआ धन, छल से बनाई इज्जत और कपट से किया हुआ धर्म सब बेकार हैं। कपट को छोड़कर सरलता के मार्ग से चलो तो अपने आपको शान्ति मिलेगी और बनना होगा तो उस मार्ग से अपने आप ज्ञानी बन जायेगा, परन्तु कपटी मनुष्य का चित्त तो हमेशा व्यकुल रहता है। उसके चित्त में तो धर्म की गंध भी नहीं आ सकती। सरल पुरुषों में आज्ञाकारिता, बड़ों का सत्कार आदि गुण सहज ही ही जाते हैं। बड़े शास्त्रज्ञ धर्म का हृदय नहीं पा सकते और सरल मनुष्य कुछ भी करते हुये वक्रता के अभाव में शान्ति पाते रहते हैं। कपटी पुरुष शास्त्र का विशेष जानकार भले ही हो जाये, परन्तु जो शास्त्र स्वाध्याय का फल सुख-शान्ति होना चाहिये वह उसको छू तक भी नहीं जाता और मायाचार से रहित पुरुष को चाहे शास्त्रज्ञान थोड़ा हो, परन्तु सरल चित्त होने से उसमें शान्ति बनी रहती है और भैया, धर्म भी तो इसी को बताया है।

कपट के कारण निरंतर सक्लेशरूपता—कटिल आदमियों के हृदय में तो कोई चीज प्रवेश कर ही नहीं सकती, धर्म तो दूर की चीज है, उसके पास कोई गौरव नहीं और यह निरंतर दुःखी रहता है। इसलिए कहा जाता है कि हे भव्य जीवो ! माया को हृदय से निकाल दो। मायाचारी प्राणी करता तो प्रयत्न दूसरों के बिगाड़ का है, हीन जाता है स्वयं का बिगाड़। एक कथा है:—एक शेर कीचड़ में जा फसा। एक गीदड़ किनारे पर खड़ा था। उसने गीदड़ से कहा कि तुम मेरे पास आ जाओ। तब गीदड़ ने कहा—मामा, तुम खा जाओगे, इसलिये मैं तो नहीं आता। तब शेर बोला कि जो खाये उसकी सन्तान मर जाये, इसलिये मैं तुम्हें नहीं खाऊंगा, तुम आओ तो सही। अगर मैं तुम्हें दगा दूँ तो मेरी सन्तान मर जायेगी। गीदड़ फिर भी नहीं आया। तब शेर उसके ऊपर झपटने के लिए उछला। उसका पेट पास खड़े हुये ठूठ में धंस गया। तब गीदड़ हंसने लग गया। शेर ने पूछा कि तुम हंसते क्यों हो ? गीदड़ बोला—मामा, तेरे बाप ने किसी को दगा दी होगी, इसीलिए तू मर रहा है। गीदड़ उसके छल को जानता था, इसीलिए उसकी तो जान बच गई और वह शेर खुद ही मरने लगा। सो भैया ! छल कपट का तो भयानक परिणाम होता ही है। छल से कोई काम नहीं चल सकता। इसके फल से दुःख पैदा होगा। माया और छल को हृदय से निकालो, कपट को हृदय से निकालो। थोड़ी सी मायाचारी भी बहुत अनर्थ करने वाली है। चाहे भित्तनी कठिनाइयाँ हों, परन्तु छल कपट को मन से निकाल दो। जिसके प्रति कभी कपट उसके पास जाकर उससे ही निवेदन कर दो कि भैया तुमसे ऐसा कपट हुआ। ऐसा विचार कर माया कपट को अपने मन से निकाल कर आर्जवधर्म को अपने मन में बसा लो। धर्म के बड़े-बड़े काम कपटरहित हीकर हों तो बड़े फल प्राप्त हों।

कपट के कपटी की दुर्गति—पीराणिक वृत्त है कि एक मुनिराज एक गांव में चार मास का कठिन उपवास करके विहार कर गये। उसी समय दूसरे मुनिराज उस गांव में आये। लोगों ने कहा कि ये कितने बड़े तपस्वी हैं, जो चार महीने का उपवास किया। मुनि ने इन बात से इन्कार नहीं किया और मौन से वे उनकी बात सुनते रहे। उसका फल उनको अनन्त कपट का लगा। वहां मिथ्यात्व हो गया, क्योंकि उन्होंने अपनी असली स्थिति नहीं बतायी। सबसे बड़ा कपट अपने आपको धोखा देना है दूसरे को धोखा कोई नहीं दे सकता, जो धोखा देता है सो खुद को धोखा देता है। हम भले ही समझें कि हमने इनको धोखा देकर खूब उल्लू सीधा किया, परन्तु भैया ! जरा विचारोगे तो पता चलेगा कि तुमने उसे धोखा नहीं दिया, परन्तु अपने आपको धोखा देकर अपना बहुत बड़ा अहित किया है। तुमने अपने स्वभाव से विपरीत कार्य किया। सबसे बड़ा धोखा तो अपने ही आत्मा को धोखा देना है। आत्मा का स्वभाव परम आनन्दमय चैतन्यमात्र स्वभाव है। मनुष्य कपट से अपनी ही आत्मा के स्वभाव को धोखा देता है। यह कपट मिथ्यात्व का द्योतक है। न राग मेरा स्वभाव है, न द्वेष मेरा स्वभाव है और जितने भी बाह्य पदार्थ हैं वह भी तो मेरे कुछ नहीं हैं। उनसे भी तो मेरा कुछ सुधार बिगाड़ नहीं है, फिर किसके लिये कपट और किसके लिये मायाचारी करना ? ऐसा सोचकर ज्ञानी जीव से कपट नहीं होता। व्यवहार में भी सीधे तो वह कपटी तो अपनी ही आत्मा को धोखा दे रहा है। आज्ञव धर्म तो कपट के छूटने पर ही मिलेगा।

मायाचार न होने से विराम व आराम—जिसके मायाचार न हो तो विकल्पों को विराम होता है। कुटिलता न हो तो मन स्थिर रह सकता है। कुटिलता से कोई सिद्धि नहीं है, फिर भी मोह का ऐसा ऊधम है कि यह जीव नाना गुन्तारे लगाया करता है और कपट करके किसी को छका दिया, दगा दिया तो उसमें वह अपनी रुद्धिमानी मानता है। पर लोग तो हम आपसे भी ज्यादा गुणी, बली, कर्मठ हैं। हम किसको दगा देते चले जायें। जो दूसरों को धोखा देते हैं वे खुद ठगये जाते हैं। सरल पुरुष की तो कुटिल लोग भी सेवा किया करते हैं। पर कुटिल का सेवक लोक में कोई नहीं होता।

कोई १०० साल के करीब की बात होगी जब यहाँ गदर हुई थी। लोग घरों को लूटने लगे। दिल्ली में एक सेठ जोहरी थे वे सरल परिणामी थे। सेठ ने सोचा कि लुटेरे आयेंगे तो वे भी तकलीफ पायेंगे और हमको भी तकलीफ देंगे। तो सब वैभव निकालकर आंगन में लगा दिया। अब लुटेरे लोग आये, देखकर दंग रह गए। अरे, ऐसा तो कहीं हुआ ही नहीं। सेठ जी यह तुमने क्या किया है कि सारा धन आंगन में रख दिया। सेठ बोला भैया यदि यह धन नहीं निकाल देते तो तुम्हारे समय की बरबादी होती और तुम्हें तकलीफ होती। इसलिए हमने इकट्ठा करके रख दिया। सेठ की सरलता को देखकर उन लुटेरों के मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। धन लूटना तो दूर रहा, चार पहरेदार दरवाजे पर उस धन की रक्षा के लिए खड़े कर दिये और दूसरों का घर लूटने चले गये। सेठ का धन सुरक्षित रह गया। तो जो होना है होता है, मायाचार का परिणाम रखने से कोई लाभ नहीं है।

कुटिल हृदय में धर्म का अप्रवेश व सरल हृदय में धर्मपुत्रता—यह आज्ञव धर्म पापों का नाश करने वाला है और सुख को उत्पन्न करने वाला है। जैसे जाप बनती है अर्थात् कांच की गुरिया, जिनसे माला बनती है, उनमें से किसी गुरिया में यदि टेढ़ा छेद हो तो उसमें लाख उपाय करो, माला में वह गुरिया नहीं फंस सकती। उसमें सूत्र नहीं प्रवेश हो सकता। इसी तरह जिसका हृदय टेढ़ा है, कुटिल है, मायाचार से पूर्ण है उसमें धर्म की बात प्रवेश नहीं कर सकती। सरल पुरुष उसको तुरन्त ग्रहण कर लेता। सरलता एक बड़ा गुण है। एक कोई धामनी गांव है, वहां कोई पंडित पहुँचे। मन्दिर में रात्रि को सब जैन श्रावक पहुँचे। पंडित जी ने उपदेश दिया कि देखो भैया ! रात्रि को पानी नहीं पीना चाहिये। रात्रि को पानी पीना खून के बराबर दोषकारी है। मनुस्मृति में भी ऐसा लिखा है। श्रावकों ने कहा, हाँ महाराज नहीं पियेंगे। रात्रि जल ग्रहण का त्याग कर दिया। दूसरे दिन सभा में एक-दो ही पुरुष आये। पहिले बहुत आते थे। तीसरे दिन पंडित जी ने पूछा—**भई भाई तुम**

सब कल रात्रि को क्यों नहीं आये थे ? कहा महाराज तुमने रात्रि को पानी छुटा दिया था सो महागज हम पूटे मुह तो मन्दिर न आते । क्या मतलब ? खाना तो खाते थे । भाई पानी रात्रि का छूटा, पर खाना तो नहीं छूटा । वे पानी न पीवें । जूठे मुंह मन्दिर कैसे आते ? अरे भाई जहाँ पानी का त्याग कर लिया वहाँ भोजन का त्याग स्वयमेव सिद्ध होता है । यह जानकर कि यहाँ के लोग बती, त्यागी तो हैं सो ऐसा समझकर वहाँ पंडित जी और ठहर गये । फिर वहाँ पर जैसा त्याग पंडित जी ने चाहा सबने स्वीकार किया । सरलता के आगे अगर कोई बाधक भी पहुँचे तो वह बाधक पुरुष भी नष्ट हो जाता है । यह मार्दव धर्म कर्मों के क्षय वा करने वाला है । इसी भाव का आचरण करो । दमलाक्षणी पर्व की सेवा असली यह है कि इस धर्म को अपनी शक्तिभर हिम्मत करके पालन करने में लग जावो । अब तक तुमने क्या किया ? जो हुआ सो हुआ, किन्तु अब तो धर्म मार्ग में अपने कदम बढ़ाओ । क्रोध को त्यागो, मान को त्यागो, और आज है मायात्याग दिवस । सरलता के आचरण में रहें, आर्जव का पालन करें और आर्जव के महात्म्यका श्रवण करें ।

तारिसु गिजयशित्त वित्तिज्जह, तारिसु अण्णहु पुण भासिज्जह ।

किज्जह पुण तारिसु सुससंचणु, तं अज्जवगुण मुणहु अवंचणु ॥

सरलता के कारण हानि का अभाव—जैसा अपने मन में विचार करें वैसा ही दूसरों को कहें और वैसा ही कार्य करें, यह सुखदायी निश्चल आर्जव धर्म है । बनारसीदासजी के मकान में एक चोर चोरी करने आया । उसने चोरी का सामान बटोर लिया और उसकी पोटली बांध ली । वह पोटली इतनी भारी हो गई कि उस चोर से उठी नहीं । सेठ जी ने क्या किया कि आये और चोर से कहा कि भाई, तुमसे यह उठती नहीं है, चलो मैं इसे उठाकर पहुँचा दूँ और यह कहकर वे उस पोटली को उठाकर साथ जाकर पहुँचा आये । चोरने गठरी ले जाकर अपनी मां को बताई । मां ने कहा आज इतनी बड़ी गठरी कहाँ से मार लाया ? चोर बोला कि बड़ा माल मार लाया, इसके मालिक ने इस गठरी को उठाकर स्वयं ही यहाँ तक पहुँचा दी, यह कितने आश्चर्य की बात है ? मां समझ गई और बोली अरे, यह माल बनारसीदास का होगा । वह बड़ा धर्मात्मा है, उसका धन तुझे नहीं पचेगा, तेरी बड़ी दुर्गति होगी । जा, मारा का सारा उसे वापिस करके आ । चोर को वह धन वापिस लाकर दे देना पड़ा । तो भैया, सरल पुरुषों की तो रक्षा करने वाला उसका सरल आर्जव परिणाम ही होता है और इसके विपरीत जो ऐसा सोचते हैं कि देखो हमने उसे कैसा चकमा दिया, कैसा छकाया तो ऐसे लोग तो प्रायः धोखा ही खाते हैं ।

कपटी का पराजय—व्यवहार में देख लो, जो अपने को कुटिलता और कपट में लगाये रखता है, उसकी क्या दशा होती है और जो सरल रहता है उसका सब आदर करते हैं । मायावी पुरुष का पूजा पाठ आदि धर्म करना सब निष्फल होता है । 'मुंह में राम बगल में छुरी' ऐसी दशा उनकी होती है, फिर धर्म कहाँ ? आर्जव धर्म मोक्ष मार्ग के पथ का सहयोगी है । मोक्ष को जल्दी प्राप्त करना चाहते हो तो आर्जव धर्म को अपने भाव में रखो । बस धर्म के साथ रहने से मोक्ष पथ पर जल्दी पहुँच सकते हो, नहीं तो चतुर्गति में थटकर ही रहना पड़ेगा । जो दूसरों से कपट करता है उसे स्वयं लज्जित होना पड़ता है । एक मजाकिया आदमी रास्ते में कहीं जा रहा था । सामने से एक स्त्री कमर पर घड़ा रखे और उसको हाथ से संभाले हुए पनघट से आ रही थी । उसने मजाक से, कपट से, छल से उस स्त्री से कहा कि—

किं मां निरीक्षसि घटेन कटस्थितेन, वक्त्रेण चारुपरिमीलितलोचनेन ।

अन्यं प्रपश्य पुरुषं तव कर्मयोग्यं, नाहं घटाङ्किततनुं प्रमदां स्पृष्टामि ॥

अपनी कमर पर घड़ा रखे हुये हे ब्राह्मणी ! तू गौर से मुझे क्यों देखती है ? इन अपने लोचनों से मुझको तू क्या देखती है ? अपने काम के योग्य किसी दूसरे पुरुष को देख । जिसके शरीर पर घट रहा हो उसे मैं छूना भी नहीं हूँ । अब वह स्त्री जवाब देती है कि—

सत्यं ब्रवीषि मन्त्ररध्वजवाणपीड, नाहं त्वदर्थं मनसा परिचिन्तयामि ।

दासोऽद्य में विघटितस्तव तुल्यरूपी, सो वा भयेन्न भवेदिति मे वितर्कः ।:

कामदेव के व्यसन से पीड़ित हे वारक पुरुष ! तू बिल्कुल सत्य बोल रहा है । मगर मैं मन से तेरे लिये नहीं विचार रही, परन्तु मेरा नौकर जो तेरी ही जैसी सकल का था, वह आज कहीं चला गया । मैं उसे देख रही थी कि वह नौकर तू ही है या और है । इस प्रकार सेर के लिये सवा सेर मिल गया । वह मजाकिया क्षम के मारे लज्जित होकर चला गया । कपटी को तो भैया ऐसा ही नीचा देखना पड़ता है, पग-पग पर निरावर सहन करना पड़ता है ।

कपट के कारण चित्त में उधेड़पन का कष्ट—कपट से कोई बात कही तो सोचते रहना पड़ता है कि तुरन्त वहाँ से जवाब न मिल जाये, नहीं तो लज्जित होना पड़ेगा । इस लज्जित न होने के लिये कपट को त्यागो । हमारे गुरुजी (पूज्य श्री १०५ भुल्लंक गणेशप्रसाद जी वर्णी) कहा करते थे कि हम तो सबकी बात जानते हैं कि किसके मन में क्या भाव है, परन्तु कहते इसलिये नहीं कि क्यों उसका जी दुखावें । इसलिये यह समझना चाहिये कि कहीं ऐसा नहीं है कि कोई मेरे कपट का कहीं पता नहीं लगा सकता । कपट को सब पहिचान लेते हैं, हाँ सज्जन उनकी उपेक्षा कर जाते हैं । आप कपट करके यह न सोचें कि भाई हमारा काम तो निकल जाता है, किसी को हमारे कपट का पता नहीं चलता, परन्तु ऐसा नहीं है । पता तो अवश्य चलता है, परन्तु सज्जन पुरुष उस कपट को प्रगट करके आपका दिल नहीं दुखाना चाहते । कुटिल परिणामों का त्याग करने में ही आर्जव धर्म है । आत्मा में जो भी सम्यग्दर्शन के भाव प्रगट होते हैं वे सब आर्जव धर्म से प्रगट होते हैं भैया, धर्म ही और क्या है ? अपने स्वभाव में आ जाना और विभाव परिणाम हट जाना, यही तो धर्म है । कपट के त्याग करने पर आत्मा स्वयं आर्जव रूप रह जाती है । बस, जहाँ विभाव हटा धर्म स्वयमेव हो गया । आवश्यकता तो विभाव हटाने की है । इसलिये कपट मत करो ।

मायाचार द्वारा स्वयं की बञ्चना—अपनी रात दिन की चर्या को देख लो कि मायाचार करके कौनसा नफा पा लिया जाता है ? तुम्हारी दूकान भी ठप्प हो जाय, रोजगार न चले, वहाँ यह झूठा भ्रम है कि मायाचार करके दूकान चलती है । अगर ग्राहकों को यह पता चल जाता है कि यह दूकान पर मायाचार करता है तो उस दूकान को ग्राहक छोड़ देंगे । जब तक ग्राहक दूकानदार को सही समझते हैं तब तक ही दूकान चलेगी, मन में हो-सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सो करिये । बस यही आर्जव धर्म है । सो ऐसे आर्जव गुण को हे भव्यो, पालन करो । आर्जव धर्म से खुद की भलाई है, ठगार्ई नहीं है । एक बार चिरोंजाबाई जी गुरु जी से बोली कि तुम जहाँ चाहे ठगाये जाते हो । १० आने सेर अनार मिलता है और तुम १२-१३ आने सेर खरीदते हो । तो गुरु जी बोले, मां ठगाये जाते हैं पर दूसरों को ठगते तो नहीं है । दूसरों को ठगने में पाप है, स्वयं ठगाये जाने में कोई पाप नहीं है । हम ठगाये गये तो हममें क्रूरता तो नहीं आधी, पापब्रह्म तो नहीं हुआ, भविष्य का मार्ग तो साफ रहा । अगर दूसरों को ठगना चाहें तो लुटिया डूब जाती है और दूसरे अपने को ठग लें तो अपने ऊपर कोई पाप नहीं लगता है ।

प्रवञ्चना की अपोव्यति—एक बार जगल में सन्यासी बैठा था । भूला भटेका एक सेठ का लड़का वहाँ पहुँच गया । वह लड़का खूब सोने रत्न के आभूषण पहिने हुए था । सन्यासी को यह देखकर लोभ आ गया । सब गहने उस सन्यासी ने उतार लिये और उसकी जान से मारने लगा । हीगा कोई वैसा ही सन्यासी । लड़के ने कहा—मुझे जान से मत मारो, नहीं तो तुम्हारी यह बात छिपीगी नहीं, कोई न कोई कह ही देगा । अरे यहाँ कौन है कहने के लिए ? एक चिड़िया तक भी तो नहीं है । ये पानी के बबूले उठ रहे हैं और यहाँ कौन है ? तो

लड़का बोला कि ये बबूले ही वह दैंगे। खैर मार डाला, गाड़ दिया। शहर में बेचैनी फैली। सी. आई. डी. लम गई। होते-होते एक पुरुष उस साधु के पास पहुँचा और बड़ा भक्त बन गया। बड़ी सेवा करे हर प्रकार से। सो जब १०-११ महीने हो गए, गुरु को बड़ा विश्वास हो गया उस शिष्य पर। एक दिन गुरु जी की सेवा कर रहा था, पैर दाब रहा था वह। गुरु जी तो खूब मस्त थे, बरसात के दिन थे पानी के बबूले देखकर गुरु जी को हंसी आ गई। शिष्य ने पूछा, महाराज क्यों हंसी आई? इसका कारण तो बतलावो? जब कोई भक्त होता है तो उससे कहने में कोई हिचक नहीं होती। बोला—वह बेवकूफ लड़का कहता था कि ये बबूले ही बात कह दैंगे। सारी बात बता दी। बस वह तो सी. आई. डी. का आदमी था जो बड़ा भक्त बनकर रहता था। अब झट कोतवाली गया बता दिया कि सेठ साहब के बच्चे को मारते वाला यह संन्यासी है। उसे मिरफतार करा दिया। लो, बबूलों ने कपट बता दिया। जिस समय यह जीव पापों के परिणाम करता है उसी समय कर्मबंध हों जाता है, और कर्म बंध जाना यह सबसे बड़ा दण्ड है। यह अर्जव धर्म अचक्रक है। इसका मन से पालन करो।

मायासल्लमणेहु शिष्यारहु, अज्जउ धम्म पडित्त पियारहु।

वउ तउ मया वियउ शिरत्थउ अज्जउ सिव्वपुर पंथ सत्तथउ ॥

मायासल्य के निवारण का आदेश—हे शिष्यजनों! मायासल्य को मन से निकालो। शल्य तीन होते हैं—(१) शिष्यात्व, (२) निदान और (३) माया। कषाय शल्यों से अलग है। कषायों को शल्य में नहीं लिया। मायाच्यूर ऐश्वर्य होता ही है। समने कुछ कहें और परोक्ष में कुछ कहें। ये सब मायाचार की ही बातें हैं। ऐसी बात जब हृद्य में रहती है तब शल्य बन जाता है। जैसे कांटा कमीनी आदि लग जाये तो दुःख देते हैं, इसी प्रकार मायाचार क्लृप्त में धर कर जाये तो यह महान दुःख देता है। सो मायाचार शल्य को निकालें यही आर्जव धर्म का पालन है। इस आर्जव धर्म की उपयोगिता पर सदा विचार करो। आर्जव धर्म से नरभ्रम की सफलता है। मायाचारी जीव का व्रत करना, तप करना, धर्म करना यह सब निरर्थक है।

कपट की अस्थिरता—एक गीदड़ को कहीं शेर की खाल मिल गई और एक कागज का टुकड़ा कहीं से मिला गया। वह उस खाल को पहिनकर जंगल के सब जानवरों के पास गया और उनसे कह-कागज का टुकड़ा दिखाते हुये कहने लगा कि मुझे भगवान के यहाँ का यह परवाना मिला है कि तुम आज से जंगल के राजा हो गये। इसलिये आज से तुम सब मेरी आज्ञा में चला करो। सब उसको आज्ञा में रहने लगे। वह बड़ा सम्मान पाने लगा। आषाढ़ के महीने में जब पानी बरसने लगा तो उसकी जाति के सब गीदड़ 'हुआं-हुआं' करने लगे। अपनी बोली होने के कारण वह भी 'हुआं-हुआं' चिल्लाने लगा। शेर ने उसे 'हुआं-हुआं' बोलते हुये सुन लिया और उसे कपटी समझ लिया। अतः इसे तुरन्त मार दिया। इसी तरह जो आदमी कपट करता है उसका कपट अधिक दिन टिक नहीं सकता। जो चीज यथार्थ नहीं होगी वह कभी नहीं टिकेगी। सदा टिकने वाली चीज तो कपट रहित ही है। कपटी अपनी शान बढ़ाने वाला जीवन में छोखा छाता है। कपट से तो बड़ी-बड़ी वेश्यायें भी धनी बन जायें, पर उनके धर्म नहीं होता। कपट से कमाया हुआ धन न दान में और न भोग में लग सकता है। न्याय से कमाया धन ही धर्म में लग सकता है।

कपटाजित धन का सत्कर्म में, चर्म में उपयोग होने का अभाव एवं अपव्यय—एक वेश्या थी, उसने बहुत धन कमाया। अब उसने सोचा कि मैंने पाप तो बहुत किये, चलो अब इस पाप से कमाये हुए धन को दान करके आवें। दान करने के लिये उसने गंगा के किनारे जाने की विचारी। एक ठग ने देख लिया और उसका विचार भी किसी तरह जान गया। वह गंगाजी के तट पर बदन में भस्म रमाकर समाधि में बैठ गया। वेश्या वहाँ जाकर देखने लगी कि कौन से महात्मा उसके दान के योग्य हैं ताकि बड़े अच्छे महात्मा को दान दे दूँ।

वही ठग महात्मा उसे पमन्द आये। बहुत देर हाथ जोड़े खड़े रहने के बाद महात्माजी ने अपनी समाधि धीरे-धीरे आँख खोलकर भंग की और वेश्या से पूछा कि तुम कौन हो? तब उसने बताया कि मैं वेश्या हूँ और दान देने आई हूँ। वे बोले कि तू वेश्या हो फिर हम इतने बड़े महात्मा से बात करती है? इसका तो बड़ा प्रायश्चित्त होता है। तू क्या दान करती है? महाराज मैं अपनी सारी सम्पत्ति दान करना चाहती हूँ। महाराज ने स्वीकार किया। उसने सारी सम्पत्ति दी और खीर-खांड के भोजन कराये। ठग महाराज ने उसकी सम्पत्ति लेकर कई तरह से सकल कराये, फिर अन्त में एक दोहा पढ़कर आशीर्वाद दिया—“गंजाजी के घाट पर खाई खीर अरु खांड। पीका धन पी ही गया तुम वेश्या हम भांड।” अर्थात् पाप का धन पाप में ही चला गया। भैया! यह बात सयुक्तिक है कि कपट से कमाया धन, दया धर्म आदि में भी नहीं लग सकता। उसे तो ठग ही ठग ले जायेंगे। इसलिये कपट को मन से निकालो। अपनी श्रद्धा करो। अपने चैतन्य स्वभाव पर विश्वास करो। अपने भाइयों के साथ, मां बापों के साथ, छोटे बड़े सबके साथ सरलता का व्यवहार रखो। कपट करने की क्या आवश्यकता है? कपट भाव को मन से बिल्कुल निकालकर शुद्ध आर्जव धर्म को धारण करना चाहिये।

आर्जव का परमार्थस्वरूप—निश्चय से आर्जव का क्या स्वरूप है? जगत के बाह्य पदार्थों आदि में राग, द्वेष, आदि व्यवहार के परिणाम से जो नहीं रहता है, ऐसे अनादि अनन्त, अहेतुक ज्ञानस्वभाव की आराधना से जो अपने आपका अनुभव आये ऐसे अनुभवस्वरूप परमात्मा के अवलोकन को ही वास्तविक सरलता कहते हैं और यही आर्जव का वास्तविक स्वरूप है। बाह्य लक्ष्य से कुटिलता उत्पन्न होती है। जहाँ बाह्य लक्ष्य ही नहीं है, वहाँ कुटिलता की आवश्यकता क्या है? किसी वस्तु से राग हुआ, किसी से द्वेष हुआ, किसी को इष्ट समझा, किसी को अनिष्ट समझा तभी तो कपट का परिणाम हुआ। अपने स्वरूप को समझो, मैं तो एक शुद्ध निर्विकार, निरंजन ज्ञानस्वभाव ही हूँ जिसका, ऐसा आत्मा है। इसी प्रकार की श्रद्धा करो, कुटिलता का परिणाम रहेगा ही नहीं। सरलता अवश्य आ ही जावेगी। जो माया करता, वह तिर्यञ्च योनि में जाता है ‘माया तैर्यग्योनस्य’ ऐसी-ऐसी दुःखमय पर्यायों इस माया के परिणाम से हुआ करती है, जिनको सुनकर भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। सरल और सत्य व्यवहार प्रत्येक मनुष्य से करना चाहिये। कपट किसी से नहीं करना चाहिये। वास्तविक आर्जव धर्म तो यही है कि सर्व जगत् के बाह्य पदार्थों का लक्ष्य त्यागना और अपने आप में पाप की प्रवृत्ति नहीं करना। बात वह बोलो जिससे कपट करने की इच्छा ही नहीं रहे और फिर किसी प्राणी से क्षमा न मांगनी पड़े, अर्थात् प्रत्येक प्राणी के हित की ही बात सोचना। ऐसा आर्जव धर्म का वास्तविक स्वरूप है। कपटी पुरुष यह सोचता है कि मेरा कपट प्रकट ही नहीं हो सकता, परन्तु कपटी का दिल स्वयं निर्बल होता है। जिससे कपट प्रकट हो ही जाता है। प्रच्छन्न पाप भी कभी छुपता नहीं है। लोक में भी कहते हैं कि कुएं में किया हुआ भी पाप प्रगट हुए बिना नहीं रहता।

निर्माय होकर आत्मदर्शन के पौरुष का आदेश—भैया! मनुष्य जीवन पाया है तो चाहे गृहस्थ हो, चाहे त्यागी हो, चाहे साधु हो, एक ही उद्देश्य होना चाहिये कि मैं जिस किसी प्रकार समस्त कुटिलताओं से रहित सरल ज्ञानानन्दस्वरूपी अपने आत्मा को देख लूँ, और मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। जैसे कोई निष्कपट प्रभु का भक्त होता है तो वह केवल निःस्वार्थ प्रभुभक्ति चाहता है। इसी प्रकार जो आत्मदर्शी पुरुष होता है वह निश्चल निःस्वार्थ केवल एक ही उद्देश्य रखता है कि मुझे आत्मदर्शन हो। केवल ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा मेरा ध्यान बने, यही धर्म का उत्कृष्ट पालन है। तो हमें इन मायाचारी परिणामों को तो अपनाना नहीं चाहिये। आपत्तियाँ आती हों उन्हें सहन कर लें, दरिद्रता आती हो आये, धन विगड़ता हो विगड़े, ये सब साधारण चीजें हैं किन्तु मायाचार का परिणाम होगा अंतरङ्ग से तो यहाँ अत्यधिक विकल्प मायाचार से गंदा और किसको कहेंगे? क्रोध होता है होओ,

मगर मूल में गंदगी न आयी, मान होना था हो गया, पर मूल में गंदगी न रही, पर मायाचार के मूल में तो गंदगी ही रही, मायाचार के मूल में तो गंदगी बसी है। लोगों को मालूम पड़ जाय कि बड़ा छली, कपटी, धोखेबाज है तो फिर लोग अपने पास भा नहीं बैठने देंगे। मायाशाल्य इतनी बुरी परिणति है। माया की बात ही क्या है ?

माया की मायाचारी द्वारा व्यक्तता—एक राजा था, वह अपने वगीचे में घूम रहा था। एक सेव पेड़ के नीचे सुखे गोबर पर पड़ा हुआ था। सेव लाल, पुष्ट और बड़ा अच्छा था। उस सेव को राजा ने उठा लिया और पोंछकर खा लिया। अब दोपहर को दरबार पहुँचे। दरबार बड़ा सजा-धजा था। नृत्य करने वाली का नृत्य गान हो रहा था। जो नर्तकी थी उसने कोई गाना गाया। दूसरा गाया, तीसरी बार उसने यह गाना गाया जिसकी टेक है, “कहि देहो ललन की बतियां” सो राजा ने यह सोचा कि इसने मुझे सेव उठाकर खाते हुए देख लिया है सो यह कह रही है कि कहि देहो ललन की बतियां। अभी तो यह मुझसे कह रही है शायद सबसे कह ही न दे, तो ऐसा सोचकर राजा ने उस गाने पर नर्तकी को एक सोने का आभूषण उतारकर दे दिया। उसने तीन-चार बार वही गाया। तीन-चार बार राजा ने गहने उतार कर दे दिए। नर्तकी सोचती है कि यह तो कोई बहिया राग नहीं है, कोई ठुमरी गाये। सो ठुमरी गाने लगी। इस पर राजा ने कोई इनाम नहीं दिया। फिर मोचा नर्तकी ने कि महाराज तो उस गाने पर ही खुश हैं। उसने फिर वही गाया। सो फिर राजा ने इनाम दिया। जब सेव गहने उतार गये तो कहा बता दे हैं। ललनकी बतियां। अरे यही तो कहेगी कि राजा ने गोबर परसे सेव उठाकर खा लिया।

आत्महितविराधक मायाचार को त्यागने का आदेश—अभी आज तक दमलाक्षणी पर्व के दिन हैं। शायद कोई हरी नहीं खाता होगा। बच्चे भी नहीं खाते हैं, और कोई लड़का ककड़ी खाकर आया हो और झूठमूठ ही उससे कह दें कि देखो यह क्या लगा है तो बच्चों हाथ फेरने लगेगा। लगा कुछ नहीं था, मगर ककड़ी खाई होगी तो हाथ जरूर मुख पर पहुँच जायगा। बहुतों की चोरी यों ही निकाल ली जाती है। मायाचार से आत्मा के हित की कोई सिद्धि नहीं है। लोग यह सोचते होंगे कि मायाचार से कुछ यश बढ़ा लेंगे, मायाचार से कुछ धन बढ़ा लेंगे। भाई अनन्त काल भटकते-भटकते कीड़े मकोड़े, वृक्ष आदि पर्यायों में रलते-रलते आज श्रेष्ठ मन वाला जन्म पाया है तो इ ; वैभव के पीछे मायाचार करके अपने संसार को न बढ़ाओ। इस संसार में कोई किसी का साथी नहीं है। केवल अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य का परिणाम ही रक्षक है। सो यह आजर्जव धर्म शिवपुर का सुन्दर मार्ग है। मुक्ति इष्ट है, संसार के संकटों से छूटना अभीष्ट है, शरीर और कर्मों के बंधन से रहित होकर कैवल्य अवस्था यदि अभीष्ट है तो इस आजर्जव धर्म को अंगीकार करो।

जल्य कुटिलपरिणाम चइज्जइ तहि अज्जउ धम्मजु संपज्जइ ।

दंसणणण सरूव अखण्डउ परम अतीन्द्रिय मुक्खकरंडो ॥

कुटिल परिणामों के कारण स्वयं पर अन्याय—जहाँ पर कुटिल परिणामों का त्याग होता है वहाँ ही आजर्जव धर्म उत्पन्न होता है। कोई पुरुष कुटिल परिणाम करके, मायाचार करके समझता है कि मैंने अमुक को खूब छकाया, खूब धोखा दिया, पर भैया कोई दूसरे को धोखा नहीं दिया करता है, खुद ही धोखा खाता है। अनन्त ज्ञान, दक्षिण, सुख शक्ति के धारक इस निजनाथ को विकल्प आदि मायाचार परिणाम करके इसने आँखों से ओझल कर दिया ! इसे अब अपना आनन्दमय स्वरूप नहीं दिखता है। यह कितना बड़ा भारी अन्याय है अपने आपके प्रभु पर ? प्रभुपूजा करते हैं और अपने आप में यह समझ न बैठ पाये कि जो प्रभु का पद है, जैसा वह अनन्तज्ञान अनन्त सुखादिका धारी है इस प्रकार का परिणाम मेरे नियम से हो सकता है। इसमें रंच भन्देह नहीं। इतनी बात यदि नहीं समा सकती है तो बतलाओ कर्मों के क्षय का फिर उपाय कहाँ से प्रकट होगा ? धर्म में बसने वाले लोगों से धर्मानुकूल व्यवहार करो। जो आपकी दुकान की आय से बजट बने उस बजट में पोषण करो न उन्हें शान से

रख सकें तो भाई आप लोगों का उदय ही ऐसा है। जैसा मम्भव है धर्मानुकूल व्यवहार कर लो। कुटिलता से तो कार्य की सिद्धि नहीं है। कार्यों की सिद्धि तो शुद्ध भावों से है। शुद्ध भाव होंगे तो पाप खिर जायेंगे, पुण्य का रस बढ़ जायगा, अच्छे दिन सापने आ जायेंगे और नहीं तो तत्काल शान्ति तो रहेगी। मायाचारी पुरुष कब शांत रह सकता है? भैया, माया रहित शुद्ध परिणाम हों बालकवत्। बच्चों में कपटी की बात कभी नहीं देखी जाती है, और कभी देखी भी जाय तो समझ लो कि बाप का या बड़े भैया का असर पड़ गया है। छोटे बालकों में ऐसी बुद्धि कहाँ से आ जाये? वे कपट कैसे सीख सकते?

सरलता का अन्य पर प्रभाव—एक बार दो-तीन लड़के कालेज पढ़ने जा रहे थे। रास्ते में देखा अस्पताल के सामने एक बुढ़िया बैठी थी। बच्चों ने पूछा बुढ़िया माँ तुम यहाँ क्यों बैठी हो? कहा बेटा दवाई चाहिए। बड़े-बड़े लोग तो भीतर घुस जाते हैं और दवा ले आते हैं। पर हमें कौन घुसने दे? सरकारी अस्पताल है। बच्चों ने सोचा कि हमारा पढ़ना बेकार है। हम किसलिए पढ़ते हैं? हम एक ऐसा अस्पताल खोलेंगे कि जिसमें गरीबों को ही दवा मिलेगी। संकल्प कर लिया कि एक बहुत बड़ा अस्पताल खोलेंगे। सबने सलाह किया। एक बजट ५ लाख का बनाया। बातों से तो काम न चलेगा। इतना पैसा कैसे इकट्ठा हो? सबने सलाह किया कोई हर्ज नहीं। आपस में ही किसी नेता को सभापति बनाया गया, कोई मंत्री बनाया गया, किसी को कोषाध्यक्ष बनाया। सब गांव के बड़े-बड़े लोगों से मिले। बताया सारा हाल। किसी से कुछ दो चार हजार रुपया इकट्ठा किया। पर ५ लाख कैसे इकट्ठा हो? खैर, जो पाया सो जमा कर दिया।

एक पुरुष ने उन बच्चों से मजाक कर दिया—क्योंकि गांव के जो सबसे बड़े धनी थे मानो करोड़पति थे पर कंजूस थे सो कहा कि उनके पास जावो, उनसे दो लाख का सवाल करो। २-लाख मिल जायेंगे तो बाकी सब काम बन जायगा। पहुँचे वहाँ लड़के। सेठ से कहा हमारी यह स्कीम है, यह सभापति है, यह मंत्री है, यह कोषाध्यक्ष है, हमें आपसे और कुछ नहीं चाहिए, केवल २ लाख रुपये मिल जायें और बाकी २-३ लाख का प्रबंध हम कर लेंगे। सेठ ने नहीं दिया, लड़कों ने हठ ठान लिया कि हमें इनसे लेना ही है। उनकी हवेली के सामने बैठ गये। दो दिन हो गये, तीन दिन हो गये, भूखे बानक वृद्ध शुद्ध भाव से। सेठानी नीचे उतरी, बालकों से पूछा—क्यों बैठे हो? बालक बोले—हमें अस्पताल खोलना है उसके लिए हमें सेठ जी से २ लाख रुपये चाहियें। सेठानी ने कहा ठहरो, कोई बात नहीं, हम देंगे। लड़कों ने कहा हम तो सेठ जी से ही लेंगे। सेठ ने उन्हें बुलाया प्रेम से पूछा—क्या है बेटा तुम्हारी स्कीम? लड़कों ने बताया। तुम्हारा कुल बजट कितने का है? ५ लाख का। अच्छा तो २ लाख नहीं बेटा तुम और कहीं न मांगने जावो, हम से यह ५ लाख का चेक ले लो। सेठ बोले—हम तो सदस्य बनेंगे नहीं, तुम सब अपना काम करो।

सरलता में लाभ—सरल बच्चा हो तो बाप उसको कितनी जल्दी मुख सामग्री देता है? और यदि बच्चा कुटिल हो, चक्रमा देता हो तो बाप उसकी पूछ नहीं करता है। कोई जगह आपको सरलता से विजय मिल जायगी, पर मायाचार करके विजय नहीं मिलेगी। क्योंकि मायाचार झूठी और छोटी बातों को लिये है। छोटी बातों पर उतारू होना यह कार्य अच्छा नहीं है। बुरे कार्य के लिये कोई कदम बढ़ाये तो उसे कैसे सफलता हो सकती है? आर्जव धर्म वहाँ है जहाँ कुटिल परिणाम का त्याग हो जाता है। जहाँ ज्ञानस्वरूपी यह आत्मा उपयोग में हो, वहाँ आर्जव धर्म होता है। मुख के लिये बहुत उपाय तो किया और कहीं से मिला भी कुछ नहीं और सब अपने-अपने मन में अन्दाज लगा लो। इतनी उम्र तक कितनी ही सेवायें की, सब कुछ किया, पर दूसरों के हाथ कुछ नहीं लगा। एक उपाय और कर लो कि किसी क्षण दो-चार मिनट किसी स्थान पर बैठकर सबको एकदम भूल जावो। एक-दो को भी चित्त में मत रखो, एक साथ सम्पदा को, घर को, शरीर को सबको भूल जावो। किसी को

उपयोग में स्थान न दो। ऐसा दो मिनट भी तो कर लो। इतने से क्या बिगड़ता है? यदि भीतर से यह निजनाथ दर्शन दे देगा तो अनन्तकाल के लिए भला हो जायगा। यह बात, यह प्रयत्न तब हो सकता है जब परिणामों में कुटिलता न बसी हो, सरल वृत्ति हो। दर्शन ज्ञानस्वरूपी अखण्ड अतीन्द्रिय मुख का भण्डार आत्मा का दर्शन उसे ही जाता है जो कुटिल परिणामों को त्यागता है।

एक गृहस्थ के एक बछड़ा था, सो वह उसे दो पैसे का घास रोज खिलाता था। एक ऐसा गिरमा भी आता था जो घास बटोरकर ही बनता था। बछड़ा उस गिरमा को खाने लगा तो वह गृहस्थ बोला कि चाहे गिरमा खा लो, चाहे दो पैसे की घास खा लो। खच हम दो ही पैसे करेंगे।

अप्ये अप्पउ भवहृतरंडो एरिसु चयणभावपयंडो।

सो पुण अज्जउ धम्मो लब्भइ अज्जवेण वैरियमण खुब्भइ ॥

आर्जव धर्म की भवतारणता—यह आर्जव धर्म अपने में ही अपने आत्मा को भव समुद्र से तराने वाला है। यह आर्जव भी तब ही होता है जब अन्तर में कषाय कम हों। ऐसा कोई जीव न मिलेगा कि जिसके क्रोध तो बिल्कुल न हो और मान हो, या मान बिल्कुल न हो क्रोध हो, माया और लोभ न हो ऐसा नहीं है। सभी जीवों के ये चारों कषाय रहती हैं। हम उस १६वें गुणस्थान की बात नहीं कह रहे हैं। हम तो यहाँ की बात कह रहे हैं। किसी में कोई कषाय मुख्य होती है, किसी में कोई कषाय। नरक गति में क्रोध कषाय मुख्य है, तिर्यञ्च गति में माया मुख्य है, मनुष्य गति में मान कषाय मुख्य है और देव गति में लोभ कषाय मुख्य है। मनुष्यों में लोभ की प्रबलता नहीं होती है, मान कषाय की प्रबलता होती है। अभी कोई नाम खुदाने की बात आये तो ले लो दो हजार, दस हजार, पच्चीस हजार। नाम की बात आये तो रण में प्राण दे दें। अपने प्राण गवां दें। यह नहीं कि मान ही मान हो, उसके साथ-साथ अन्य कषायें भी चलती हैं। वे अन्य कषायों से कषायों के पोषक बनते हैं। तो आर्जव धर्म में उसकी प्रगति हो सकती है जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ भी शांत हो रहे हों। भया जिनके कषाय शांत हैं वे भव से तिर जाते हैं। ऐसा प्रचण्ड जो चैतन्यभाव है वही एक आर्जव है। जीव परेशानियों से थक कर सन्मार्ग में चलने की चाह करता है, किन्तु विवेकी वह है कि किसी बात से थके बिना ही अपने आप ही वस्तु का सत्यस्वरूप जानकर अपने आप में अपने शरण के दर्शन करे।

परमार्थतः स्वके ही जानने को शक्यता—हम जितना भी जानते हैं यह सब अपने आपको ही जान रहे हैं। चौकी को हम नहीं जान रहे, पर कहते जरूर है कि हम चौकी को जानते हैं। हम इन भाइयों को नहीं जान रहे हैं। हम सदा अपने आपकी जानभूमिका में जो परिणमन होता है, ज्ञेयाकार परिणति होती है उसको ही जाना करते हैं। जैसे—हम दर्पण को देखकर पीछे खड़े हुए बच्चों की हरकतों को बताने सकते हैं कि अमुक ने हाथ उठाया, अमुक ने पैर चलाया, पर हम एक भी लड़के को नहीं देख रहे हैं। हम दर्पण को ही देख रहे हैं पर पीठ पीछे खड़े हुये लड़के देख रहे हैं। जिसका जैसा परिणमन है उस ही रूप छाया रूप परिणमन दिख रहा है। इसी प्रकार हम परमार्थ से अपने से बाहर एक वस्तु को भी नहीं जानते हैं, पर ये सब वस्तुयें जैसी हैं उस प्रकार के छाया रूप जानरूप से, ज्ञेयाकार रूप से परिणमे हुये अपने इस असंख्यातप्रदेशात्मक आत्मा को ही जानते हैं और इसको जानकर ही सारा बयान कर डालते हैं। यही एक धर्म है कि जो हम अपने सहज स्वरूप को जान जायें। सोचो यदि मेरे साथ ये कर्म न होते, शरीर न होता तो मैं किस हालत में होता? ऐसा अनुमान करके उस अनुमान में उतरे हुए परिणमन को ही उपयोग में लें तो इस उपयोग में वह सहज चैतन्यस्वभाव आत्मतत्त्व ज्ञात हो सकता है। ऐसा प्रचंड यह चैतन्यस्वरूप है।

निज प्रभुस्वरूप का तिरस्कार न करने का संदेश—आर्जव धर्म, जिसके पालने से भेरा मला है

इस ज्ञायकस्वभाव का यदि हम तिरस्कार कर दें, अपने को मलिन मायाचार परिणाम वाला बनाकर इस अपने प्रभु का तिरस्कार कर दें तो कर दें, क्या इस ज्ञायकस्वरूप प्रभु का तिरस्कार ही जायगा ? इसकी याद बड़े बड़े योगी-जन किया ही करते हैं। यदि मोहियों ने, मायाचार व छलके रोगियों ने इस ज्ञायकस्वरूप का तिरस्कार कर दिया, प्रभु के स्वरूप से दूर हो गये तो तिरस्कार उस प्रभु का नहीं हुआ, वह तो महान् ही रहेगा किन्तु तिरस्कार इन व्यक्तियों का ही होगा। इस जीव का ही होगा संसारभ्रमणरूप अपमान। एक बार राजदरबार में बहुत दिन ही गये, दो चार कवियों का राजा ने न विशेष आदर किया और न कुछ पारितोषिक दिया। तो कुछ दिन बाद जब राजा ने कहा कि तुम भी कुछ सुनावो तो एक कविता सुनाता है—**त्वं चेन्नीचजनानुरोधनवशादस्मासु मंदादरः,** का नो मानद मानहानिरियता स्यात्किं त्वमेकः प्रभुः। गुञ्जोपुञ्जपरम्परापरिचयादिभल्लीजनैरुद्विक्तं मुक्तादामनिधाम धारयति किं कण्ठे कुरङ्गीदृशाम् ॥ कवि सुना रहा राजा को ही कि हे राजन् ! तुम यदि तुच्छ व्यक्तियों के अनुरोधवश हम लोगों में यदि मंद आदरवाले हो गये तो हे मानके देने वाले राजन्, क्या तुम्हारी प्रवृत्ति से मेरी हानि हुई ? क्या इस लोक में केवल तुम ही प्रभु हो ? गुमची होती है ना, जिनसे सोना तोला जाता है उन गुमचियों के समूह से जिसका परिचय है ऐसे जो जंगली लोग हैं उनको यदि गजमुक्ता मिल जाय तो वह उन मोतियों का भी उपयोग पैरों के घिसने के लिये करता है। यदि ज्ञान न होने से मोतियों का तिरस्कार उसने किया तो क्या बड़ी-बड़ी रानियों के गले में वह रत्न शोभा को प्राप्त नहीं होता है ? कोई गृहस्थ पुरुष, मायाचार में बर्तने वाला यदि ज्ञायक स्वरूप प्रभु का तिरस्कार कर दे तो क्या यह नाथ उसके सन्मान किये से ही उत्कृष्ट होगा ? अरे बड़े-बड़े योगीजन, विवेकी पुरुष इस ज्ञायकस्वरूप प्रभु का आदर करते ही हैं। परिवार के आदर से क्या मिलेगा ? सारी जिन्दगी गुजार दिया, बुढ़ापा भी देख लिया, कितना हाथ आया है ? हमारी और आपकी ही बात नहीं, सभी की बात है। परमेष्ठी का आदर ही और आत्मस्वरूप का आदर ही तो इस आत्मबल के प्रसाद से इस ससारसमुद्र से तिर जायेंगे, सदा के लिये संकटों से छूट जायेंगे। अपने जीवन में संकटों का विस्तार एवं मायाचार नहीं करना है। मायाचार न करो, सरलता से रहनेपर यदि धनहानि भी होती है तो होने दो। इससे आत्मा की हानि नहीं है, पर कलुषित परिणाम हो जाने से ही आत्मा की दुर्गति है। इस कारण आर्जव धर्म की उपासना करो।

अञ्जउ परमप्यउ गयसंकपउ, चिम्मिति सासय अभयपऊ ।

तं गिरुजाजिज्जइ संसउ हिज्जइ पाविज्जइ जिहि अचलपऊ ॥

निरुपाधि सरल अंतस्तत्त्व की सेवा करके सत्य सरल बनने का अनुरोध—यह आर्जव धर्म परमात्मस्वरूप, संकल्पविकल्प रहित है, चैतन्यस्वरूप है, शाश्वत है, आगमरूप है। हे भव्यजनों ! जो इसका ध्यान करता है और निःशक होकर प्रालन करता है उसे नियम से मोक्ष म्द की प्राप्ति होगी। ऐसा मनोबल बढ़े, ऐसा आत्मबल बढ़े कि जो मन में है वही काय से किया जाय, वही वचन से बोला जाय। अपने ही परिणाम अपनी शरण हैं, दूसरों से पूरा नहीं पड़ सकता है। लोग कहते हैं कि आजकल कपट बिना गुजारा नहीं होता, ऐसा सोचना भ्रम है। अब भी कितने ही ऐसे-ऐसे व्यापारी देखे गये हैं जो निश्चय कर लेते हैं कि हमको एक रुपये पर केवल इतनासा ही नफा लेना है। वह चाहे आपसे झूठ बोलते रहें, फिर भी यदि कोई व्यक्ति उस सीमा से अधिक देवे तो उस वे लौटा देते हैं। भ्रान्त तो इसमें है जो थोड़ा भी असत्य आदि का बोझ भी न लादा जाय। अन्तरङ्ग की बात जो है वह साफ तौर पर बयान कर देनी चाहिये ताकि सब लोग तुम्हारा विश्वास करें। आत्मा के स्वभाव को देखो यह आत्मा अकेला ही जायेगा। कोई कपट वपट हमारा साथ नहीं देगा। कपट का त्याग करो, आर्जव धर्म की भावना करो, उसी से तुम्हारा कल्याण होगा। निरन्तर रागद्वेषादिक औपाधिक कुटिल भावों से रहित सरल ज्ञानमय स्वभाव के दर्शन करते रहो। इसी में कल्याण है।

विकास का स्रोत सरलता और कषायों से दूर रहना—लोग अपना विकास करने के लिए अनेक कूट नीतियाँ अपनाते हैं। मायाचार—बुद्ध, करना कुछ, अनेक दंदफंद बना-बनाकर चाहते यह हैं कि मेरा विकास हो लोक में, मेरा सम्मान हो, इतिच्छा हो, लेकिन वह तो सोचिये कि अन्याय, कूटनीति, मिथ्याव्यवहार करके लोगों के दिल में क्या किसी ने अपना घर बना पाया ? और अपने आपके आत्मा में किसने महत्त्व पा लिया ?

विकास का यदि स्रोत है कुछ तो यह है सरलता। सरलता का नाम आर्जव। आर्जव शब्द संस्कृत का शब्द है, यह शब्द मन्त्र से बना। सरल के भाव को आर्जव कहते हैं। अब आप सरलता और माया—इन दोनों में अन्तर देख लीजिए। माया है कषाय और माया का जो उल्टा है उसका नाम है सरलता। देखो कषायें चार होती हैं ना ? क्रोध, मान, माया, लोभ। रोष नाम क्रोध का है। यह रोष शब्द ही यह बतलाता है कि इसके उल्टे बनो तो तुम्हारा भला होगा। रोष का उल्टा है सरो। काम सरना, काम बनना, हित होना, इसी को कहते हैं अपना काम करना। रोष के उल्टा चलो तो उसमें आपको विकास मिलेगा। दूसरी कषाय है मान। मान शब्द ही कहता है कि यदि किसी को अपनी उन्नति करनी है, अपनी भलाई करनी है तो भुलसे उल्टे चलो, मान से उल्टा नमा—नम्रता। मान शब्द लिखकर इसका जरा उल्टा करना—नमा। नमा का अर्थ है नम्रता होना। इससे फायदा पावोगे। हमारे शब्द के अनुसार चलोगे तो फायदा न पावोगे। ये कषायें जग रही हैं तो इनसे कुछ लाभ न मिलेगा। तीसरी कषाय है माया। उसका उल्टा है यामा। अर्थात् जो यह है सो मुझ न चाहिए। जो यह माया है, जगत है, मायारूप है यह मुझे न चाहिए। मत ही मेरा, ऐसा कोई पौष करे तो भला पायगा, और जरा लोभ का उल्टा करो—बलो, बरे इस लोभ से उल्टे चलोगे तो भला हो जायगा। तो ये कषायें कहती हैं कि शकल सूरतपर आकर्षित मत हो, हम बड़े क्षतरनाक हैं, हमसे उल्टे तुम चलोगे तो भला पावोगे।

मायाचार और सरलता के हानि लाभ का दिग्दर्शन—अब माया और सरलता का अन्तर देखिये—माया में कितना कष्ट है, जो लोग मायाचारी हैं, चित्त में कितनी ही उघेड़बुन बनाये रहते हैं, अब क्या करना, कैसी बात करना, बाहिर न होने देना। जो मायाचार करता है उसका हृदय भली प्रकार क्यों नहीं बनता ? उसे चिन्ता रखती है, त्रिपके प्रति मायाचार किया है उसे यदि पता पड़ जाय या जिन दो के बीच में इतनी दरार डाल दी है, माया की है उसे यदि सही बात का पता पड़ जाय तो उसका क्या हाल होगा ? मायाचारी पुरुष चीन में नहीं रहता। लोभ कहते हैं कि जो सरल होता है वह ठका जाता है, पर भाई यह तो बसलाधो कि सरल पुरुष ठका जाता है या मायाचारी पुरुष स्वयं ठका जाता है ? सरल पुरुष के तो मान लो कुछ धन कम हो जायगा, पर जिसने ठगा वह तो बड़ा छोटा कर्मबन्ध करता है, संकल्ल करता है, और फिर असार चीकों में उसमें सिर रगड़ा। कितना नुकसान किस्म ? तो सरल पुरुष ठगावा नहीं जाता, सरल व्यक्ति में देखो तो उसे एक लोक में भी विभूति का सम्बंध रहता है और परलोक में भी। धन की कमाई कोई हाथ पैर से नहीं करता। तो सरलता से चलने में लाभ है और मायाचारी से चलने में बड़ा कष्ट है। एक बात सोच लो कि लोभ मायाचार करते क्यों हैं ? असार बातों को पाने के लिए, असार में अपना माया रगड़ने के लिए मायाचारी की जाती है। धन वैभव आदिक सब सारहीन है। आत्मा को देखो—जो ज्ञानप्रकाशमय है उस आत्मा का भला किसी परबस्तु से कैसे हो सकता है ? त्रिकाल असम्भव है कि मेरे आत्मा की शान्ति, मेरे आत्मा की स्वच्छता किसी बाह्य प्रसंग से हो जाय। तो असार को पाने के लिए मायाचार किया। सार मेरे में क्या है ? मेरे आत्मा में सार है एक वह शुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप जिसका आत्मध्वन हो तो सारे संकट दूर हो जाते हैं। तो सार को बरबाद किया गया, मायाचार द्वारा। तो मायाचार से लाभ क्या है ? सरलता में देखो तो तत्काल भी लाभ है और आगे भी लाभ है।

सरल पुरुष से बैर की अनिष्पत्ति—सरल पुरुष के अधिक दुश्मन नहीं होते। आपको उदाहरण के लिए अपने इस नगर में ही ऐसे लोग मिल जायेंगे। जो वास्तव में सरल पुरुष है, जिसके चित्त में मायाचार नहीं है उसके दुश्मन, उसके विरोधी नहीं मिलते। सरलता में बड़े गुण हैं। एक 'टना है दिल्ली की, अबसे करीब १०१ वर्ष पहिले दिल्ली में एक गदर हो गया था तो वहां लुटेरे लोग धन लूट रहे थे। वहां एक सेठ ने क्या किया कि अपने घर का सारा धन (हीरा, जवाहरात, सोना, चांदी आदि) आंगन में निकालकर रख दिए। अब आये ५-६ लुटेरे तो जैसे ही घर में घुसे तो देखा कि सारा का सारा धन आंगन में पड़ा हुआ है। सेठ ने उन आने वाले लुटेरों का स्वागत किया। वे लुटेरे पूछ बैठे कि भाई तुमने सारा धन आंगन में क्यों निकालकर रख दिया? तो सेठ बोला— भाई मैंने सोचा था कि लोग लूटने आयेंगे तो उन्हें धन निकालने में एक समय तथा श्रम न लगाना पड़े, यही सोचकर हमने सारा धन पहिले से ही निकालकर आंगन में रख दिया। वे लुटेरे उस सरलतापर बहुत प्रसन्न हुए और धन लूटना तो दूर रहा, उल्टा अपने दो-तीन आदमियों को उस धन की रक्षा करने के लिए खड़े कर दिये। सारा धन बच गया। तो देखिये ऐसा होता है सरलता का परिणाम। जो मायाचार करता है उसे तो अनेक बातें झूठ सोचनी पड़ती हैं और उन्हें सोचने में उसे भीतर में कितना कष्ट होता है? तो यह कष्ट मायाचार के वश नहीं है।

मायाप्रपञ्चदोष से हानियों का लाभ—ज्ञानार्णव में बताया है "इहाकीर्ति समादत्ते, मृतो यात्येव दुर्गतिम्। मायाप्रपञ्चदोषेण जनोज्यं जिह्मिताशयः। जिसका कुटिल अभिप्राय है, हृदय छोटा है उसको इस लोक में भी बदनामी है, अपयश है और मरकर दुर्गति में भी जायगा। तो माया कषाय से इस जीव का अनर्थ ही होता है और देखो जगत में कुछ वैभव सम्पदा है इसके लिए ही तो लोग मायाचार करते हैं, तब ही तो लोग मायाचार करते हैं, तब ही तो देखो इस धन सम्पदा का ही नाम माया रख दिया है। उसके तो बड़ी माया है। अरे माया नाम तो कपट का है। धन वैभव का ही नाम कपट रख दिया। जैसे किसी केला बेचने वाले को देखकर लोग कहते कि ऐ केला यहाँ आओ, तो क्या वह केले वाला ऐसा कहने लगता कि ऐ केले तू वहाँ जा? अरे वह तो स्वयं ही आ जाता है। वह उपचार कथन कहलाता है। इस धन वैभव का नाम लोगों ने माया रखा है। इस माया में आप सार कुछ न पायेंगे। बृहदारण्यक उपनिषद् की भूमिका में यह लिखा है कि जिस समय याज्ञवल्क विरक्त हुआ और अपनी सारी सम्पदा पत्नी को देने लगा तो पत्नी पूछती है कि जो कुछ दे रहे हो सम्पदा इससे क्या मैं अमर हो जाऊंगी? तो उत्तर दिया कि नहीं। ... तो मैं जिस तरह अमर हो सकूँ मुझे तो वह चीज दीजिए। इस सम्पदा से मुझे क्या प्रयोजन? तब फिर उसे अध्यात्म का उपदेश दिया गया। अध्यात्मविद्या का कथन किया गया। तो यह सम्पदा पाकर मायाचार करके क्या कोई अमर हो जायगा? किसका भला हो जायगा? देखो—जगत में हम आप सब आत्मा के अलग अकेले हैं, अपने ही साथी हैं, अपने ही सहयोगी हैं। यहाँ किसी के कोई सहयोगी बनते हैं तो ये सही आचरण की बातें हैं, सभी संतों ने उनका आदर किया है। देखो जो कोई सीधे मार्गपर चला तो वह अपने लिए ही चला, और जो कोई भटक गया तो उस भटकने वाले ने अपना ही बुरा किया। उसका दुःख बटाने कोई दूसरा न आयगा सोच तो सही। जो हम करेंगे उसका बवाल बनेगा, विडम्बना बनेगी और वह मुझे ही भगनी पड़ेगी।

मायाबियों में धर्मप्रवेश की अपात्रता—जो मायाचार से भरा पूरा हृदय होगा उसमें धर्म की बात नहीं समा सकती। जैसे देखा होगा—कांच के दाने होते हैं ना, जिनसे माला बनती है, तो अगर किसी दाने में टेढ़ा छेद हो गया हो तो आप उसमें सूत पिरोयेंगे तो पिरेंगा नहीं, क्यों नहीं पिरता कि उसमें टेढ़ा छेद है। सूत सीधा छेद मांगता है, तो ऐसे ही जिसका हृदय टेढ़ा है उसमें धर्म का सूत नहीं पिरोया जा सकता क्योंकि धर्म सीधे हृदय को चाहता है। जो कुटिल है, मायाचार में बसा है उसमें धर्म नहीं टिक सकता। धर्म बिना मनुष्य जीवन क्या जीवन? सब काम होते रहें, एक धर्म न रहे तो फिर मनुष्य होने से क्या लाभ है सो तो बताओ—धर्मण हीनः

उत्तम आर्जव धर्म

पशुभि समान , धर्महीन मानव पशुओंके समान है , और कुछ बातों में तो ये पशु आदि तिर्यञ्च मनुष्योंसे बढ़कर हैं , तब ही तो मनुष्यों को शोभा के लिए पशुओं की उपमा दी जाती है । अगर किसी व्यक्तिकी कुछ विशेषताओं का वर्णन करना है , तो कवि जन उसकी तुलना ऐसे ही तो करते है ना, कि इसकी नाक तोते की तरह है, इसकी कमर शेर की तरह है , इसकी चाल हंसकी तरह है, अथवा इसकी चाल हाथी की तरह है, इसका कठ कोयल की तरह है, तो अब देखिये मनुष्यों से अच्छे हो गए ना ये सब पशु पक्षी वगैरह तिर्यञ्च, पर इन मनुष्यों में एक इस धर्मपालन की ही विशेषता है जिससे मनुष्य पशु से अच्छा कहलाता है, जिसके हृदय में कुटिलता है, मायाचार है उसके हृदय में धर्म टिक नहीं सकता । लोग मायाचार करते हुए में सोचते है कि मेरी बात को कौन जानता है, छिपी रहेगी, क्या हर्ज है, लाभ तो मिल जायेगा । काहे का लाभ ? इन असार वैषयिक सुख साधनों का । मगर यह मायाचारी छिप नहीं सकती मायाचार पुरुष, सो अपने मुख से ही अपती माया उगल देता है वह जरा जरासी बातों में घबड़ाता है जिससे मायाचारी की हो, वे दोनों अगर अपनी जगह खड़े हों तो वे घबड़ाते है । अरे रे रे अब तो आफत आ गई । तो इस माया कषाय से किसे शान्ति मिल सकेगी ?

अनेक प्रयासों से छुपाया जानेपर भी मायाप्रपञ्च की छुप सकनेकी अक्षय्यता—ज्ञानार्णव ग्रन्थ में लिखा है कि ब्राह्मणानामपि प्रायः कुकर्म स्फुटति स्वयम् । अलं मायाप्रपञ्चेन लोकद्वयविरोधिना ।" अरे कितना ही कपटकी छिपाओ, पर छिपेगा नहीं । प्रभु तो उस कपट की बातको जान ही रहा है । कौनसा प्रभु ? सर्वज्ञ प्रभुव खुदका भी प्रभु । आखिर जो यहां कपट कर रहा वह भी तो प्रभु है । आज यद्यपि अज्ञान में यह हालत है, मगर प्रभुता तो उसमें भी समायी प्रभु तो घट-घट में विराजमान है । आत्मप्रभु तो जान ही रहा है । एक गुरुजी ने दो-तीन शिष्यों की परीक्षा करना चाहा कि देखें तो सही की कौन शिष्य अधिक बुद्धिमान है ? जो शिष्य बुद्धिमान होगा उसी को अपना उत्तराधिकारी बनाया जायेगा । तो कोई एक चीज दे दिया, मानो कक (कागजकी) चिड़िया दे दिया और कहा कि जावो इसे वहां जाकर मार दो जहां कोई न देखे । एक शिष्य ने तो जंगल में जाकर कुकर्म कर दिया । दूसरा शिष्य जहां जाये वहीं से वापस आये । आखिर गुरु महाराज के पास आया और उस चिड़िया को बँसा हों सौंप दिया । गुरु ने पूछा, तुमने हुकम नहीं माना । "महाराज मुझे कोई जगह ऐसी नहीं मिली जहां कोई देखता न हो । आपका हुकम तो मान ही लिया । बोले—अरे ऐसे तो अनेक स्थान है । शिष्य बोला—महाराज मैंने बहुत जगह देखा, पर सर्वज्ञ मुझे प्रभु ही दिखे । मेरा जो प्रभु है वह तो देख ही रहा था । कहां करोगे मायाचारी, कहां छिपाओगे, मायाचारी छिपाये छिप नहीं सकती । पर ऐसी सरलता कैसे आयी शिष्य के ? उसे आत्मज्ञान था । देखो बात कोई कहीं की कहे, लेकिन अपना हित करना है तो बात आयगी आत्मा से । अपना आत्मसहारा दिए बिना परिज्ञान किए बिना गुण वास्तवमें प्रकट नहीं होते । भागवत में २४ अवतारों का वर्णन किया है । जिसमें एक ऋषभदेव को भी अवतार बताया है । ऋषभ अवतार को ज्ञान वैराग्य की मूर्ति कहा है, और बताया है कि ये नाभिके पुत्र नन् १०० लड़के थे उनका बड़ा लड़का भरत के ही नाम पर देश का नाम भारतवर्ष पड़ा । यह प्रकरण भगवत के ५ वें स्कंध के ५ वें अध्याय का है तो ऋषभदेवने १०० पुत्रों को पहिले उपदेश किया और उपदेश देकर उनमें ज्येष्ठ पुत्र भरतको राज्य सौंपकर दिगम्बर दीक्षा धारणकी उसमें दिगम्बरत्वकी महीमा बताया कि आकाश ही जिसका अम्बर है, और उनकी मुक्त संगता बताया, जहां मुक्तसंगता है वहां ज्ञान वैराग्य है, जहाँ बाह्य परिग्रहका परित्याग है वहां माया का अभाव है ।

मायाक्रियाओं से पराभव और देहबन्धनदाढ्य—ऋषभदेव ने जो उपदेश किया अपने १०० पुत्रों को उस उपदेश के प्रसंग में एक जगह यह बताया है, सुनिये यह छंद ५ वें स्कंध के ५ वें अध्याय का ५ वां छंद है भागवत में "पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वं । यावत्क्रियारतावदिवं मनो वै कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥" जब तक आत्मतत्त्व को नहीं जाना तब तक आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुआ पराभव सर्वत्र

रहेगा। माया में बड़ा अज्ञान बसा हुआ है। माया को शल्य कहा है। जैसे पैर में कौंटा लग जाये तो वह शल्य की तरह चुभता है, और तो जाने दो—यदि दाँतों के बीच कोई जरासी फाँस चुभ जाय तो वह कितनी चुभती है, तो इसी तरह मायाशक्त्य जिसके हृदय में पड़ी है उसको निरन्तर शल्य रहती। वहाँ अज्ञान बसा हुआ होता है। उस अज्ञान से उत्पन्न हुआ सबसे जहाँ चाहे पराम्भव होता है और इस मायाचार कषाय के कारण जितनी और क्रियायें होती हैं, न रहे माया तो वह भी माया के पेंतरेसे षष्ठी हुई बात है। जब तक ये मन, वचन, कायये कर्म निरन्तर तितर बितर चलते उठते रहते हैं तो उससे क्या होता है कि शरीर का संबंध होता है, नाना जन्म मरण रहते हैं तो भाई यह अपनी दयाकी बात कही जा रही है। अनेक बातें करते आये, अनेक बार समागम हुए, मगर उन धर्म समागमोंमें एक ही बार कुछ ऐसा निर्णय करके रह जायें मनुष्य कि मुझे तो कुछ न कुछ आत्मामें उतारना है, सीखना है और भला बतलाओ इससे बढ़कर विषादकी बात और क्या होगी कि जो बात अपने आनन्द के लिए है उसको तो हटा दें और जो अपने दुःख के लिए है उससे ममता करे तो इससे और विषाद की बात क्या होगी? सबको अनुभव है कि जितना यह माया का प्रसंग है यह सब दुःख के लिए है, अगर चित्त राजी होता है उस माया के प्रसंग तो यह विषाद की बात है। ज्ञान और वैराग्य आत्मा की भलाई की चीज है। तो आत्मज्ञान करें, आत्मा का बोध बनायें, यह सरलता अपने आप प्रकट हो जायेगी क्यों कि आत्मतत्त्व स्वयं सुख उसमें वक्रता नहीं है। सीधा साधा स्वच्छ ज्ञान प्रतिपाद्य मात्र है, उसमें वक्रता का काम नहीं। वक्रता तो बनाई गई चीज है। इस आत्मा का परिचय हो तो सरलता आ जायेगी और नहीं परिचय होता तो क्या स्थिति होगी? जिन्हें आत्मा बोध नहीं है और अनात्मा को आत्मा मान रहे हैं, जिन्हें देहाध्यवसाय हो है उनके मन में कुछ और है, वचन में कुछ और है, करते कुछ और हैं, यह नीति आत्मशक्ति की नहीं है, और आत्मतत्त्वका ज्ञान जिसे है वह जो मन में है सो वचन से कहता है वह करता भी। हाँ, यदि वैसा करने का पौरुष नहीं है तो भी वह मायाचार नहीं कहलाता। तो आत्मज्ञान होने पर सर्व निर्दोष हो गया।

मायाप्रपञ्च से हटकर ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व में मग्न होने का संदेश—समय सार में बताया है कि—“एदिम्ह रदो णिच्चं संतुधो होहु णिच्चभेदम्हि। एणेण होहु तिसो होहिदि तुह उत्तम सोवच्च।” अर्थात् जितना ही ज्ञान मात्र प्रकाश है यही दर्शन है, इसी में तुष्ट हो, यह ज्ञानमात्र प्रकाश है। यह अनुभव कर, यह ही सारभूत चीज है और इसी में तुष्ट होओ। जो अपने स्वस्थ को निरख लेता है और अपने ज्ञानस्वरूप में तुष्ट रहता है उसके आनन्द स्वयमेव है। जागरीशी टीका में एक कथान दिया है कि किसी एक नई बहू के बच्चा होना था तो उसने अपनी सास से कहा कि सासू जी! जब मेरे बच्चा पैदा हो तो मुझे क्या देना कही ऐंसा न हो कि मेरे लोते हुए में ही बच्चा पैदा हो जाय? तो सासू ने कहा—बरी बहू, तू इसकी चिन्ता मत कर। जब बच्चा पैदा होना तो तुझे जगता हुआ ही पैदा होगा। इस वृष्टान्त से इस बात पर दृष्टि देना है कि आत्मा में जब यह ज्ञानपुत्र पैदा होता है तब यह आत्मा में आनन्द उत्पन्न करता हुआ ही उत्पन्न होता है। आपको ब्रह्मज्ञान हो तो फिर किसी से पूछने की जरूरत नहीं है कि मेरे को आनन्द आया कि नहीं आया। आनन्द के अनुभव के साथ ही ब्रह्मका अनुभव होता है। ज्ञानानुभव कही एक ही बात है। हम आप मनुष्य हुए हैं, श्रेष्ठ मन पाया है तो आनन्द जीजिए उस तत्त्व का, आत्मस्वरूप का। उस ज्ञानानुभव से अपने आपको तुष्ट करिये—जो मायाचारी का परिणाम होता है वह होता है पर्यायबुद्धि से याने देह को जब माना कि यह मैं हूँ तो इस देह के पोषण की जो स्थिति है वह भी उतनी होनी चाहिए। तो उन साधनों के लिए मायाचार किया तो जो मायाचार किया तो जो मायाचार का कष्ट उठाना पड़ा वह देहाध्यवसान का परिणाम है।

निज ब्रह्मत्वके बोध में सर्व कौटिल्यों का परिहार—यदि ब्रह्मस्वरूप का बोध है, अहो, सबमें यही-

ज्ञानस्वरूप है एक समान, फिर किसको क्या छलना ? किसका विषय साधन जोड़ना और विषय साधन लेकर मैं कौनसा महत्व पा लूँगा ? ज्ञानी पुरुष वह है जो सर्व जीवों में समान रूप से आत्मतत्त्व को निरखता है, गीता के १३वें अध्याय के २७वें श्लोक में भी बताना पड़ा है कि "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥" जो समस्त प्राणियों में एक समान अन्तः प्रकाशमान परमेश्वर को देखता है जो विनष्ट होते हुआ भी अविनष्ट तत्त्व को देखता है वही सर्व प्राणियों में रहने वाले परमेश्वर को देखता है । देखिये— यहाँ दो-तीन मिनट के लिये एक अध्यात्म की बात कर रहा हूँ, सरल-सरल बोलने में मैं थक जाता हूँ, तो दो-तीन मिनट तक थोड़ा धैर्य रखना, अध्यात्म की बात सुनने में ऊब न जाना । देखो जो ये ज्ञान बनते हैं ना कि अभी कपड़े को जाना, अब भीत को जाना, अब चौकी को जाना, ऐसे ज्ञान जो सज रहे, बताइये—ये विनाशक हैं कि अविनाशी ? ये सब विनश्वर चीजें हैं । अब हम आपसे एक बात पूछते हैं कि बताओ आम का फल जो रंग बदलता है, कभी नीला, कभी हरा, कभी लाल, कभी पीला आदिक तो यह सब बदल किसकी हुई ? तो आम की हुई ना, अथवा जैसे अंगुली एक है तो उसमें सीधापन, टेढ़ापन, बोलपन किसका हुआ ? तो अंगुली का ही हुआ ना ? तो आपमें जिसकी बदल हुई है उसे कहते हैं रूप साधान्य । उसका नाव है रूपशक्ति । कोई कहे जरा दिखा तो दो, तो तो क्या वह रूपशक्ति दिखा देने की चीज है ? अरे वह तो ज्ञानबन्ध चीज है । इसी तरह जो हमारे ज्ञान बदलते रहते हैं, अभी कुछ जाना, अभी कुछ जाना तो कोई एक चीज तो है जिसकी बदल हुआ करती है, वह चीज क्या है ? वह है ज्ञानस्वरूप । वही है ब्रह्म, वही है परमेश्वर, वही है प्रतिभासमात्र । जरा उसे दिखा दो । तो क्या उसे कोई दिखा सकता ? अरे वह तो ज्ञानबन्ध है । हाँ सरलता के द्वारा कोई उसे पा ले तो वह अमर हो जायेगा, ऐसी अविनष्ट चीजों में जो परमात्मा को देखता है वह देखता है परमात्मा को । तो भाई सरल बनो और ज्ञान के लिए उत्साह जगानो । मायाचार से कुछ मोड़ो । मुझे तो ज्ञान का पोषण करना है । ऐसा संकल्प बनाओ, यह जितनी तो गुजर ही रही है, अन्त में बड़ा बिह्वल होना पड़ेगा, हाथ मैंने इतना कमाया सब छूटा जा रहा है । अरे उसको कोई जानने वाला न होगा और पंस क्या हुआ, जैसा किया वैसा भोगना पड़ेगा । रहना यहाँ कुछ नहीं है, चाहे कितना ही मायाचार कर लिया जाय, मायाचार करके चाहे जितना जो जोड़ लिया जाय, पर रहेगा यहाँ किसी का कुछ नहीं । सब छूट जायेगा, हाथ लगेगा सिर्फ पापकर्मों का बन्ध ।



उत्तम शौच धर्म

सच्चुजि धम्धंगो तं जि अभंगो भिण्णंगो उवओगमई ।

जरसरणविणासणु तिजयपयासणु काइज्जइ अहिणिसुजि थुई ॥

शौच धर्म के अभाव में जीवकी अशुचिता—क्षमा अङ्ग, मार्दव अङ्ग और आर्दव अङ्ग का वर्णन हो चुका है। आज दसलक्षण पर्व का चौथा दिन है, शौच का क्रम है। कारण यह है कि कषाय ४ होते हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ और सबसे पहिले कषाय के अभाव की बात कही गई है। क्रोध के अभाव से क्षमा होती है, मान के अभाव से मार्दव होता है, माया के अभाव से आर्जव होता है और लोभ के अभाव से शौच होता है। यह शौच धर्म धर्म का एक अङ्ग है। जहां पवित्रता होती है उसे शौच धर्म कहते हैं। शुचि के परिणाम का नाम शौच है। पवित्रता वहाँ ही आ सकती है जिसको किसी भी अनात्मतत्त्व में मोह न हो। भिन्न पदार्थों में मोह होने को गंदगी कहा है, लोभ को गंदगी कहा है? क्रोध कषाय अवश्य है, पर वह गंदगी नहीं। घमण्ड भी कषाय है, पर उसे अशुचि शब्द से नहीं कहा और मायाचार तो महाबेवकूपी है उसे भी अशुचि नहीं कहा और लोभ को अशुचि शब्द से कहा। जिसके हृदय में लोभ बसा है वह अपवित्र है, गंदा है। यह जीव संसार में जन्म मरण लेता रहता है। कारण यह है कि परबस्तुओं में आत्मबुद्धि लग रही है। शरीर में हूँ, पर मेरा है, वैभव मेरा है। दो चार जीवों को मान लिया कि ये मेरे हैं। यह हृदय की अपवित्रता है। जब लोभ सताता है तब जीव नीति अनीति, न्याय अन्याय, भक्ष्य अभक्ष्य विवेक अविवेक कुछ भी नहीं गिनता।

लोभकी पापजनकता—एक बार एक पंडित जी काशी से पढ़कर आये। नई उम्र थी। पंडित जी जब घर पहुंचे तो अपनी स्त्री से शान बगराने लगे। मैं बहुत पढ़कर आया हूँ, वेद वेदांत, ज्योतिष के बहुत नाम बोल डाले। नये सम्बन्ध में पुरुष स्त्री के आगे बड़ी शान बगराते हैं। कुछ दिन बाद जब सब ठोकरें खा लेते हैं तब नमते हैं। स्त्री ने पूछा कि हमारे एक प्रश्न का उत्तर दे दो। बोली बतलाओ पाप का बाप क्या है? अब छन्दशास्त्र, वेदशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र सब देख डाले पर पाप का बाप क्या है यह सीधे शब्दों में कहीं न लिखा था। सोचा मेरे गुरु जी ने सब कुछ पढ़ा दिया, केवल एक ही बात छुपा ली, अच्छा तो मैं जाता हूँ और गुरु जी से पूछकर आऊंगा, चले। रास्ते में एक शहर के पास शाम होने लगी। शहर के किनारे एक महल बना था, उसके चबूतरे पर लेटकर रात्रि भर खूब सोया। सुबह होते महल से एक स्त्री उतरती। स्त्री ने पूछा कि तुम कौन हो? बोला मैं एक ब्राह्मण हूँ, एक प्रश्न का उत्तर पूछने के लिये मैं गुरु के पास जा रहा हूँ। क्या प्रश्न पूछा गया? पाप का बाप क्या है? अच्छा महाराज चले जाना। अब देखिये दिन चढ़ आया है, बाप यहां भोजन ले लें, फिर चले जाना। पंडित जी पूछते हैं कि तुम कौन हो? उसने कहा कि मैं आपकी दासी एक वेश्या हूँ। अरे वहां सोने में मुझे दोष लग गया! अरे महाराज ऐसी क्या बात है? वही भी सोते यह पत्थर ही मिलता और आपके दोष लग गया हो तो ये २५ अर्शफियां ले लो, यज्ञ का विधान कर लेना और अपना दोष मिटा लेना। अर्शफियां देखकर महाराज ने कहा अच्छा यहीं खा लेंगे। वेश्या ने शरत भोजन सामग्री मगाई, पंडित जी ने चबूतरे पर सिगड़ी जलाई। वेश्या ने कहा महाराज जैसे यह जमीन, वैसे ही जमीन अंदर है भोजन अंदर बना लो तो क्या बिगड़ जायगा? और अगर दोष लगता हो तो ये २५ अर्शफियां हैं, ले लो और अपना दोष मिटा लेना। घर के अन्दर पंडित जी रोटी बनाने लगे। स्त्री ने कहा महाराज जैसे आपके चमड़े के हाथ हैं वैसे ही मेरे हैं। आपके हाथ तो खुरदरे हैं और मेरे हाथ कोमल हैं। आप क्यों जलते हो? हमें खाना बना दें और अगर कोई दोष लगता हो तो ये २५ अर्शफियां और ले लो। प्रायश्चित्त कर लेना। स्त्री ने रसोई बनायी। जीमने लगा। स्त्री ने कहा महाराज तुमने हमें वृत्तकृत्य कर दिया। हमारा जीवन

सफल हो गया सिर्फ एक कसर रह गई। मैं अपने हाथ से आपके श्रीमुख में कौर रख दूँ तो मेरा जीवन सफल हो जायगा और अगर कोई दोष लगा हो तो ये २५ अशक्तियाँ ले लो, प्रायश्चित्त कर लेना। पंडित जी राजी हो गए। सो उसने कौर तो न धरा, पर दोनों गालों में खूब तमाचे मारे। बेवकूफ पाप का बाप पूछने गुरु के पास जा रहा है। पाप का बाप तो यह लोभ है। लोभ पाप का बाप बखाना।

औपाधिक भावों में मलीनता की प्राकृतिकता—अभी देखो जिसके लोभ की प्रवृत्ति होती है उसकी बुद्धि ठीक नहीं रह पाती, अस्थिर मन रहता है, कहीं दूसरी जगह उसका दिल रहता है। तो वस्तु के स्वरूप को पहिचानों। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र हैं, सब अपनी-अपनी सत्ता को लिये हुये हैं। किसी पदार्थ से किसी अन्य पदार्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर क्यों इतना आलस्य? क्यों इतनी आशक्ति? वहाँ धर्म का प्रवेश ही नहीं होता। यह शोचधर्म एक अभंग सर्व में पृथक् उपयोगमय है। यह जरा मरण का नाश करने वाला है। तिजगुपयासणु, तीनों लोक में प्रकाश करने वाली है सो शोचधर्म के अनुकूल अपनी प्रवृत्ति बनाओ। भैया! लोक में किसी दूसरी वस्तु का समागम हो तो उस वस्तु को अपवित्र कहते हैं और उस वस्तु में से बाह्य अवस्था का समागम निकाल लिया जाये तो उसको पवित्र कहते हैं। विजातीय वस्तु के मेल से अपवित्रता आ जाती है और उसके हट जाने से वस्तु पवित्र हो जाती है। इसी तरह यह आत्मा द्रव्यकर्म और नोकर्म का संयोग होने के कारण जो यह उसकी पर अवस्था है अर्थात् उस द्रव्यकर्म के उदय का निमित्त पाकर जो आत्मा में राग, द्वेष आदि विभाव पैदा होते हैं, उनसे आत्मा में मलीनता होती है। उस विभाव से हटकर आत्मा विशुद्ध ज्ञानमात्र हो जाये अर्थात् अपने स्वभाव में आ जाये उसको कहते हैं पवित्रता। जब तक आत्मा के साथ विभाव-भाव लगे रहते हैं अर्थात् आत्मा अपवित्र रहती है तब तक आत्मा कर्मों से बद्ध होने के कारण संसार चक्र में घूम घूमकर महान् क्लेशित होता रहता है। आत्मा की शान्ति तो उसकी पवित्रता में है, किन्तु कितने ही आदमी इस रहस्य को न जानकर केवल शरीर की पवित्रता को ही धर्म कहते हैं।

आत्मा की सम्यक्त्व से पवित्रता—अच्छा भाई इस शरीर को ही देखो, कितना अपवित्र है, खून, पीप, राद्य आदि से भरा पड़ा है। नव द्वारों से सदा मल झरता रहता है। इसके अतिरिक्त जितने भी रोम हैं सबसे पसीना बहता रहता है। बहुत ज्यादा मल मलकर नहाने पर भी यह पवित्र नहीं होता और मान भी लिया जाये कि साबुन आदि के प्रयोग से क्षण भर के लिये शरीर भी पवित्र हो जाये परन्तु शरीर के साफ होने से आत्मा की पवित्रता नहीं आती, मल के बड़े घड़े को ऊपर से शुद्ध करने से जैसे वह घड़ा शुद्ध नहीं होता, उसके अन्दर की मलीनता तो उसमें रहती ही है, उसी प्रकार शरीर पवित्र करने से आत्मा में पवित्रता नहीं आती। जैसे मूले कपड़े पर साबुन लगाने से कपड़े का मूले हट जाता है और कपड़ा साफ हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा में जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूपी मूले विद्यमान है उसको सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र्य से हटाने पर आत्मा पवित्र हो जाता है। दशन, ज्ञान, चारित्र्य का जहाँ एकत्व है ऐसे चैतन्यभाव की आराधना ही कर्ममल का हटाना है, ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक भाव है। वह एक ऐसी बुहारी है कि यह आत्मा बुहारकर साफ सुथरा कर देती है, राग, द्वेष आत्मा से निकल जाते हैं, आत्मा धीतराग हो जाता है और जैसे ही धीतरागता हुई वहीं आत्मा में पवित्रता आई और वहीं धर्म हुआ। शरीर के साफ करने से आत्मा की पवित्रता अपवित्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। शरीर तो आत्मा के स्वरूप से पृथक् है, उस पर विचार करना व्यर्थ है। आत्मा तो सम्यक्दर्शन से ही पवित्र हो सकती है। उत्तम शौच धर्म यह बतलाता है कि बाह्य वस्तुओं में ममत्व परिणाम मत करो। बाह्य ठाट-वाट में परिणति रखने को ही अपवित्रता कहते हैं। मैं तो निर्मल ज्ञान स्वभाव से पूर्ण हूँ, यह तो स्वयं शुचि है, इस श्रद्धा के बल पर ज्ञानी आत्मा के रागद्वेष आदि भाव नहीं आते। इसको उत्तम शौच धर्म कहते हैं।

बाह्य ठाठ-बाट से आत्मा का असम्बन्ध—इस दिखने वाले ठाठ-बाट को मैं नहीं करता, यह पर-पदार्थ है। ये पुण्यरूप पदार्थ के निमित्त से अपनी सत्ता से स्वयं होते हैं। पुण्य के उदय बिना कोई कितना ही पुरुषार्थ कर ले, कहीं कुछ नहीं हो सकता। पुण्य के ही ठाठ-बाट ये सब हैं। इनसे मेरा कोई लाभ नहीं है। मेरा धर्म है इस चैतन्यस्वभाव को स्थिर रखना। यह चैतन्यस्वभावी आत्मा ही सहज सुख का देने वाला है। सो भैया ! यदि कोई पुरुषार्थ करना है तो मोक्ष प्राप्ति का पुरुषार्थ करना है, बाह्य सामग्री को इकट्ठा करने का पुरुषार्थ करना आत्मा को अपवित्र बनाना है, बाहिरी वस्तु पुरुषार्थ से नहीं मिलती। ये तो कर्मोदय का निमित्त पाकर व उद्योग का निमित्त पाकर स्वयं सत्ता से उपस्थित होती है। यह आत्मा बाह्य के पुरुषार्थ में नहीं लग सकता। बाह्य का वह आत्मा कुछ भी तो नहीं कर सकता। जिसने समस्त जगत से भिन्न ज्ञानस्वभाव निज आत्मा को पहिचाना, शौचधर्म उसी के होता है। पर्वत में बुढ़ि हो, श्रद्धा हो कि मैं अनुप्य हूँ, कुटुम्बी हूँ इत्यादि भाव तो शौचधर्म नहीं हो सकता। शौचधर्म वहाँ प्रकट होता है जहाँ यह समझ लिया जाय कि मेरा तो मात्र चैतन्यस्वभाव है, यह बाह्य पदार्थ मेरे कुछ नहीं है। लोभकपाय का मैं वह से त्याग करता हूँ। सब बाह्य पदार्थ से भिन्न मेरा धर्म है, मैं अपने ज्ञान स्वभाव में ही लीन रहूँ, यही मेरी भावना है। ऐसा सोचने वाले जीव के ही शौचधर्म प्रगट होता है। ज्ञानी जीव के लोभ नहीं होता प्रत्युत्तर परपदार्थों से उपेक्षा होती है। स्वको ही अपना समझता है तभी तो उससे पवित्रता या शौचधर्म होता है। जिसको इस ज्ञानस्वभाव का ज्ञान नहीं, अपने एकाकीपन पर जिनको विश्वास नहीं, उनके अन्तर में शौचधर्म नहीं आ सकता। मैं आते समय कुछ नहीं लाया और न जाते समय कुछ अपने साथ ले जाऊँगा, बीच ही में पाया और बीच ही में यह सब नष्ट हो जायगा, मैं तो जैसा आया वैसा ही जाऊँगा, जिनको इस बात का विश्वास नहीं उनके लिये बाह्य अवस्था ही सब कुछ बनी रहती है। बाह्य के टाठ में ही वे मस्त रहते हैं। परन्तु इस शरीर का एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है और जब ममत्व भाव भी मेरा नहीं है, फिर ममता का विषयभूत बाह्य अर्थ मेरा क्या होगा ? ज्ञानी जीव तो विश्व की सम्पदा को भी तुण के समान निस्सार समझता है—“चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सखिरे भोग। काक बीट सम गिनत हैं, सम्यग्रष्टि लोग ॥”

आत्मस्वभाव के परिचय बिना उत्तम शौच धर्म की असंभवता—आत्मा का वह शौच धर्म तब तक प्रगट नहीं हो सकता जब तक आत्मा के स्वभाव को न जान लो। वह तो सोचो कि क्या मैं संसार में अखाड़ा जमाने आ गया ? क्या मैं यहाँ सदा रहूँगा ? जिसको ये मुझे समझते हैं उस लाभ को तो माता, पिता, भाई, बन्धु, सगे सम्बन्धी, पड़ोसी, ये जितने भी हैं, एक न एक दिन तुरन्त उठाकर फूँकेगे। फूँको उसे, वह मैं नहीं हूँ, सबसे भिन्न ज्ञायकभाव मैं हूँ, फिर मैं क्यों किसी से श्रौति करूँ क्यों उनके लिये न्याय अन्याय से धनोपार्जन करके पाप की पोट अपने सिर पर धरूँ क्यों उनमें ममत्वबुद्धि करके अपने को नरकनिर्गद का पात्र बनाऊँ ? सब ओर से अपने को हटाओ, एक ज्ञानस्वरूप को देखो। इस जगत के बन्धनों का त्याग करने पर उत्तम शौच धर्म प्रगट होगा। बाह्य की प्रवृत्ति से आत्मा में धर्म का विकास नहीं होता। आत्मा की ज्ञान परिणति से ही आत्मा में धर्म का विकास होता है। परपदार्थ से ही तो मुझे सुख मिलता है, ये स्त्री-पुत्र मुझे सुखी करते हैं, धन मेरे सुख की वृद्धि करता है यह मानना गलत है। बाह्य पदार्थ हमारे कार्यों के निमित्त अवश्य रहते हैं, परन्तु बाह्य की प्रवृत्ति से वह काम नहीं होता। वह तो स्वयं के उपादान से ही होता है। शौचधर्म वहाँ ही प्रगट होता है जहाँ बाह्य से दूर केवल आत्मा के स्वरूप का लक्ष्य होता है।

शाश्वत अन्तस्तत्त्व की दृष्टि से उत्तम शौच धर्म का विकास—यह शौच धर्म धर्मों का एक अङ्ग है। ये दस के दस धर्म ऐसे हैं कि एक धर्म का पूरा पालन होने तो उसमें ६ धर्मों को पालना स्वयमेव वर्जित है। जितने परवस्तु में अपने आपकी बुद्धि नहीं की, बुद्धि लुप्तपन ही तो मेरा स्वभाव है, यही तीनों काल तक मेरा

स्वरूप रहेगा, भेरे यहां क्रोध होगा, मान होगा, कषाय होगा, अहंकार होगा, ऐसा सोचने से उसके सारे धर्म अपने आप आत्मा में गर्मित हो जाते हैं। यह शौच धर्म शरीर से भिन्न है। यह आत्मा का स्वभाव है। शौच धर्म को शरीर का धर्म समझना मूर्खता है। अंतरंग में आत्मा का निर्ममत्व परिणाम ही आत्मा को शुद्ध करता है। पर-पदार्थ क्षणिक हैं अपने आप चले जायेंगे, आप आयेंगे। हमसे भिन्न हैं, हमारे नहीं हैं यहां तक कि शरीर को भी तो कह दिया कि मेरा शरीर भिन्न है, तो मैं तो कोई वस्तु ही निराला हूँ। उस 'मैं' का स्वरूप इन पर पदार्थों से बिल्कुल ही विपरीत है। बस इतना ही तो घोषा है कि हमने उनको अपना मान रखा है। इतनी सी बात मान लो कि कोई पदार्थ भेरे नहीं है (और वास्तव में है भी नहीं) तो सब सुख तुम्हारे पास आ जायेगा। परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। आत्मा-का पवित्र भाव जो मेरा है वह ही पवित्र शौच धर्म के उदय में सहायक होगा। आत्मा के स्वभाव की दृष्टि रखकर ही अशुद्ध अवस्था में भी यही विचार रखना कि यह आत्मा शैकलिक ज्ञान स्वभाव वाला है। यह दृष्टि ही शौच धर्म का विकास करने वाली है, यह जगत में अपने आपके प्रकाश का विस्तार करने वाली है।

अन्यायाजित धन के सतुपयोग का अभाव—भैया ! यह केवल भ्रम है कि पैसे कमाते रहेंगे तो सुरक्षित रहेंगे। धन कमाने से कोई सुरक्षित नहीं रहता। अगर पुण्य है तो सुरक्षित रहता है। अगर पाप का उदय आये तो धन यों ही चला जाता है। अनीति के द्वारा कमाया हुआ धन यों ही जाया करता है। वह अच्छी जगह ठिकाने से खर्च नहीं हो सकता है। कहीं पढ़ा था कि एक वेश्या थी। उसने दो चार लाख रुपये कमा लिया। जब बूढ़ी हो गई तो उसके मन में आया कि मैंने अपने जीवन को खो दिया। चलो कहीं दो चार लाख रुपये का दान करें। कहीं सब जगह ढूँं यह सोचकर गंगाजी के किनारे जाने लगी। यह बात किसी भांडने परख ली कि वह वेश्या दो-चार लाख रुपये का दान करना चाहती है, सो वह भांड चिमटा लेकर, भ्रूत लगाकर, त्रिशूल लेकर डमरू लेकर गंगाजी के घाट पर बैठ गया। जब देखा कि कोई वेश्या आ रही है तो और सीधा बैठ गया, आंखें भींचकर बैठ गया। थोड़ा बहुत तो सभी करते हैं। अभी आप जाप देने बैठे हो। दो तीन बड़े साहब आ जायें तो तुरन्त अटेन्शन हांकर बैठ जाते हैं। ऐसा तो प्राय सभी के होता है। तो वह भांड एकदम आसन लगाये बैठा है, मानो आसमान ने बातें कर रहा है। वेश्या ने उसे टकटकी लगाकर देखा। सोचा यह तो बहुत बड़ा साधु मालूम होता है, देखता भी नहीं है। वह बैठ गई हाथ जोड़कर कि महाराज समाधि खोलें तो हम कुछ निवेदन करें। बड़ी देर में आंखें खोलीं। वेश्या ने दर्शन किया। बोली—महाराज हमारा जीवन पवित्र कर दो।...क्या बात है? हमने जो दो चार लाख की सम्पदा इकट्ठी कर ली, वह दान कर देना चाहती हूँ और आप से बढ़कर महंत कौन मिलेगा? ...अजी हट जाओ यहां से।...नहीं महाराज क्षमा करो, नाराज न हो। मैं सब कुछ रत्न जवाहरात लाई हूँ महाराज से लीजिये। से लिया। वेश्या ने कहा—कुछ भोजन प्रसादी कीजिये, वेश्या ने खीर बनाई। भांडों को वेश्या के खाने का क्या इतराज? यह सोचकर भांड ने खूब खीर खाई। वेश्या बोली—महाराज अब मुझे आशीर्वाद दो। तब भांड बोला—

गंगा जी के घाट पर, खाई खीर व खांड।

पौ का धन पौ ही गया, तुम वेश्या हूँ भांड ॥

सो भैया ! कोई परिश्रम से न्याय से कमावे तो उसके पैसे का अपव्यय नहीं होता है। आप देखते हैं कि किसी ने किसी को गोव ले लिया तो बिरला ही ऐसा होगा जो उसके धन की रक्षा करेगा, और नियम नीति से कमाया हुआ धन है तो उसे चाहे स्थान में लगाये, चाहे अच्छे कामों में लगाये, फिर भी उसके धन में कमी नहीं आ सकती है अगर अन्याय करो तो क्या काम चल सकता है? नहीं। न्याय से ही तो यह गाड़ी चल रही है।

जो गाड़ी पाप खाते से चल रही है वह गाड़ी बहुत दिन तक नहीं चलती अन्याय के वातावरण में ।

धम्मसउच्च होइ मणसुद्धिए धम्मसउच्च वयणघणगिद्धिय ।

धम्मसउच्च जोहवज्जंतउ धम्मसउच्च सुतव पहि वंतउ ॥

मन की पवित्रता से शौच धर्म की संभवता—शौच धर्म मन की शुद्धि से प्रकट होता है । तो कहते हैं भैया ! तुम कितना शौच धर्म चाहते हो ? कहते हैं अपने मन से पूछ लो । तुम्हारा मन जितना चाहता होगा । तो जिसका मन शुद्ध है उसके ऐसी प्रवृत्ति होगी कि उसके व्यवहार से दूसरों का भी मन शुद्ध हो जाता है । इस संसार में रुलते-रुलते अनन्तकाल व्यतीत हो गया । क्या किया अब तक ? अपवित्रता ही, विषय कषाय ही । परिणामी हुई यह अपवित्रता है । इसी अशुचि में फंसे हुए, इस संसार में रुलते चले आये हैं । अरे ऐसा साहस करके बैठ जावो कि उन सर्व परद्रव्यों में, धन, क़ैभव घर आदि में कुछ भी होता हो, कौसी भी अवस्था प्राप्त हो, धर्म स्वभाव की ही आराधना में रहो । मेरे लिये सब जीव एक समान हैं, अपने निज स्वरूप की ओर ५ मिनट भी देखो, अपने शुद्ध परिणाम बनावो । जब सब जीव एक बराबर दिखने लगेंगे तब समझो कि मेरे मन में पवित्रता आई । इन अनन्त जीवों में से चार जीवों के लिये ही तो सब कुछ है । सारा धन उनके ही पीछे खर्च करते, सारा श्रम करते और उनमें ही विचार बनाये रहते हैं तथा ये जो अनन्त जीव हैं उनकी बात दृष्टि में कुछ नहीं है । सर्व जीवों में स्वरूपसाम्य की दृष्टि से हृदय की पवित्रता ही बढ़ सकती है । जिन तीर्थंकरों की हम आप उपसना करते हैं उन तीर्थंकरों ने इसी मार्ग का अनुसरण किया । निजको निज परको पर जानो, ऐसा ही उन्होंने जाना और फिर सबको छोड़कर केवल निज ज्ञानस्वभाव में अपनी अनुभूति की उसके परिणाम में वे परमात्मा बने, और आज हम आप उनकी मूर्ति पूजते हैं । घर में आप कितनी ही आसक्ति बनाए रहिए मरण के बाद में ये कोई पूछने वाले न रहेंगे और न पर भव में ही सुख सुविधा देंगे । यदि मन पवित्र हो तो शौचधर्म होता है ।

पवित्र परिणाम होने पर पापों का प्रक्षार—बंगाल का एक कथानक है । एक जमींदार थे, बड़े प्रोफेसर भी थे । उनकी लड़की का नाम द्रोपदी था । बालापन में वह विधवा हो गई । जो स्त्री विधवा हो जाती है उसकी फिर घर में कदर नहीं रहती है । यह कितनी स्वार्थ बुद्धि की बात है ? उसके बाप ने अपने घर ही बुला लिया और कुछ जायदाद लगा दी । एक बाग भी लगा दिया । समय की बात है कि वह लड़की भ्रष्ट हो गई । पाप का उदय आया तो उसके बगीचे के जो आम के फल थे वे कड़वे रस के हो गए और पानी में कौड़े पड़ गए । कई वर्षों के बाद में उसके मन में ग्लानि आई और उसने इस पाप को त्याग दिया और इच्छा हो गई कि मैं तीर्थयात्रा में जाऊंगी, और अपने भगवान के अभिषेक में जल चढ़ाऊंगी और उस जल चढ़ाते हुये में ही प्राण निकल जावेंगे । पिता से कहा कि तीर्थयात्रा का कोई दिन नियत कर दो । दिन नियत हो गया । जब जाने लगी तो गांव के सब लोग इकट्ठे हुए खेल देखने के लिए । यह वितली संकड़ों चूहें मारकर आज हज को जा रही है । कोई कुछ कहे कोई कुछ । लड़की सबसे कहती है कि मैं भ्रष्ट हो गई थी । अब मेरे में पवित्रता आई है । मैं अब वह नहीं हूँ जो पहले थी । मैं यात्रा को जाऊंगी और भगवान के ऊपर जल चढ़ाऊंगी । जल चढ़ाते हुये ही मेरे प्राण विसर्जित हो जायेंगे । यदि हमारी बात का यकीन न हो तो बगीचे में जावो, पल खावो, पानी पीवो । देखो मीठे हैं कि नहीं ? लोगों ने जाकर देखा तो बगीचे के फल मीठे हो गये थे और पानी भी मीठा हो गया था, उनको कोतूहल हो गया । सोचा अब सवने कि यह भी देखना चाहिये यह कैसे प्राण छुटायेगी ? वह तीर्थयात्रा करने गयी । वहां जाकर लोगों ने देखा तो जैसा कहा था वैसा ही हुआ ।

ब्रह्मचर्य आदि पवित्र भावों में शौचधर्म की प्रकटता—यह आत्मा केवल भावस्वरूप है । भावों से ही तो गंदगी आती है और भावों से ही निर्मलता जगती है । किसी ने अब तक गंदे परिणाम किया हो, यदि भाव

उनट जाय और सत्यस्वरूप की दृष्टि जग जाय तो फिर उसके निर्मलता का कोई संदेह नहीं रहता है। उसकी उन्नति हो सकती है जिसका मन शुद्ध हो, वहां ही शौचधर्म प्रकट होता है। परपदार्थों में प्रीति या ममत्वभाव रहेगा तो उन्नत शौचधर्म प्रकट नहीं हो सकता। उत्तम शौचधर्म प्राप्त करने के लिये परपदार्थों से ममत्व हटाना चाहिये। परपदार्थों से ममत्व हटा कि आत्मा में वह स्थिति सुनिश्चित है जो सत्य सुख का मूल है। उत्तम शौच धर्म ब्रह्मचर्य व्रत के धारण में होता है। स्त्री के मोहभाव में लीन रहना कितना अपवित्र परिणाम है? उसमें उनका ज्ञान गायब हो जाता है। स्त्री भोग का परिणाम अत्यन्त अशुचि परिणाम है। ब्रह्मचर्य धारण करने वाला ही इस उत्तम शौच धर्म को पा सकता है। उत्तम ब्रह्मचर्य भी वहां है जहां निज में रहने वाली परस्त्री अर्थात् रागादिपरिणति से, परपरिणति से भी रुचि नहीं रहती, क्योंकि यदि परस्त्री में आत्मा का भाव होता है तो वह हमेशा परपरिणति में लगी रहता है। परपरिणतियों को जिम्ने अपना हित समझा वह निज की परिणति में नहीं रहा। यह उत्तम शौचधर्म ब्रह्मचर्य धर्म के धारण करने में ही प्रकट होता है अर्थात् यह शौच धर्म ब्रह्मचर्य व्रत के धारी के ही प्रकट होता है। सारांश यह है कि पवित्रता उसके ही आती है जिसने परपदार्थ को पर समझा है और निज ध्रुवज्ञानस्वभाव को निज समझा है। नहीं तो, पर तो न अपना है और न होगा, विकल्प से व्यर्थ बरबाद हो जायेंगे।

तृष्णा में दुःखभाजनता—एक आदमी था। उसको स्वप्न में कहीं से दो हजार रुपयों की थैली मिल गई। वह उस २५ सेर की थैली को लिये चल रहा था। मारवाड़ जैसी भूमि थी। उसके कंधे दुःख रहे हैं, यह स्वप्न स्वप्न में ही देख रहा था। कंधे दुखने लगे। इसलिए वह वास्तव में उन्हें दबाने लगा। इतने में नींद उचट गई। अब उसका वह २००० हजार गायब हो गया। हालांकि यह स्वप्न की ही बात थी, फिर भी कंधा तो उसका दुःख ही रहा था। अतः वह उसे दबाने लगा और थैली को भी टटोलने लगा। कंधा दुखता हुआ इसलिये लगा कि स्वप्न में मन ने सहयोग दिया था, इसलिये वह दुःख शरीर के साथ रहा। कंधे का दुःख और थैली गायब होने का शोक, दोनों ही चीजें एक साथ चल रही थीं। मिला मिलाया कुछ नहीं और बेकार में दर्द हो गया। इसी प्रकार परपदार्थों में ममत्वबुद्धि करके मिलना तो कुछ भी नहीं, बेकार में ममत्व बढ़ाकर यहां भी दुःख भोगने पड़ते हैं और आगे भी नरक की यातनायें सहनी पड़ती हैं। भैया ! ये जगत् के जितने भी ठाठ हैं स्वप्न के ठाठ हैं। आंख मिची और सब यहां का यहां रहेगा। यह तो सब बाह्य पदार्थ हैं। बड़े-बड़े चक्रवर्ती जिन्हें सम्यक्दर्शन का अनुभव वैभव था, अपनी सब सम्पत्ति को बाह्य पदार्थ जानते थे, इसलिये सुखी रहते थे। कभी उन्होंने उस सम्पत्ति से राग नहीं किया। अतः आत्मशुद्धि की भावना करो। आप तो केवल अज्ञान में कल्पना के स्वामी हैं। कल्पना ही करनी मात्र रह गई है तो अच्छी कल्पना में लगे। अपने चैतन्यस्वभाव के विचाररूप कल्पना में अपनी कल्पना लगाओ। शुद्ध भावना से कल्पना करो तो अच्छा फल मिलेगा।

तत्त्वज्ञान से शौच धर्म का विकास—भैया ! जितने द्रव्य हैं सब स्वतन्त्र हैं। यह आत्मतत्त्व सदा सदा रहने वाला है। शरीर छोड़कर भी चला जाता है। आत्मत्व फिर भी सदा रहता है। यह मनुष्य में, पशु में, पक्षी में, किसी न किमी रूप से अवश्य रहता है। जो ये देख रहे हो कि अमुक मेरा, अमुक पैदा हुआ इससे इसका अनुमान लगाया जा सकता है। पाप पुण्य के भाव से ये अवस्थायें मिलती हैं। इसलिये अपनी जिम्मेदारी आप समझकर अपने आप पर दया कीजिये और एक अपने ही सत्यस्वरूप को समझिये। शास्त्र (ज्ञान) रूपी धन की वृद्धि करने से ही यह उत्तम शौच धर्म उसी मनुष्य के होता है जिसके लोभ कषाय का त्याग होता है। ज्ञानदर्शन स्वभाव का माहात्म्य जहां रहे, उसके उत्तम शौच धर्म होता है। वर्तमान में भी यह सब बाह्य पदार्थ हमारा साथ नहीं देते तो आगे कहां से साथ देंगे? जरा हम बीमार पड़ जायें, दर्द के मारे चिल्ला रहे हैं। स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी, सेना,

मन्त्री, नौकर चाकर आदि सभी सेवा करने के लिये उपस्थित हैं, परन्तु क्या मजाल कि जरा भी कोई उस दर्द को वांट सके। वह दर्द तो स्वयं ही सहन करना होगा। भाई मरनेपर भी देख लो सब यही पड़े रहते हैं और यह आत्माराम अकेले ही चला जाता है और स्वर्ग या नरकमें पहुंचकर सुखी व दुःखी भी अकेला ही होता है, कोई भी उसमें शरीक नहीं होता। अतः इनसे अपनी परिणति दूर करो अन्यथा ये विभावपरिणतियां खुदमें बसकर खुदका विघात करती रहेंगी।

लोभ की गहन अपवित्रता—भैया ! यह लोभ ही तो आत्मा में अपवित्रता पैदा करता है। आत्मा में अशुचिता परद्रव्यके मोहसे आती है और देखो भैया ! है तो यही मोही आत्मा अपवित्र, और कहते हैं कि शरीर अपवित्र है। जब यह आत्मा इस शरीर में नहीं था तो यह परमाणुपुञ्ज पवित्र था, किसी भी तरह की अपवित्रता इसके किसी भी अंश अथवा परमाणु में नहीं थी। इस आत्मा ने ही उसमें प्रवेश करके उसे अपवित्र बनाया है। इन आहारवर्गणावों को ग्रहण कर रुधिरादि रूप बनाया, तब पुद्गल अपवित्र हुआ कि आत्मा ? यह आत्मा ही यहां अपवित्र है। अतः हे आत्मन् ! जब तुम अपवित्र हो व तेरे कारण से ही यह शरीर अपवित्र बना तब परकी अपवित्रता के गीत न गाकर खुदकी अपवित्रता है उसे देखो और ज्ञानदृष्टि से दूर करो, पर-विकल्प त्यागो। यह देहवर्ग अर्थात् आहारवर्गणायें तो बहुत पवित्र रूप से चल रही थी, तेरे आनेसे पहले उसमें यह अपवित्रता तो नहीं थी, तेरे धारण करनेके बाद ही तो यह अपवित्र हुआ है। इस प्रकार अपवित्रता को निरखो और बाह्य पदार्थों से मोह हटाकर आत्माका शुद्धिका उपाय करो तो आत्माको शान्ति मिलेगी।

वचनशुद्धिसे शौचधर्मका विकास—यह शौचधर्म वचनशुद्धि से प्रकट होता है जिसको अपनी पवित्रता रखनी हो वह वचन बड़ी सावधानीसे बोले। सब आफतोंकी जड़ है वचन बुरा बोलना, आंखों देख लो। जीभ उठायी और जैसी इच्छा हुई वैसा बोल दिया, यह कर्तव्य नहीं है। बड़ी सावधानीसे बात बोलना चाहिये क्योंकि बोलनेके बाद फिर वह बात वापिस नहीं आया करती है। इस जगत में ठेका नहीं लिया है कि हम किसी की बुराई बेट बेंगे। हमारे सहवाससे किसीकी बुराई मिटती हो, मिट जाय, पर जगतकी बुराइयां मिटानेके लिये हमने कमर नहीं कसी। हम दूसरोंकी बुराइयोंमें दृष्टि दें और यहां वहांकी बुराइयोंकी बातें कहें, अपने समयको व्यर्थ खोवें, यह ठीक नहीं। वचनधन बहुत बड़ा धन है। वचनों को संभालकर बोलना चाहिये। जैसे अपना कोई सगा किसी बलवानसे लड़ता होगा तो उसको हाथ पकड़ कर रोकते हैं। तो जैसे अपने सगेको हाथ पकड़कर अपने वश किया करते हैं इसी प्रकार बड़े सबलोंसे भिड़ने वाला जो यह मन है उसको धाम लो और मनको धामकर लोगोंसं परिमित बात बोलो। अधिक वचनालाप मत करो। ज्यादाह वचन बोलना आपत्तियां लाता है, अपने आत्माके बल को घटा देता है। प्रामाणिक वचन बोलो। जिन वचनोंसे आपकी जीविकाका काम निकले या कल्याणका काम निकले। व्यर्थकी गप्पों-सप्योंसे क्या फायदा है ? अपने वचन धनका सदुपयोग करनेसे शौचधर्म होता है। यह शौचधर्म कषायों के दूर होने पर होता है। सब कषाय दूर हो जायें तो पवित्रता है। क्रोध, मान, माया लोभ इनके अभाव से ही पवित्रता आती है। लोभ के अभाव से पवित्रता आती है, सो नहीं कह रहे हैं किन्तु चारों कषायोंके अभावसे यह पवित्रता आती है, जिसके शौचधर्म प्रकट होता है। इसी कारण चौथे नम्बरपर शौचधर्म कहा है।

मनका नैमित्तिक प्रभाव—अपना जैसा मन व व्यवहार होता है वैसा मन दूसरेका भी हो जाता है। एक सेठजी थे। वे गंगाजी नहाने गये। थे बड़े कंजूस। और जो उनका पंडा था वह भी निर्धन था। उसके पास चंदन तक भी न था कि उस सेठके तिलक लगा दे। पंडाजी ने गंगाकी रेत उठायी और पीसकर तिलक लगाया। पंडाजी बोले—तिलक लगाओ सेठजी विप्र वचन परमान। गंगाजीके रेतको, चन्दन करके मान। सेठजी नहा करके आये और साधमें एक मेढकी पकड़ लाये। सेठजी बोले—लेउ दक्षिणा विप्रजी, सेठ वचन परमान। गंगाजी

की मेंढकी, बछिया करके मान ॥ तो यह मनका प्रभाव एक दूसरे पर पड़ जाता है ।

अपने मानसिक भावका अन्यपर प्रभाव—यही देखो कितनी समाज है धर्मके झंडेके नीचे बैठे हैं । जो कुछ करेंगे वह महावीर भगवानके उपदेश के प्रचार के लिये ही, अपने आपमें उसको उतारनेके लिये ही तो करेंगे । चाहे जाप करें, चाहे जो कुछ करें, महावीर स्वामीके बताए हुए मार्गकी प्रभावना के लिये ही तो करते हैं । तब पवित्रता ऐसी होनी चाहिये कि धर्म के मामले में किसी के प्रसंग में अवे-तवे, ऊंच-नीच की बात न हो । किसी ने कहा ऐसा होना है, हां भाई ठीक है करो । जो सहयोग हमसे हो सवेशा, करेंगे । प्रायः कई जगह दस-साक्षणी में और चौदस के दिन तो कलह हो जाया करती है । भैया ! ऐसा ज्ञान बने, ऐसा सहधर्मियों में प्रीति का परिणाम हो, धर्मकी, धर्मकी बात बोलें, दूसरोंका सत्कार हो । अगर अपने से कोई बड़ा है और उपकार ज्व है तो उसका सत्कार करने में समय देना यह तो कर्तव्य ही है और कोई आपसे छोटा है उस छोटे को भी खूब सत्कार करके रखो । उस छोटे से वात्सल्य व्यवहार रखो तो उससे धर्मकी वृद्धि होगी । ऐसा वातावरण होना चाहिये कि कहींसे कलह की बात सुननेमें न आये । जो लोग काम करने वाले हैं, बड़े जन हैं वे लोग बड़ी ही श्रद्धा से काम करते हैं । कभी किसी भी प्रकार की कोई बात सुनने में नहीं आई, यहां का वातावरण बहुत ही पवित्र शांत रहा आवे, जिससे कि प्रभुकी भक्तिमें, आत्मध्यान में अपना मन उत्तरोत्तर ढू हो जाये, यह भी तो शीचधर्म है । यही तो पवित्रता है, कोई छोटा पुरुष है तो उसका सन्मान रखो, कोई बड़ा उपकारी है तो आपका फर्ज है कि कृतज्ञता उसके साथ प्रकट करो । यह शीच धर्म जहां विराजता है वहां तृष्णा नहीं होती है ।

धम्म सउच्च वंभवय धात्णु, धम्म सउच्च मयट्ठिचारणु ।

धम्म सउच्च जिणायमभणणे, धम्म सउच्च सुगुण अणुमणणे ॥

लोभपरिहार में शीचधर्म—शीच धर्म ब्रह्मचर्यके धारणसे होता है, शीच धर्म आठ भदोंके दूर करने से होता है । सद्गुणोंके अनुमननसे शीच धर्म होता है । सबका मूल उपाय लोभका परित्याग है । लोभवश मोही प्राणी प्राण भी नवा देता है । दो बजाज कपड़ा खरीदने गये । ठंडके दिन थे, रास्ते में भीदानमें वे ठहर गये । ठंड लग रही थी । न लकड़ी, न घास फूस, न अन्य कोई जलाने वाली चीज । बिल्कुल भीदान था । एक बजाज ने सोचा कि षोड़ेपर हजार दो हजारके कपड़े हैं, उन्हें जला दें तो ठंडसे तो बच जायेंगे । हजार दो हजार के कपड़े ही तो जलेंगे, सो उसने खूब रातभर उन कपड़ों को जलाकर तापा । और दूसरा धी ही जाड़े से ठिठुरता रहा, उसके निमोनिया हो गया और प्राण चले गये । शीच धर्म वहां होता है जहां लोभ का त्याग हो । जो तपके मार्ग में ले जाय वही शीच धर्म है । लोभका त्याग एक तप है, कषायोंका त्याग तप है ।

ज्ञानसाध्य कषायविजय का आवरण न करने वालों की मुद्धता—आर्यानुशासन में श्रीगुणभद स्वामीने लिखा है कि—मा चरन्तु तपः शीर तपः क्लेशासहो नवान् । चित्तसाध्यान् कषायारीन् जयन्तुः ज्ञाताः । वे समझा रहे हैं । आप शीर तप मत करो, अनशय मत करो, क्योंकि हम जानते हैं कि आप नवाब साहब हैं, आप तपका क्लेश नहीं सह सकते, पर कषाय शत्रु मात्र ज्ञानभावनासे नष्ट हो जाते हैं, ज्ञानभावना ही करो, दुर्भावना का नाश करो । जो केवल छोटे भाव बना लेनेसे कषाय के परिणाम जय गये हैं, उन कषाय बैरियों का नाश करो । जो कषाय शत्रुओं का नाश करता है, कषायोंपर विजय प्राप्त करता है उसको हम विवेकी कहेंगे और जो कषायों को नहीं जीतता है उसे हम बेवकूफ कहेंगे । तप नहीं कर सकते हो, न करो, पर जो ज्ञानसाध्य कल्याण का काम है वह नहीं कर सकते तो यह बहुत बड़ी मुद्धता है ।

ब्रह्मचर्यधारण में शीचधर्म—यह शीचधर्म ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करने से होता है, सबसे बड़ा तप है शीचा ब्रह्मचर्य । सोच लो, कोई ६० वर्षका हो गया, कोई ७० वर्ष का हो गया और ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा नहीं

ही सकती है। यदि प्रतिज्ञा नहीं ले सकते तो कामवासना बनी रहेगी। प्रथम तो यह चाहिये कि ४०-४५ वर्षकी उम्र हो गई, कई सन्तान भी हो गई, सन्तान भी युवक है। तब ही सही, ब्रह्मचर्य व्रतको पति पत्नी मिलकर धारण करें तो यह ऐसा धर्म है कि ब्रह्मचर्य के प्रताप से यह धर्म आपका सहज ही पल जाया करता है और ब्रह्मचर्य न लेने का ही फल है कि गृहस्थी बसाई, बहुत बालक हो गये, लड़की के विवाह की चिन्ता लग गई। सर्व झझटों को बढ़ाने वाला यह अब्रह्मचर्य पाप है। शांति और संतोष का जीवन चाहिये तो पहिला कार्य है कि ब्रह्मचर्य का पालन करो। अभीसे कर लिया तो आगे की जिन्दगी में, जिसे कहते हैं लाइन क्लियर हो जायगी, यह तो हो जायगा कि हां शांति के मार्गपर चल रहे हैं।

ब्रह्मचर्य के विपरीत बात के सुनने में भी अनर्थ—एक चेला था। जंगल में गुरु के पास पढ़ता था। जंगल में ही ७ वर्ष की अवस्था से रहता था। १८-२० साल का हो गया। एक बार बोला महाराज हमारा यह भाव है कि हम यात्रा कर आवे। गुरु न कहा वेटा यह ज्ञानानन्दमय आनन्दघन आत्मा ही तीर्थ है, इस स्वरूप में उपयोग लावो तो कोटी तीर्थोंका फल मिलता है। महाराज यह तो ठीक है, पर इच्छा है। ...अच्छा जावो। वह चला, रास्ते में एक जगह सामने से बारात आ रही थी, वह कुछ न जानता था कि क्या है? लोगों से पूछा भैया, यह क्या चीज आ रही है? बरात। बरात क्या है? इसमें एक दूल्हा होता है, उसकी शादी होती है। शादी में किमी बहु को ले आते हैं। मो कुछ दिनों के बाद बाल-बच्चे होते हैं, कुल चलता है। ...अच्छा। सुनकर आगे बढ़ गया। आगे एक कुंवा था, तो कुंवा था सपाट। सपाट न बोलना चाहिये बल्कि अपाट बोलना चाहिये अर्थात् जिस कुँएमें पाट न हो, कुए के पास वह लेट गया। नींद आ गई। उसे स्वप्न आ गया कि मेरी बारात जा रही है। शादी हो गई, बच्चे हो गये स्त्री पास पड़ी है बच्चा बीच में लेटा है। स्त्री कहनी है अरे जरा सरक तो जावो, यह बच्चा कुचला जा रहा है। अब आ तो रहा है स्वप्न, पर थोड़ासा सरक गया। थोड़ी देर बाद स्त्री बोलती है कि बच्चा कुचला जाता है, थोड़ासा और सरको। दुबारा सरके तो कुए में धम्मसे गिरे अब वह अन्दर से सोचता है भगवान कोई निकाले तो कुशल हो।

एक जमींदार प्यासा था, पानी पीने आया। उसके पास लोटा डोर था। उसने ज्यों ही लोटा डोर नटकाया अन्दर से उसने पकड़ लिया। ...कहा भैया डरना नहीं, हम भूत नहीं हैं, हमें निकाल लो। इसलिये कह दिया उसने कि यह डरकर भाग न जावे। जमींदार ने धीरे से उसे निकाल लिया। तो वह जमींदार पूछता है कि भैया! तुम कौन हो? कैसे गिर गये? वह गिरने वाला बोलता है कि भाई साहब तुमने मेरी जान बचाई, तुम मेरे उपकारी हो, जो उपकारी हो उसका परिचय पहिले लेना चाहिये। तो कृपा करके आप अपना परिचय दो। जमींदार बोला कि तुम हमें नहीं जानते हो। मैं एक बहुत बड़ा जमींदार हूँ। देखो उस गाँवमें जो सबसे बड़ी हवेली दिख रही है वह मेरी है। मेरे ५० हूल चलते हैं। १० गाँवों में खेती है। लगभग ५० आदमियों का कुटुम्ब है। जब इतनी बात सुनी तो चेला कभी तो पैर देखे और कभी सिर देखे। जमींदार ने पूछा—क्या तुम डाक्टर हो? नहीं। फिर पूछा, तुम हमें ऊपर से नीचे तक क्यों देखते हो? चेला बोला भाई हमने स्वप्नमें गृहस्थी पाली तो उसके फल में कुंवा में गिर गये। क्या तुम सचमुच की गृहस्थी में रहकर अब तक जिन्दा हो, यह देख रहा हूँ। जिन्दा के मायने क्या? भाई गृहस्थी में भी रहकर यदि अपने आत्मस्वरूपका समय-समय पर ध्यान आता रहे और अपनी दृष्टि बनी रहे, विकल्प छोड़कर कभी तो ज्ञानमय स्वरूप की भावना भावे तो समझो कि हम ठीक-ठीक जिन्दा चल रहे हैं नहीं तो कषाय ही घर कर गया है। अनन्त जन्म लिया, अनन्त मरण किया तो इस जिन्दगी की ही क्या विशेषता हुई?

अष्ट मर्दोंके परिहारमें शौचधर्म—पवित्र वही है जिसके साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक-

चारित्र्यका सम्बन्ध हो। यह धर्म न प्रकारके मदोंका निवारण करने वाला है। देखो ज्ञानका मद आये तो पवित्रता नहीं रह सकती है। धनका मद आये तो पवित्रता नहीं रह सकती है। इज्जतका मद आ जाये, कुलका मद आ जाये तो वहाँ ज्ञान स्वच्छ नहीं रह सकता है।

एक बार एक चमार हमारे साथ ही नैनागिरिको जा रहा था। रास्ता बताने वाला था खूब बाते होती गई। बीचमें मैंने पूछा कि जरा यह तो बतावो कि सबसे बड़ी जाति कौन है ? कोई ग्वाला होता है, कोई नाई होता है, कोई धोबी होता है, ऐसी ही बहुसंखी जानियाँ हैं। तो वह बोला महाराज ऐसी बात है कि धोबियोंमें यह बात है, ग्वालोंमें यह बात है, सबके अवगुण ज्ञाना दिये, और इन सबमें चमार ऊँचा होता है। अन्य सब जातियों को हल्का बताता गया। तो प्रयोजन यह है कि अपनेको कौन मानता है कि मैं कुलका, जाति का छोटा हूँ। बहुत ही छोटे कुलका हो तो शायद वह अपनेको छोटा कहे। तो यह मद सबके हुआ करता है। जिसके घमड़ है उसके शौच-धर्म नहीं प्रकट होता है।

धम्म सउच्च सल्लक्यचाए धम्म सउच्च जिणम्मलभाए।

धम्म सउच्च कषाय अभावे धम्म सउच्च ण लिप्पइ पावे ॥

गुणानुरागसे शौचधर्मका विकास—यह शौच धर्म शल्यके त्यागसे होता है, शौचधर्म निर्मल भावमें प्रकट होता है। शौचधर्म कषायके अभावमें प्रकट होता है। शौचधर्म से पाप का लेप नहीं होता है। भैया ! शौच धर्मकी वृद्धिके लिये गुणोपर दृष्टि हो गुणियोपर अनुराग करो। जो गुणीजन हैं उनकी अनुमोदना करनेसे पवित्रता बढ़ती है। किसी पुरुषको यदि दूसरों की बुराई करने की आदत पड़ गई तो उस आदतको कैसे मिटाये ? उसका उपाय यह है कि तुम प्रतिज्ञा करलो कि एक माह तक ढूँढ़ ढूँढ़कर गुणी जनोके गुण गाया करें। पवित्रता वहाँ ही आती है जहाँ गुणी जनोके गुणोकी अनुमोदना चले। किसीको तुच्छ न निरखो। सब जीव अरहंत सिद्धके स्वरूपके समान हैं। कर्मोंकी उपाधि लगी है इससे भेद हो गया है, पर तुम भेद मत देखो। जब धर्मको हृदयमें उतारनेका श्रम किया जा रहा हो तो इस जीवका जो सहज स्वरूप है उस सहजस्वरूपकी दृष्टि करो। लोभ बढ़ाना ही कटिना आपत्ति है। इसलिये कि लोभमें अपने आत्माके उस शुद्ध एकत्व स्वरूपका पता नहीं है। मैं केवल ज्ञानानन्द भाव मात्र हूँ। इसका विश्वास न होने पर वस्तुओंके लोभ आ जाता है।

लोभमें प्राणविनाश—एक मिखारीको भीख मांगते मांगते बहुत घत जुड़ गया तो सुरक्षित घर न होने से वह धन फैलफुट रहता था, सो सब बेचकर ४ अशफियां खरीद ली। कहां रखे अब उन अशफियोंको ? कोई सुरक्षित खर भी नहीं था कहां रखने जायें ? अच्छा भाई कमरमें बांध ले। वहां भी डर है। सो सोचा—सबसे बढ़िया है पेटमें रख ले, खा जावें। धर लिया अशफियोंको पेटके अन्दर। इससे वह मिखारी मर गया। जब लोगोंने जला दिया तो राख में अशफियोंका ढेर भिला, तब समझमें आया कि इसने अशफियां खा ली थीं। देखो लोभवश ही उसके प्राण गये। एक चूहेको कहींसे २० रु० मिल गये। एक एक रुपये को मुँहसे दबा ले जावे व धरता जावे। इस तरहसे २० रु० जुड़ गये। भैया चूहेके भी सम्यक्त्व पैदा करने की शक्ति है। उसके भी विवेक होता है। जैसा मनुष्यका मन वाला भाव व तैसा ही चूहेका भाव है चूहा ने अपने मन को खुश करनेके लिये रुपये निकाले। एक के ऊपर एक रखकर गडडी बनाए और उसके चारो ओर नाच करे। एक दिन एक किसान ने यह खेल देख लिया। सोचा ये रुपये चूहेके पास कहाँसे आये ? देखा कि चूहा बिलसे रुपये निकाल रहा है, २० रु० हैं। फिर अपने बिल में धर लिया। किसान ने सोचा कि कलके दिन हम इन्हें उठा लेंगे क्योंकि चूहे के किसी कामके नहीं हैं। यह चूहा न किसी को दं सके न किसीको कुछ खिला सके। इसके पास ये रुपये बेकार पड़े हैं। छुपकर दूसरे दिन देखा १५, १६, १७: १८ रुपये लाया, और बिलमें २ रु० और लेनेको गया। इतनेमें किसान ने गडडी उठा ली और चम्पत हो गया

चूहने जब रूप्यों की गडडी न देखी तो वहीं लोटकर उसने अपने प्राण छोड़ दिये। सो धन तो कैसा ऐसा ही है। धन आत्माकी उन्नतिका कारण नहीं है।

शाल्यके परिहारमें शौचधर्म विकास—शाल्यका त्याग करनेसे यह धर्म प्रकट होता है। शाल्य क्या है? माया, मिथ्या, निदान। मिथ्या परिणाम न रखो: इतना श्द विश्वास रखना चाहिये कि परिवार, रहे न रहे, चाहे यह मायारूप खुद रहे न रहे, मगर देव शास्त्र और गुरुका यथार्थ श्रद्धान रखे। देव, शास्त्र, गुरुका गुणस्मरण ही हमारे लिये रण है। सत्य श्रद्धाके सिवाय अन्य कोई मेरे लिए शरण नहीं है। इस पवित्र आत्मा में वह आत्मबल प्रकट होता है जिससे सद्गति प्राप्त हो। धनी कौन है? जिसको संतोष व शांति है वह धनी है। जो अशांत है वह गरीब ही है। आंमासे जिसे नफरत है, प्रभुपर अनुराग नहीं है वह इस संसार में अशरण होकर यत्र-तत्र भटकता रहता है। तो यह जो अपना आनन्द धन स्वरूप है उसको पहिचानो, जितना जानन हो रहा है उतना ही मात्र में हूं। मैं इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूं। ऐसा परिणाम हो तो उसे ही शौच धर्म कहते हैं।

सन्तोष से ही वरिद्धताका नाश—एक फकीरको कहीं से पुराना पैसा पा गया। पुराना पैसा बड़ा वजनी होता था। किसीके भार दो तो खून निकल आये। चार पैसे एक छटांकमें चढ़ते थे। फकीरने सोचा कि इस दुनिया में हमें जो बहुत ही गरीब दीखेगा उसे ही हम यह पैसा दे देंगे। वह गरीब दूँदने निकला। एक बादशाह दूसरे बादशाहपर चढ़ाई करने जा रहा था। सामनेसे गुजरा तो माधुने वह पैसा उस बादशाह की झोली में फेंक दिया। बादशाह को गुस्सा आ गया। बोला यह पैसा क्यों मारा? कहा महाराज मुझे यह मिल गया था। मैंने सोचा था कि मुझे इस दुनिया में जो सबसे गरीब दिखेगा उसे ही दे दूंगा। सो मैंने आपको दे दिया।...तो क्या मैं गरीब हूँ?...हां महाराज! तुम गरीब हो।... अरे मेरे पास सेना है, ५०० गावों का राज्य है, वैभव है, सब कुछ है, मैं गरीब कैसे?...कहा महाराज यदि आप गरीब न होते तो दूसरे की सम्पत्ति हड़पने क्यों जाते? गरीब तो वही है जिसके तृष्णा लगी है। बादशाह को ज्ञान हो गया, झट सेना को वापस लौटा दिया। तो इन तृष्णाओं से तो पूरा न पड़ेगा। इन बाह्य वैभवों की तृष्णा को त्यागो तभी शौच धर्म से जीवन सफल हो सकता है। ग्रहस्थों के लिए कहते हैं कि भगवान् जिनैन्द्र की पूजा करें। उसके अर्थ शुद्ध प्रासुक जल से स्नान करें। यह ग्रहस्थों का काम है, मुनियों का नहीं है। इस संसार को अनित्य जानकर एक मन से शौच धर्म का पालन करो यही शौचधर्म का, उत्तम धर्म का पालन है।

भव मुणिवि अणिच्चो धम्म सउच्चउ पालिज्जई एयग्गमणि ।

शिवमगसहाओ शिवपददाओ अण्णु म चित्तिहि किपि खणि ॥

जैनागम के अभ्यास द्वारा स्वभावदृष्टि का पौष्ट्य करके शौचधर्म को उन्नत करने का अनुरोध—इस समस्त वैभव को अनित्य जानकर इससे मोह दूर करके शौचधर्म का एकाग्रचित्त से पालन करो। यह शौचधर्म शिवमार्ग स्वरूप है, शिव पद का देने वाला है। सो निर्मल पवित्र आत्म स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ क्षणमात्र भी चिन्तन न करो। अकलंक और निष्कलंक का उदाहरण ले लो। उनका कितना बड़ा त्याग और निर्मल परिणाम था। उन्होंने जगत में कितनी शांति पैदा की? आज अकलंक नहीं होते तो हमारा क्या हाल होता? जैन धर्म का नाम सुनकर जब फांसी दे दी जाती थी उस अवस्था से अनुमान करो। आज हम सब इस पवित्र धर्ममय छत्रछाया में नहीं होते। यह शौचधर्म जैनागमन के अभ्यास में होता है। यह धर्म उत्तम-उत्तम गुणों के मनन करने से होता है। यह सब शौच के, पवित्रता के उपाय हैं। वस्तुतः सब उपायों में स्वभाव दृष्टि का उपाय गभित हो तो उत्तम शौच प्रकट होगा। बाह्य पदार्थ का त्याग करने से शौच धर्म होता है। बाह्य पदार्थ है तो अपने से भिन्न ही, बस श्रद्धा भी इसी प्रकार कर लो, धर्म हो जायेगा। आत्मा के निर्मल परिणामों से शौच

धर्म होता है।

ज्ञानानुभवरूप पावन स्थिति से अपने को कृतार्थ करने का संदेश—इस तरह उत्तम शीघ्र धर्म का वर्णन करते हुये कह रहे हैं कि जिनेन्द्र देव की पूजा आदि करने में शीघ्र धर्म प्रकट होगा। वहाँ भी जो ज्ञानानुभव हो वह शीघ्र धर्म है। जिसकी बाह्य पदार्थों में ममता होगी वह भगवान की पूजा करके भी वैभव नहीं पा सकता। जहाँ परपदार्थों की आशा लेकर भगवान की पूजा की जाये वहाँ तो उल्टा पापबंध हो जाता है। पूजा तो अपने उपयोग को बाह्य से हटाकर, जिन भगवान् का आश्रय लेकर निज भगवान् आत्मा में उपयोग लगाने के लिये की जाती है और जहाँ उपयोग आत्मा में लगा वहाँ तो मोक्ष भी दुर्लभ नहीं, स्वर्ग आदि की संपदा व लौकिक वैभव तो भूसे के समान हैं। जिनेन्द्रदेव की निज भाव भक्तिपूर्वक पूजा करने से शीघ्र धर्म होता है। संसार को अन्धकारमय जानकर एकाग्र चित्त से इस शीघ्र धर्म का पालन करो। अपनी आत्मा का उद्धार चाहते हो तो हे भव्यजन, अपने आप पर दया करो और समस्त पदार्थ जो जग में हैं उनसे ममत्व त्यागो और इस एकाकी स्वतन्त्र निज ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा रखो।

लोभ परिहार में शान्ति का अभ्युदय—जभी मनुष्य चाहते हैं शान्ति। शान्ति मिलती है सन्तोष में। सन्तोष कब आता है कि जब लोभ का परित्याग हो। पवित्रता कब आती है जब लोभ का परिहार हो? देखो पवित्रता तो जब क्रोध न रहे तब भी होती, मान, माया न रहे तब भी है, चारों कषायों न रहें तब भी है, तो चार कषायों के न होने से होने वाली अपवित्रता का नाम लिया गया है लोभ। तो मान्य होना है कि लोभ का रंग बड़ा गहरा है। ऐसा समझिये कि जैसे घन तो है बहुत, मगर उसे खर्च न करें तो इस ही का नाम लोभ है। वह तो लोभ है ही, मगर अपने लिये बड़े अच्छे त्रिषय साधन जुटाये, बहुत बढ़िया खाना खाये, विषयों से जो प्रीति करे, उसे यह कैसे कहा जायेगा कि यह निर्लोभ है? त्रिषयों के साधन जो जुटाये, विषयों से जो प्रीति करे बस लोभ का नाम लोभ है। ऐसा लोभ जहाँ बसा हो वहाँ सन्तोष कहां से हो सकता है? यह भी एक लोभ की स्थिति है। विषयों में इतना लोभ है कि अपने खाने के लिए भी खर्चा मूली-भाति न कर सके, वह भी लोभी है। परपदार्थों में हित मानना, पर का संचय करना, पर से अपना लाभ समझना—यह सब लोभ की दशा कहलाती है। जहाँ लोभ है वहाँ पवित्रता नहीं, सन्तोष नहीं, आनन्द नहीं। अब मोटे तौर से देखो तो बतलावो लोभ करके क्या पा लोभे? सारी जिन्दगी लोभ किया तो त्याग न कर सके, दान न कर सके, खा पी भी न सके, जोड़-जोड़कर मरकर लाभ क्या मिलेगा? एक कवि ने बताया है कि दुनिया में सबसे बड़ा दानी तो लोभी है, कंजूस है, उसके बराबर कोई दानी नहीं हो सकता। कैसे? देखो—जो अपने लिये पैसा भी नहीं खर्च कर सकता? खूब धन जोड़-जोड़ कर जिन्दगी भर संचय किया और देखो एक साथ ही सबको दे गया। जब मर जाता है तो पूरा का पूरा ही तो छोड़कर जाता है। एक अलंकार में किसी कवि ने कहा है कि कंजूस सबसे बड़ा दानी है हंसी। तो भाई जब तक इस लोभ का परिहार न हो तब तक पवित्रता और सन्तोष नहीं।

परमार्थकी पवित्रता निर्लोभता—शीघ्र धर्म पवित्रता का अंग है जिससे कि सन्तोष प्राप्त होता है। दूसरी बात—कोई मनुष्य यदि शरीर को बड़ी सफाई से रखे, खूब घंटों तेल, साबुन आदि से नहाये धोये तो मला बतलाओ शरीर को इतना अधिक साफ सुथरा रखने से लाभ क्या मिल जायेगा? शरीर की सफाई का अधिकाधिक ध्यान रखना यह भी एक लोभ का अंग है, परद्वय में मोह हो, आसक्ति हो वही तो लोभ कहलाता है। कहने को तो यह है कि हम पवित्रता कर रहे हैं, मगर क्रूर रहे हैं वास्तव में अपवित्रता का काम? हाँ शरीर की शुद्धि भी व्यवहार में रहकर कुछ आवश्यक है, पर उससे अपने आपकी वास्तविक शुद्धि न समझें। अपनी वास्तविक शुद्धि है कि अपने आप में अपने परमात्म तत्त्व का विश्वास हो, आत्मतत्त्व का ज्ञान हो और आत्म तत्त्व का रमण हो।

असली पवित्रता तो इसे कहेंगे। परवस्तु का सम्बन्ध बनाकर पवित्रता नहीं हुआ करती, वह तो अपवित्रता है। मूल में अपवित्र क्या है? यह मोह। जैसे कोई बालक विष्टा से भिड़ गया तो लोग उसे अपवित्र कहते, उसे जो दूसरा, तीसरा, चौथा आदि बालक छूते जाते वे सब अपवित्र कहलाते, पर मूल में अपवित्र कौन है? वही विष्टा से भिड़ने वाला बालक। अब बताओ नालियों में जो गंदगी है, क्या वह अपवित्र है? अरे वह गंदगी भी कथों अपवित्र कही जाये? उस गंदगी का भी मूल कारण है मोह। वे नादान, कीड़े मकोड़े, मांस भज्जा आदि के पिण्ड मूल में अपवित्र नहीं रहे। आखिर ये सब भी बने इस मोह के ही कारण। मूल में उस सारी गंदगी का कारण यह मोह ही रहा। यदि मोह न होता, मोही जीव इस शरीर में न फंसता तो न मांस मिलता, न सड़ता, न बदबू आती। तो मूल में गन्दा रहा मोह। तो जो गन्दा है उससे लोग घृणा नहीं करते। जिसके बल पर नाना तरह की गंदगी हुई है उससे तो घृणा करते नहीं, पर जो गन्दा नहीं है उससे लोग घृणा करते हैं।

सत्य और असत्य के भेदविज्ञान द्वारा सत्य का लाभ—समयसार में बताया—“णादूण असवाण असुचित्तं विवरीदभावं च। दुक्खा दुक्खफलात्ति य तदो णियत्ति कुणादि जीवो। अथात् ये आश्रव, रागभाव, द्वेषभाव, मोह भाव प्रेम के भाव ये सब पाप हैं। ये अशुद्ध हैं, अपवित्र हैं, गंदे हैं और विपरीत हैं, दुःख देने वाले हैं। जो ऐसा जानता है वह अलग हो जाता है। इसके बारे में सूरि जी ने टीका में कहा है कि जले जम्बालवत् लुषत्वेनोपलभ्यमानत्वाद्दशुच्यः खल्यश्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेवातिनिभलचिन्मात्र स्वभावत्वेनात्यन्तं शुचिरेव कौन चीज है अशुचि? जैसे पानी में कायी हो जाती है ना, तो यह बतलाओ कि उसमें अपवित्र पानी है कि कायी?—अरे कायी अपवित्र है, पानी अपवित्र नहीं है। पानी तो ज्यों का त्यों निर्मल है, पवित्र है तो इसी तरह इस भगवान आत्मा के साथ जो ये राग द्वेष मोह आदिक औदायिक भाव लग गये, वे ही अपवित्र हैं पर यह आत्मा अपवित्र नहीं है। नीति में लिखा है कि—“मदिरेव मीदजनकः कः स्नेहः, के च दम्यतो विषयाः” अर्थात् मदिरा की तरह बेहोशी उत्पन्न करने वाली चीज क्या है? श्रेम है, यह है मोह। द्वेष को पाप सब कहते, मगर ज्ञानी जन जानते हैं कि प्रेम तो इस द्वेष से भी बढ़कर पाप है। अब बतलाओ जो इस रागद्वेष, इस प्रेम लोभ और मोह के स्वप्न में ही रह रहे हैं तो वह जिन्दगी भी क्या जिन्दगी है? जिन्दगी तो वास्तव में वह है जिसमें परमब्रह्म निजस्वरूप ज्ञानघन इस ब्रह्मस्वरूप को अपने उपयोग में रखा जाय। लोग तो यहां प्रेम का भी गुण गाते हैं, पर जैसे यहां किसी के १०५ डिग्री बुखार था, उतरकर १०१ डिग्री रह गया और उससे कोई पूछ कि भाई अब आपकी कंसी तबियत है? तो वह कहता कि अब तो तबियत ठीक है। अरे कहां ठीक है? अभी तो दो तीन डिग्री बुखार है। तो जैसे उस १०५ डिग्री बुखार के सामने उसका बुखार कम है इसलिये तबियत ठीक कहा, पर अभी तो बुखार है, इसी तरह ये भोगों के व्यसनों के प्रेम हैं, उनके सामने यद्यपि सज्जनों का प्रेम भला है पर ज्ञानी पुरुष ऐसे प्रेम को भी पाप बताते हैं। उन ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में पुण्य पाप रहित ज्ञान प्रतिभासमात्र अन्तस्तत्त्व रहता है। जहां रच भी रागद्वेष मोह न हो वहां सुख न कहा जायगा, उसे तो प्रभु का अतुल आनन्द कहा गया है।

सात्त्विकवृत्ति में तथ्य का लाभ—शुद्ध आनन्द का अनुभव वहां ही प्राप्त हो सकता है जहां सुख-दुःख को बराबर माना जा रहा हो; पुण्य पाप के कारणभूत पवित्रता कहां है? सोचिये तो सही। देखिये श्रद्धा में लावो पूर्ण सत्। अगर सत्य श्रद्धा हो गयी तो श्रद्धा में असत्य बात न बनेगी। जो करते बने सो करो, मगर श्रद्धा सत्य ही रखियेगा कि वास्तविकता क्या है? पवित्रता क्या है? कीजे शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना सिरधा धरे, ज्ञानत सरधावान, अजर अमर पद भोगवे, तो भाई श्रद्धा से विचलित न हो। प्रभु की, शास्त्र की, गुरु की श्रद्धा कीजिये मगर मूल में अन्तस्तत्त्व की श्रद्धा सत्य होना चाहिये कि जो शुद्ध ज्ञानमात्र हैं। प्रभु भी यह कहते हैं कि ऐ मत्त एक बार तू मेरी भी उपासना का विकल्प छोड़ ज्ञानमार्ग में आ। मैं ज्ञानमय ही तो हूँ। विकल्प को छोड़

निर्विकल्प अनुभूति में आकर तू अपने आप में ठहर जा, वही तेरी वास्तविक पवित्रता है। कैसे तो ज्ञानज्योति स्वरूप हैं हम आप। जरा शरीर की निगाह छोड़ो और जो भीतर ज्ञानमय है वह कैसा निष्पाप, कैसा आनन्दमय है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ जहाँ कष्ट का नाम नहीं ऐसा यह आत्मा यह प्रभु और ऐसा यह भटक रहा है। क्यों भटक रहा है? कहते हैं कि यह लोभवश, विषयों के प्रेमवश भटक रहा है, तो भाई विषयों से प्रति छोड़ो, पवित्रता जयेगी, सन्तोष मिलेगा। जैसे आजकल सब परेशान हैं, पर बताओ आज तक क्या आवश्यकता किसी को पूरी हुई? बड़े-बड़े नेताओं को ले लो, बड़े-बड़े धनिकों को ले लो—क्या किसी की आज तक आवश्यकता पूरी हुई? अरे आवश्यकतायें यों नहीं पूरी होती हैं आवश्यकताओं को खत्म करने से। अरे इन बाह्य पदार्थों का संकथ कर करके क्या लाभ लूट लिया जायगा? एक अपने ज्ञान स्वभाव की आराधना हो अपने काम आय भी, बाकी तो सब बेकार है।

निन्दा का अपवित्रताहेतुत्व—एक बात और भी है कि इस अपवित्रता का कारण परनिन्दा है। परनिन्दा करते हैं लोग कषायवश। निन्दा करते समय दृष्टि जाती है दोषों पर, और ज्ञान में जहाँ दोष समझ में आ रहा है और वह भी द्वेषभाव से समझ में आ रहा है तो खुद कितना विह्वल हो गया, इसका ज्ञान नहीं है। आप कहेंगे कि यह तो विकट बात कही गई। यह निन्दा करने की आदत छूटे कैसे? यह निन्दा करने की आदत छूटेगी गुणियों का गान करने से? गुणियों के गुणों का गान करके अपने को पवित्र बनाओ, सन्तोष पावो और सत्य आनन्द पावो। बड़े-बड़े महापुरुषों के चरित्र गाते हैं ना, उन्होंने क्या किया? सब कुछ त्याग दिया, दीक्षित हो गये, सदा के लिए देह से छूट गए, संसार से भुक्त हो गए। जब संसार की कोई भी वस्तु रुदा रहने की नहीं है तो फिर यहाँ किसी भी परवस्तु का ख्याल करके अपने उपयोग को कलंकित क्यों किया जाय? बतलाइये कौनसी चीज यहाँ सारभूत है जिस पर आसक्ति की जाय और अपने को भुला दिया जाय? जिस पर लोभ हो रहा है वे सब असार हैं। विषय सामग्री असार शरीर में आसक्ति हो तो वह सब असार। शरीर में क्या भरा है? और तो जाने दो—अगर किसी की नाक से नकेऊ निकल पड़े तो फिर सारी मुन्दरता खराब हो जाती है। ऐसे ही यह सारा का सारा शरीर महा अपवित्र है, घिनावना है। उससे क्या प्रीति करना? ज्ञानानन्दधन जो ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व है उसकी दृष्टि करें और संसार से सदा के लिए पार हो जावें। पवित्रता आती है कषायों के विजय से। आप ऐसा सोचते होंगे कि ऐसा तप कैसे करते बनेगा? तो भाई तप करने की बात नहीं कह रहे। आप कष्ट नहीं सह सकते, त्याग नहीं कर सकते, बड़े नवाब रहते हो, तपश्चरण नहीं कर सकते, मगर मेरी बात मान लो। देखो जिसको दुःख है वह कषाय से है और इन कषायों पर विजय होगी तो होगी ज्ञान से। तो जो मात्र ज्ञान द्वारा सिद्ध हो सकता है उसे तो सिद्ध कर लो। मान लो यह चित्तसाध्य बात। तपश्चरण नहीं कर सकते तो मत करो; मगर ज्ञान से केवल अपने भावमात्र से सद्दिचार से ये कषायें जीती जा सकती हैं?

कषायाधीन प्राणी को सर्वत्र आपत्ति—यदि कषायों को न जीत सकेंगे तो हर जगह फजीहत है। तो यह बात अपनी समझ लो कि मोही होकर हम हर जगह फजीहत ही पाते हैं। मोही बनकर चाहें कि मेरे को क्लेश न हो, आफत न हो, तो यह कभी हो नहीं सकता। एक बार अपने चित्त को ऐसा बनाना होगा कि मेरा परमाणु मात्र से मोह नहीं, अणु मात्र से मेरा मोह न रहे। अपने आपको एक समृद्ध बनाना होगा, और न बनाया तो जैसे अभी तक रहते आये वैसे रहेंगे। तो यह मनुष्यभव मिला है एक ऐसा उपाय बनाने के लिए जिससे संसार में फिर कभी रहना न पड़े, संसार में फिर कभी दुःख न उठाना पड़े। ऐसा उपाय बनाने में होंगे, प्रमादी तो फिर बताओ आत्मतत्त्व क्या रहें? चित्त में पवित्रता के साथ उदारता भाव लावो। जैसे पहिले क्षमा का संकल्प किया था, नम्रता का संकल्प किया था, अहंकार छोड़ने का संकल्प किया था ऐसे ही अब आप समझिये कि यहाँ मायाचर

भी किसका करना ? किसको यहां अपनाया जाय, किसके लिए तन, मन, धन, वचन न्योछावर हो, ये कोई मेरी चीज नहीं हैं, ये सब चीजें मुफ्त ही मिली हैं और मुफ्त ही जायेंगी। तो हम जो भी धर्म वर्तव्य करें, जो हो सो हो, मगर वहां मायाचारी का व्यवहार न करें। जितना बने उतना करें, पर भीतर में ऐसा ज्ञान प्रकाश पावें कि किसी बात पर छल क्यों करना ? यहां कोई बात सार की नहीं, तात्त्विक बात है तो एक आत्मस्वरूप। ज्ञानस्वरूप की क्या महिमा है ? यों ही थोड़े शब्दों में समझिये—कि हमारा जो कुछ हो रहा है वह ज्ञान हो रहा। दुःख क्या चीज ? कल्पना बनायी जिससे दुःखी हुआ, तो यह ज्ञान की ही तो कला है। ज्ञान की ऐसी रीति जिससे सुख हो तो यह ज्ञान की ही तो कला है और ऐसा ज्ञान करना कि जिससे शुद्ध आनन्द प्राप्त होता है तो यह भी ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। तो यह ज्ञान ही पिता है, ज्ञान ही रक्षक है, मेरा जो कुछ है वह मात्र मेरा ज्ञान है। अभी ज्ञान किसी का बिगड़ जाय तो फिर कौन उसकी रक्षा करने वाला ? एक घर में किसी भाई का ही ज्ञान बिगड़ जाय तो उसकी कौन रक्षा कर सकता है ? ज्ञान ऐसा बनावें कि बाह्य में व्यवहार न हो और अपने आपका जो ज्ञानानन्द स्वरूप है उसमें तृप्त रहा करें, उसके लिए चाहिए निरन्तर ज्ञान साधना।

अकषाय ज्ञानस्वभाव की दृष्टि में ही पवित्रता व आनन्द लाभ—ज्ञान की दृष्टि होना बस यह ही पवित्रता है। कषायों का परित्याग होना बस यह ही पवित्रता है। ऐसी पवित्रता कोई न रखे और कषाय करें तो कहते तो हैं सभी लोग कि नरकवास होता है पाप करने के फल में। इस बात को तो सभी लोग मानते हैं, पर कोई किसी रूप मानता, कोई किसी रूप। यह अपवित्रता एक ऐसी विपत्ति है कि यह जीवन न यहां शांत रह सकता, न अगले भव में। भागवत के प्रथम अध्याय के २८वें छन्द में ऋषभदेव की दीक्षा का वर्णन है। उससे उनके सारे जीवन का पता पड़ जाता है कि कैसा पवित्र मार्ग के लिए उनका अवतार था ? आदि पुराण में भी कहा है कि उन्होंने नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण की। शरीर मोत्र ही जिनका परिग्रह है, आकाश ही जिनका वस्त्र है, ऐसा निसंग होकर ठहरे थे। एक ही क्या अनेक दृष्टान्त हैं ऐसे जो संसारनिर्णय सुख होता तीर्थकर क्यों तजते ? तो यह विश्वास रखें कि अपने आपको भलाई करना है तो कषायों का परित्याग करना होगा। हां परिवार के बीच में रहना पड़ता है इसलिए अनुराग करें, पर भीतर में ऐसा समझते रहें कि मुझे तो यह अनुराग करना पड़ रहा है, पर इनसे अनुराग करने में मेरी रक्षा न होगी। सच्चा ज्ञान बना लें, उनके छोड़ने की बात नहीं कह रहे, मगर जो सत्य बात है उसको समझ लें तो अपने आपको रक्षा हो जायगी ऐसा समझें कि मुझे तो घर में रहना पड़ रहा है, पर घर में बंधकर रहना मेरा वास्तविक कर्तव्य न था, 'भले पड़े बजाय सरे' जब शरीर के बंधन में ही फंस गए, फसना तो न चाहिए था, मैं तो ज्ञानानन्द मात्र हूँ, मगर जब फंस ही गए तो चतुराई से काम बना लें। जहां प्रेम करना पड़ रहा उसे भी समझें कि यह पाप है। जैसा जो कुछ करना पड़ रहा सो कर लें मगर उसे एक विडम्बना समझें, सच-सच समझने में क्यों इस्कार किया जा रहा ? श्रद्धा दोनों की एक समान है। यदि कोई ब्रह्मज्ञानी है तो ज्ञानी है, नहीं है ब्रह्मज्ञानी तो अज्ञानी है। भैया ! श्रद्धा में कमी न होनी चाहिए, चाहे संयमवृत्ति में अन्तर हो, न साधु जैसा संयम धर सकें, किन्तु श्रद्धा साधुवत् हो। जैसे कटी पूँछ वाली गाय हो तो, लम्बी पूँछ वाली गाय हो तो दोनों का प्रेम अपने-अपने बच्चे के प्रति बराबर है। हां एक अपनी लम्बी पूँछ डुलाकर प्यार करती है और एक अपनी नन्ही सी पूँछ डुलाकर प्यार करती है, पर प्यार दोनों का एक समान है। ठीक ऐसे ही चाहे कोई योगी हो, चाहे गृहस्थ हो मगर दोनों को श्रद्धा तो सत्य ही बनानी चाहिए। क्या श्रद्धा ? क्रोध मान, माया, लोभ आदिक सर्वे विभावों से रहित केवल ज्ञानस्वरूप हूँ—यह श्रद्धा बना लें। यहां की कोई भी चीज मेरी नहीं, यहां तक कि इन कर्मविपाकों पर भी मेरा अधिकार नहीं है। ये विचार तर्क कल्पनाये प्रेम आदिक भाव इन पर भी मेरा अधिकार नहीं। तो फिर मेरा दुनिया में और कौन है ? सत्य श्रद्धा बनावें और सन्तोष पायें। श्रद्धा की बातों में कुछ विचारेंगे तो सन्तोष न पायेंगे।

उत्तम सत्य धर्म

दयधम्महु कारण दोसणिवारण इहभवपरभवसुखयरू ।

सच्चुजि वयणुल्लउ भुवणि अतुल्लउ बोलिज्जउ वीसासयरू ॥

सत्य व्यवहार द्वारा सुपात्र बनकर सत्य अन्तस्तत्त्व की उपासना का अनुरोध—सत्य धर्म दया धर्म का कारण है, दोषों का निवारण करने वाला है, इहभव और परभव दोनों स्थानों में सुख का करने वाला है। सो भैया दूसरे के हितकारी स्वहितकारी विश्वासपूर्ण वचन बोलकर अपना जीवन सफल करना चाहिये, और फिर गुप्तिबल के प्रयोग से सत्य अंतस्तत्त्व की उपासना करनी चाहिये। निज आत्म पदार्थ जैसा स्वयं सत् है वैसा जानना, देखना अथवा कहना उत्तम सत्य है। धर्म निज का भाव है। अतः जिस ज्ञान अथवा वचन का स्वयं पर प्रभाव है वही उत्तम सत्य है अर्थात् सम्मत् विश्वास सहित लक्ष्य में आया हुआ आत्मस्वभाव उत्तम सत्य है। उसको वचनों से कहना उत्तम सत्य वचन है। सत्य पालन से पहिले यह निर्णय कर लेना आवश्यक ही है कि ध्रुवसत्य क्या है? यद्यपि अपनी-अपनी विवक्षाओं से ध्रुव-अध्रुव विभाव पर्याय आकर सभी सत्य हैं, किन्तु ऐसा सत्य कौन है जो परके आश्रय बिना अहेतुक स्वयं सत् में होने वाला है। ऐसा सत्य यदि आत्मा में खोजा जाये तो वह चैतन्य स्वभाव है। यही अनादि अनंत अहेतुक एक स्वरूप है, इसके ही आलम्बन में सिद्धि है। आत्मस्वभाव विकास के विपरीत जो भी वचन हैं वह सब असत्य हैं। इसी कारण तो एक जगह शास्त्रकार ने यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि सदृशस्य व्यापार विषयक बात को यथार्थ कहे तब भी वह अनात्मविषयक होने से असत्य है। उस असत्य का शृहस्य त्यागी नहीं हो सकता। इसलिये वह सत्यमहाव्रती नहीं, किन्तु सत्याणुव्रती है। देखो भैया! जहां परविषयक बात को चाहे, जैसी हो तैसी कहे तब भी असत्य बताया है, फिर अन्य सफेद झूठों को तो कहा क्या जावे? यह समस्त जगत् अपने से सर्वथा भिन्न है। इसके परिणमन से हमारा परिणमन नहीं होता। किसी भी अन्य द्रव्य से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि सब अपने-अपने स्वरूप में हैं, अपने चतुष्टय से परिणमते हैं। लोक लौकिक असत्य भी इसी बाह्य जगत् को निमित्त-आश्रय बनाकर बोलने का यत्न करते हैं। यहाँ न तो बाह्य अर्थ हितरूप है और न यह विभाव हितरूप है। केवल स्वभाव से विपरीत चेष्टा होने से संसार का क्लेश ही असत्य से होता है, सत्य सुख का मूल है। सत्य से इस लोक की विपदायें भी शांत हो जाती हैं। प्रथम तो सत्यवादी पर उपसर्ग से होते हैं, किन्तु अन्त में विजय सत्य की ही होती है।

वैभव की सत्यानुसारिता—एक सत्यव्रती राजा था। उसने एक नया बाजार खुलवाया और यह कह दिया कि बाजार में जो सौदा नहीं बिके उसे हम खरीद लेंगे। एक आदमी शनीचर की मूर्ति एवं अन्य भी मूर्तियां लेकर बाजार में आया, उसकी और तो सब मूर्तियां बिक गई, किन्तु शनीचर की मूर्ति किसी ने न ली, क्योंकि लोगों को यह ख्याल था कि जिसके घर शनीचर आ जाता है उसके सम्बन्ध नहीं रहती। खैर, वह मूर्ति लेकर राजा के यहाँ गया कि महाराज? मेरी यह मूर्ति नहीं बिकी, तब राजा ने उसके जो दाम मांगे, दिये और खरीद ली। कथा है कि शनीचर की मूर्ति आते ही धन लक्ष्मी आगने लगी। राजा को कथा कि तुम्हारे घर में शनीचर आ गये, इसलिये मैं जाती हूँ। राजा बोला जो तुम्हारी मूर्ती पर मैं सत्य को तो न छोड़ूंगा। इसके बाद धर्म (पुण्य) जाने लगा, उसने भी राजा को सूचना दी। राजा ने कहा कि मैं सत्य को नहीं छोड़ूंगा। तुम्हें भी जाना हो तो जा सकते हो। इसके बाद सत्य जाने लगा। तब राजा ने कहा कि हे सत्य! तुम किसी प्रकार नहीं

जा सकते। तुम्हारे ही लिये तो शनीचर खरीदा अर्थात् सत्य वचन निमाने को ही तो शनीचर खरीदा, तब तुम्हें जाने का अधिकार क्या है ? सत्य निरुत्तर होकर लौट आया, तब धर्म और लक्ष्मी को भी लौटना पड़ा। यह अलंकारिक कथा है। तात्पर्य यह है कि सत्य के रहने पर सभी गुण और वैभव वर्द्धमान रहते हैं।

अहित असत्य अर्थ के वचनालाप से कलङ्क की वृद्धि—असत्य के आव से ही आत्मा कलङ्कित हो जाता है। फिर उसके अंतरङ्ग से क्रोध, मान, माया, लोभ छुपे छुपे बढ़ते रहते हैं। जहाँ धर्म का प्रवेश नहीं होता वह सदा आकुल-व्याकुल बना रहता है। जिसके अन्दर अभी लौकिक सच्चाई भी नहीं है वह दूषित आत्मा तो धर्म पालन का पात्र ही नहीं, परमार्थ सत्य आत्मतत्त्व के अनुभव से वह बहुत दूर है। भैया ! यह मनुष्य भव ही ऐसा है जहाँ हितहित प्रिय यथार्थ एवं व्रत नियमों को पालते हुये अनुभवपूर्ण वचन बोलने का अवसर प्राप्त है। यदि यहाँ वचनों का कुक्ष्ययोग किया तो ऐसे ही भव उस असत्यवादी के मुनिश्चित हैं जहाँ अक्षर बोलने की सामर्थ्य नहीं या जिह्वा ही नहीं होगी। हितमहितप्रिय वचन बोलना सत्य वचन है। सत्य अहिंसा की रक्षा के अर्थ है। अतः जहाँ दूसरे का दिल दुखाने का भाव है अथवा असावधानी है वहाँ जो कुछ भी वचन घातनिमित्तिक निकलता है वह सब असत्य है। अहित अप्रिय वचन बोलने वाला तो हृदय का निष्ठुर है। जितना वचनवाण तीक्ष्ण धाव कर देता है उतना लोहे का वाण भी नहीं करता। वचन ही एक ऐसा वैभव है जिससे मनुष्य के अन्तरङ्ग का प्रसार होता है। मनुष्य को अहित स्वच्छन्द अप्रिय वचन नहीं बोलना चाहिये। इसका फल पछताना और कर्मबन्धन का भार डोना ही है। भैया ! वचन ऐसे बोलो जिससे दूसरों को फायदा हो, हित हो, पीड़ाकारक न हो, सोई सब सत्य धर्म है। इस जीवन में मनुष्यों का व्यवहार कितना बिगड़ा हुआ है ? कितनी फालतू बातें करते हैं, जिन बातों से कोई लाभ नहीं, उल्टा नुकसान है। ज्यादा बातें बोलने से प्रायः असंतुलित वचन भी निकल जाते हैं। इससे वचनों का प्रयोग परिमित व विवेकपूर्वक करो। वचन ही मनुष्य का एक धन है। तो मुख से वचन ऐसा निकलना चाहिये जो बड़ी नापतौल का, सत्य धर्म का, दया धर्म का कारण हो। फालतू बोलने से हृदय में दया का प्रवेश नहीं होता है।

दोषनिवारक वचन की उपयोगिता—दोषणिवारणुः—सत्य धर्म दोष का निवारण करने वाला है। असत्य बोलने से तो बड़ा दोष लगता है मगर फालतू बातें करने से भी बड़ा दोष लगता है। आपने देखा होगा कि जो बड़े पुरुष होते हैं, गम्भीर होते हैं, धनिकों में भी जो बहुत बड़ी जिम्मेदारी लिए हैं, देश में, समाज में उनको ज्यादा बोलते हुये नहीं पाया होगा। प्रमोजन की बात बोलेंगे, थोड़ा बोलेंगे। यही मनुष्य का गुण है। थोड़े-थोड़े गुणों का भी अपने जीवन में संचय किया जाय तो वह इस जीवन में बड़ा गुणी बन सकता है। कौन सहाय है इस दुनिया में, चारों ओर तो निगाह डाल लो। जब कभी पुण्य का अभाव हो जाय तो जो बन्धु हैं, मित्र हैं वे भी बंदी बन जाते हैं। अपने आचरण पर विश्वास करो। अपना आचरण उत्तम है तो दूसरे भी सहायक होंगे। अपना आचरण अनीतिपूर्ण है तो कोई पूछने वाला नहीं है। दूसरों पर ऐहसान धरने के लिये आचरण नहीं किया जाता है। खुद की भलाई के लिये ही आचरण किया जाता है।

अलौकिक सत्य के प्रसाद में परमहित—भैया ! अहित अप्रिय वचन बोलना हिंसा है। जिसने लौकिक सत्य का अवधान न किया वह परमार्थ सत्य से बहुत दूर है। मैं मनुष्य हूँ, धनपति हूँ, मेरे पुत्र आदि हैं, मैं कुटुंब को पालता हूँ, मैं अमुक का विनाश कर दूंगा आदि अभिप्राय असत्य हैं, परमार्थ से विपरीत है तब इन अभिप्रायों की प्रेरणा को निमित्त पाकर वचन वर्गणा प्रकट होती है वह भी इसी हेतु असत्य है। परपदार्थ तो जैसा है वैसा ही है उसमें क्या सत्यपना है, क्या असत्यपना है ? सत्यता असत्यता तो अभिप्राय से सम्बन्ध रखती है। वस्तु के स्वरूप से विपरीत अभिप्राय असत्य है, वस्तु स्वरूप के अनुकूल अभिप्राय सत्य है। वस्तुतः यह आत्मा निज सर्व शक्तियों का अभेद पिण्ड अखण्ड है, उसका कार्य परिणमन उस ही में स्वयं में है और वह परिणमन शक्ति की दशा

उत्तम सत्य धर्म

है, सर्व पदार्थ इसी तरह अवस्थित हैं। किसी पदार्थ का किसी से वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः कोई किसी को परिममाता नहीं है। इस तरह स्वतन्त्र दृष्टि से पदार्थों को अद्वैत लखना, ऐसा ही ज्ञान होना सत्य है। अहो, इस जीव ने अब तक इस सत्य का ध्यान ही नहीं किया, जिसके कारण से ही सयोगी दृष्टि रखकर कर्तव्य का भ्रम बना रहा और क्लेश पाता रहा। परमार्थतः सत्य को पालने वाले के व्यवहार में सत्य का व्यवहार आता है।

सत्यधर्म की लोकद्वयसुखकारिता—यह दयामयी धर्म इस लोक में और परलोक में सुख का देने वाला है यही सत्य धर्म है। इसके वचनों की कोई तुलना नहीं कर सकता। एक सत्य व्रत पर दृढ़ तो रहो फिर देखो उसकी महत्ता नगर में कितनी फैलती है? जरा-जरासे लाभ के लिये झूठ बोल जाय, मामूली स्वार्थवासना के पीछे असत्य व्यवहार करें, भला उस आत्मा में वह बल कहां है कि स्वरूप समझ पाये और दूसरों के लिये शांति का कारण बने। सत्यता के संकल्प पर दृढ़ तो होना चाहिये। सच्चाई कहो, निर्मलता कहो एक ही बात है। किसी समय जिसके चारो कषायों का अभाव हो गया उसके बाद आत्मा की बड़ी सच्चाई प्रकट होती है। यही धर्म है। कहने से कुछ नहीं उठता, करने से ही उठता है, और करने का काम देखने से नहीं आता। अपने आप में गुप्त रहकर जग गया ही सम्यक्त्व, तो यह साहस हुआ करता है कि अपनी भलाई के लिये अपने आपको सच्चा बनाए। इस सत्य की तुलना जगत में कहीं नहीं हो सकती। देखिये झूठ का आजकल बोलबाला है। इसलिये सत्य की चाल बहुत धीमी है, किन्तु कोई सच्चाई पर तुला रहे तो कुछ दिन संकट सहने के बाद उसके इतने प्रशंसक व श्राद्धक होंगे कि उसकी ख्याति नगर और देश में फैल जायगी और वह सुखी हो जायगा।

सच्चुजि सब्बहिं धम्मपहाणुं, सच्चुजि महियलगरुव विहाणुं।

सच्चुजि संसारसमुद्सेउ, सच्चुजि भव्वहमण सुखहेउ॥

उत्तम सत्य की धर्म प्रधानता—यह सत्य धर्म सर्व धर्मों में प्रधान है। अभी किसी के बोलने में ऐसा ध्यान जग जाय कि यह तो झूठ बोलता है फिर लोगों की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं रहता। इस मनुष्य का तब तक मूल्य है जब तक लोगों की समझ में यह बैठा हुआ है कि यह सच्चा पुरुष है अथवा ज्यादा झूठ बोलने वाला नहीं है। खैर इतना ही मालूम हो जाय तो भी उसकी इज्जत रहती है, और अगर यह जान जाय कि यह तो दो-तीन पैसे के लिये झूठ बोलता है, फिर लोगों की दृष्टि में उसका मूल्य क्या है। बेकार है जीवन, उसका तो मरना और जीना बराबर हैं। सत्यधर्म सर्व धर्मों में प्रधान है। यह सत्य ही इस पृथ्वी पर बड़ा विधान है। दरिद्रता भी कदाचित् आ जाय तो भी सच्चाई न छूटे, इस धर्म के साथ अपना जीवन गुजारो तो अवश्य शांति होगी और कुछ ही समय बाद इस ही लोक में वह सर्व सुख सम्पन्न हो जायगा। झूठ बोलकर क्या करना है? मान लो कि लाखों का धन जोड़ लिया तो उस धन का क्या करोगे? छोड़कर जाना ही पड़ेगा। कुछ भी तो साथ न जायगा। यह सत्य संसार समुद्र का सेतु है। जैसे समुद्र पर पुल बना हो तो उसका पार कर जाना बहुत सरल है इसी प्रकार जिसके सत्य धर्म चल रहा हो उसको संसार से छुटकारा पा लेना बहुत सरल है। जो झूठ बोलने वाला है उसके आत्मा की प्राप्ति होती है, लोगों की दृष्टि में वह गिरा हुआ होता है, आत्मबल उसका घट जाता है, संसार समुद्र से तो वह तिरोगा ही क्या?

सत्य के प्रसाद से व्यसननिवृत्ति—एक राजा का लड़का था, उसकी चोरी करने की आदत थी। चोरी किए बिना उसे चैन न पड़ता था। राजा ने उसे अपने राज्य से निकाल दिया। चला गया दूसरे देश को। वहां रहने लगा। साधु महाराज मिले, भक्ति से बैठा उपदेश सुना। साधु के सामने सच बोलने की प्रतिज्ञा ले ली। एक दिन मन में आया कि मामूली चीजों को क्या चुरायें, चलो राजा के यहां घोड़ा है उसको चुरायेंगे, गया। दो-चार जगह पहरेदार मिले। पूछा कौन हो? मैं चोर हूँ, जो चोर होगा वह कैसे अपने को चोर बतायेगा?

राजा का मेहयान होगा। जितने पहरेदार थे सबके यहां से चला गया। वहां से घोड़े पर बैठ करके आया तो सब पहरेदार मलाम करें। वह निकल गया। अब दूसरे दिन बड़ी खलबली मची। नामी घोड़ा कोई चुरा ले गया। सब कहें किसी भाई ने मजाक में घोड़ा चुराया हो तो बतलावो। अब वह खड़ा हुआ बोला—महाराज मैंने घोड़ा चुराया है। राजा ने पूछा चुराया कैसे? महाराज मैंने सत्य का नियम लिया था, सब पहरेदार मिले। सबने पूछा कौन हो? मैंने कहा चोर हूँ, किसी ने न रोका। मैं तो सबके सामने से घोड़ा लेकर आया हूँ। उसकी सच्चाई पर प्रसन्न होकर राजा ने राज्य का एक बड़ा हिस्सा उसके नाम लगा दिया। पुत्री विवाह दी। अब तो राजपुत्र बहुत सुखपूर्वक रहने लगा।

सत्यवादी पर लोक विश्वास—यही देख लो, दसों आदमी जो आपकी पूछ करते हैं उनको यह विश्वास है कि यह सच बोलने वाला है। इतना तो विश्वास करीब-करीब बहुलों को बहुतों के प्रति होगा, और नहीं तो इतना तो होगा कि मामूली दो चार पांच सौ रूपयों पर झूठ न बोलेंगे। अगर लाखों का मामला आ जाय तो भ्रमवान जाने। अगर किसी के प्रति यह दृष्टि हो जाय कि यह तो बड़ा झूठा है, उसके तो कोई जिम्मेदारी ही नहीं है तो उसका जीना और मरना समाज में एक समान है। असत्य वचन से क्लेश ही क्लेश दोनों भवों में होते हैं। एक सत्य वचन सबके मन के सुख को उत्पन्न करने वाला है। सत्यवादी से सभी जीव सुखी रहते हैं। जो धोखा करे, विश्वासघात करे वह बड़ा निर्दयी होता है। चाहे दूसरे की जान चली जाय, पर स्वार्थपूर्ण होना चाहिये, विषयवासना की सिद्धि होनी चाहिए। ऐसे भाव वाले पुरुषों ने संसार का ठेका ले रखा है। संसार रीतेगा नहीं, वे इस संसार के ठेकेदार हैं।

सच्चेणजि सोहइ मणुवजम्म, सच्चेण पवत्तउ पुण्णकम्म ।

सच्चेण सयलगुणगण सहंति, सच्चेण तियस सेवा बहंति ॥

सत्य से मनुष्य जन्म की सफलता—सत्य से ही मनुष्य जन्म की शोभा होती है। परमार्थ सत्य क्या है? सत्य केवल अपनी सत्ता मात्र चैतन्यस्वरूप जो निजभाव है उसमें श्रद्धा रखना, यह ही हुआ उसका सही ज्ञान रखना। भैया! ज्ञाताछटा रहने का आचरण करो, ऐसी प्रवृत्ति की सिद्धि कराने वाला जो वचन है वही उत्कृष्ट सत्य वचन है। ऐसी सच्चाई उपयोग में आ जाय तो उस मनुष्य का जन्म सफल है।

सत्त से पुण्यकर्म की प्रवृत्ति—सच्चेण पवत्तउ पुण्णकम्म—इस सत्य धर्म में ही पुण्य कर्मों की प्रवृत्ति होती है झूठे पुरुषों के धर्म व्रत और तप की क्या कीमत है? मूल में तो विपरीत बात बनी हुई है! व्रत और तप की सिद्धि वहां ही है जहां सच्चाई आ जाय। यह सत्य आत्मा का स्वभाव है। स धर्म के पालने के लिए कोई बड़ा श्रम नहीं करना है, केवल एक दृष्टि बनाना है, संकल्प करना है। तीन लोक का भी वैभव झूठ बोलकर मिल जाय तो उस वैभव से शांति नहीं मिल सकती है वह अशांतिका ही कारण है।

सत्य से गुण चमत्कार—सत्यव्रत से समस्त गुण उनके अन्दर प्रकट हो जाते हैं। एक बार अकाल पड़ गया, वर्षा न हुई तो लोगों ने यज्ञ किये, धर्मकार्य किए, पर सब कार्य विफल हुए। तो एक व्यक्ति ने सलाह दी कि एक गरीब बनिया रहता है जो बेचारा मामूली नौन, गुड़ तेल करके अपने कुटुम्ब का गुजारा करता है, किन्तु वह पूर्ण सत्यवादी। राजा उसके पास जाये और प्रार्थना करे तो यह प्रजा का संकट टल सकता है। राजा गया उसकी झोंपड़ी पर, उसने विनय की कि आप ऐसा आशीर्वाद दें कि वर्षा हो जाय। तो उसने तराजू की उंडी उठाकर कहा कि हे वर्षा बरस जाओ। कहने की बात थी। थोड़ी ही देर में बादल आये तेजी से और वर्षा शुरू हो गई। भैया, कोई सा भी नियम लिया जाय, बड़ी दृढ़ता से लिया जाय, तब फलवान होता है और जिसके दृढ़ता का नियम होता है उसकी परीक्षा पद-पद पर होती है, उसको ही उपसर्ग सताते हैं। जिन्हें रात दिन भोजन का

त्याग नहीं है उन्हें क्या उपसर्ग सतायेंगे। बाजार गये, रबड़ी तौलवाकर खा लिया। कहते हैं रात्रि में अन्न का त्याग है। त्याग का क्या प्रयोजन है उसे समझे बिना ऐसा ही तो अनर्थ होता है। तो जिनके त्याग नहीं है उक्तको क्या उपद्रव आयेगा? आप कहेंगे कि त्याग न करना भला है, कोई उपद्रव न आयेगा। भरे तो त्याग न करने वाले पर उपद्रव नहीं आता तो उत्कर्ष भी तो नहीं होता। वह तो कीड़े मकौड़े जैसी जिन्दगी है। किसी व्रत पर बड़ रहें तो खूब परीक्षा के लिये उपसर्ग आते हैं। परीक्षायें ही इन व्रतों की सिद्धि को प्रमाणित करती हैं। सच्चेण तियस सेवा वृत्ति:—सत्यधर्म के कारण मनुष्य तो क्या देवता भी सेवा किया करते हैं।

सत्य के घात से घोर आपदाओं का भोग—सत्यघोष की कथा खूब सुनी होगी। वे कहते थे कि मैं सत्य ही बोलता हूँ। एक जनेऊ पहिन लिया और उसमें एक छुरी डाल लिया। कभी अचानक झूठ बोल दिया तो जीम काट लेंगे, यों प्रसिद्धि कर दी। एक बार एक बड़ा सेठ कोई बाहर जा रहा था। उसके पास चार बड़े ही कीमती रत्न थे। सत्यघोष के पास रख दिया और कहा कि हम २०-२५ दिन में आयेंगे तो वापिस ले लेंगे, रख दिया। सत्यघोष ने सोचा कि हमारे सत्य का व्रत था, सो उसके फल में ये चार रत्न हमारे घर आ गये। फल तो पा ही चुके, अब सेठ मांगेगा तो न देंगे। सेठ आया मांगने, पर न दिया तो सेठ विह्वल हो गया। वह राजा के महल के सामने पागल जैसा डोलता फिरे और कहे कि सत्यघोष ने मुझे दगा दिया। मेरे चार रत्न चुरा लिये। केवल एक बात की ही रटन लगाये था। राजा ने सोचा यह पागल तो है नहीं। यदि पागल होता तो दसों तरह की बातें बकता। अब राजा ने सत्यघोष की परीक्षा लेने के लिये रानियों से कहा। रानियों ने जुवा खेलने के प्रसंग में ही सत्यघोष का जनेऊ और चाकू जीत लिया। रानी ने दासी को भेजा जनेऊ और चाकू देकर कि जावो सत्यघोष के यहां उसकी स्त्री से कहो कि सत्यघोष ने चार रत्न मंगायें हैं जो सेठ के हैं। बहुत जरूरी काम है और निशानी के लिए यह जनेऊ और चाकू भेजा है। उसने रत्न दे दिये। काम निकल गया। अब सेठ की परीक्षा करें कि ये चारों रत्न इसी के हैं कि नहीं? झूठे मूठे नकली रत्नों में उन चारों रत्नों को मिला दिया। उस सेठ ने अपने ही चारों रत्न छोट लिए। उसने सत्यघोष को दण्ड दिया। सत्यघोष से कहा कि तुम्हारे लिये तीन दण्ड हैं, उनमें से जो पसन्द करो वह एक दण्ड ले सकते हो। एक तो यह दण्ड कि तुम्हारे मल ३२ घूसे लगाये, सो सहन करो। दूसरा दण्ड यह है—थाल भर गोबर खावो, तीसरा दण्ड है कि अपनी सारी सम्पदा दे दो। उसने सोचा कि सुभीते का बढ़िया कौन दण्ड है जिसमें हमें विकल्प न हो, सो मल्ल के घूसे पसंद किये। मल्ल के एक घूसे में ही टें बोल गया। तब कहा—महाराज! हम यह दण्ड न सहेंगे, हम थाल भर गोबर खाने का दण्ड सह लेंगे। पर कैसे थली-भर गोबर खाये? एक कौर भी न खा सका। अब तीसरा सब धन देना ही स्वीकार किया। तो झूठ बोलने वाला तब तक ही समाज में रह पाता है जब तक उसके झूठ का पता नहीं पड़ता। अगर पता पड़ जाय तो सूखे हुये छेवले के पत्ते की तरह इधर उधर डोलता रहेगा, उसे कहीं ठिकाना नहीं लगेगा, कोई व्यापार उसके साथ में न करेगा, कोई उसे पास में भी न बैठने देगा। तो सत्य वचनों से ही इस मनुष्य की शोभा है और इसका महत्त्व है।

सच्चेण अणुब्ब महव्वयाद्द, सच्चेण विणासिय आपयाद्द।

हियमिय भासिज्जद्द णिच्चभास णवि भासिज्जद्द परदुहपयासु ॥

सत्य से सत्य व्रतनिष्पत्ति—इस सत्य से ही अणुव्रत और महाव्रत उत्पन्न होता है। आप देखलो, स्त्री पद-पद पर झूठ बोलती है तो पति को उससे नफरत हो जाती है। फिर सद्व्यवहार नहीं बन सकता। और पति पद-पद पर झूठ बोलता हो तो स्त्री के हृदय में घर न रहेगा। पिता पुत्र परस्पर में झूठ बोलते हों तो उनमें परस्पर में बिगाड़ हो जायेगा, फिर वे सुखमय जीवन नहीं बिता सकते और अणुव्रत महाव्रत आदि ये बातें उस झूठ के होंगी ही क्या? इस सत्य से ही सब आपत्तियां नष्ट हो जाती हैं। बड़े-बड़े शत्रु भी सत्यवादी पर प्रसन्न हो

जाते हैं। कोई किसी का दुश्मन नहीं है। कोई ऐब करे तो दूसरों को बुरा लगता है सो मान लेते हैं कि ये लोग मेरे दुश्मन हैं। यह नहीं समझा कि मेरे में कोई अवगुण है सो दूसरे को नहीं सुहाते हम व्यर्थ ही उनके प्रति कल्पना करते हैं।

सत्य के प्रताप का अन्य पर सत्प्रभाव—दो बालक थे। एक बड़ा और एक छोटा। एक लड़के को पिता ने पढ़ने भेजा। करीब सौ दो सौ कोस पढ़ने जाना था, अकेले चल दिया। रास्ते के खर्च के लिये ५ मोहर एक कथरी में सी कर दे दिया। कपड़े की सी करके दरी बतौर बना ली जाती है कथरी, उसमें ही ५ मोहरें सी दीं, और बता दिया कि जब कोई आपत्ति आये तब इन्हें निकाल लेना। चल दिया। कुछ दूर उसे जंगल में चोर मिले। चोरों ने कहा, ठहरों। क्या है तुम्हारे पास? कहा, मेरे पास बहुत कुछ है, लो इस गुदड़ी में ५ मोहरें रखी हें ले लो। भला कोई बहुत सुरक्षित चीज को भी बता सकेगा? चोरों के हृदय का परिवर्तन हो गया। चोरों ने उस बालक के साथ और चोरों को लगा दिया, कहा इस बालक को इस जंगल से बाहर पहुंचा आवो। चोर जंगल से बाहर उसे पहुंचा आये। सच्चाई पर आग्रह किये तुले रहो तो आखिर लोगों का हृदय ही पलट जाता है। जिस समय कांग्रेस की सभायें होती थीं, लाठी चार्ज कर दिया, पर सत्य का आग्रह करके लोग रहे सो शासन को झुकना ही पड़ा। दूसरों को सच्चाई से ही जीता जा सकता है, नहीं तो क्या तुम कोई बादशाह हो? अरे आपमें गुण होगा, सच्चाई होगी तो दूसरे भक्त बन जायेंगे। भैया! सभी जीव स्वतन्त्र हैं। कोई किसी के आधीन नहीं है जो किसी प्रयोजन के बिना दूसरों पर झुके। हमारा फलानेचंद नाम है, हमारे आधीन रहना ही चाहिये, ऐसे नाम में गुण नहीं है, न चाम में गुण है। गुणों के अनुरागी पुरुष आप में कोई गुण देखेंगे तो वे आपके अनुसारी बन जायेंगे। सब गुणों में यह सत्यधर्म एक प्रधान गुण है।

वचनविषयक चार पदों का विश्लेषण—वचन के सम्बन्ध में ४ श्रेणी हैं—(१) सत्यमहाव्रत (२) भाषा समिति, (३) सत्यधर्म, (४) वचनगुप्ति। इनका अन्तर इस प्रकार है:— १—जैसा पदार्थ है वैसा ही कहना चाहे वह परिमित हो या अपरिमित, वह सब सत्य महाव्रत है। २—सत्य बात को परिमित ही कहना अर्थात् हित मित प्रिय वचन बोलना भाषा समिति है। ३—केवल आत्मविषयक वार्ता कहना सत्यधर्म है। ४—वचन मात्र का गोपन करना वचनगुप्ति है। यह उत्तम सत्यधर्म का प्रकरण है जिससे हमें यह जानना चाहिये कि यदि बोलना ही पड़े तो आत्मविषयक हित मित प्रिय वचन बोलना योग्य है।

आत्मा का शृङ्गार उत्तम सत्य—सत्यधर्म पालने के अभिलाषी भव्यों को दुष्ट वाक्य और परनिन्दा की वाणी कभी नहीं बोलना चाहिये। सत्यवादी तो दयालु प्रकृतिवाला होता है। सत्येन्द्र का स्वप्न में भी परघात का, परपीड़ा का भाव नहीं होता। अतः वह सदा प्रसन्न और मुखी रहता है। सत्य के होते हुए कोई दोष घर नहीं कर पाते, अतः निर्दोषता के कारण सत्यवादी सदा प्रसन्न रहता है। मनुष्य की शोभा सत्य से है। आत्मा का शृङ्गार सत्य है। सर्व गुणों की महिमा सत्य गुण के कारण वृद्धिगत हो जाती है, जैसे अनेक गुण वाला भी पुरुष यदि असत्य बोलता है, लोकों में उसकी असत्सत्ता की प्रसिद्धि है तो कोई भी गुण श्लाघताको प्राप्त नहीं होता। सत्य के बिना व्रत नियम भी ढोंग मात्र हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मोन्नति सत्य बिना नहीं हो सकती। संसार समुद्र से पार होना सत्यरूपी नौका बिना नहीं हो सकता। अतः संसार के क्लेश से भयभीत एवं आत्म स्वभाव के रुचिवाण भव्यों! सम्यग्दर्शन सहित हित-मित प्रिय वचन बोलने पर इस सत्य धर्म को अंगीकार करो। यहां जो प्रवृत्ति है वह हेय ही है, इस श्रद्धा को न भूलना चाहिए। यहां तो यह अभिप्राय है कि अनुरागरूप आसक्तिवश बोलना पड़ता है तब ऐसा वाग्व्यवहार हो। वचन हैं सो धर्म नहीं, क्योंकि वचन आत्मा की परिणति नहीं, सत्य वचन बोलने को उपचार से धर्म कहा है। परमार्थतः सत्य यह स्वयं चैतन्यरूपी भगवान् आत्मा है,

इसकी उपलब्धि उत्तम सत्य है। उसके अभिप्राय वाले के जो वचन हैं वे भी सत्य हैं। सत्य ही आत्महित है। इन त्याग का आदर करो। सत्यवादी की आपत्तियों का नाश हो जाता है। सत्य से ही आत्मा की विजय होती है। सत्यमय निज चैतन्य का अनुभव करो और परमार्थतः या लौकिक किसी प्रकार का असत्य व्यवहार मत करो। सत्य की उपासना करो।

परपीड़ाकारी वचन न बोलने में आत्मरक्षा—हे भाइयो, सदा हित मित प्रिय वचन बोलना किस लिए? खुद सुखी रहना चाहते हो तो इसलिये। दूसरों पर ऐहसान करने के लिये नहीं। यदि तुम्हें स्वयं शांति पसन्द है तो हित मित प्रिय वचन बोलो, अन्यथा संक्लेश ही रहेगा। एक बार जीभ में और दांतों में वाद-विवाद हुआ। दांत बोले बरी जीभ! तू बकवाद मत कर। क्या तुझे पता नहीं है कि बत्तीस दांतों के बीच में है, जरासी देर में ये कुचल देंगे तो मिट जाऊंगी। जीभ तब कहती है कि अरे दांतों! हममें वह कला है कि चाहूं तो तुम बत्तीसों को तुड़वा दूं। बतलावो जीभ में क्या कला है? किसी को बुरा बोल दे, गाली दे दे, अट्ट सट्ट वचन व्यवहार कर दे तो अभी मुक्के लग जायेंगे। बतलावो क्या लगता है? कुछ पैसे भी नहीं खर्च करना है, शरीर से श्रम भी नहीं करना है, केवल ढंग से बोलने का काम कर लो, तुम्हारा जीवन सुखी हो जायगा। सब लोग तुम्हारे सेवक बन जायेंगे। एक वचन ही तो सम्हालना है, यही एक गुण अपने में लावो फिर देखो जीवन कैसा सुखमय है? दूसरों को दुःख होवे ऐसे वचन कभी न बोलना चाहिये।

निष्ठुर वचन बाण का घाव—एक लकड़हारा था। जंगल में लकड़ी बीन रहा था। रोज का काम था। एक दिन एक शेर के पैर में कांटा चुभा था, वह कई दिनों से बड़ा दुखी था। वह लकड़हारे के पास आया। पहिले तो लकड़हारा डरा कि यह मुझे मार डालेगा किन्तु बाद में जब शेर ने कुत्ते की तरह कमर टेककर पंजा सामने कर दिया और लकड़हारे ने देखा कि कांटा चुभा है। तो निर्भय हुआ और उस कांटे को लकड़हारे ने निकाल दिया। शेर अपनी भाषा में बोलता है कि तुम लकड़ी का गट्टा मेरी पीठ पर रख दो और जहां तुम चाहोगे हम ले जायेंगे। तो २५ सेर लकड़ी रोज ले जाता था। उसका मकान गांव के किनारे पर था। वह लकड़ी पीठ पर धर दे और शेर डाल आवे। अब बजाय २५ सेर के ५० सेर बोझ रख दिया फिर बेचारा ले जाकर पटक दे। शेर को क्या बोझ? तीसरे दिन दो मन लकड़ी लाद दी। इसी तरह रोज-रोज ज्यादा लकड़ी लादता जावे और शेर डाल आवे। इस तरह महीने भर में वह धनी बन गया। पड़ोसियों ने सोचा कि इतने जल्दी यह धनी कैसे बन गया? वह लकड़ी लेकर लौटा ही था कि पूछा। वह बोला कि मेरे हाथ एक गीदड़ (स्याल), गध्या लगा है जिसकी वजह से हम एक माह में मालामाल हो गये। लकड़हारे की यह बात जब शेर ने सुन ली तो उसके चिन्ता आ गई। (बड़े पुरुषों से चाहे कितना ही काम ले लो उससे नहीं थकते, मगर वचनबाणों से वे थक जाते हैं।) अगले दिन शेर लकड़हारे से कहता है कि तुम्हारे हाथ में कुल्हाड़ी है, इस कुल्हाड़ी को मेरी गर्दन पर बड़ी तेजी से मार दो। वह सोचता है कि क्या मामला है? वह घबड़ा गया। अगर तुम कुल्हाड़ी मेरी गर्दन में नहीं मारते तो मैं तुम्हें खा जाऊंगा। सोचा कि अब तो हमारे प्राण जा रहे हैं। सो कहा अच्छा लेट जावो। शेर लेट गया। बड़ी जोर से कुल्हाड़ी लकड़हारे ने मार दी। मरते-मरते शेर कहता गया कि तुम्हारी कुल्हाड़ी की धार में सह ली, पर जो वचन तुमने बोला था वह मैं नहीं सह सका। आप सोचते जावो। वचन आपके हाथ की बात है। आपका अपने वचनों पर अधिकार है। जैसा चाहो बोल लो, किन्तु विवेक यह कहता है कि तुम अपनी जीभ को सम्हालकर चलावो। आप जो वाक्य बोलते हैं उनको पहिले सोच लो फिर बोलो तो इस जीवन में विजय पावोगे।

परवाहायर, भासहृ ण भव्व, सच्चु णि छंछिज्जउ विगयगव्व ।

सच्चुजि परमप्पा अत्थि एक्कु, सो भावहू भवतमदलणु अक्कु ॥

परबधाकर वचनपरिहार में ही सत्य का निभाव—हे भव्य जीव ! दूसरों को बाधा पहुंचाने वाले वचन कभी मत बोलो । इस सत्यधर्म का पालन इसलिये मत करो कि हमारा पड़ोसी वातावरण अच्छा रहेगा तो सब लोग हमसे खुश रहेंगे । हमारे प्रति सबके हृदय में धर रहेगा, इसलिये मत सत्य वचन बोलो किन्तु इसलिये सत्य वचन बोलो कि असत्य वचन बोलने का मेरा स्वभाव नहीं है । सत्य तो मेरा स्वरूप ही है । इससे मेरी आत्मा का विकास है । आत्महित की दृष्टि से सत्य वचन बोलने का यत्न करो । बाकी तो सब अपने आप हो जायगा । पड़ोसी खुश रहेंगे, आपके सेवक रहेंगे । यह तो अपने आप हो जायगा । पर सत्य बोलने का उद्देश्य आत्महित, मोक्ष का मार्ग होना चाहिये । यदि कोई सत्य भी दूसरों को बाधा पहुंचाने वाला हो तो गुर्वरहित होकर उन वचनों का त्याग करो । सत्य का उद्देश्य है कि न खुद को बाधा पहुंचे और न दूसरे को । लकीर के फकीर थोड़े ही बनना है ।

एक घर में एक लड़की का विवाह हो रहा था । उसके घर एक बिल्ली पाली हुई थी । भांवर पड़ने का समय था । वह बार-बार वहां से निकल जाए । भले समय में बिल्ली का निकल जाना असगुन मानते हैं । सो उसे टिपाड़ा में ढक दिया । टिपाड़ा वजनदार था उसको ढक दिया ताकि बिल्ली इधर-उधर न जा सके । यह बात लड़कों ने देख ली । अब लगभग १५ वर्ष के बाद में एक भांवर पड़ने का अवसर आया । बाप तो गुजर गया था तो लड़कों ने कहा ठहरो, एक दस्तूर और रह गया । एक बिल्ली को टिपारे में बन्द करो तब भांवर पड़ेंगी । अब तो बिल्ली ढूंढने में ही सारा समय गुजर गया । बिल्ली के ढूंढने में दो दिन का समय नष्ट हो गया । खैर किसी तरह से भांवर पड़ीं । भांवर पड़ने में दो दिन तो यों ही बेवकूफी में व्यतीत हो गये ।

सत्य से आत्म-अर्जव धर्म की निष्पत्ति—सत्य धर्म का प्रयोजन है कि खुद को शांति मिले और दूसरों को भी शांति पहुंचे । सत्य ही एक परमात्मा है । यह भवरूपी अंधकार का दलन करने के लिये सूर्य के समान है । देखो छलमरी बात भी झूठ कहलाती है । एक मनुष्य था । जंगल में पहुंचा । शेर उसके पीछे लग गया । वह घबड़ाकर एक पेड़ पर चढ़ गया । उस पेड़ पर एक रीछ बैठा था । अब दोनों तरफ से उसके ऊपर आफत आ गई । एक तरफ शेर और एक तरफ रीछ । अब वह घबड़ाया । रीछ ने कहा, अरे मनुष्य तू घबड़ा मत । तू मेरी शरण आया है, मैं शरण दूंगा, कुछ देर हो गई । रीछ को नींद आने लगी । वह पेड़ पर सोने लगा । इतने में शेर बोला, अरे मनुष्य यह रीछ दगाबाज होता है । देख यह सी रहा है, इसको तू ढकेल दे ! तू नश्विन्त हो जायेगा । नहीं तों मेरे जाने के बाद तुझे मार डालेगा । उसकी समझ में आ गया । उसे ढकेलने लगा । उसकी नींद खुल गई । विवश हो गया ? खैर रीछ ने क्षमा किया, अब मनुष्य को नींद आने लगी, वह सो गया । शेर कहता है—अरे रीछ ! देख मनुष्य बड़ा दगाबाज है । तूने देख ही लिया है । इसको तू पटक दे, तेरा भी भोजन हो जायगा और मेरा भी । रीछ कहता है कि यह मनुष्य है, यह दगा कर जाय तो कर जाय, पर मैं पशु हूं । मैं अपने रीछपने में बट्टा नहीं लगा सकता । यह मनुष्य मेरी शरण में आया है, इसे कोई जोखिम नहीं हो सकती । भैया ! कोई कोई पशु भी बड़े ईमानदार होते हैं । ईमानदारी तो मनुष्य में आना ही चाहिए । इससे ही मनुष्य की प्रतिष्ठा है ।

सच्चुजि धम्मफलेण केवलणाणु वहेइ थणु ।

तं पालहू भो भव्व भणहूण अलियउ इह वयणु ॥

इस सत्यधर्म के पालने से यह जीव केवल ज्ञान को प्राप्त करता है, इस कारण हे भव्य ! इस सत्यधर्म का पालन करो और रंभ भी झूठ न बोलो ।

कषायों के अभाव से उत्तम सत्य की अभिव्यक्ति—लोक में उत्तम सत्य क्या है ? जो उत्तम सत्य

है वह बोलने में नहीं आता। वह तो केवल अनुभव में आता है। क्या है उत्तम सत्य, सर्वोत्कृष्ट सत्य? सबके आत्मा में निरखो, अपने आप में अन्तःप्रकाशमान सहज जो ज्ञानज्योतिस्वरूप है वह है सत्य, और उस सत्य का पालन क्या है ऐसी सत्य पर दृष्टि होनी, उसकी ओर ध्यान होना जिसमें सारे संकट समाप्त हो जाते हैं, यह है उत्तम सत्य का पालन। लेकिन इस ऊंची स्थिति तक जो नहीं पहुँचते हैं, घर में रहते हैं, गृहस्थी में हैं, सारे काम करने पड़ते हैं तो उन्हें क्या करना चाहिए? उनके लिये व्यवहार सत्य का उपदेश है। सच बोलो—सच भी कैसा है? जिन वचनों से प्राणियों का अहित न हो, उनका हित हो, भला हो, वास्तविक कल्याण हो, ऐसे वचन के बोलने का नाम है सत्य बोलना। अब चूँकि आत्महित से सम्बन्ध है, जो बात जैसी है यथार्थ कह देना उसका भी नाम सत्य बोलना है और कभी-कभी कोई ऐसी स्थिति की बात बोले कि जिससे दूसरे का वध हो, विनाश हो, ऐसा कोई सत्य बोल दे, ऐसा सत्य होगा तो नहीं, पर कदाचित् कोई घटना हो, दूसरे का अहित होता हो तो ऐसे सत्य का भी निषेध है। वह सत्य नहीं, वह तो असत्य है। निषेध तो असत्य का है। सत्य का निषेध नहीं होता। जो वचन अपना और पर का हित करे उसे सत्य वचन कहते हैं। देखो ऐसी घटना की स्थिति कब आ सकती है? जब क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायों न सतारें। आज इस दशलक्षण धर्म का ५ वां दिन है। अभी पिछले चार दिनों में क्या परिणाम बनाया? क्रोध न करना, मान न करना, मायाचार न करना, लोभ न करना। जब ये चारों कषायें शांत होती हैं तब वहाँ सत्य प्रकट होता है, और मोटे रूप में देख लो कि झूठ का आधार कषायें हैं। जब कषायें रहती हैं तो असत्य बोलता है। कोई घमण्ड से रहता है तो असत्य बोल बैठता है मायाचारी को तो कितना असत्य बोलना पड़ता है? उसकी विडम्बना को तो वह मायाचारी पुरुष ही समझता है, जहाँ ये कषायें शांत हो जायें वहाँ ही यह उत्तम सत्य प्रकट हो पाता है। ज्ञानार्णव में लिखा है कि जब कषायों का विषम ज्वर समाप्त हो जाता है, तो उस समय आत्मा को सत्य का दर्शन होता है।

संगसमागम को असार जानकर उत्तम सत्य के लक्ष्य में आने का अनुरोध—अहो, कहीं अनर्थ बातों में ये मनुष्य उलझे हुए हैं? लोभ में, मायाचार में, दूसरे प्राणियों को अपना विरोधी मानने में और दूसरे प्राणियों को तुच्छ जानकर अपने आपका नाम प्रतिष्ठा चाहने की गरज से अपने को महान मानता है, कैसा उल्हा हुआ है, बस इस उल्हान में परमात्म स्वरूप का दर्शन नहीं मिल पाता, आनन्द सही नहीं मिल पाता। यह जगत तो चार दिन की चांदनी है, और देखो यह लोक कितना बड़ा है? जैन शासन में तो इस लोक को ३४३ घनराजु प्रमाण बताया है, ७-७ द्वीप समुद्र होते यहाँ तक तो अन्य लोग भी कह देते हैं—इस लोक का कितना बड़ा विस्तार है वह चर्चा अलग है। मगर यह कहने की बात है कि यह लोक कितना बड़ा है? इस ३४३ घनराजु प्रमाण लोक में यह हजार, ५०० मील का परिचय बना लिया तो यह कुछ गिनती भी रखता है क्या? अरे यह अज्ञान अंधकार क्यों बनाया जा रहा, अपने सत्य को टटोलो—दुनिया में किसी जीज का कोई सहाय नहीं, कहीं भी जावो, कैसा ही कुछ कर लो, कोई मददगार नहीं है और अपने आपके सत्य के दर्शन हो जायें वह ज्ञानज्योति स्वरूप, जिसमें विकार की कालिमा नहीं, जिसमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं, किसी प्रकार का बोध नहीं, केवल एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश वही वही तो मैं हूँ, इस मर्म को कोई पा ले तो उसको सदा के लिये संकटों से मुक्ति हो जायगी, मगर यहाँ की चिकनी-चुपड़ी बातों में जो उलझ गया वह संसार में रहने का ही काम करता है। अपने को बचाओ, दूसरों पर क्या दृष्टि देना? अपने आप में अपनी दृष्टि बनाकर इस ज्ञानसुधारसका पान कर लें, यही उत्तम सत्य का पालन करना कहलायेगा और ऐसे उत्तम सत्य देवता प्रभुता की उपासना के लिए हमारा व्यवहार सत्य हो तब तो हम इस सत्य प्रभुता के पात्र बन सकेंगे और व्यवहार ही जिसका झूठ है, बेईमानी का है, मायाचार का है वह इस प्रभुता के क्या दर्शन करेगा? वे तो संसार के सुभट हैं। बरा अपनी कुछ दया करो, थोड़े समय को परिजनों का, घर का जरा स्थल

छोड़ दो, इस मूल को तो जड़ से उखाड़ना पड़ेगा। अनन्त जीवों में से कोई दो चार जीव क्या वे कुछ गिनती भी रखते हैं? जैसे अनन्तः जीव हैं वैसे ही घर के ये दो चार जीव हैं। इनसे मिलेगा क्या कुछ? जरा अपने को सम्हाल कर विचार करो, मोह मोह में ही मत पड़े रहो। बड़ी कठिनाई से मिला है यह मनुष्यभव, बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ है यह समागम। अहिंसा धर्म का जहाँ अपने को वातावरण मिल रहा हो ऐसा यह समागम बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ। इसे यों ही मत खो दो। अपने प्रभु पर अन्याय मत करो, नहीं तो इसका परिणाम बड़ा कठिन है। किसी भी जीव को सताओगे तो उसका फल बहुत खोटा मिलता है, और ऐसे अपने इस अनन्त आनन्द ज्ञान के पुञ्ज इस प्रभु को सता रहे हो तो इसका फल कौन भोगेगा?

विषयकपाय की उल्लान में प्राप्त उत्कर्ष की समाप्ति—देखो—कितना उत्कर्ष पाया, यदि विषय-कपाय में उलझे रहे तो सब समाप्त, ऐसे ही जानो कि एकेन्द्रिय जीव से निकलना ही बड़ा कठिन है, निगोद स्थावर पेड़, कीड़ा मकोड़ा आदिक हुए, फिर पञ्चेन्द्रिय हुए, इस आत्मदेव की प्रसन्नता पर, निर्मलता पर। जैसे शुद्ध भाव होता गया, वैसे ही वैसे यह विकसित होता गया। कितना विकसित हो गया कि यह मनुष्य बन गया। अब यह मनुष्य सोचता है इस प्रभु पर अन्याय करना, खूब मीज से खावो, खूब विषय सेवन करो, खूब सनमानी प्रीति करो, खूब आसक्ति से रहो, खूब नेत्रों से देखो—बढ़िया-बढ़िया रूप देखो, बढ़िया-बढ़िया रागरागनी सुनो—अरे यह सब तो अपने इस आत्मदेव पर अन्याय किया जा रहा है, पर फल क्या मिलेगा इसी आत्मप्रभु का आशीर्वाद मिल जायगा कि पुनर्निगोदो भव—फिर से निगोद हो जा। ऐसी-ऐसी विडम्बनायें, ऐसे-ऐसे ऊधम जिस लोग कहते हैं वाह वाह, बड़ा आराम है, बड़ा पुण्य मिला आ है। इस पर ऊधम का फल क्या मिलेगा? एकेन्द्रिय। अपने आप पर दया करो। रहना वहाँ कुछ नहीं है। हमारा सत्य हमारे अन्दर विराजमान है। एक बार लक्ष्मण और परशुराम का आमना सामना हुआ तो परशुराम ने क्रोध में आकर कहा—‘अरे क्रूर अधर्मी सम्हल देख अब मौत शीघ्र पर आयी है। तू हट जा मेरे सम्मुख से, करता क्यों टिटाई है।’ तो लक्ष्मण ने कहा—‘हे परशुराम जी—“करि विचार देखहु मन माही, मूँदहु आख कितउ कछु नाहीं।’ तो भाई इन परपदार्थों का संकल्प विकल्प छोड़कर अपने आपकी आर दृष्टि करो, अपनी प्रभुता के दर्शन करो तो कही कोई कष्ट नहीं है। अरे जिन बाह्य पदार्थों के पीछे इतना हेरान हो रहे वे अन्त में तेरे कुछ काम आयेंगे क्या? अरे ये सब तेरे से छूट जायेंगे, और फिर ये तेरे ही भी कहा सकते? तू तो कल्पनायें करके उन्हें अपना लेता है, उनमें ममता करता है। अरे ये सारे प्राप्त समागम कुछ भी सत्य नहीं हैं।

वास्तविक सत्य का दर्शन—सत्य क्या है? सत्य है सम्यग्दर्शन। अपने आपके सही स्वरूप का पता हो जाना, बस यही सत्य का परिचय है। मनुस्मृति में भी एक श्लोक लिखा है छठवें अध्याय का ७४वां श्लोक है जिमका अर्थ है जो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है वह कर्मों से नहीं बंधता, और जो सत्य से विहीन है, सम्यक्त्व से हीन है वह संसार में ही चलता है। क्या है वह सम्यग्दर्शन। नाम तो मुना है मगर सम्यक्त्व है क्या चीज? उसकी जब निर्विकल्प रूप अनुभूति बने तब वास्तव में सम्यक्त्व का परिचय होता है। हम आपको जरा ऊधम छोड़ना है, जरा ढंग से बनना है, सब काम बन जायगा, उसके लिए यत्न करें। आदत बनी है ना ऐसी? हमें तो मनपसंद बात मुनाओ, मनपसंद भोजन कराओ, मनपसंद चीज दिखाओ—अरे यह मन जो तेरे ऊपर हावी है, यह तो तुझे कुचले डाल रहा है। तू अपने मन को प्रसन्न रखना चाहता पर अपने आत्मा को ग्रहण करने का श्राव नहीं बनाता। अरे जिसे आत्मा प्रसन्न हो जाय ऐसा भाषण भी मुनना कठिन लगता है। तो भाई इस मन को प्रसन्न करने की बातें तो हर जगह मुलम हो जायेंगी, गप्प-सप्प करने वाले अज्ञानी लोगों से भी मिल जायेंगी, पर इनसे तेरा कुछ भी पूरा नहीं पड़ेगा। अरे तेरा पूरा पड़ेगा इन आचार्य संतों के द्वारा कही हुई वाणी का श्रवण करने से। इसके

प्रति तो तेरी उत्सुकता ही नहीं जगती। अरे यदि इन आचार्य संतजनों की वाणी सुनने का मौका मिले तो बहुत काल में दुःखी होता हुआ चला आया तेरा यह परमात्मदेव प्रसन्न हो जायगा। बस यही तेरी सत्य बात है। उत्तम सत्य है तो यही अन्तस्तरव। सत्य की महिमा सबने गायी है।

असत्य पाटी—असल में झूठ क्या है? इसका भी पता पा लो। जो विषय कषायों को बढ़ावा दे वह झूठ है और जो हमारे आत्मा को ज्ञान और वैराग्य से सुवासित करे वह उत्तम सत्य है। अब झूठों में ही परख की जा रही है। जो कम झूठ है उसका नाम सच है, जो असली सच है उसे असली कोई नहीं कह रहा, फिर भी नोक व्यवहार में हम आप लोगों का इतना तो संयम ही कि अप्रिय वचन मत बोलें—कटुक वचन, मर्मछेदी वचन मत बोलें। देखो जितने भी जीव हैं वे सब स्वरूप दृष्टि से एक समान हैं। कोई अगर विरुद्ध बन गया, उल्टा चल रहा तो उस बेचारे प्रभु का दोष नहीं है, वह तो हमारे स्वरूप के समान ही है, कर्मों का कुछ ऐसा ही उदय है कि वह उस तरह की अपनी प्रवृत्ति कर रहा है। इस मर्मछेदी वचन बोलने के कारण बाद में बड़ा पछतावा करना पड़ता है। ये मर्मछेदी वचन बाण की नोक से भी तीव्र घाय करने वाले हैं। जरासी बात में कषाय बना लेना, अपने मन को कुछ भी कन्ट्रोल में न रखना यह तो कितनी अज्ञानता भरी बात है, अरे किसी को अप्रिय, कटुक कठोर शब्द मन कहे। देख तेरे में मनुष्यपना, इन्सानियत कब आयगी जबकि तेरे अन्दर बैठे हुए क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें शांत हो जायें। ये चारों प्रकार की कषायें इस जीव के लिए अहितकारी हैं। क्यों नहीं अपना प्रोग्राम बनाते, अपना उद्यम करते इन कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए? क्रोध करके अपने को दुःखी क्यों किया जा रहा, मान करके क्यों ऐंठ बगरा रहे? अरे इससे तो न अपने खुद के काम के रहे और न दूसरों के काम के रहे? अपना एक ऐसा संकल्प बने कि मुझे कि मेरे में ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कोई भी कषायें न जगें। मन लो मायाचारी करके आज बहुत सा धन जोड़ लिया तो भला बताओ उससे क्या पूरा पड़ेगा? अरे पुण्य का उदय क्षीण होने पर सब कुछ तेरे पास से खिसक जायगा। कुछ भी तेरे पास न रहेगा। साधर्मजनों के साथ, परिजनों के साथ अथवा गुरुजनों के साथ, अथवा किसी के भी साथ यदि मायाचार किया जा रहा है तो उससे तुझे क्या लाभ मिल जायगा? अरे इन मलिनताओं के कारण तो तू अपने आपको धिक्कार। लोभ से भी तुझे क्या मिलेगा?

अपने आपके इस आत्मप्रभु पर इतना अन्याय क्यों किया जा रहा है? इस अन्याय करने का परिणाम तो बड़ा बुरा होगा। अपने वचनों पर कन्ट्रोल करो—इसके लिए मनुस्मृति में बताया है कि यदि कोई तेरे ऊपर क्रोध करता है तो उसे तू अपशब्द मत कह। यदि अज्ञानों पुरुष की भांति ही अपना भी कषाययुक्त व्यवहार बना लिया तो फिर ज्ञानी और अज्ञानी में फर्क ही क्या रहा?

वचन संयम का महत्व—जिसने गाली दी उसकी गाली यदि सहर्ष सुन लिया, उससे रंच भी धृष्ट न हुए तो समझ लो कि उसकी गाली उम्मी के पास जायगी। तो भाई सुधी शान्त होने की जो विधि है उस विधि के अनुसार चल लो। जहां हिंसा है वहां असत्य है और जहां अहिंसा है वहां सत्य है। अहिंसा और सत्य का बड़ा संबंध है। अपना व्यवहार असत्य से हटने और सत्य में आने का रहे। असत्य बोलने का परिणाम इतना कठोर बताया कि इसने सारी जिन्दगी भर जितना पुण्य किया है वह सब कुत्ते के बराबर हो जायगा। एक झूठ के बोलने में बताया है कि मारी जिन्दगी का पुण्य खतम हो जायगा। किसी प्राणी को अहितकारी वचन बोल दिया तो समझो कि उसने अपना सारा किया कराया पुण्य खतम कर दिया। अब क्या करना? ज्ञानार्णव में बताया है कि १—मौन रह जाओ—अगर आपको सत्य की सिद्धि करना है तो मौन रहो, और २—बोलो तो सबके लिये हितकारी वचन बोलो, ३—सबके लिए प्रिय वचन बोलो और ४—फिर वचन परिमित बोलो—बस आपके वचन सही बन गये। कषाय है

तो वचन भी वैसा ही बनेगा कषाय के अनुरूप । इन कषायों पर कन्ट्रोल करो अपने अन्तः विराजमान सत्य के दर्शन करो, किसी को धोखा मत दो, किसी के साथ विश्वासघात मत करो । सदाचार से चलना एक तपश्चरण में आनन्द बरसता है । तपश्चरण उनका ही सफल है, आनन्द उनके ही बर्तता है जिन्होंने सत्य का दर्शन किया है और सत्य की आराधना के लिये ही तपश्चरण हो रहा है । तो फिर जो सीधी बात है, सरल बात है, सत्य बात है उस पर तो टिकते नहीं और जो असत्य बात है उसमें टिकते हैं, जिसके कारण अनेक प्रकार की कषायें करनी पड़ती हैं । तो असत्य बात में टिककर उससे उत्पन्न हुआ दुःख तो सह लेगे पर सत्य की बात में टिक नहीं पाते । यहां पर जितना जो आनन्द (मौज) माना जा रहा है वह ध्रम का है । शुभचंद्राचार्य देव ने इसी ग्रन्थ में कहा है कि देखो पूछने पर भी इतनी बातें मत बोलो । सुनाने पर भी इतनी बातें मत सुनो—कौन सी बातें ? जो वचन शंका से व्याकुल हों, जो वचन पापरूप हों, जो वचन ईर्ष्या निन्दा वाले हों, जो वचन दोषों पर दृष्टि दिलाने वाले हों, जो वचन विषय-कषायों में फंसाने वाले हों... । मुझे न चाहिए ये मनपसंद बातें ? मुझे चाहिए आत्मपसंद बातें । मनपसंद बातें वे हैं जो पञ्चेन्द्रिय के विषयों की ओर प्रवृत्ति कराये और आत्मपसंद बातें वे हैं जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप की ओर प्रवृत्ति कराये, आत्मा के प्रकाश में अपने इस उपयोग को बसायें । इस आत्मपसंद बात को ही चाव से सुनें । कहीं बोलना पड़ रहा हो तो बस इस आत्मा की ही बात बोलने का चाव रखें । यदि सत्य की उपासना करना है तो मनपसंद की बात मत सुनो ।

सत्यस्वरूप बनाने के लिये पौरुष का अनुरोध—सत्य बनाने के लिये देखो कितना काम करने को पड़ा हुआ है ? कितना पौरुष पड़ा हुआ है करने को ? ये धन, वैभव, परिजन, ये हंसी मुस्करान ये मिलना जुलना, परिचय ये सब धोखे की चीजें हैं । ये आकर्षण की चीजें नहीं हैं । हम अपने में अपना काम बना लें, अपने आपमें अपना काम बनावें । अगर ऐसा करने लगें कुछ लोग तो यही है धर्म की प्रभावना, अपने धर्म की प्रभावना । अपना धर्म क्या ? आत्मा का धर्म । आत्मा के नाते से सोचो—मुक्ति का मार्ग एक ही है । शान्ति का मार्ग एक ही है । दूसरा हो नहीं सकता । जैसे यहां सभी लोग चाहे हिन्दू हों, मुसलमान हों, ईसाई हों, जैन हों, सभी एक ही ढंग से पैदा होते हैं और एक ही ढंग से मरण करते हैं । कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन सभी मनुष्यों के पैदा होने के ढंग और-और किस्म के हों । ऐसे ही सभी मनुष्यों में जो एक आत्मा की बात भीतर में होती है वह भी एक ढंग की जहां परका लोभ है वहां पाप है, जहां ज्ञानस्वरूप का दर्शन है वस वही धर्म है । अपनी दृष्टि यदि इन बाहरी पदार्थों की ओर होगी तो फिर इस शुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप के दर्शन न होंगे । तो इन बाहरी बातों का असहयोग कर लें, अपने भीतर जो ज्ञानज्योति है उसका अनुभव होगा । कोई भी बात हो, मूल बात जब हजारों लाखों कानों में पहुंचती है तो उस मूल बात में बड़ी विभिन्नता आ जाती है । तो भला हजारों लाखों वर्षों से जो बात चली आ रही हो उसकी मूल बात में तो बड़ी विभिन्नता हो ही जायेगी ! आज कलिकाल है । जमाना कुछ दूसरे ढंग का है । पहिले जमाना कुछ दूसरे ढंग का था । पहिले मूल बात कुछ और थी पर अब उसके रूप भिन्न-भिन्न हो गए, अनेक प्रकार के धर्म, अनेक प्रकार के मत-मतान्तर बन गये । नहीं तो पहिले सबकी मूल बात एक थी । वह मूल बात क्या थी । कि अपने आपके अन्तः प्रकाशमान इस सत्यज्ञानस्वरूप आत्मदेव के दर्शन होने की बात । यही है सत्य, इसका पालन करना है और उसके लिए व्यवहार बनाना है ऐसा मधुर सुन्दर कि अपने को कोई आफत न आये और अपने में हम सत्य की आराधना करें ।

उत्तम संयम धर्म

संयम स्वरूप जानकर संयम पालन का अनुरोध—आज दशलक्षण पर्व का छठवां दिन है। इसके अनुसार आज उत्तम संयम धर्म का वर्णन है। अविकारी निज ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के अवलम्बन से स्ययं प्रगट होने वाले शुद्ध स्वभाव में निरत रहना, संयत होना सो उत्तम संयम है। भव्य जीव दो प्रकार के संयम, एक इन्द्रिय संयम और दूसरा प्राणी संयम, दोनों प्रकार के संयमों का पालन करते हैं, ऐसा बड़े-बड़े मुनिराजों का कथन है। संसार के जितने सुख हैं वे सभी किसी अंश तक धर्म के आधीन हैं। वस्तुतः तो धर्म का फल मोक्ष का आनन्द है। संसार के ये सुख विनाशिक हैं। आज कोई धनी है, बल देखने में आता है कि वही भिखारी बनकर दर-दरपर भीख मांग रहा है। आज किसी के पुत्र प्रपौत्र आदि से घरा घरा हुआ है, कुछ ही दिनों बाद वह घर श्मशान की भांति सुनसान हो जाता है। औरों की तो बात छोड़ो राम बन्द्र जी सरीखों को भी देखो, जिनको सुबह के समय राज्य मिलना था, दोपहर के समय वे जंगल को चले जाते हैं। कोई भी जीव संसार में यह नहीं कह सकता कि मैं सदैव सुखी हूँ। आज सुखी है तो कल दुःखी हो जाता है, परन्तु खेद है कि इस प्रकार के विनाशिक सुख में भी भ्रमत्वबुद्धि कर करके यह महान् पापी हो रहा है। ऐश्वर्य पाकर अपने आप में नहीं रहता। फल क्या होता है—पाप कर्म बांध लेता है। अधिकतर ये सांसारिक सुख पाप ही के कर्ता हैं। ऐसे सुखों की रचि होना, उनमें सुख बद्धि पाना, यह विभाव मनुष्य जीवन को बर्बाद करता है। जितना कठिन मनुष्यभ्रम को पाना है उतना कठिन और भ्रम को पाना नहीं है। देव भी इसको तरसते हैं, विवेकी मनुष्य भी तरसते हैं। इस मनुष्यभ्रम में ही संयम है। सब कुछ सुख सामग्री होते हुए भी अपने मन को उनकी ओर से रोके रखना यह मनुष्यभ्रम में ही हो सकता है, देवों में नहीं। इसी भ्रम से ही मुक्ति होती है। मनुष्य जन्म में अतिरिक्त अन्य जीवन में संयम धर्म नहीं होता। ऐसे मनुष्य जीवन में संयम धर्म न पाला तो इससे कोई लाभ नहीं। फिर मनुष्य जन्म पाने का लाभ क्या लिया? कहते हो बच्चों को पालने का लाभ क्या लिया? अरे, बच्चे-बच्चों तो तिर्यञ्चों के भी होते रहते हैं। इसलिये मनुष्यभ्रम को वृथा न खोकर संयम धर्म का पालन करना चाहिये।

संजम जणि दुल्लहु तं पाविल्लहु जो छंडई पुणु मूढमई ।

सो भमइ भवावलि जरमरणावलि कि पावेसइ पुणु सुगई ॥

दुर्लभ मनुष्य जन्म में दुर्लभ संयम पालने का आदेश—यह संयम धर्म लोक में दुर्लभ है। सब कुछ चीजें मिल जाती हैं, पर संयम रूप प्रवृत्ति होना अधिक दुर्लभ वस्तु है। प्रथम तो सम्यग्ज्ञान का होना ही दुर्लभ है और सम्यक्त्व भी मिल जाय तो बड़े देवेन्द्र जैसे भी महान् आत्मा सम्यग्दृष्टि इस संयम को तरसा करते हैं। जब तीर्थंकर के वैराग्य होने लगा तो लौकांतिक देव आये और सभी देवता आये। जब तीर्थंकर देव वन को जाने की तैयारी करने लगे तो इन्द्र ने पालकी सजाई जिस पर बँठाकर तीर्थंकर के वन में ले जाने का प्रोग्राम था। भगवान बैठ गए। जब इन्द्र उस पालकी को उठाते हैं तो मनुष्य लोग मना कर देते हैं। तुम पालकी में हाथ नहीं लगा सकते, क्योंकि तुम्हें अधिकार नहीं। इन्द्र बोला—हमने गर्भ कल्याणक किया, हमें ही अधिकार है। दोनों में विवाद छिड़ गया। चार बड़े तुजुर्ग लोग न्याय करने के लिये बँठाए दिये। इन्द्र ने अपना बयान दिया कि हम गर्भ से भगवान की सेवा करते आये, जन्म के समय उत्सव मनाया, सब जगह हमारी मुख्यता रहती है। तो पालकी हमें उठा सकते हैं। मनुष्य कहते हैं नहीं, यह हमारे घर के हैं, हमें छोड़कर जा रहे हैं तो हमारा ही अधिकार है, कि हम इन्हें अपने कंधों पर पालकी रखकर पहुंचा आवें। दोनों के बयान सुने। बयानों को सुनकर निर्णय देने वालों ने निर्णय दिया कि भगवान की पालकी को वे उठायेंगे, जो भगवान के साथ-साथ भगवान जैसा हो सकेंगे। तब इन्द्र माथा

शुकाता है, मनुष्यों से भिक्षा मांगता है कि हे मनुष्यों ! हमारे समस्त इन्द्रपने की सम्पत्ति ले लो, पर मुझे इन्सानियत दे दो, मनुष्यत्व दे दो। यह मनुष्यत्व कितना अमूल्य भव है, दुर्लभ है जिसे पाकर हम इसे विषयों में ही गवा देते हैं। इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर हे भव्य पुरुषो ! इस संयम का पालन करो।

संयम की शीघ्र कर्तव्यता—जब भगवान नेमिनाथ के समवशरण में द्वारकापुरी की कहानी सुन ली थी कि यह १२ वर्ष बाद अस्म हो जावेगी तो श्रीकृष्ण के दरबार में सब लोग बैठे हुये थे, वहाँ श्रीकृष्ण के पुत्र पुष्प खड़े होकर कहते हैं—हमारा चित्त इस संसार में नहीं है, सब त्यागकर हम इस एक ज्ञान प्रभु की शरण लेंगे। लोगों ने सज्जाया, कहा बेटा ! तुम्हारे दादा बैठे हैं और बाप भी बैठे हैं, उस समय बसुदेव भी बैठे हुये थे, इतनी उतावली मत मचाओ। प्रद्युम्न कहते हैं जिसको संसार का खम्बा बनकर रहना हो रहे, पर मुझे तो इस संसार में खम्बा बनकर नहीं रहना है। दरबार से चल लिया। तो जब वह घर स्त्री के यहाँ पहुँचा और स्त्री से कहा कि हम विरक्त हो गये हैं इसलिये तुम सबको छोड़कर हम जा रहे हैं। तो स्त्री बोलती है कि झूठ बोलते हो। यदि तुम विरक्त हो चुके होते तो हमसे पूछने की क्या जरूरत थी ? और तुम विरक्त हो या न हो, यह मैं चली। भैया ! संयम के लिये जितनी उलायत हो उतनी उलायत करो। क्या पागल हो रहे हो ? रात्रि का भोजन नहीं छोड़ सकते, अशुद्ध पदार्थ बाजार की सड़ी-गली पूड़ी साग आदि नहीं छोड़ सकते। घटनायें चर्से बता देते, हमें सचिस में ऐसी परेशानी होती है, रोजगार में जाना पड़ता है ; और जब पशु पक्षी की गति मिल जाय या नरक गति मिल जाय तो किससे फरियाद करोगे ? जैसा जीवन को ढालना चाहो वैसा बन सकता है। सचिस हो या दूर जाना हो। क्या पहिले के लोगों संयमपूर्वक नहीं रहते थे ? लोटा डोर छल्ला उनके थैले में रहा करता था और थोड़ा सा कलेवा भी ले जाते थे। बहुत दिन लगने की सभावना हो तो कनक ले जाते थे। क्या नहीं पाला जा सकता है ? पर दिल बनाओ। यह मनुष्यत्व बार बार नहीं मिलता और फिर इस संयम का पालन करना जो छोड़ देते हैं वे सूड़ बुद्धि वाले हैं, जन्म मरण के चक्ररूपी संसार में भ्रमण करने वाले हैं। वे सुगति को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

विषयरति से खुदकी बारबादी—गुरु जी सुनाते थे बनारस की बात, जो वे पढ़ते थे। उनके मित्रों ने कहा चलो जी आज बढ़िया नाटक हो रहा है। हसीने नाटक था। गुरु जी बोले तुम तो बड़े आदमी हो, दो रुपया वाली सीट पर बैठोगे और हमें दो आने की सीट पर बैठना पड़ेगा। ...नहीं, जहाँ हम बैठे वही तुम बैठना। हाथ पकड़कर जबरदस्ती ले गये। वहाँ देखा नाटक हो रहा था। स्त्री का पार्ट करने वाली स्त्रियाँ ही पार्ट करती थीं। एक कोई दर्शक चक्कू साथ में लिये हुये था। उसने एक पर्चे पर कुछ लिख दिया। लिखी होगी कोई गंदी ही बात। उस पर्चे को स्टेज पर फेंक दिया। तो उस स्त्री ने जो स्टेज पर पार्ट कर रही थी उस पर्चे को बुरी तरह कुचल दिया और बुरी दृष्टि से देखा। उसका दिल इतना हताश हुआ कि छुरी लिए था अपने बगल में से निकालकर अपने पेट में छुरी भोंक ली। देखो यह विषयासक्ति कितनी गंदी चीज है। दसों घटनायें देश मे ऐसी ही रोज होती होंगी। जो मनुष्य जन्म को पाकर इस प्रकार विषयों में रति करता है वह संसार मे भ्रमण करता है। सोचो तो सही, अनन्तकाल से अब तक जन्म मरण के चक्र में रह आये, ऐसी-ऐसी दशायें भोगीं, जिनका स्मरण आ जाय तो दिल में पीड़ा पहुँचे और उसी तरह यह भव भी गवां दिया जो भरकर कुछ और हो गये, असंज्ञी आदि हो गये तो क्या लाभ मिलेगा ? इस संयम का पालन करके अपने जन्म को सफल करो।

संजम पंचिदियदंडणेण, संजमजि कसायविहंडणेण ।

संजम दुद्धरतवधारणेण, संजमरसचायवियारणेण ॥

इन्द्रियविजय में सर्वविजय—संयम होता है पचेन्द्रिय के विषयों का दमन करने से। जो इन्द्रियविजय है वही वास्तव में विजयी है। पुण्य का उदय आया, कुछ बल मिला, समागम अच्छा मिला, वैभव मिला तो इसमें

चाहे दूसरों को सत्ता लेना, दूसरों पर बल प्रयोग करना ये तो साधारण बातें हैं। इनमें साहस की बात नहीं। किन्तु अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेना अपनी इच्छाओं पर विजय पा लेना यह है वीरता की बात। एक राजा था, उसने सब राजाओं को जीत लिया और अपना नाम रख लिया उसने सर्वजीत। सब लोग कहें सर्वजीत महा-राज की जय। परन्तु उसकी मां न कहे सर्वजीत। एक दिन मां से कहा कि दुनिया तो हमें सर्वजीत कहती है और तू हमें सर्वजीत नहीं कहती है। मां ने कहा वेटा ! तूने अभी सबको नहीं जीता है। '...बसलाबो कौन राजा बाकी रह गया है ? मैं अभी जीतकर आऊँ, ...देखो तुमने अभी अपने मन को नहीं जीता। जिस दिन मन को जीत लो, इन्द्रिय विषयों को जीत लो तब मैं तुम्हें सर्वजीत कहूँगी। जब तक मन नहीं जीता, विषयों की प्रवृत्तियों को न हटाया तब तक वह सर्वजीत कैसे हो सकता है ?

कषाय परिहार से संयम की साधना—संयम धर्म त्याग करने से होता है। गुस्सा होते जावो और पूजन करते जावो। पूजन करते जावो और दूसरे को आज्ञा देकर कहते जावो अजी वह चीज ले आवो, तो वह पूजन व्यर्थ हो गया। यह तो छोटे की हुकम देना हुआ, अपने में भ्रातिकर्षण का भाव आया, दूसरों में तुच्छता का भाव आया। अरे पूजन में चाहे कोई सामग्री कम हो तो उससे खेद नहीं मानना चाहिये। पूजन के समय तो बड़ी ही नम्रता रखनी चाहिये। भगवान को तो किसी सामग्री की आवश्यकता ही नहीं। आपने पूजन के समय बहुत सी सामग्री सजाकर रखी और किसी सामग्री की चूटि रह जाय जो उससे पूजन नहीं बिगड़ता। उस पर तो खेद हो और अपने घर का जो नौकर है उस पर नौकर की सी दृष्टि रहे यह तो ठीक नहीं। पूजन करते समय तो ऐसी भावना भानी थी कि इस जगत के सर्व-जीव एक समान हैं। सबके स्वरूप में धुलमिलकर अपने को खो देना था। ऐसा खो देना तो दूर रहा और वहां छोटे बड़ेपन का विचार आ गया तब क्या रहा ? वह पूजन नहीं रहा। कषाय का परिहार करके पूजन करना चाहिये। कषाय का तो सर्वत्र परिहार करना चाहिये।

परबस्तु सन्यास द्वारा संयमधारण का अनुरोध—भैया ! चेत लो, सोच लो, हमें भी सब कुछ छोड़-छाड़कर चला जाना होगा। जो कुछ सामग्री प्राप्त हुई है वह अन्वल तो जीवन में ही पुण्यक्षय से विछुड़ जायेगी अन्यथा मरण समय तो हमें छोड़नी ही पड़ेगी। यदि इस समग्र इनमें समत्व है तो छोड़ते हुए बहुत दुःख हीगा। अतः हमारा कर्तव्य है कि वह स्वयं हमसे छूटे, इससे पहले ही हम उन्हें छोड़ दें और छोड़ क्या दें भैया, वह तो हमसे छूटी ही है, भिन्न ही है। हां श्रद्धा इस प्रकार की बना लें कि वह सब हमारी नहीं है। सदैव हमें संयम धर्म पर अपनी दृष्टि रखना चाहिये। मुनिराज कहते हैं—हे भाई ! यदि अपने मनुष्य जन्म की सफलता चाहते हो तो दोनों प्रकार का संयम धारण करो।

परमार्थसंयम का समीक्षण—आज उत्तम संयमधर्म का दिवस है। संयम धर्म किसे कहते हैं सम्यग्दर्शन सहित अर्थात् अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावमय, अपनी ही आत्मा की दृष्टि रखकर यह मैं हूँ ऐसी अटल श्रद्धा होकर इसी वीतराग ज्ञानमय भाव में स्थित हो जाना सौ उत्तम संयम धर्म है। यह उत्तम संयम धर्म आत्मा का स्वभाव है। यह धर्म देह की प्रवृत्ति में नहीं है, किसी क्षेत्र में नहीं है, किसी काल में नहीं है, किसी परंपरा में नहीं है, मेरा यह धर्म अर्हतदेव में नहीं है, यह मेरे आत्मदेश के सिवाय किसी अन्यत्र ज्ञ में नहीं है। हर समय मुझमें है, किसी विशेषकाल ही में नहीं है, मुझमें ही है किसी परंपरामें नहीं है, मेरे ही भाव में है किसी पर के भाव में नहीं है। यह धर्म कहीं से आना जाना नहीं है। अपने से विभाव हटा दो, बस, यह धर्म अपनी आत्मा में रह जायेगा। ऐसे संयम धर्म को अन्यत्र लक्ष्य करके कैसे पाया जा सकता है ? कोई समझे अर्हत भगवान् की पूजा करके इस धर्म को पा लूंगा। अरे भाई ! वह पूजा भी तो इसी लिये है कि अर्हतदेव का लक्ष्य करके अपने आत्मदेव को लक्ष्य हो जाये। धर्म जब भी प्रगट होगा, अपने आप में शुद्ध ज्ञान के विकास को लेकर होगा। धर्म के प्रगट होने

का और कोई जरिया नहीं। उत्तम संयम कैसे मिलेगा? आत्मा के अनादि अनन्त ज्ञान के अन्तःप्रकाशमय रहने वाले उत्तम भावों को उत्तम संयम धर्म कहते हैं, उन भावों की प्राप्ति से ही उत्तम संयम धर्म मिलेगा। जिनको प्राणियों पर दया होती है, वे प्राणी लौकिक संयम धर्म की ही रक्षा करते हैं, किन्तु जिनकी अपनी आत्मा पर दया है और विषयकषायों आदि से विमुक्तता है, वे अपनी आत्मा रूप संयम धर्म की रक्षा करते हैं।

असंयमीजनों को संयम में प्राप्त होने वाले आनन्द के अन्दाजाकी असंभवता—यह संयम दुर्घर समस्याओं को धारण करके प्रकट होता है। संयम में जो आनन्द होता है उसे असंयमी पुरुष कैसे समझ सकते? जब ज्ञानोपयोग अपने आत्मा के शुद्ध ज्ञायकस्वरूप में रमता है उस समय जो प्रभु के आनन्द के सदृश जाति का सहज आनन्द प्रकट होता है उसको असंयमी पुरुष अथवा मिथ्यादृष्टि पुरुष अनुभव में नहीं ला सकते। जिसको विषय विष ही रुचता है, जो घर के दो-चार जीवों को ही अपना सर्वस्व मानता है, ऐसी वासना जो बनाये हुए हैं वह भगवान के आनन्द का और स्वरूप का क्या अंदाज कर सकता है? दो सहेलियाँ थीं। एक थी कन्हारिन की लड़की और एक थी मालिन की लड़की। दोनों की शादी हो गई। कन्हारिन की लड़की देहात में ब्याही गई और मालिन की लड़की शहर में ब्याही गई। एक दिन कन्हारिन मछली का टोकरा लेकर उसी शहर में बेचने गई। देर हो गई, शाम हो गई। सोचा यहां मेरी सहेली रहती है वहां ही रात बिताऊंगी, ठहर गई। मालिन ने बड़ा आदर किया। भोजन कराया और सोने के लिये बहुत बढ़िया पलंग बिछाया, कोमल गद्दा बिछाया और सुगंधित फूलों की पंखुड़ियां बिखेर दी। बहुत दिनों में सहेली मिली है, सुखपूर्वक सोये। उस पलंग पर कन्हारिन लेट गई। उसे नींद न आये, मालिन की लड़की बोली—बहिन! क्यों करवटें बदलती हो? अरी सखी! पलंग पर क्या बिछा रखा है? इन फूलों की बदबू के मारे नाक फटी जा रही है। अरे इनको तो बड़े-बड़े राजा महाराजा तरसते हैं। तरसते होंगे। उनका दिमाग खोटा होगा। अच्छा तो निकाले लेती हूं। निकाल लिया फटक दिया और चादर बिछा दी। तिसपर भी कन्हारिन को नींद नहीं आई। मालिन ने पूछा बहिन क्यों नींद नहीं आती? अजी यहां अभी उन फूलों की बदबू भरी है सो नींद नहीं आती। मालिन ने कहा—क्या करें सो तो बताओ? कन्हारिन ने कहा देखो, वह जो मछली का टोकरा रखा है सो हमारे सिरहाने धर दो और यह टोकरी सूख गई है सो १०-१२ पानी के छींटे लगा दो। उसने वैसा ही किया, और जब उसकी बदबू नाक में घुसी तब उस बेचारी को नींद आयी। उसके लिये तो वह बदबू सुगंध थी। जो मछली की गंध में पला हो उसे फूलों की सुगंध नहीं सुहाती। जो मिथ्यात्व, मोह, ममता में ही पला हो उसे ज्ञान स्वरूप, संयम वैराग्य आदि नहीं सुहाते।

ज्ञान और संयम से ही आत्मोद्धार की संभवता—भैया, उद्धार होगा तो अपने ज्ञान और संयम से ही। ये स्त्री पुत्र मददगार न होंगे, पति और बेटा मददगार न होंगे। व्यवहार अपना ठीक रखो, मगर श्रद्धा तो अपनी सही बनाओ। रत्नत्रय से ही पूरा पड़ेगा। यह संयम रस परित्याग करने से होता है। प्राण नहीं निकलना चाहिये इतना तो ध्यान रखो, मगर बढ़िया भोजन हो, खूब भीठा हो, अच्छा हो इस पगलोई में भी तो नहीं पड़ना चाहिये। प्राण इसलिये चाहिये कि दुर्लभ मनुष्य जीवन पाया है तो संयम और धर्म का पालन बना रहे। यह संयम मन का प्रसार रोकने से ही होता है। मन करता है जिसको वह अच्छी जगह करे, क्योंकि यह मन आपका मित्र नहीं है। मित्र कहो, रक्षक कहो, गुरु कहो, देव कहो, आपका ज्ञानस्वरूप भाव है। उसकी दृष्टि छोड़कर इन्द्रिय विषयों में दृष्टि लगाना, सो यह तो श्रेष्ठ बात नहीं है।

त्रिविध विरक्ति वृत्तियां—एक भंगिन मल का टोकरा लिये जा रही थी। एक सज्जन आदमी ने एक साफ स्वच्छ तौलिया दे दिया कि इसे ढक ले, नहीं तो बहुत से लोगों को तकलीफ होगी। उस टोकरे को बहुत बढ़िया तौलिया से ढक दिया। वह चली जा रही थी। आगे गई तो तीन मित्रों ने देखा कि इतनी बढ़िया तौलिया

मे क्या ढके लिए जा रही है ? उसके पीछे तीनों लग गये । भंगिन कहती है भैया क्यों पीछे लगे हो ? तीनों ने कहा, यह सिर पर क्या रखे हो ? भंगिन ने कहा मैला है । यह बात सुनकर एक मित्र लौट गया । दो संग में चले जा रहे हैं । मोचा कि यह बहका रही होगी । यह तो कोई बढ़िया चीज है । भंगिन ने कहा भैया क्यों पीछे आ रहे हो ? कहा—देखना है कि इसमें क्या है ? जो बढ़िया सफेद तीलिया से ढका है । कहती है मैला है । अरे तुम बहकाती हो । अच्छा देख लो । तीलिया हटाया । दूसरा समझ गया कि मैला है । लौट गया । तीसरा पीछा नहीं छोड़ता है । भंगिन ने पूछा, क्यों पीछे लगे हो ? ... कहा इसमें क्या है ... मैला है ... दिखा तो दो, दिखा दिया । देख लिया पर मोचता है कि यह मैला नहीं है । दिखने से क्या है ? यह तो कोई और चीज है । ऐसा तो रंग बहुत भी चीजों का भी हो सकता है । तो फिर वह नाक से सूंघता है । जब सब सूंघ लिया तब समझा कि हां मैला है । तब लौट गया । ऐसे ही तीन तरह के विरक्त पुरुष भी होते हैं । एक तो ऐसे विरक्त पुरुष होते हैं कि कहने मात्र से ही विरक्त हो जाते हैं और भोगों में फंसने के पहिले ही अपने आपका स्वरूप निरखते हैं । अच्छा होना तो पहले पुरुष की ही तरह होना है और दूसरे वे हैं जरा देख तो लें निषय भोग घर गृहस्थी । न सार की चीज मिलेगी तो छोड़ देंगे । सो थोड़ासा वे फंसते हैं, और फंसकर देख लेते हैं, और सार नहीं नजर आता तो शीघ्र विरक्त हो जाते हैं, पर तीसरे वे हैं जो बहुत काल तक देखते हैं, पर कहते हैं अभी क्या देखा ? लड़कों से मुझ नहीं मिला है, शायद नाती पोतों से मुझ मिल जायगा । तो उन्होंने और प्रतीक्षा कर लिया, निरीक्षण कर लिया । खूब ठोकरें खा-खाकर बूढ़े हो जाते हैं और फिर भी ठोकरें खाते रहते मरते हैं ।

स्ववशा कष्टसहिष्णु बनकर संयम की आराधना करके परमविश्राम का अनुरोध—जो अपना मुधार कर जायेगा, सो इस संसार में डीक है और जो अपनी दृष्टि अपनी आत्मा के मुधार में नहीं देगा, पापों में ही रत रहेगा, वह संसार में भ्रमण करता ही रहेगा । इसलिये ऐसे मनुष्यभवं को वृथा नहीं खोना चाहिये । देवता लोग भी इस भव के लिये तरसते हैं । ऐसे अवसर को हाथों से न जाने दो और उत्तम संयम का पालन करो । जो मुनि हुये, देव हुए, सब आप सबमें ही से तो हुये । क्या फिर आप भी वैसे ही मुनि और देव आदि नहीं हो सकते ? अरे, भाई, परवगता में तो नाना दुःख सहने पड़ते हैं । जब कर्म की थपेड़ लगती है तो क्या क्या सहना नहीं पड़ता ? बीमार हो जाते हैं, महीनों महीनों खाने को कुछ नहीं मिलता, स्त्री पुत्र आदि मर जाते हैं । सब कुछ सहन करना पड़ता है और यदि कह दें कि भाई एक दिन के लिये उपवास कर लो या कुछ समय स्त्री-पुत्रों से अलग रहकर धर्म-साधना कर लो तो कहने लगते कि हमसे तो नहीं बनता । भाई, जो जो परेशानियां परवश होकर सहनी पड़ती हैं, यदि उनका शतांश भी अपने वश होकर सहन कर लें तो क्या अपना उद्धार नहीं कर सकते ? संयम आत्मा का अपूर्व विश्राम है जिसमें दुःख का लेश नहीं है । ऐसे संयम को जो दो प्रकार का है, भव्य जीवों को पालन करना चाहिये । संसार में संयम का पाना बहुत दुर्लभ है । सब कुछ शीघ्र ही प्राप्त हो जाए परंतु संयम प्राप्त नहीं हो जाता । जो मनुष्यभवं पाकर वृथा ही खो दे वह तो महामूर्ख है । जिसके संयम नहीं होता वह संसार में भ्रमण करता है । मनुष्य जीवन तो इसके पालन करने के लिए ही मिला है । सब कुछ तो और किसी भी भव में मिल जायगा । यदि मनुष्य इस धर्म का पालन नहीं करता तो मानो विधि यह जानकर कि इसको मनुष्य जीवन देने की आवश्यकता नहीं, तिर्यञ्च गति में पटक देता है ।

इन्द्रियविजय करके हृदय क्षेत्र को पवित्र बनाने में आत्मा की सत्य विजय—संयम का पालन करने के लिये सबसे पहिले अपने हृदय क्षेत्र को अच्छी तरह से बनाने की जरूरत है । वह कैसे बनेगा ? सभ्यकव्य भावना से बनेगा । वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसकी श्रद्धा से बनेगा । मेरा स्वरूप ज्ञानमय, कषायादि विकारों से रहित है, इस वास्तविक श्रद्धापूर्वक अपने को अकषाय समझकर क्या पुरुष विषय कषायों में प्रवृत्त होगा ? जिसने अपने आप

पर दया की अर्थात् अपने स्वभाव की रक्षा की, विभाव को हटाया, उसने दुनिया पर दया पाल ली। इसलिये अपने ज्ञानस्वभाव को धारण करो, इन्द्रियदमन आदि सर्वविधि ज्ञानी के प्रकट होंगी ही। यह संयम पंचेन्द्रियों को दश में करने से होता है सो ज्ञानदृष्टि होने पर ही इन्द्रियां समूलवश हो जाती हैं। मात्र नामनिक्षेप से वास्तविकता नहीं। जैसे सर्वजीत नामक राजा ने बड़े आश्चर्य के साथ एक दिन अपनी माता के पास जाकर यह पूछा था कि मां, तुम मुझे सर्वजीत क्यों नहीं कहती? सारी दुनिया तो मुझे सर्वजीत कहती है। मां ने कहा कि अभी तू सर्वजीत नहीं हुआ है? तो वह बोला कि क्यों नहीं हुआ? सब देश मेरी आज्ञा में हैं। तब मां ने कहा कि तेरा सबसे बड़ा दुश्मन तो अभी तक तेरे सामने ही है, उसको जीतेगा तब सर्वजीत कहलायेगा। वह दुश्मन है इन्द्रियों में विश्वास। जिस दिन इस दुश्मन को तू जीत लेगा, उस दिन मैं तुझे सर्वजीत ही नहीं कहूँगी बल्कि तेरे चरणों में भी गिर जाऊँगी। सो भैया! असली शत्रु तो हमारे पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं। इन्हीं को दश में करो, अवश्य कल्याण होगा। सब संसार तुम्हारे चरणों में झुक जायेगा।

क्षोभ के अभाव में संयम की उपपत्ति—भैया! सब कुछ हमें जो मिला, वह सब एक दिन यही रह ही तो जायेगा, किन्तु किसी न किसी हासत में यह आत्मा रहेगा ही और अपने किए हुए भाव से सुख दुःख तो इस भोगना ही पड़ेगा। इसलिये अपने आपके ज्ञानस्वभाव को पहिचानों और विषयकषायों से और इन्द्रियों की दासता से अने को बचाओ, यही श्रेयस्कर है। जिस समय अपने ही दर्शनज्ञानचारित्र पर श्रद्धा होगी, पर्यायों में रुचि या आत्मबुद्धि नहीं रहेगी तब दुनिया के द्वारा कितनी ही निन्दा किये जाने पर भी क्षोभ भाव नहीं आयेगा। क्षोभ के न होने पर ही तो आत्मसंयम होता है। संयम दुर्घर तप के धारण करने से होता है। तब क्या क्लेश से संयम होता है? नहीं! संयम क्लेश के नाश से होता है। तपस्या में क्लेश नहीं होता, परन्तु यथाशक्ति तपस्या करो। शक्ति के अन्दर तप कर रहा है तो उसका अन्तर निर्मल ही बना रहता है। शक्ति से बाहर तप करने में तो क्लेश होता है। यथाशक्ति तप करने में बड़ा आनन्द होता है। यह व्यवहार संयम का रूप है। बाह्य किसी पदार्थ में रत न होकर एक अपनी आत्मा में यही समझ रखना कि एक ज्ञाता दृष्टा होना ही सुख की चीज है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी विकल्प ही वह भव दुःख है, यह अन्तःसंयम है।

इन्द्रियों को विषयों में उपयोग करने के कारण मानव-जीवन की विफलता का चित्रण—एक कवि ने एक व्यर्थ मनुष्य जीवन खोने वाले को एक कथोक्ति से समझाया। एक बार एक मनुष्य मर गया। मरघट में उसकी लाश पड़ी, श्रृगाल आते हैं, खाने को तैयार होते हैं। किसी कुत्ते ने लड़क्ये (स्याल) को समझाया—हस्तौ दान विविजतौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणी, नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते पादौ न तीर्थ गती। अन्यायाजितचित्त पूर्णमुदरं गर्वैण तुंग शिरः, रे रे जम्बुक मुञ्च मुञ्च सहसा नीचं सुनिर्गम वपुः॥ हे लड़क्ये! इसका हाथ मत खा, यह हाथ पापी है, इस हाथ से उसने कभी दान नहीं किया। इसलिये यह खाने लायक नहीं है। इसके कान को भी मत छू, इसने कभी धर्म का एक शब्द भी नहीं सुना। जिनवाणी के वचन कभी इन कान में नहीं आये। अतः यह भी खाने योग्य नहीं है। इसकी आंख दिखने में तो सुन्दर दीखती हैं, परन्तु इसने कभी साधु, सन्त, महापुरुषों के दर्शन नहीं किये, इसलिये ये नेत्र भी पापी हैं। तू इसका पेट भी मत खा, यह पेट अन्याय से कमाये हुए धन से भर गया है, इसलिये यह भी तेरे खाने योग्य नहीं है। इसका सिर भी बिल्कुल अपवित्र है, इसने अभिमान में आकर, गर्व में आकर हमेशा अपने आपको ऊँचा ही उठाये रखा। महानपुरुषों के सामने भी कभी नहीं झुका। इसलिए यह सारा का सारा शरीर ही तू मत खा, यह तो बिल्कुल अपवित्र है। यह सारा का सारा शरीर नीच है। इसी तरह यदि अपनी आत्मा का ख्याल नहीं किया तो सचमुच में ऐसा ही हमारा शरीर होगा। यह तो मात्र पर के व्याज से उपालम्भ है, अपवित्र नीच तो मलिन आत्मा ही है।

मनोनिरोध व विशुद्धानन्द से संयम की उपपत्ति—यह संयम चंचल मन के रोकने से होता है। यथा शक्ति कायक्लेश से भी उत्तम संयम होता है। कायक्लेश दुनिया को दीखते हैं, परन्तु पूष्यपाद स्वामी जी ने बताया—आनन्दो निर्दहृत्युद्धं कर्मन्धनमनारत्नं । न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥ अर्थात् कर्म की निर्जरा वतुःख से नहीं होती, कायक्लेश से नहीं होती, आत्मा का निज आनन्द जब प्रगट होता है तब कर्म की निर्जरा होती है। जिसके परिणाम में निर्मलता आती है, उसे कायक्लेश का भान नहीं होता, परिणामों की उस निर्मलता से परम आनन्द रूप रहे, ऐसे आत्मीय आनन्द से निर्जरा होती है। कायक्लेश नाम तो रागियों की बोट से रखा गया। यह उत्तम संयम परिग्रह के त्याग करने से होता है। परपदार्थों में जिनको रुचि हो उनका इसी लोक में विनाश हो रहा है। अपनी इन्द्रियों को संयमित करो। सप्त व्यसनों का त्याग करो। जुवा खेलने वाला, चोरी करने वाला, शिकार का शौकीन, वेद्यागामी, परस्त्रीलम्पटी, महापापी, मांसलोलुपी कभी भी संयम धारण नहीं कर सकता। इनके त्याग करने से ही तो संयम होता है। यह तो अभी उत्तम संयम का बहुत हल्का रूप है। वास्तविक उत्तम संयम तो ज्ञान स्वभाव निजब्रह्म में संयमित होने से ही होता है। ये इन्द्रिय विषय साक्षात् क्लेशों में पटक देते हैं, फिर भी विषयेक की मदिरा पीने का पागलपन नहीं छूटता।

आरासतलबी के परिहार में संयम की उपपत्ति—संजम गुरुकार्याकलिसिणेणः—बड़े-बड़े कायक्लेशों से, तपों से यह संयम ब्रत होता है। देखो गृहस्थी में भी बड़ी आय की चीज बनावोगे तो पहले बहुत कष्ट उठावोगे। कोई कारखाना खोला तो कई वर्ष तक सारा रुपया फंसाया, बड़े-बड़े कष्ट उठाये, सब कुछ उसमें ही लगा दिया तो वह धनार्जन की एक तपस्या है। बड़े कायक्लेशों से उसको करने पर फिर बाद में अच्छी आय की सिद्धि होती है। सदा के लिये संसार के संकट मिट जायें, इतना बड़ा लाभ करने की बात चिन्त में चाहो और चाहो कि घर की मौज भी अच्छा बनी रहे, और मोक्ष मार्ग भी चलता रहे सो नहीं हो सकता। मोक्ष मार्ग संयम से ही मिलेगा और संयम की सिद्धि के लिये बड़े-बड़े क्लेश भी सहने होंगे। एक नौकर राजा का बिस्तर लगाया करता था। बहुत बढ़िया स्प्रिंगदार पलंग था, कोमल गद्ददार था। सोचा कि राजा साहब ऐसे पलंग पर रोज सोते हैं। अभी उनके आने में तो आधा घन्टे की देर है। सोचा कि ५ मिनट खूब पैर पसारकर मौज तो मार लें कि यह कितना बढ़िया है। वह लेट गया, उसे २-३ मिनट में ही नींद आ गई। आध घन्टे बाद राजा आया। उसको जगाया। राजा को गुस्सा आ गया कि मेरा पलंग जूठा कर दिया याने सो गया। खड़ा करके राजा ने उसके बेंत लगाये जैसे ही राजा बेंत मारे तैसे ही वह हंसता जाय। राजा ने कहा कि तू पिटता भी है और हंसता भी है। क्यों हंसता है? नौकर ने कहा महाराज हम इसलिये हंसते हैं कि हम तो पांच मिनट सोये सो बेंत लग रहे हैं और आप रोज-रोज सोते तो न जाने क्या लगेगे! यह विषयों का मौज भोगते समय तो भला लगता है, मगर इसका परिणाम नियम से खोटा होगा। खूब देख लिया होगा, खूब समझ लिया होगा। कौनसा विषयों में सार मिलता है? यह संयम परिग्रह-पिशाच के त्याग से होता है।

संजमु तस—धावर—रक्खणेण, संजमु सत्तथ परिक्खणेण ।

संजमु तण्—जोय—णियंतणेण, संजमु बहु—गमणु चरयंतएण ॥

जीवदया व तत्त्वपरीक्षण से संयम की उपपत्ति—यह संयम त्रस और स्यावर जीवों की रक्षा करने से प्रकट होता है। जहां हिंसा है वहां संयम कैसे? संयम में प्रधानता दो चीजों की है—(१) प्राण संयम और (२) इन्द्रिय संयम। अपनी इन्द्रियों को बश में करो और किसी जीव की हिंसा न करो। तो दो बातों पर ध्यान जितना बन सके उतना ही आपका संयम है। यह संयम सप्ततत्त्वों की परीक्षा करने से होता है। जब ज्ञान की महीमा, ज्ञान का चमत्कार समझ में आता है। जो यह जीव अपने स्वभाव में प्रवेश करे, क्योंकि परमार्थ संयम

तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होता है। असंयम से तो कष्ट ही व्यर्थ भोगना पड़ता है।

असंयम से व्यसनसंपात—एक थानेदार था। सो उसका किसी पड़ोस की स्त्री से प्रेम हो गया। तो एक वर्ष तो उस गांव में गुजर गया। बाद में तवादले का हुक्म आ गया। अब वह था बड़ा परेशान। थानेदार उसे मनात्र कि तू भी चल। कोई दूसरे के साथ कैसे चल दे? बड़ी चिन्ता में था। कोई ममझदार दूसरी औरत वहां रहती थी जिससे थानेदार का परिचय था। उस औरत ने पूछा कि क्या बात है? क्यों दुःखी हो? थानेदार ने सारी बात बता दी। यह नहीं चलने को राजी होती है। अच्छा हम समझा देंगी। उस कुटिला के पास वह स्त्री गई। दो तीन दिन रही, बड़ी सेवा की और एक दिन बड़ी उदास हो गई। उस कुटिला ने पूछा आज क्यों उदास हो? वह बोली—तुम एक बात बतलाओ तब हमारी शीतर की शल्य मिटेगी। बोली क्या? कहा यह बतलाओ कि तुम्हारी किस किससे प्रीति है।... लिख लो फलाने प्रसाद, फलाने नाथ! ऐसे ५० नाम लिख दिये। फलाने नाथ। अच्छी बात। लिखते-लिखते ६० नाम ही गये। और ख्याल करलो। ७० नाम हो गये। और भी ख्याल किया तो दो नाम और उनमें मिले, ७२ हो गये। सारी लिस्ट में उन थानेदार साहब का नाम ही न आया। थानेदार के पास वह गई, कहती है 'कि मैं लिख देती पत्तर में, तू सत्तर में न बहत्तर में'। याने जिसके पीछे तू रात दिन स्वप्न देखा करता है उसकी लिस्ट में तेरा नाम ही नहीं है। उसके ज्ञान जग गया। समझ गया कि सब माया की बातें हैं। तो यह मन जब भ्रम जाता है कहीं, तो उसके स्थिरता नहीं हो पाती है। यह संयम, ज्ञान हो तब यह स्थिरता रहती है।

यह संयम काययोग का नियंत्रण करने से होता है और बहुत-बहुत गमनों का त्याग करने से यह संयम होता है। साधुओं का चानुर्मास क्यों होता है? यों कि गमन करने में, चलने में असंयम होता है। इस मनुष्य जीवन को क्यों व्यर्थ गंवा रहे हो? दूसरे के मोह में पड़कर व्यर्थ अपने को बरबाद कर रहे हो। उत्तम धर्म इन परिग्रहों के त्याग से, इस मूर्च्छा के त्याग से होता है। संयम क्या है? संयम-दो प्रकार के होते हैं—इन्द्रिय-संयम और प्राण-संयम। इन्द्रियों के विषयों में न पड़ना इन्द्रिय संयम कहलाता है और जीवों की रक्षा करना प्राण-संयम कहलाता है। दयालु आदमी का सर्व ओर से यह प्रयत्न होता है कि किसी भी प्रकार जीव की हिंसा न हो। दया अपनी प्रवृत्ति से, अपने परिणामों के उपयोग से होती है। सब प्राणियों पर दया करो। इससे पहले अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि पर दया करो। जो अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि पर दया करता है, उसके मर्दव ऐसे परिणाम होते हैं कि मेरे में मेरे स्वभाव के विरुद्ध कभी भी रागद्वेष उत्पन्न न हो और जब राग द्वेष न होगा, समता परिणाम होंगे तब दूसरे का अहिंन उससे हो जाये, असम्भव है। इसमें सब प्राणियों पर दया हो जायेगी। यह संयम धर्म त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा करने से होता है। सो उत्तम संयम के लक्ष्य वाले से अनुचित व्यवहार होता ही नहीं, सो यह प्राणसंयम पालता ही है। यह संयम मन, वचन, काय के रोकने में होता है, सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति से होता है। मिथ्यात्व में पड़े रहने वाले लोग कभी संयम को धारण नहीं कर सकते। अपने ज्ञानस्वभाव को देखो, यह परम शुद्ध है। यह मोह की प्रवृत्तियों के वशीभूत हो रहा है। इसको इन प्रवृत्तियों से भिन्न समझो। यह समझो कि मेरा काम मेरे ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि रखना ही है। संयम त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा करने से होता है। मन वचन काय योगों के नियंत्रण से होता है, गमनागमन त्याग करने से संयम होता है। उत्तम संयम को पालने के लिये ही यह बाहरी संयम है। वास्तविक संयम तो निज आत्मा में लीन होना है।

धर्म से आत्मरक्षा व पाप से बरबादी—संयम हमेशा अपने आपकी व पर की रक्षा करता है। लोगों को ऐसा भ्रम हो गया कि देश बरबाद हुआ तो धर्म से बरबाद हुआ। धर्म से ही बरबादी कलह सब हुआ। लोगों को ऐसा भ्रम है, परन्तु पाप ऐसा चालाक है कि यह सारी करतूत कर रहा है। वास्तव में पाप का फल ही यह निर्घनता

है, धर्म का फल नहीं। एक बन्दर था। वह एक गांव में एक किसान के घर, जिस समय किसान खेती करने जाता था, आता था और आलमारी के अन्दर रखी उसकी रोटियां खा जाता था। किसान के पास तीन बैल थे। उनमें से दो तो वह अपने साथ खेती के लिये ले जाता था और तीसरे को घर पर ही छोड़ जाया करता था। वह बन्दर निश्चय ही उस किसान की रोटियां खाकर उनका धौनधान जो बचा रहता था उसे उस बैल के मुँह पर लीपकर भाग जाता था। जब किसान लौटता था तो उस बैल के मुँह को धौन लगा देखता तो समझता कि बैल उसकी रोटियां खा गया, वह समझकर उसे मारता था। रोज इसी तरह होता था। एक दिन पड़ोसियों ने उससे कहा कि भाई, तुम क्या करते हो? तो उसने कहा कि यह बैल रोज ही आलमारी में से मेरी रोटियां निगलकर खा जाता है, इसलिये मैं इसे पीटता हूँ। पड़ोसी बोले कि बेवकूफ, कहीं इस बैल का मुँह भी आलमारी में जा सकता है? तब उसने कहा कि इसके मुँह पर धौनधान कैसे लगा रहता है? उन्होंने कहा कि एक दिन छिपकर इस बात को देखो। उसने एक दिन वैसा ही किया, कहीं छिप गया। वह बन्दर रोज की तरह समय पर आया और आलमारी खोलकर रोटियां खा गया तथा धौन बैल के मुँह पर लगाने के लिये जाने लगा। तब किसान की समझ में सारी बात आ गई और उसने बैल को पीटने के बजाय उस बन्दर को ही पीटा। उस बन्दर की तरह ही यह पाप भी चालाक है। खुद छोटे काम कराता है, कितने-कितने पाप कराता है धर्म का। तीर्थ क्षेत्रों पर जाकर देखो। कितने जांगी साधु धूनी रमाये बैठे रहते हैं और पुजापे पाते हैं, परन्तु उनमें से बहुतों के अन्तरंग में विषय कषाय भरे रहते हैं, हजारों स्त्रियों के हरण के और तरह-तरह के किस्से सुनने को मिलते हैं। काम खुद करते हैं और नाम है भगवान का बदनाम इसी तरह हमको विषय कषाय खुद को भोगने हैं और हम नाम लेते हैं धर्म का। जगत के लोग इस पाप के कारण मिथ्यात्व में भ्रमण करते हैं। इसलिए संयम धारण करो। दूसरे के बहकावे में मत आओ। पापों से मुक्त होओ, इस संयम धर्म का बहुमान करो।

संयम की आत्मोद्धारकता—संयम द्वारा कहा जाता है कि हे असंयम की रुचि करने वाले लोगों! यदि तुमने जगत में भरे हुये असंयम के बहकावे में आकर हमारा आदर छोड़ दिया तो क्या हमारा महत्व गिर गया? मुझको धारण करने से भव्य जीव अनन्त सुखों को धारण करते हैं और सदा के लिये सुखी रहते देखे जाते हैं। भैया! आत्मा को शांति इसी संयम धर्म के द्वारा होती है। परमार्थ दया करने से यह संयम होता है। जो संयम धारण करने की चेष्टा करता है और इसी में श्रद्धा रखता है, इसी की कला में रहता है और सदैव इसी की चेष्टा में लीन रहता है उसका उद्धार हो जाता है और वह परमशांति का अनुभव करता है। निश्चय से देखा जाये तो मनुष्य को मोक्ष मार्ग पर ले जाने वाला, बढ़ाने वाला यह संयम धर्म ही है। विशाल्या को उसके पूर्व जन्म में किसी अपहृता ने भयानक जंगल में असहाय अवस्था में छोड़ दिया। वहाँ उसके बपड़े लत्ते फट गये और वह नंगी ही रहने लगी। वहाँ उसके पास कुछ खाने की था नहीं, इसलिये जो जंगली बेर भादि मिलते थे उन्हें ही खाकर वह अपनी उदरपूर्ति करती थी, परन्तु सप्तताभाव से आत्मश्रद्धापूर्वक नियम सहित रहती थी। कुछ हजार वर्ष इसी तरह बीते। कुछ दिनों बाद विशाल्या को एक अजगर ने डस लिया। उसी समय उसका बाप उसे ढूँढ़ता हुआ वहाँ आ पहुँचा और उमने अपनी लड़की को आधा अजगर के मुँह में पाया। बाप उस अजगर के दो टुकड़े करने को तैयार हो ही गया था कि विशाल्या हाथ जोड़कर कहती है कि पिताजी! मैं बचूँ या न बचूँ इस अजगर को मत मारो और इस तरह उसने अजगर को अभयदान दिया। उस अभयदान व संयम के फलस्वरूप वह अगले जन्म में विशाल्या के रूप में आई और उसको अद्भुत प्रतिभा मिली। उस दान व संयम का ऐसा प्रताप हुआ कि जो कोई उसके स्नान का पानी अपने भयंकर रोगयुक्त शरीर पर डाले तो उसका रोग दूर हो जाये। यह अभयदान व संयम का ही प्रताप है। हमारे स्वयं के अन्दर यह बात विद्यमान है। इसीलिये कहा है कि एक संयम की रक्षा करो। संयम से ही मनुष्य

की शोभा है। संयम के बिना मनुष्य-जीवन बेकार है।

संयम के अभाव में कर्मबन्ध आदि अनेक त्रिपदा—कर्मबन्ध भावों से होते हैं। जिस प्रकार हमारे भाव होते हैं उसी प्रकार का कर्मबन्ध हो जाता है। बाह्य प्रवृत्तियों से कर्मबन्ध नहीं होता। यदि अन्तरंग भावपूर्वक वस्तुओं का त्याग नहीं, तब मौका पड़ेगा तो खा लो, जिनके त्याग नहीं है और संयम नहीं है, उनके ऐसी बात पैदा होती है। ये विषयभोग इस भव में ही नाना दुर्गति करते हैं, फिर इन विषयों के आसक्तों का क्या ठिकाना रहेगा? सर्वज्ञ जाने। जो अपने ज्ञानस्वभाव का विचार नहीं करता, उसकी क्या गति होगी? देखो भैया! सप्तम नरक का नारकी तो सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेता है किन्तु भोगासक्त मनुष्य नहीं। यह सब ज्ञानादि वैभव संयम के पालने से ही सार्थक है। संयमभाव में सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान अपने आप गभित हो जाते हैं। यह मनुष्यभव ही बिना संयम के व्यर्थ है। जिसके संयम होता है उसको सब कुछ मिलता है अर्थात् आत्म-संयमी को कुछ चाह ही नहीं और जहां चाह नहीं, वहां सब कुछ मिला ही समझो। इस मनुष्यभ्रम के लिये इन्द्र और देवता भी तरसते हैं। ऐसे मनुष्य भव को पाकर व्यर्थ न खो देना चाहिये। जिस पर्याय को इन्द्र भी तरसते हैं उसको क्यों व्यर्थ खो रहे हो और देवों के मुकाबले में मनुष्यभव की जो विशेषता है वह संयम ही के कारण तो है। संयम के बिना यह जीव दुर्गति में पड़ जाता है। जितनी जल्दी संयम धारण कर सको उतना ही अच्छा है और जितनी देर करोगे उतना ही बुरा है। शरीर को खिलाओ भी, पिलाओ भी, पर जीने के लिये, न कि जीओ खाने के लिये। शरीर से अमरत्व इतना न करो कि दिन रात इसको ही संवारने में लगे रहो! भैया! इसे थोड़ा भोजन देकर आत्म-कल्याण का काम लो; तपस्या करो, संयम धारण करो तब यह अपवित्र शरीर तुम्हारे कल्याण में साधक हो जायगा। इसलिये शरीर से ममत्व छोड़कर जल्दी ही संयम को धारण करो। संयम के बिना सर्व आयु व्यर्थ ही है। इसलिये जितनी जल्दी बाह्य पदार्थों से मुक्ति पाओ उतना ही अच्छा है, क्योंकि देह की शिथिलता होने पर फिर चित्त प्रायः अस्थिर हो जाता है।

संजमु अणुकंप कुणतणेण, संजमु परमत्थ-वियारणेण ।

संजमु पोसई दंसणहं पंथु, संजमु णिच्छय णिरु भोक्ख-पंथु ॥

अनुकम्पा और परमार्थविचारण से संयम की प्रकटता—यह संयम अनुकम्पा करने से प्रकट होता है, दया से प्रकट होता है जिसके हृदय में दया नहीं है वह हृदय क्या है? वहां कैसे संयम होगा? हृदय में दया बसी नहीं, कोमलता आई नहीं है तो संयम कैसे प्रकट हो सकता है? कषायों पर विजय पाने की इच्छा हुई नहीं है, प्रभु के गुणों का अनुराग पहिचाना नहीं है तो धर्म का रूपक बनाने से तो कहीं सिद्धि नहीं हो जाती। जब इतना कष्ट सहते हैं नहाया, पूजन किया, स्वाध्याय किया, जाप किया और फिर खाया। इतने-इतने कष्ट सहते हैं, तो अंतरंग में एक दया का परिणाम और बढ़े, सब जीवों को अपने स्वरूप के समान समझने की भावना और बने। अपने को दुःख हो जाय तो हो जाने दो, पर दूसरों का दुःखी न करो। कहीं ऐसा नहीं होता कि क्षत दुःखी हो जाय। जो गरीबों को देखे और उसके ऐसी अनुकम्पा बस जाय है तो वह संयम में प्रगति करता है। संजम परमरथु-वियारणेण—यह संयम परमात्मस्वरूप का विचार करने से प्रकट होता है। यह संयम सम्यग्दर्शन के मार्ग को पुष्ट करता है। संयम ही एक मोक्ष का मार्ग है। दृष्टि छूटे, कहां से? विषयों से। देखो कष्ट तो मिलता है विषयों में दृष्टि लगाने से ही। अंतः विषयों की दृष्टि छोड़ दो तो कष्ट छूटेगा। दुःख छूटना तुम्हारे ही हाथ है।

संजमु विणु णर-भव सयलु सुण्णु, संजमु विणु दुगाइ जि उववण्णु ।

संजमु विणु षडिय म इत्थ जाउ, संजमु विणु विहलिय अत्थि आउ ॥

संयम के बिना नरभव की व्यर्थता और शुद्धानन्द का अस्वाप्त—संयम के बिना यह नरभव बेकार

है, शून्य है। जिस उपयोग में वासना बसी रहती है—उस उपयोग में क्या शांति का मार्ग दीख सकता है? यह बात कठिन ही नहीं, असम्भव है। एक हलवाई के घर में बसने वाली चींटी नमक बेचने वाले घर में रहने वाली चींटी के प्राप्त पहुँची। मिठाई की चींटी कहती है बहिन क्या करती हो? यह खारा नमक खा रही हो। चलो हमारे साथ, हम तुम्हें मीठा-मिठा खिलायेंगी। उसने मना कर दिया। चींटियों के मन तो नहीं होता है, पर कथा कह रहे हैं। नमक की चींटी ने कहा कि तुम मुझे बहकाती तो नहीं हो? ...नहीं-नहीं बहिन बहकाती नहीं हूँ। बड़ा आग्रह मिठाई की चींटी ने किया तब वह नमक में रहने वाली चींटी राजी हो गई। अच्छा, चलो। चली तो मगर अपनी चोंच में एक दिन का भोजन लेकर चली। नमक की डली इसलिये साथ में ले ली कि अगर कहीं भोजन न मिले तो उपवास तो न करना पड़ेगा। एक दिन तो फाट लेंगी। क्योंकि उपवास करने की सामर्थ्य नहीं है। पहुँच गई। अब मिठाई की चींटी कहती है बहिन कंसा स्वाद आया? तो वह कहती है कि वही स्वाद आ रहा है जो पहिले आता था। कहा, यह कैसे हो सकता है? इसको तो बड़े-बड़े राजा लोग पसन्द करते हैं। बहिन हमें तो बढ़िया-बढ़िया स्वाद आता। अरे तू अपनी चोंच में तो नहीं कुछ लिए है? ... हाँ एक दिन का भोजन लिए हूँ। ... अरे उस एक दिन के भोजन को अलग कर दो तो इस मिठाई का आनन्द आयेगा। आग्रह करने से डली को अलग रख दिया और खाया तो उसे मीठा स्वाद मिला। अरी बहिन तू कब से ऐसा खा रही है। शक्कर की चींटी बोली, मैं जब से पैदा हुई तब से खा रही हूँ। यों ही चींटी की तरह ये संसार के मोही जीव अपने चोंच में अपने उपयोग में विषय कषायों की डली, नमक की डली रखे हैं, फिर बतलाओ उनको बोधि समाधि का मधुर रस कैसे से धार्ये? अरे जरा इस विषय वासना को निकाल दो और अपने उपयोग में उस शुद्ध चैतन्य प्रभु के स्वरूप को रख दो तो देखो तुम्हें आत्मीय विलक्षण आनन्द आता है कि नहीं आता है।

मिथ्याभाव मदिरा से बेहोश जीवों को आत्मा की सुध की असंभवता—संयम बिना इस जीव की दुर्गति ही होती है। असंयम, अबत, पाप, मिथ्यात्व ये सब मदिरा हैं इनमें नशा होता है जिनमें आसक्त होकर यह प्राणी अपने स्वच्छन्द मन के माफिक अपनी प्रवृत्ति करता है और आत्म-हित की प्रवृत्ति करने में असमर्थ हो जाता है। करें क्या? जब देखा नहीं है अपनी ज्ञायक प्रभु को तो उसके भक्ति जगे कहाँ से? एक बार एक राजा गांव घूमने गया। गांव के गांवड़े पर उसको एक कोरी मदिरा पिये हुये मिला, उसके होश न था। बक-बक करता था। राजा हाथी पर चढ़ा जा रहा था। वह कोरी राजा से बोला, ओबे रजुवा हाथी बेचेगा? गांव के राजा का हाथी था। साँचा यह कैसे मेरे हाथी को खरीदेगा? मंत्री था साथ में वह बोला, महाराज अभी चलते हैं दरबार में। वहाँ इसे बुलायेंगे आप वहाँ फँसला करना। वहाँ ही आप उसे दंड देना। कुछ देर के बाद राजा दरबार में पहुँचा। उसको बुलवाया। उसका नशा अब उतर चुका था। होश में आ गया। दरबार में आया राजा के सामने तो राजा कहता है कि अबे वही बात तू कह। तू मेरा हाथी खरीदेगा? कांपने लगा बेचारा। बोला महाराज यह आप क्या कह रहे हैं? मैं गरीब आदमी, आप हैं राजा। आपका हाथी मैं कैसे खरीद सकता हूँ? मंत्री कहता है कि राजन्! अब यह होश में है। वहाँ जो हाथी खरीदने को कह रहा था तो यह नहीं कह रहा था। वह तो कहने वाला मदिरा का नशा था। अब इसके नशा नहीं रहा। इसी तरह हम और आप सब प्रभु की तरह पवित्र हैं, मूल में इतनी बड़ी पकड़ नहीं होती, सो हम आप सब जीवों के मोह का नशा है उससे ही ये बिरंगी चालें हो रही हैं। यह नशा मिट जाय तो वह प्रभुस्वरूप प्रकट हो जायगा। संयम के बिना तो इस जिन्दगी की घड़ियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। आत्महित का ध्यान रखो और ऐसा न रखो प्रोग्राम कि अभी इसलाक्षणी है सो आजकल तो खूब मूर्तियाँ पधारें, अधिक संख्या में सब लोग इकट्ठे हों, खूब धर्म करें इसलिए कि इकट्ठा साढ़े ग्यारह महीने का धर्म कर लें। इससे साल भर के लिये धर्म नहीं जुड़ता। यहाँ यह संकल्प करो कि आत्महित करना है। आत्महित करना है तो यह बात

जीवनभर करना है, प्रतिदिन करना है, प्रति घण्टे करना है। दूकान पर भी बैठे हैं तो वहां भी विवेकपूर्ण बना रहे। विवेक का पूर्ण ध्यान सर्वत्र रखना है। संयम के बिना एक भी घड़ी व्यर्थ मत जावे। संयम के बिना जीवन बेकार है। हमारा शरण इस भव में और परभव में संयम ही हो सकता है। संयम नहीं है तो दुर्गति ही दुर्गति है।

उन्मार्गगामियों की फजीहत—एक मियां बीबी थे। मियां का नाम था बेवकूफ और बीबी का नाम फजीहत। थोड़ी-थोड़ी देर में उनमें लड़ाई हो जाती थी और थोड़ी ही देर में सुलह हो जाती थी। एक दिन ऐसी लड़ाई हुई कि फजीहत घर से भाग गई। अब वह पड़ोसियों से पूछे कि भाई क्या तुमने कहीं मेरी फजीहत देखी है? तो वे तो जानते थे कि इसकी बीबी का नाम था फजीहत। सो वे कह देते थे कि भाई हमने तुम्हारी फजीहत को नहीं देखा। एक बार ऐसे आदमी से पूछा जो दूसरे गांव का था। कहा भैया! तुमने हमारी फजीहत देखी? वह कुछ समझ ही न सका। सो उसे आश्चर्य हो गया कि यह क्या कह रहा है? पूछा भाई तुम्हारा नाम क्या है? बोला हमारा नाम बेवकूफ है। तो वह बोला कि बेवकूफ होकर भी तुम फजीहत को जगह-जगह ढूँढ़ते फिरते हो। जिसे ही बुरा कह दो, कुछ गालियां दे दो वहां ही तुम्हारे लिये सौकड़ों लाठी धूँसे तैयार हैं, फजीहत हाजिर है। सो भैया! जो सन्मार्ग पर नहीं लग रहा है वह पापरूप प्रवृत्ति करता है। उसे जगह-जगह आपत्तियां ही आपत्तियां हैं। संयम ही एक शरण है। इस भव में और परभव में यह संयम दुर्गतिरूप तालाब का शोषण करने के लिये सूर्य की किरणों के समान है, वहां दुर्गति नहीं हो सकती है, इस संयम से ही संसार भ्रमण का नाश होता है। ऐसे आत्महित के लिये, संयम के लिये आज हम एक बात आपसे कहेंगे कि पानी और औषधि के अलावा रात्रि को किसी चीज का ग्रहण न करो। पानी और औषधि रख लेने से तो कोई कष्ट नहीं पहुंचता और इससे अधिक बढ़कर यदि हो सके तो विशेष समय धारण करो। अपने इस जीवन में संयम धारण करके जीवन को सफल करो।

शौघ संसार संततिच्छेद करने में विवेक—एक किवदन्ती है कि ब्रह्मा ने ४ जीव बनाये। एक उल्लू, एक कुत्ता, एक गधा और एक आदमी। चारों के लिये ४०-४० वर्ष की आयु सुरक्षित रख दी। उल्लू को पैदा करते समय उससे कहा कि जाओ हमने तुम्हें पैदा किया। उल्लू बोला महाराज? मुझे क्या करना होगा? ब्रह्मा बोले—तुम्हारा काम अन्धे बने बैठे रहने का है और तुम्हारी आयु ४० वर्ष की है तुम्हें कहीं कुछ खाने को मिल जाये तो खा लेना, नहीं तो नहीं। उल्लू ने कहा यह तो बुरी जिन्दगी है और नहीं तो कम से कम हमारी जिन्दगी की आयु ४० वर्ष मत रखो, कम कर दो! उसके कहने पर ब्रह्मा ने उसकी आयु आधी कर दी और आधी आयु सुरक्षित रख ली। फिर कुत्ते से बोले कि जाओ तुम यह काम करोगे कि कहीं से भी कुछ किसी के द्वारा कोई टुकड़ा डाल दिया जाये तो खा लेना, नहीं तो न सही और तुम्हारी आयु भी ४० वर्ष की है। उसने भी कहा कि यह जिन्दगी भी बहुत बुरी है। हमारी आयु कम कर दो। ब्रह्मा ने कुत्ते की आयु भी आधी कर दी। फिर गधे से कहा कि जाओ तुम्हारा काम यह होगा कि तुम हमेशा जो कोई बोझ तुम्हारे ऊपर रखे उसका बोझ लादे फिरना तथा जो खूबा-सूखा भूसा मिले उससे पेट भरना। तुम्हारी भी आयु ४० वर्ष की है। उसने भी यह सुनकर अपनी आयु २० वर्ष की ही रख ली। ब्रह्मा ने उसकी बची हुई आयु भी सुरक्षित रख ली।

फिर मनुष्य से कहा गया कि जाओ तुम्हें हमने पैदा किया। तुम्हारा काम होगा कि बचपन में तो तुम पढ़ो, फिर अपना विवाह करो, सम्पत्ति का सुख लूटो, बच्चों को खिलाओ और जो चाहें जिस तरह रहो। उसने पूछा कि हमारी आयु कितनी है? तो ब्रह्मा ने कहा कि तुम्हारी आयु ४० वर्ष की है। मनुष्य ने कहा कि यह तो बहुत कम है, हमें ऐसा सुख पाने के लिये अधिक आयु दो। ब्रह्मा ने बहुत समझाया कि आयु मत बढ़वाओ, किन्तु मनुष्य न माना, तो ब्रह्मा ने अपनी आयु की तिजोरी देखी तो वहां तीनों जानवरों की आयु में से ६० वर्ष बचे हुए रहे थे, वह सब मनुष्य को दे दिये और कहा कि जाओ तुम्हारी आयु १०६ वर्ष की हो गई। वह बड़ा सुख मानता

हुआ चला गया। अब मनुष्य ने जन्म लिया। ऐसा कथन अन्यत्र कहा गया है। आप सत्य असत्य की दृष्टि से न सुनें, उसका रहस्य देखें। उसकी ४० वर्ष की जो आयु थी वह तो आराम से बीत गई। अब गधे की आयु आई, उसमें उसे गधे की तरह काम में जुते रहना पड़ा और भाग दौड़, लड़के, लड़कियों की झाड़ी और कई तरह की इल्लतें भोगनी पड़ीं। ६० वर्ष की आयु के बाद कुत्ते की आयु आई। उस आयु में कुत्ते की तरह ही रहना पड़ा, क्योंकि बुढ़ापा तो आ ही गया। हाथ-पांव चलते नहीं, लड़कों के आश्रय पड़ा रहा। यदि लड़का रोटी का टुकड़ा दे दे तो खा ले, नहीं तो भूखा ही पड़ा रहे। जो कोई रोटी दे दे, उसी की ओर वह बोले। ८१वें साल से उल्लू की जिवन्दी आई और वह अन्धा हो गया। अब उसको कहीं से रोटी मिल जाये तो खा ले, न मिले तो भूखा ही बँठा रहे। किसी का भी स्नेह नहीं रहता। इस प्रकार की कहानी बताई गई है। इससे यह शिक्षा लेना कि मनुष्यभवं में जितने जल्दी बने, धर्म की ओर लग जाओ। अभी बुद्धि ठीक है, इस मौके का लाभ लो, अभी से चेत जाओ। पता नहीं आगे क्या हो? न जाने किस समय इस भव को छोड़ देना पड़े। आत्मप्रतीति सहित स्वस्थितरूप उत्तम संयम धर्म को धारण करो। इस संयम से ही आत्मा की शुद्धि होगी। मनुष्य को इस भव और परभव में संयम ही सहायक है। इसको धारण करके संसाररूपी समुद्र से तिरने का प्रयत्न करो।

उत्तम संयमन के प्रयोग का उपाय—अब तक यह वर्णन हुआ था कि क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायों पर विजय करो और यथार्थ सच्चाई का अपना वातावरण बन ओ। अब थोड़ा यह ख्याल होता है कि कह तो दिया बड़े आराम से कि क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों पर विजय पा लें, पर इतना तो यह ही कठिन लग रहा है कैसे विजय पायें, कैसे इन कषायों को दूर करें? देखो उसका उपाय है संयम। संयम का अर्थ है ५ इन्द्रिय और छठा मन, इनके विषय में न लगना और किसी प्राणी की हिंसा न करना, किसी का चित्त न दुखाना, यह है संयम का भाव। उसमें प्रधानता इन्द्रिय संयम पर दीजिए। अहिंसा का तो वातावरण है और जो मूल में अहिंसा है उसका अर्थ है अपने परिणामों में विगाड़ न हो सकना। तो इन सबका अभ्यास आप बनायेंगे तो इन्द्रिय संयम के द्वारा बना सकेंगे। ज्ञानार्णव में बताया है कि इन्द्रिय का निरोध किए बिना, इन्द्रिय को काबू में किए बिना कषायरूपी अग्नि को जीतने में कोई समर्थ नहीं हो सकता, इस कारण जिन्हें कषायों के जीतने का भाव हो उनको इन्द्रिय संयम का अभ्यास करना चाहिए। सारा जगत परेशान है तो कषायों से परेशान है और देखो इसे न कोई पूछने वाला है जगत में, न कोई शरण है, न कोई प्रभु है, न इसका कोई साथी है, लेकिन ऐसी भूल पड़ी है कि यह अपने आप में शेषचिल्ली बना फिर रहा है। मैं बड़ा हूँ, मैं अमुक हूँ या कंट्रोलर हूँ, नियंत्रण करने वाला हूँ परिवार का, समाज का, देश का और मैं गुरु हूँ, इस तरह का अहंकार बसा रहता है चित्त में ऐसी-ऐसी कषायें जग रही हैं उनका निरोध कैसे हो? इन्द्रिय संयम कीजिए, निरोध हो जायगा। इन्द्रिय को काबू में करना यह कषायों को जीतने का उपाय है। अब लोग आज के समय में पसन्द करते हैं कि ऐसा धर्म मिच्छे कि कुछ छोड़ना छोड़ना न पड़े, हंसी दिल्ली में समय कटे, ऐसा सस्ता धर्मपालन करना चाह रहे, पर आत्मसंयम की ओर ध्यान नहीं है। कैसे आत्मक्षत्र्व में बढ़ें, कैसे ज्ञान की आराधना में बढ़ें, कैसे विकल्पों से बचें, इस ओर दृष्टि नहीं है। फल क्या हो रहा है? स्वच्छन्दता जग रही है लेकिन इससे कोई महत्त्व न मिलेगा। एक राजा था तो उसने बहुत से राजाओं को जीत लिया, तो उसने अपना नाम सर्वजीत धर लिया। सभी लोग सर्वजीत कहने लगे, पर उसकी मां उसे सर्वजीत न कहे। तो एक दिन मां से बोला—मां सभी लोग मुझे सर्वजीत कहते पर तुम क्यों नहीं कहती? तो मां बोली—बेटा अभी तुम सर्वजीत हुए नहीं।... कैसे नहीं हुए! एक भी राजा मुझे जीतने को अब बाकी तो नहीं रहा।... हां बेटा यह तो ठीक है, पर तेरे अन्दर जो यह कषाय बँठी है कि ये मेरे शत्रु हैं इस कषाय पर तो विजय प्राप्त नहीं किया। जब तू अपने अन्दर छिपे हुए इन कषाय बैरियों पर विजय प्राप्त कर लेगा तब मैं तुझे सर्वजीत कहूंगी।

तो भाई जब तक अनासक्त योग न चलेगा, रह रहे हैं धर में ऐसा भाव तब तक नहीं बनाये हैं कि यहां मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरा केवल यह मैं आत्माराम हूं... तब तक इन कषायों पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती।

इन्द्रिय संयम बिना कषाय विजय की अशक्यता—प्रायः सभी का अपने संकल्प विकल्प भावों का ही रोजिगार चल रहा है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर रहा। केवल भाव बनाते हैं, कल्पनायें करते हैं। उन भावों में पाप बांध लें, उनमें ही पुण्य बांध लें, उन भावों में ही मोक्ष मार्ग पा लें, यह सब जीव के भावों के आधीन बात है। जब भावों की ही कला है तो फिर हम क्यों बाह्य विषयों में आसक्ति करें और अपने आपको निरन्तर सताते रहें। अनासक्ति के सम्बन्ध में, इन्द्रिय के विषयों के परित्याग के सम्बन्ध में, इन्द्रिय के विषयों के परित्याग के सम्बन्ध में एक श्लोक गीता में बताया है जिसका अर्थ है कि योगिरुद्ध पुरुष कौन है जो इन्द्रिय के विषय में आसक्त नहीं होता? आनन्द तो सभी चाहते हैं, पर इन्द्रिय के विषयों से अधिक आनन्द की बात अनुभव में आये तो इन्द्रिय विषय असार विदित होंगे और जब अनुभव में नहीं आती अतस्तत्त्व की बात, तो इन्द्रिय विषय इसको सारभूत लगते हैं। अब देखो एक इस ही मनुष्य भव में अगर भोजन का ही अंदाज करो तो आप सभी ने कितना ही अनाज खा डाला होगा? जिसको ६०-७०-८० वर्ष खाते हुए बीत गए उसने हमारे विचार से रेलगाड़ी के दो-चार वंगन अनाज तो खा ही डाला होगा। पर अभी तक खाने से सन्तोष न मिला। आज भी खाने की इच्छा बनी हुई है। अभी तक कभी खाने का त्याग न कर सके, चित्त को वश में न कर सके, यह तो एक खाने की बात कही, यही बात सभी इन्द्रियों की है। मन के विषय में कीर्ति नामवरी के चक्कर में कितने ही लोगों से परिचय बढ़ाया, कितना ही बेहूदा प्रयत्न किया जा रहा, केवल एक नामवरी के लोभ में क्या किया जा रहा है? अपने को बरबाद किया जा रहा है। यह रोग ग्रहस्थों के ही नहीं लगा, बल्कि जो त्यागी बने हैं उनके भी लगा है। तो मनःसंयम कहाँ रहा? तो इन्द्रिय संयम और मनः संयम जहाँ नहीं रहता वहाँ कषायों पर विजय नहीं होती, और जहाँ कषायों पर विजय नहीं वहाँ धर्म का मार्ग नहीं। तो यह इन्द्रिय संयम किए बिना हम कषायों पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते।

विषय विजय में रसनेन्द्रिय विषय विजय की कठिनता का अनुमान—यह एक जिज्ञासा उठ सकती है कि जब कभी द्रव तप की बात चलती है तो खाने पीने पर चलती है, लोग खाने पीने की बात क्यों चलाते हैं? तो समझ लो अपने अनुभव पर कि यह रसना का विषय मौज लूटने का विषय एक ऐसा। आधार है कि सभी इन्द्रियाँ और यह मन स्वच्छन्द होने में बड़ी मदद पा रहे हैं और जिनको रसना के स्वाद में आसक्ति नहीं ऐसे पुरुषों को देख लो प्रायः करके सभी विषयों में अनासक्त मिलेंगे। एक ही प्रश्न करें कि इस रसना के विषय की आसक्ति क्यों नहीं छोड़ सकते? मुख से तो कह देंगे कि हम अन्य इन्द्रियों की आसक्ति छोड़ देंगे, मन की आसक्ति छोड़ देंगे, मन की आसक्ति न रखेंगे, मुझे केवल एक रसना की ही छूट दे दो। अरे रसना की छूट क्यों चाहते? मालूम होता कि यह सब में प्रबल विषय है। ग्रन्थों में बताया है कि सबसे कठिन विषय है स्पर्शन और रसना। इन पर जब तक विजय नहीं प्राप्त होती तब तक कषायों पर विजय नहीं की जा सकती। मन को भी चाहे जहाँ लगा दो, जहाँ मन लग गया बस वही उसे रुच गया। दूसरा कुछ नहीं सुहाता। जैसे असंयमी जनों को ज्ञान और वैराग्य की बात रुचि नहीं होती ऐसे ही ज्ञानी विरक्त पुरुषों को असंयम की बात रुचि नहीं होती। जो विषय विष की प्रीति में निरन्तर रमा करते हैं उन्हें तत्त्वज्ञान, वैराग्य, आत्म स्वरूप की बात नहीं सुहाती। मार्ग कठिन नहीं है, पर रुचि न होने से कठिन बन गया। मार्ग तो इतना सरल है कि जितना सरल यहाँ का और कोई काम नहीं है। इस ज्ञान वैराग्य के काम में किसी की अपेक्षा नहीं करनी है, अपने आधीन सारी बातें हैं। लेकिन रुचि नहीं है, संसार निकट नहीं है यह समझ लो। भविष्य अच्छा नहीं है यह समझ लो उनको इस ज्ञान वैराग्य की ओर रुचि नहीं जगती। यह इन्द्रिय का कुल जैसा मदोन्मत्त होता जाता है वैसे ही वैसे यह कषायगिनी और भी बढ़ती चली जाती है। क्या किसी

ने आज तक इन्द्रिय विषयों में अपना भला पाया ?

इन्द्रिय विषयों की व्यामोहकारिता—स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर बड़े-बड़े हाथी भी पकड़ लिए जाते हैं। एक बड़ा गड्ढा खोदा जाता है, उसकी बांस की पंखों से पाटकर झूठमूठ की हथिनी बनाई जाती है। उसके पास ही एक झूठमूठ का दोड़ता हुआ हाथी बनाया जाता है उसे देखकर उस जंगल का हाथी हथिनी की ओर तेजी से झपटता है और निकट आकर उस गड्ढे में गिर जाता है। कई दिनों तक उस गड्ढे में पड़ा रहने से भूख प्यास के मारें वह हाथी शिथिल हो जाता है और बाद में शिकारियों के द्वारा कब्जे में कर लिया जाता है। तो वह हाथी शिकारियों के चंगुल में फंसा स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर, ऐसे ही मछली रसना इन्द्रिय के वश होकर शिकारियों के चंगुल में आ जाती है। भंवरा गंध के वश होकर कमल के फूल के बीच बन्द होकर अपने प्राण गंवा देता है। यद्यपि ताकत उसमें इतनी होती कि बड़े-बड़े काठ की थिलावों को छेदकर आर-पार निकल जाय पर गंध के वशीभूत होकर कमल के फूल के अन्दर बन्द होकर अपने प्राण गंवा देता है। पतंगों को तो आप देखते ही हैं—दीपक में आकर चक्षुरिन्द्रिय के वशीभूत होकर अपने प्राण गंवा देते हैं। ये हिरण, सर्प आदिक कर्णोन्द्रिय के वशीभूत होकर शिकारियों के चंगुल में फंस जाते हैं। यह एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत हुए जीवों की बात कही जा रही है, फिर भला बतलाओ जो इन पञ्चेन्द्रियों के वशीभूत हों उनका न जाने क्या हाल होगा ? तो भाई इन इन्द्रियों को वश करना होगा। इन इन्द्रियों से काम लेना है। अगर यह मनुष्य का शरीर मिला है हाथ पैर आदिक सभी चीजें ठीक ठीक मिली हैं तो अब क्या करना है ? इनसे भला काम करना है तभी इन सारी इन्द्रियों के पाने से लाभ है।

अनुदार विषयव्यामोही मानवों के जन्म की व्यर्थता—एक बार कोई व्यक्ति मर गया तो शमशान में यों ही छोड़ दिया गया, उसे जलाया न गया, तो उसके शरीर को खाने के लिए कुत्ते, स्याल आदि आये। उस जगह एक कवि ने अपनी कल्पना में जो चित्रण किया उसे देखिये—जब स्याल उस मृतक शरीर के हाथ खाने लगा तो कुत्ते ने कहा—ऐ स्याल ! तू इस शरीर को मत खा, ये हाथ तेरे खाने योग्य नहीं है। क्यों ? ...अरे इन हाथों ने कभी दान पुण्य नहीं किया, कभी दूसरों की सेवा नहीं किया, ये बड़े पापी हैं, इन हाथों ने दूसरों का अनर्थ ही किया, ये बड़े खराब हैं इन्हें तू मत खा। जब स्याल कान खाने लगा तो फिर कुत्ते ने कहा—अरे स्याल ! तू इन कानों को मत खा, ये कान बड़े पापी हैं। इन्होंने कभी धर्मकथा नहीं सुनी, खोटी पाप भरी बातों के सुनने में ही अपना मन लगाया ये बड़े पापी हैं इन्हें तू मत खा। जब स्याल आंखों को खाने लगा तो फिर कुत्ता बोला—अरे स्याल ये आंखें तेरे खाने योग्य नहीं। क्यों ? ...अरे इन्होंने कभी देव, शास्त्र, गुरु के दर्शन नहीं किए, गंदी अश्लील विकारयुक्त चीजों को ही देखने में चित्त दिया, ये महापापी हैं, इन्हें तू मत खा। जब स्याल पैर खाने लगा तो फिर कुत्ता बोला—अरे स्याल ! ये पैर भी तेरे खाने योग्य नहीं, अरे गंदी चीज को कौन खाता है ? ...क्यों ? ...अरे इन पैरों ने कभी तीर्थ यात्रायें नहीं किया, कभी दूसरों की मदद करने जाना नहीं विचारा, बल्कि महाखोटे कार्यों के लिए सदा तैयार बने रहे, तो अरे स्याल ! ये पैर तेरे खाने योग्य नहीं। जब स्याल मस्तक खाने लगा तो फिर कुत्ते ने कहा अरे स्याल ! यह मस्तक तेरे भक्षण करने योग्य नहीं। ...क्यों ? ...अरे इसने कभी दूसरों का भला नहीं विचारा, इसलिए यह तेरे खाने योग्य नहीं, जब स्याल पेट खाने लगा तो फिर कुत्ते ने कहा—अरे स्याल ! यह पेट तो महापापी है। अरे इसने अन्याय करके, छल करके अपना पेट भरा, जब चाहे जो चाहे अटपट खाता पीता रहा, इसने कभी संयम को पसंद नहीं किया, असयमी बना रहा, इसलिए अरे स्याल ! यह पेट भी तेरे भक्षण करने योग्य नहीं।

अहिंसा सिद्धि में इन्द्रिय संयम का प्राथमिक सहयोग—भाई इस इन्द्रिय संयम को तो करना ही होगा तभी पूर्ण अहिंसा वनेगी। जहां विषय विकार न रहे और कषाय विकार न रहे वहां ही पूर्ण अहिंसा बन

मकेगी। ये विषय कालकूट हैं। एक तो कालकूट विष होता और दूसरा है विषयविष। इन दोनों में विषय विष बड़ा भयंकर है। इन दोनों में राई और पर्वत जितना अन्तर है। मुमेरु पर्वत है लाखों योजन का बड़ा और राई होता है एक छोटा सा दाना। तो जितना अन्तर राई और पर्वत में है उतना ही अन्तर कालकूट विष और विषयविष में समझिये।...कैसे? देखिये—कालकूट विष का भक्षण करने से सिर्फ एक ही बार मरण होता है मगर विषयविष का भवन करने से तो न जाने कितने भवों में जन्म मरण करना पड़ता है। तो इन इन्द्रियों को संयम से रखकर मत्संगति और स्वाध्याय में, ज्ञान और वैराग्य में अपना चित्त दें तभी हम आपकी रक्षा है। अन्यथा हम आपकी रक्षा नहीं है। विषयप्रेमी जन या परिग्रह के आसक्त, संतान के आसक्त, ...इसमें सभी प्रकार के आसक्त आ गए। लोग व्यर्थ ही शेखचित्ली की बातें किया करते हैं। अरे इन शेखचित्ली की बातों से कुछ भी काम न सरेगा। अपना कर्तव्य यह है कि एक बार इन सब बातों को भुला दें सबका संयम कर दें, सबका निरोध कर दें, किसी परवस्तु में मुझे अपना चित्त नहीं बसाना है। आ गई कोई बात मन में तो उसे झट हटा दें मेरे चित्त में कोई भी बात मत आवो। मैं अभी तक बहुत-बहुत विकल्पों से थक गया। अब तो मुझे विश्राम ले लेने दो। अब मुझे किसी भी परपदार्थ की वाञ्छा नहीं है। लोगों के चित्त में प्रायः यह बात बसी है कि मुझे ये लोग बड़ा समझे, मन की यह वाञ्छा तो एक बहुत बड़ा पाप है। निरन्तर दुःखी रहना पड़ता है। इसे शल्यवान रहना पड़ता है। एक ज्ञान की अनुभूति नहीं मिल पाती, तब देखो जो बात सहज लग रही, आसान लग रही वह बात तो इस जीव के लिए बड़ी घातक है। ५ इन्द्रिय और छद्म मन, इनकी बातें तो इस जीव की खूब रुच रही हैं, बड़ी सरल लग रही हैं, पर इनका फल बड़ा कटुक होगा। इसके लिए जो संयम की बात है, जिसके करने में इसे कष्ट प्रतीत हो रहा है वह इसके लिए हित की बात है। इस आत्मकल्याण की धुन में रहकर तो लोकनिन्दा की भी परवाह न करनी होगी। बल्कि आत्मशान्ति पाने के लिए अपनी लोकनिन्दा भी करा देते, बाहर में किसी से किसी भी चीज की वाञ्छा नहीं करते, एक अध्यात्मसाधना की धुन में ही जो निरन्तर रहते वे ही आत्मकल्याण कर सकने के पात्र होते हैं। आत्मशान्ति पाने के लिए बड़े-बड़े बलिदान करने होंगे, इन समस्त बाह्य पदार्थों को तिलाञ्जलि देनी होगी। आज तक बीसों पचासों वर्षों से लोग धर्मसाधना करते आये पर अभी तक शान्ति न पा सके, अभी तक कषाथों में कोई फर्क न आया, जरा-जरा सी बातों में क्रोध आ जाता, मान बगराते, माया, लोभ आदि से ग्रस्त रहते। क्या धर्म साधना किया अभी तक? अरे धर्म साधना अभी तक सही ढंग से किया ही कहां? धर्म साधना करने की जो विधि है उसमें तो चले नहीं, चले उल्टे ही उल्टे तो फिर शान्ति कैसे मिले?

धर्म साधन के लिये ज्ञान व वैराग्य के बल की आवश्यकता—धर्म साधना करने के लिए अपने अन्दर बहुत बड़ी तैयारी करनी होगी। अपने आपको बहुत सावधान बनाना होगा। इन समस्त धार्मिक क्रियाकाण्डों को करते हुए अपने अन्दर थोड़ा ज्ञान और वैराग्य की बात बनानी होगी। यदि ज्ञान और वैराग्य का आदर नहीं किया जा रहा, केवल रूढ़िवादी धार्मिक क्रिया काण्ड किया जा रहे तो उसका फल क्या होगा कि करेंगे पाप और पितेगा धर्म। लोग करते हैं पाप और बदनामी होती है धर्म की। धर्म नाम है वास्तव में उसका जहां आत्मा में मोह और क्षोभ न रहे, जहां रागद्वेष न रहे, केवल एक ज्ञानज्योतिमय उपयोग बन रहा वह है धर्म मूर्ति, और इसका जो उद्देश्य बताता है वह भी धर्मात्मा है। जो इसका उद्देश्य ही नहीं बनाता वह धर्मात्मा कैसे कहला सकेगा? केवल ऊपरी क्रियाकाण्डों से, हाथ पैर चलाने से क्या होता है? वहां सार का नाम नहीं। धान का व्यापार करने से फायदा पहुंचेगा। उस धान में सार चीज है चावल। यदि कोई धान के ऊपरी छिलकों को ही धान समझ कर धानों के भाव से खरीद कर बेचे तो क्या वह कुछ लाभ पा सकेगा? अरे वहां तो उसकी हानि ही है। उसका सारा समय तथा श्रम व्यर्थ ही जायगा, ठीक इसी प्रकार जिसने केवल ऊपरी क्रियाकाण्डों को ही धर्म समझ लिया, धर्म के वास्तविक

स्वरूप को न जाना तो वह ऊपरी ऊपरी धर्म की क्रियाओं में ही फंसा रहेगा धर्म के वास्तविक फल को वह प्राप्त न कर सकेगा। यों समझो कि उसका सारा समय तथा श्रम व्यर्थ जायगा। तो भाई पहिले धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझो। वस्तुस्वभाव धर्मो—वस्तु का जो स्वरूप है वस वही धर्म है। जहां वस्तु का स्वभाव नहीं वह धर्म नहीं। उसमें अपने आप जो सहज पाया जाता हो वह धर्म है। ऐसे ही आत्मा में तक लो—हम सबके अपने आत्मा में स्वयं सहज अपने आप अपने सत्त्व के कारण जो भी भाव हो वही मेरा धर्म है और उसकी दृष्टि न करना मेरा धर्म नहीं। उसके अतिरिक्त जो कुछ भी परके सम्पर्क से, मेल से जो बात आयी है—विषय कषाय, विचार विवल्प, तर्क वितर्क ये सब पाप हैं, अनित्य हैं।

सहजचिद् ब्रह्म के अतिरिक्त सभी भावों की उपेक्षणीयता—देखो जो बहुत ऊंचा जोहरी है वह जब कभी भी शुद्ध सोना देखता है तो वह बड़ा खुश होता है, पर किसी सोने में कुछ मिलावट की बात हो तो वह झुंझलाकर फेंक देता है और कहता है कि यह क्या मिट्टी ले आये? ठीक इसी तरह जिसने धर्म का सही स्वरूप जाना है वह धर्म की ही रचि करेगा, धर्म का ही आश्रय देगा और यदि थोड़ी बहुत खोट लगी है तो वह झुंझलाकर कहेंगा कि अरे यह तो पाप है। तो समझ लो कि जो धर्म के स्वरूप को रहस्य को जानता है—वही तो ब्रह्ममूर्ति है, वही तो तत्त्वज्ञानी है, इस चीज को वेदान्त में चतुर्थपाद कहा है। जैन सिद्धान्त में बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और कारणसमयसार कहा है। तो वह चतुर्थपाद क्या है? ज्ञायकस्वरूप तो पहिली बात है बहिरात्मा। लोक व्यवहार में जग रहे, दूसरी चीज सुसुप्ति अन्तरात्मा यानि बाहर की बातों में सो गए। सुनने में तो आया कि सुसुप्ति बुरी है, मगर भाव की बात है और इससे बढ़कर क्या है? अन्तर्ज्ञ, परमात्मा, परमात्मतत्त्व। सर्वज्ञ हो गए, सब कुछ जान लिया, चतुर्थपाद और ज्ञायक स्वरूप क्या है? जिसके अन्दर आत्मा परमात्मा समाये ऐसा एक मूल तत्व वह है चतुर्थपाद ज्ञायकस्वभाव। इसे एक दिन आम के रंगों का दृष्टान्त बताया था। जैसे आम का रंग कभी नीला रहता कभी काला होता, कभी हरा होता, फिर पीला, लाल, सफेद आदि होता, तो ये सब रंग बदलते रहते हैं, पर वे बदलते हैं उस एक ही आम में। जिसने उस मूल तत्व को जाना वस वही है योगिराज। घर में रहते हुए भी वह योगी है। तो ऐसे उस अंतस्तत्त्व की उपासना के लिए हमारा कर्तव्य यह है कि हम इन असार इन्द्रिय विषयों का परित्याग करें। देखिये भाई जिन्दगी तो व्यतीत ही होती जा रही है। आखिर दिन एक मरण करके यहां से जाना होगा। अब सब प्रकार से समर्थ हैं, सब साधन ठीक हैं, ऐसे सुन्दर सुयोग को पाकर ज्ञान और वैराग्य में अपना चित्त दें। लेकिन कौसा दुर्भाग्य है कि इस उत्तम कार्य को करने के लिए किसी के पास समय नहीं है, फुरसत ही नहीं है। अरे यदि रात दिन के २४ घन्टों में कोई एक आधा घंटा भी यदि आध्यात्मिक वातावरण में रहने का मौका मिले तो बाकी का २२-२३ घन्टे का समय भी बड़ी अच्छी तरह से व्यतीत होगा। यदि एक यह आध्यात्मिक वातावरण न रहा तो सारा जीवन इसी तरह से दुःख ही दुःख में व्यतीत होगा। संयम की आराधना करें अपने इन ५ इन्द्रिय और छठे मन को वश करें, और ज्ञान वैराग्य का उपाय बनाकर अपने जीवन को सार्थक बना लें। असंयमित जीवन कोई जीवन नहीं, संयमित जीवन ही एक उत्तम जीवन है।



उत्तम तप धर्म

दसलाक्षणी पर्व के ६ दिन चले बड़े ना ? आज सप्तम दिन है और दसलाक्षणी के छे तप नामक-धर्म का दिन है । आज तप के विषय में शिक्षा सुनिये—

शुभ्रभ्र पविष्पिणु तत्त्व मुष्पिणु खंडवि पविदिय शकभु ।

शिव्वेउवि मंडिवि संगइ छंडिवि तव किज्जइ जाये वि बभु ॥

इस दुर्लभ नरजीवन में तपश्चरण की श्रेष्ठ कर्तव्यता—इस दुर्लभ नरजीवन को पाकर श्रेष्ठ कर्तव्य यह है कि तत्त्व का मनन करें । यह माया नारियल की तरह तुच्छ कीमत वाला नहीं होना चाहिए कि जहाँ चाहें नवा दिया, फोड़ दिया । मन भी इतना बेकार नहीं होना चाहिये कि मोह और राग के ही साधनों का मनन करता रहे । यह आयु क्षण-क्षण में ऐसी बही जा रही है जैसे पहाड़ से गिरने वाली नदी । जितना पानी बह गया, वह ऊपर नहीं आता । इसी तरह जितना समय निकल गया वह फिर कभी नहीं आता । सो तत्त्व का मनन करके और मन एवं पंचेन्द्रियों का दमन करके वैराग्य प्राप्त करो और परिग्रह को त्यागकर बन में जाओ । इतनी बड़ी तैयारी कौन कर सकता है ? जिसके कृतकृत्यता का भाव आ गया है जिसे जगत् में कोई भी कार्य नहीं रहा है ? शुद्ध आत्म स्वभाव की रुचिपूर्वक इच्छाओं का निरोध होना, चैतन्य स्वभाव में प्रतपन करना सो तप है । मनुष्यत्व की सबसे बड़ी विशेषता तप है । जो अन्य जगह नहीं हो सकती । जिसे न तिर्यञ्च कर सकते हैं और न नार की देव ही कर सकते हैं । तप का अधिकार मनुष्य को है । तप क्या चीज है ? इच्छाओं को रोकना ही तप है । देवों को जिस समय भूख प्यास लगती है तो उनके मुँह से अमृत झड़ता है । जिससे उनकी भूख प्यास दब जाती है । देव इच्छाओं का दमन नहीं कर सकते । इच्छाओं का दमन करना मानव जीवन में ही सम्भव है । सबसे विशेष भव तो मनुष्य का है, परन्तु जैसे ही उसका बाह्य विकार आया जैसे ही उन इन्द्रियों को संभालने में लगा दिया । तब क्या किया, दुर्गति का पात्र ही हुआ ।

पर्याय बुद्धि तजकर अन्तः स्वभाव की और उपयुक्त होने में तपश्चरण की सार्थकता—पर्याय बुद्धि सर्व दुःखों की मूल है । अन्य बुद्धियों की बात दूर रहो, यदि भक्ति आदि शुभ राग में भी आत्मीय बुद्धि हुई तो संसार की बृद्धि ही फल रहा । स्वानुभावी अन्तरात्मा के कवाचित् रागादि भाववश बाह्य प्रवृत्ति होती है तो भक्ति आदि रूप होती है । इसी को कहते हैं व्यवहारिक धर्म । तप का मतलब है किसी चीज की इच्छा न करना, विषय वासनाओं से दूर रहना ही तप है । तप दो प्रकार का होता है—आन्तरिक और बाह्य । उस तप में जब कि सम्यग्दर्शन न होने पर जो लोग तपस्या करते हैं, उनकी कई तरह की विद्वेषनायें हो जाती हैं । बाह्य तप भी तप तभी कहलाते हैं जबकि आन्तरिक तप भी चल रहा हो । कभी बाह्य तप हो जाता है, अतः बाह्य तप बिल्कुल व्यर्थ न समझना । अनशन क्यों किया जाता है, उसका क्या प्रयोजन है ? पहिले भोजन करते समय अनेक प्रकार के राग पैदा होते हैं । भोजन में शुद्धता होती है । भोजन के बाद ना भोज की इच्छायें होती हैं । उपवास में इन्द्रियदमन, इच्छादमन व प्रकृत्या कल्याण रुचि का भाव होता है । उपवास करके देखो प्रायः आत्म कल्याण की भावना होती है वा नहीं तथा जो स्वाद के लोभ को तज देता है, मुखसाता में भी स्नेहसा से उसके अन्य विषयों का अभाव ही तो होता है । ज्ञान स्वभाव में तीन रहना ही तपस्या है । ऐसे नहीं, जैसे कि एक बटना ही है—एक भाई जी वे । उनकी यह प्रतिज्ञा भी कि हरे राम को छोड़ना नहीं । वह एक दिन उपवास किया करते थे और एक दिन खाते थे । जिस दिन वह खाते थे तो सारा दिन प्रबन्ध न खाने में ही व्यतीत हो जाता था । एक दिन जब भोजन का समय था तो हरी राम छोड़ने को रख दी और प्रतीक्षा करने लगे कि यदि कोई हजर से निकले तो उससे साथ छोड़ना सं । इतने

में उत्रर से गुरु जी निकले भाई जी ने उनसे कहा कि पंडित जो, यह साग छोक दीविए। पंडित जी ने कहा—यै साग छोक दूंगा, पर यह कहकर कि साग छोकने में जो पाप लगे वह तुम्हें लगे। इस पर भाई जी ने कहा ना भाई ना, ऐसा न करना। पर पंडित जी ने जब साग छोका तो यह कह दिया कि इसका जो पाप लगे वह इन्हीं को लगे परन्तु पंडित जी यह अच्छी तरह जानते थे कि कहने से पाप तो नहीं लगता, पाप तो भावों से है। जब इनकी इच्छा छोकवाने की है और विकल्प बुद्धि है तो यहां तो कर्मबंध है ही।

तपश्चरम में शुद्ध आनन्द और उससे कर्म संकट का विनाश—तप तो वह है जहां सम्यग्दर्शन हो और उसके विषय में झुकाव हो। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति पर जो तप होता है उसमें कष्ट की कोई बात नहीं। तप में तो आनन्द रहता है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा कि—आनन्दो निर्दह्युद्ध कर्मघनमनारत। न चासी सिद्धते योगी वहिदुःखेच्छेततः ॥ जिसके अन्तर्दृष्टि है वह बाह्य दुःखों में अचेतनबन्धु है। वह वेद नहीं करता, उसके आनन्द ही झरता है, वही आनन्द कर्म निर्जरा करता है। मात्र मनषण में वह शक्ति नहीं जो कही गई है, वह तो आहार का वियोग है, परन्तु वहां जो विषयेच्छा का अभाव है, वह तप है। विषय प्रवृत्ति विषय से आकुलता की स्रोतक है। विषयों में आकुलता प्रकट है। सुनने और देखने की इच्छा तथा गई-गई इच्छाओं का उत्पन्न होती है? देखो खाने की आकुलता, एक घास मुख में है, एक हाथ में है और साथ बस्पा कर रहे हैं अब मिठाई खाऊंगा, फिर नमकीन खाऊंगा। खर खाने के मुख से निपटे सौ मुख, रम्यावलोकन, रावश्रवण आदि इच्छाओं हो जाती हैं। अहो-विषय सम्पर्क! दुःख ही है, आकुलता ही है। जहां आत्मा अपने सहज स्वभाव में लीन होता है वहां इस प्रकार के विचार व दुःख नहीं हैं, आनन्द ही है 'दुर्नदि समृद्धो' एक धातु है जिसका अर्थ होता है—चारों ओर समृद्धि बनी रह। रागद्वेष करके ये जीव तो आनन्द आनन्द शून्य हो रहे हैं। आत्मरक्षा उसकी है जिसके शांतिमय आत्मा के स्वभाव का आलम्बन होता है। परदृष्टि से ज्ञान और शांति का घात होता है, जिसकी यह श्रद्धा है उसमें यह शक्ति है कि दुःख में भी अनाकुलता रख सके, फिर मोह से विषयों को अपनाता उचित नहीं। परन्तु क्या करें, मोही जीव जिसने कि अपने स्वभाव की परख नहीं पाई, विषयों के संस्कार में ही पावना पाई, वह कैसे उसे छोड़ सकता है? भाई! जैसे मछली में बसने वालों को फूल नहीं सुहाते वैसे ही विषयों में बसने पर स्वानुभव कैसे सुहाये? अच्छी संवति से मनुष्य चाहे बहुत देर में लाभ पा सकता है बल्की नहीं तर्बाप वह लाभ अन्तिम पूर्ण अवस्था में पहुंचाने वाला होगा। "भोग तजना बुरों का काम, भोगना भोग बड़ा आसान।"

परसम्पर्क व कर्तृत्वबुद्धि में पीडाधिय—मेरा अन्य पदार्थों के साथ क्या सम्बन्ध है? बाह्य पदार्थों में जितना समय लगा रहा है वह सब पागलपन है ऐसा आचार्यों ने बताया है। कौन सी वस्तु सारभूत है जो जैसे इस ज्ञान मात्र आत्मा का पूरा पाड़ देगा? ऐसा जगत में कुछ नहीं है, फिर भी यह संसारी प्राणी रोगी बन गया है। कौन सा रोग लगा है? मुझे अमुक काम करने को पड़ा है, इस प्रकार का जो परिचाम है वही महारोग है। क्या पड़ा है करने को? इस ज्ञान मात्र आत्मा में सिवाय ज्ञान के अन्य कुछ करने की सामर्थ्य ही नहीं है फिर बाहर में कौन सा काम करने को पड़ा है? एक रुई धुनने वाला था। वह कपड़े के लिये परदेस गया। जब वहां से वापिस आया तो पानी के जहाज से आना पड़ा था। वह समुद्री जहाज से आया। सो जिस जहाज पर वह बैठा था उसमें देखा कि हजारों मन रुई लगी हुई है। फुलाफिर तो एक दो ही थे। रुई को देखकर उसका फिर रुई करने लगा क्योंकि मन में यह बात आ गई कि हाथ इतनी सारी रुई हमें धुननी पड़ेगी, और भी उसका महत्त्व विचार एक वंश सो वह बीमार हो गया। घर आया। डाक्टर बुलाया, वैज बुलादो, पर किसी से ठीक न हो सका। एक चतुर दुसरा आया जो मनोविज्ञान को समझता था। बोला हब इसे मर्यादा कर देने। तो सबने बड़ा देहसान मर्यादा, कर दो बंधन अच्छा तुम सब नोप जावो हम अकेले में दवाई करने। पूजा भंडा कितने दिन हो गये तुम्हें बीमार हुवे? तीन दिन

हो गये। कहां से बीमार हुए ? अमुक नगर से चला तो रास्ते में बीमार हो गया। जहाज पर आ रहा था।... हाँ जहाज पर कितने लोग बैठे थे ? बोला लोग तो दो तीन ही थे, पर उसमें हजारों मन रुई लदी हुई थी। जब हाथ के साथ बोला तो समझ गया। चिकित्सक बोला—अरे जिस जहाज से तुम आये थे उस जहाज में पता नहीं कैसे क्या हो गया कि जहाज में आग लग गई और सारी रुई जल गयी।...क्या, जल गई, ? हाँ जल गयी। यह सुनते ही वह चंगा हो गया। बीमारी तो इसीलिए हुई थी कि हाथ इतनी रुई हमें धुननी पड़ेगी। जब यह बोध हो गया कि मेरे धुनने को रुई अब नहीं रही तो ठीक हो गया। रात-दिन देख लो भैया ! इसी सम्बन्ध में तो विकल्प है। अभी हमें इतना काम करना है, अब इतना माल भेजना है। अभी इसके आगे और क्या करना है ? रजिस्टर ठीक करना है, अमुक काम करना है, लो बीमार हो गये। भाई कुछ भी करते जावो, पर इतना अमृत तो पीते जावो कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं सिवाय ज्ञान के और कुछ नहीं करता हूँ। इतनी दृष्टि का अमृत तो कभी-कभी बीच में पीते जाइये तो अच्छा जीवन चलेगा। तो जैसे धुनिया को यह बात आ गई कि मेरे धुनने को कोई रुई नहीं रही तो अच्छा हो गया, इसी तरह सम्यग्दृष्टि पुरुष के और विशेषता ही क्या है ? यही विशेषता है कि ज्ञानी पुरुष के यह दृढ़ विश्वास है कि मेरे को जगत में करने को कोई काम नहीं पड़ा है। "होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम ?" यह श्रद्धा ज्ञानी जीव के प्रबल है इसलिये अन्तर में नहीं अनाकुलता रहती है।

तं तज जहि परिग्रह छडिज्जइ, तं तज जहि मथुणुजि खंडिज्जइ ।

तं तज जहि णगतणु दीसइ, तं तज जहि गिरिकदर णिवसइ ॥

पारग्रहत्याग में व कामखण्डन में तपश्चरण—तप वहाँ होता है जहाँ परिग्रह का त्याग कर दिया जाता है। तप वहाँ होता है जहाँ काम खण्डित कर दिया जाता है। कामी पुरुष तपस्वी नहीं हो पाता। वह कितना ही धर्मसाधन करे, पर काम ऐसा भयंकर विकार है कि जिस कामभाव के रहने पर धर्म में प्रगति नहीं हो सकती गृहस्थों में भी मुषील गृहस्थ पाये जाते हैं और वे काम के ऐसे विजयी होते हैं कि परस्त्रीत्याग का नियम ले तो स्वप्न में भी पर स्त्री के प्रति खोटी वासना वहीं रहती। सुदर्शन सेठ का दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। वह सेठ भी थे और बहुत सुन्दर रूपवान भी थे। रानी का चित्त चलित हो गया तो दासी को भेजा। वह सुदर्शन सेठ को रानी के पास ले आई। रानी ने भी सभी चेष्टायें कर लीं। नग्न किया, खुद नग्न हो गई सारी विडम्बनायें कर लीं, पर अचरज में हो गयी रानी। सुदर्शन ने कहा—माँ मैं तो नपुंसक हूँ। जब रानी की इच्छानुसार कार्य न हुआ तो उसे सुदर्शन सेठ पर बड़ा क्रोध आया। उसने यह मन में ठाना कि इसके प्राण नष्ट कराना चाहिये। सो कपड़े खुद फाड़कर बड़ी वेदना के साथ राजा से बोली—महाराज इस सुदर्शन ने आज मेरी इज्जत खराब कर दी। राजा ने सुली का दण्ड सुना दिया। तो जो सन्तोषी होता है और साथ ही जिसके पुण्य का उदय होता है तो बड़े मनुष्य अथवा देव उसके सहायक बन जाते हैं। देवों ने सहायता की, सुली पर सिंहासन बनाया। सिंहासन पर बैठे हुए सुदर्शन को सब लोगों ने देखा। धर्म की तब विशेष प्रभावना भी हुई।

अन्तर्बाह्य नग्नता में तपश्चरण—इस जगत में हम और आपका कोई शरण नहीं है। अपने ही स्वरूप को जानो जो परम आनन्दमय है। जो सहज शुद्ध पूर्ण विकासमय परमात्मा कहलाता है ऐसा यह मैं गुप्त चैतन्यस्वरूप ही मेरे जिये शरण हूँ। इसकी दृष्टि बहुत काल तक बनी रहे। कुटुम्ब, परिवार, लोग इज्जत देश, ये सब मायास्थ हैं ये मेरी शरण नहीं हैं। अन्तर में यथार्थ ज्ञान की तपस्या में तपो। तप वहाँ है जहाँ नग्नत्व दिखता है अहो किस गुणी के ये विचार हैं ? ये उनके विचार हैं जिन्होंने निज सहज स्वरूप का स्पर्श करके अमृतपान किया है, जहाँ विकार रच भी नहीं रहता ऐसे केवल गुणों पर दृष्टि रहती है। जो नग्नत्व को देखकर कुछ संकोच करते हैं उनकी चाम पर दृष्टि है। गुणों पर उनकी दृष्टि नहीं है। जो रत्नत्रयधारी साधु के सम्यक्तव, ज्ञान चारित्र्य गुणों के विकास की

दृष्टि करते हैं वे तो उन्हें देखकर हर्षविभोर हो जाते हैं। नग्न होना महान तप है, न विकार आये न लज्जा आये। बालक भी तो नग्न फिरते हैं, अब तो छोटे-छोटे बालकों को भी नग्न देखना बुरा लगता है। ६ माह के बच्चे को भी एक फटी सी सिली सुतनिया बनवा लेते हैं ताकि वे मूतें तो कगड़ा न भीगे। अभी ३०-४० वर्ष पहिले १० वर्ष के बालक भी नग्न फिरा करते थे। जो पुराने लोग हैं वे जानते हैं यह नग्नत्व अविकार भाव का सूचक है।

विविक्त शय्यासन में तपश्चरण—तप वहां होता है जहां गिरि कंदराओं में निवास हो। अभी आप देख लें, अकेले में मन नहीं लगता है। आपका भी मन नहीं लगता होगा। कोई बातें करने को चाहिये मित्र मिलें, आफीसर मिलें, लोग मिले, अकेले मन नहीं लगता। कोई बातें करने को चाहिये, और इन साधु महाराज को गिरी कंदराओं में, जंगल, गुफाओं में बड़ा मन लगता है, वे रुदा प्रसन्न रहा करते हैं। वे कैसे अकेले रह जाते हैं? वे अकेले नहीं हैं। हम आपको मालुम पड़ता है कि वे अकेले रह जाते हैं? वे अकेले नहीं हैं। कौन है वहां उनके साथ? उनके साथ उनका प्रभु है। जैसे हम आपको कभी ऐसी वृत्ति होती है कि मन तो पाप करने का प्रोत्साहन बनाता है और विवेक उन बातों को काटता है, रोकता है, इसी तरह वहाँ भी उपयोग और ज्ञानस्वरूप ये दो तरब बसे हुए हैं। तो वहाँ उपयोग ज्ञानस्वरूप प्रभु से ज्ञानमयी पद्धति से बात करता है। वे साधु जन उस ज्ञानस्वरूप प्रभु को देखकर, अनुभूत कर, लीन होकर तृप्त बने रहते हैं। साधु वहाँ अकेला नहीं है। परमशरण ज्ञायकस्वभाव परमपिता परमात्मा उसके साथ है तो उसे जंगल में ही प्रसन्नता रहती है बल्कि जैसे आपको अपरिचित लोगों से कुछ प्रयोजन नहीं, अपरिचित जन दस भी बैठे रहें तो आप अपने को अकेला ही मानेंगे। अरे भाई ये १० मजदूर तो पास में बैठे हैं। उस पुरुष को एक भी उनमें काम का नहीं है। यह जानता है कि मैं तो अकेला हूँ इसी तरह उन साधुओं के पास १०-५ लोग बैठ जायें तो वहाँ भी अपने को भला नहीं मानते क्योंकि उस संसर्ग में अपने प्रभु की दृष्टि भी छूट जाती है, तो वे वहाँ अपने को अकेला अनुभव करते हैं। जो अपने आपके आनंदमय स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता है वह पंचेन्द्रिय के विषयों में डोलता रहा है।

संपदा से उपेक्षा करके स्वभाव दृष्टि में तपश्चरण—यह इच्छा निरोध तप तब तक नहीं हो सकता जब तक स्वभाव का अनुभव न कर लें। स्वभाव के अनुभव के बाद उसका स्मरण रहता है, उसी ओर परिणाम रहा करता है, उस स्थिति में इच्छा का निरोध सहज हो जाता है। यह संसारी जीव बालक है, इसे तो खिलोने से राग है। जिसने अपना आन्तरिक खिलौना नहीं देखा, वह बाह्य पदार्थ विषय रूपी खिलौने से कैसे चित्त हटा पावेगा? इसे तो खिलौना चाहिये, चाहे स्वकीय मिले या परकीय। परकीय खिलौने में व्याकुलता ही व्याकुलता है, स्वकीय खिलौने में सत्य शान्ति है। हम निज स्वभाव को भूलकर जगत् में इतने भटके कि ८४ लाख योनियों में नाना रूप रहे, उनको यह जीव जब जान लेता है कि यह मोह स्वरूप है तब वह पुण्योदय से संयुक्त सम्पत्ति में कुछ भी हितबुद्धि नहीं करता। सम्पदा का संयोग आत्मा की शान्ति की कंगूत नहीं। वह पुण्य के निमित्त पर उपस्थित है। सम्पदा से शान्ति नहीं। तृष्णा करके अपने को भोगों में लगाना, विषयों में फंसाना, अपने आप पर महान् अन्याय करना है। सदृष्टहृत्थ बनकर यथाशक्ति तप का लाभ गृह में भी पा सकते हैं।

विषयेच्छा निरोध से मनुष्य सब की आदर्शता—जो पर्याप्त सम्पत्ति होने पर भी सात्विक रहन सहन रखता है और निरन्तर अविकारी स्वभाव का ध्यान रखता है वह गृह में भी तप करता है। मनुष्य होने का सामं तप में है, इच्छा निरोध में है। मनुष्य के समान अन्य कोई उत्तम पर्याय नहीं है। इसको पाकर विषयेच्छा का दास होना अपने को सुख का मार्ग रोक देना है। जब तीर्थंकर देव विरक्त होते हैं तब उन्हें बन में ले जाने वाले इन्द्र अपनी पुरानी आदत के अनुसार पालकी में बैठाकर उठाना चाहते हैं तो मनुष्य रोक देते हैं। भाई, तुम इस पालकी में हाथ न लगावो यहां तुम्हारा अधिकार नहीं है। इन्द्र बोला—मैंने गर्भ में रत्न वषाये, जन्मोत्सव में मेरु

पर अश्लेषक किया, मुझे अधिकार कैसे नही ? निर्णय के लिये एक वृद्धा को बैठाया । तब उसने खूब सोच विचारकर यह निर्णय किया कि आइयों, भगवान् की पालकी वह उठा सकता है जो भगवान् के साथ भगवान् जैसे संयम को धारण कर सके । यह ज्ञान सुनकर मनुष्य बड़े प्रसन्न हुए । तब इन्द्र बोना कि मनुष्यो ! मेरी इन्द्रत्व की सारी शक्ति जो लो और इसके बदले मनुष्यत्व दे दो, परन्तु इसकी इस आशा की पूर्ति वहाँ कैसे हो सकती थी ? वह रोना ही रहा, मनुष्य भव को ललचाता ही रहा । ऐसे अमृत्य नर रत्न को, क्षणिक पराधीन विषयास्वाद में गँवा देना अहर्ता सुखीता है । जगत् के सभी पदार्थ स्वतन्त्र हैं । मैं भी स्वतन्त्र द्रुव चैतन्यमय वस्तु हूँ । मेरा विश्व के साथ मात्र ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है, स्वस्वामि सम्बन्ध नहीं । जान लो, आगे मत बढ़ो, इस प्रकार बाह्य से सर्वथा हटकर निज चैतन्य स्वभाव में लसना उत्तम तप है, यही सारज्ञान है ।

तं तउ जहि उवसग सहिज्जई, तं तउ जहि रायाइ जिणिज्जइ ।

तं तउ जहि मिक्कइ भुजिज्जइ सावयगेह कालणिविसिज्जइ ॥

तप वहाँ होता है जहाँ उपसर्ग सह लिये जाते हैं । तप वहाँ होता है जहाँ रागादिक जीत लिये जाते हैं तप वहाँ होता है जहाँ श्रावक के घर भिक्षावृत्ति से भोजन लिया जाता है । तप वहाँ होता है जहाँ यथा काल ही यथा स्थान निवास किया जाता है, जिसमें तप की साधना हो, रागद्वेष हो, न हो, ज्ञायकरूप की उन्मुखता रह सके । अपने स्वभाव के दर्शन की इतनी अधिक रुचि बढी हुई है भैया ! इस ज्ञानी के कि इस पर बाहरी कुछ उद्वेग आ जायें तो भी अपने भीतर की घुनि में इतना लीन है कि उन उपसर्गों और उपद्रवों से हटने का विकल्प नहीं करता तप वहाँ ही होता है जहाँ रागादिक भाव जीत लिये जाते हैं । जहाँ भिक्षा भोजन हो तप वहाँ ही होता है । भिक्षावृत्ति धारे बिना कोई मोक्ष नहीं होता है । भिक्षावृत्ति धारे बिना कोई मोक्ष नहीं जाता था यों वह लो कि अपना खाकर कोई मोक्ष नहीं जा सकता है । खुद कमाया अपना ही खाया यों अपना खाकर कोई मुक्त हुआ हो तो एक दृष्टान्त बताओ । या तो पर घर का खाकर मुक्ति गया या बाहुबलि जैसा कोई हो कि बिना भोजन किये मुक्त किया गया हो । अपने घर के भोगों में स्वतन्त्रता की बात नहीं है । अपने घर के भोगों को भोगकर कोई निर्वाण नहीं प्राप्त कर सकता है । यह भिक्षा भोजन अमृत है और वही तप है । किन्तु इतना निर्मल परिणाम हो कि भक्ति सहित कोई निर्दोष भोजन देता है तो लो, अन्यथा भोजन न लो, इतनी निर्मलता के साथ भिक्षा भोजन किया जाता है वह भी एक तप है ।

धर्म के बिना जिनवगी क्या ?—एक साधु महाराज एक श्रावक के घर आये, भोजन के बाद आंगन में बैठ गये । कुछ धर्म की बातें होने लगी । सेठ की बहु ने कहा महाराज, आप इतने सवेरे क्यों आ गये ? कहा समय की खबर न थी । अब देखो दोनों ही बातें अटपट हैं । १० वज गये, धूप भी खूब खिल रही थी । जैसा प्रश्न वैसा उत्तर जरा सुनते जाइये । साधु पूछता है बेटी, तुम्हारी उम्र कितनी है ? बहु बोलती है महाराज मेरी उम्र ४ साल की है । ...और तुम्हारे पति की उम्र कितनी है ? ...महाराज ४ महीने । ...और तुम्हारे स्वसुर की ? ...महाराज स्वसुर तो अभी पैद भी नहीं हुए । अच्छा तुम ताजा खा रही हो या बासी ? बोली महाराज बासी ही खा रही हूँ । साधु तो चला गया । सेठ बहु से लड़ने लगा । तूने हमारे घर की सब खो दी । कैसे पागलपन के प्रश्न उत्तर हुये ? बहु बोली, महाराज साधु के पास चलो वहाँ ही आपको पता लगेगा । सेठ और बहु महाराज के पास पहुँचे, पूछा तो पता लगा कि इतने सुबह क्यों आ गये का यह अर्थ था कि साधु छोटी उम्र के थे । होंगे करीब २०-२५ वर्ष की उम्र के । इतनी अवस्था में आप इस पद पर क्यों आ गये, यह पूछा था तो बताया कि मुझे समय की खबर नहीं थी । मैंने सोचा कि पता नहीं कब मर जावें इसलिए हम सवेरे ही साधुपने में आ गये । बहु की आयु चार वर्ष की कैसे ? कहा कि धर्म की साधना करते ४ वर्ष हो गये । पहिले जो ३०-३२ साल गुजर गये वे व्यर्थ ही चले

गये। जब से हमारे धर्म साधना जगी तब से ही हम अपनी जिन्दगी मानती हैं। धर्म के बिना जिन्दगी मानो तो अपने को अनन्त काल का बुढ़वा कहना चाहिये क्योंकि अनादि से इसकी सत्ता है। पति की चार महीने की उम्र का कारण बताया कि पति को खूब रुमझाया तब उनके चार माह से धर्म की साधना हुई है। स्वसुर बोले महाराज हमको कहती है कि अभी पैदा ही नहीं हुये, हम कितने बूढ़े हो गये, बाल सफेद हो गये और बताती है कि अभी स्वसुर साहब पैदा ही नहीं हुये। वह बोली, देखिये महाराज अभी भी समझ में नहीं आया। अब भी ये लड़ते हैं, और बासी खाने का क्या मतलब बताती है कि महाराज सेठ जी ने पूर्वमव में पुण्य किया था जिसका फल अभी शोंग रहे हैं। तो यह बासी ही तो हैं। ताजा नहीं खाया जा रहा है।

निज ज्ञानस्वभाव के अनुभव से ही संसार से तरण—भैया ! अपनी-अपनी परख कर लो कि अभी हम पैदा हुए कि नहीं ? जब अपने ज्ञान स्वभाव का अनुभव हो जाय कि केवल जानना मात्र यह मैं अमूर्त हूँ, ऐसा अनुभव कभी हो जाय तो समझो कि हां अब मेरा जीवन है। किसी भी प्रकार के वातावरण में कमी भी किसी भी समय अन्य सबको भूलकर, किसी का विकल्प न कर, परम विश्राम से रह जाने का अंदाज- तो करो कि अपने आप मैं क्या हूँ ? अपने आप पर दृष्टि दो तो असीष्ट सिद्ध होगी। कोई बच्चा कहे कि मां मुझे तैरना आ जाय।... हां बेटा आ जायगा।...आ जाए, परन्तु मुझे पानी में न उतरना पड़े।... बेटा यह तो नहीं हो सकता है। पानी में कूदना पड़ेगा, दो चार पटके खाना पड़ेगा तब जाकर तैरना आयेगा। हमको घर के आनन्द भी मिल जाये, भोज भी बनी रहे, और हम मोक्ष मार्ग को भी पा लें तो ये दोनों बातें नहीं हो सकती हैं।

तं तउ जत्थि समिदिपरिपालणु, तं तउ गुत्तित्तय णिहालणु।

तं तउ जहि अप्पापरि बुज्जउ, तं तउ जहि ससरूव मुणिज्जइ ॥

अन्तर्बाह्य समितियों के पालन में उत्तम तप—जहाँ समितियों का पालन किया जाता है तप वहाँ है। देखकर चलना, प्रिय हितकरी बचन बोलना, किसी जीव की हिंसा न करना, ऐसी प्रवृत्ति यदि है तो वही तप है। जहाँ गुप्तियों का पालन है, जहाँ अपने और पराये स्वरूप का विचार है, जहाँ समस्त पर्यायों के अहंकार का त्याग है, विवेक जागृत है तप तो वही है। भैया ! सच तो यह है कि हम पुरुषार्थ तो कुछ न करें और सिद्धि पा लें यह कैसे हो सकता है ? आत्मज्ञान होना ही वास्तविक मंगल है। ऐसे ही तमाधिष्ठा मात्र में मरण होना मंगल है। भोगों में जिनका जीवन मरण है, वे संसार को ही बढ़ाते हैं। चैतन्य स्वभाव का आलम्बन करते हुये जिनका जीवन चल रहा है अथवा आयुक्षय हो रहा है, वे आगे जन्म-मरण के पात्र नहीं होते। शेष अल्पमव भी निराकुलता से व्यतीत हो जाते हैं, फिर शाश्वत आनन्दमय रहते हैं।

अन्तर्बाह्य परिग्रह के त्याग में उत्तम तप—जगत् गोरख धन्धा है। इसकी चाह उलझन की बड़वारी है व चाह से दूर रह कर अपने स्वभाव में प्रतपन करने से अन्त आनन्द का आविर्भाव है। इस सर्व सुख का मूल सम्पन्नदर्शन है। जिस ज्ञानी के अन्तरंग बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रहों से रुचि हट गई उसके ये परिग्रह कब तक लव सकते हैं। अतः जहाँ शुद्ध आत्मा के स्वभाव की रुचि पुरकर अन्तरंग १४ प्रकार के और बहिरंग १० प्रकार के परिग्रहों का जहाँ अभाव हो जाता है उस परिणाम को उत्तम तप कहते हैं। यह तप वहाँ ही प्रगट होता है जहाँ निर्ग्रन्थता है। उन परिग्रहों से त्रैकालिक चैतन्य स्वभावो निज आत्मा का क्या सम्बन्ध है ? यह कुछ न आपके साथ आया, न साथ जावेगा और जब तक है न आपकी परिणति से परिणमता है। सबसे अधिक ग्रन्थि देह में होती है। वह देह भी क्या है ? जड़ भिन्न, प्रवेश करने और गलने वाले अणुओं का पुञ्ज है। वह आत्मा नहीं। अहो, जिसे अज्ञानी समझते हैं नवह अन्तरंग आत्मा है, नवहिरंग आत्मामें सर्वदृष्ट अदृष्ट स्कन्ध से भिन्न हैं, धनवैभव से न्यारा हैं, परिवार

आदि कहे जाने वाले भूत प्राण से पृथक् हूँ, मेरे समान जाति वाले सभी अन्य चेतन से पृथक् हूँ। मैं किसी भी परब्रह्म का परिणाम नहीं करता। मेरे करने को बाह्य में कुछ काम भी नहीं है। इस प्रकार के परिणामों से प्रेरित होकर परब्रह्म से हट कर व सर्व विकल्पों को समाप्त करके निज चैतन्य स्वभाव में स्थिर होना उत्तम तप है। इस उत्तम तप में प्रवर्तमान साधुबृन्द गुफाओं में बसते हुये आनन्दमग्न हैं, अनेक उपसर्ग उनके शृङ्गार हैं, समिति गुप्ति उनका व्यापार है। सर्व आरम्भ परिग्रह से वे अत्यन्त विरक्त हैं। भोजन का भी रच आरम्भ उनके नहीं है व निष्ठा-धृति से पाणिपात्र आहारी हैं, परम विवेकशाली हैं।

अविकार चित्स्वभाव की उपासना में उत्तम तप—अहा, इस उत्तम तप धर्म में कषायों को स्थान नहीं मिलता, उसका फल केवल ज्ञान है, अधिनाशी सुख है। इस धर्म में भी देखो, सभी धर्मों की सहचारिता स्वयं ही सहज है। हे उत्तम-तप धर्म ! सदा जयवन्त रहो। तेरे ही प्रताप से विषय कषाय के भयङ्कर रोग दग्ध हो जाते हैं, विगुह्य ज्ञानदेह श्रमक उठता है। अहो भव्य बन्धुओं ! यह नर-रत्न सर्व पदार्थों में रत्न है, इसे विषय कषाय के बहुकषये में मत डालना। अपने स्वभाव की उपासना से अपना उद्धार कर लेना अन्यथा सिवाय पछतावे के या बेहोश बने रहने के संसार—क्लेश सहने के कुछ भी लाभ नहीं होगा। सर्व शक्तियों के अभेद स्वभावमय स्वतः सिद्ध आत्मा विराजमान, इसके दर्शन करो। तप वहाँ ही होता है जहाँ आत्मा की वचार्थ पहिचान हो चुकी हो। आत्मस्वभाव समझना बहुत सरल है इसमें परिश्रम की आवश्यकता नहीं, विन्तु परिश्रम पक्ष के त्यागी की आवश्यकता है। यह विपरीत परिश्रम पक्ष के कारण है। यदि कोई मनुष्य अपने को एक बार इस परिस्थिति में ला देवे मैं तो न वैष्णव हूँ, न हिन्दू हूँ, न जैन हूँ, न धनपति हूँ, न गरीब हूँ, न शास्त्रज्ञानी हूँ, न मूर्ख हूँ ये तो सफ़ी पर्यायें हैं, मैं तो आत्मा हूँ। आत्मा का रिश्ता आत्मा से जोड़ देवें, तब आत्मस्वभाव जो अनाकुल सुखमय ज्ञान का स्वाभुव है वह हो जावेगा। वय आत्म-स्वभाव की पहिचान होने पर करने योग्य सब कर लिया, अब उस ज्ञानी की किसी बाह्य में रति नहीं होती और निज चैतन्य स्वभाव जो अनादि अनन्त अहेतुक स्वतः सिद्ध है उसकी ओर झुकाव होता है। इस ही चैतन्य स्वभाव में बने रहना उत्तम तप है।

सविवेक तप, त्याग की श्रेष्ठता—एक सागर की घटना है गुरुजी सुनाते थे। जिस धर्मशाला में वे रहते थे वहाँ एक भाईजी भी रहते थे। उनका एक नियम था कि साग अपने हाथ से न छौंकते थे। साग बनाकर रख ले और जब कोई दूसरा आवे तो उससे छौंका लें। सो गुरु जी जब गृहस्थ ही थे। बड़े वर्णी जीन कहा कि भाई क्यों बैठे हो ? भाई जी ने कहा कि साग छौंकना है तो कोई छोक दे तो ठीक। वह एक दिन भोजन करे और एक दिन उपवास करे। वह नियम बारहों महीने चलता था। लावन जिस दिन भोजन करते थे वह पूरा दिन उनके भोजन करने में लग जाता था। धीरे-धीरे खाना बनावे खावे, बतन मांजे। तो गुरु जी बोले कि हम छौंक दें ? बोला हां महाराज छौंक दो तो बड़ी अच्छी बात है। मगर हम छौंकेंगे तो यह कहेंगे कि जो पाप लगे सो भाई जी पर नगे। उसने कहा नहीं महाराज यह नहीं कहना। पर छौंकते-छौंकते कह ही ढाला कि इससे जो पाप लगे वे भाई जी पर लगे। भाई जी बोले तुमने तो मेरी रसोई खराब कर दिया। तो भैया ! विवेक बिना त्याग की ऐसी ही विडम्बना होती है। अरे जो स्थावरघात की आरम्भक बात करनी थी सो कर लिया, चाकू से छोला, काटा, पर केवल छौंकने का त्याग कर दिया। अभी देख लो, कोई आलू मटा का त्यागी है, कोई कहे कि हम गिरुज जी गये तो वहाँ से आलू भटेका त्याग कर आये। ठीक है, पर बाजार से दही मोल लेकर खा रहे, गोभी का साग बनाकर खा रहे। तो यह बताओ कि बाजार का दही ओर गोभी खाते हैं तो फिर इस त्याग का क्या महत्व रहा ? पढ़ति पूर्वक त्यागी तो उसे कहते हैं कि जिससे त्रस जीवों की हिंसा हो पहिले उसे त्याग दे। जो गोभी का फूल होता है उसमें बहुत जीव होते हैं। परीक्षा करना हो तो को थाली में फूल के ऊपर का भाग झड़ा करके, देख कर समझ सकता है। उसमें बहुत से त्रस जीवों का घात होता है। गोभी और बाजार का दही खाने से त्रस जीवों का घात होता है। जो

तप में बढ़ो तो विवेक पूर्वक बढ़ो। भैया ! यह सुनिश्चित है कि मनुष्य जीवन एक बड़ा दुर्लभ जीवन है। भोग तो अनन्त भवों में भोग डाले, पर ज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व के दर्शन, अनुभव की बात अब तक नहीं की। पवित्र कार्य करने को मिलता है इस मनुष्यभव में ही। तप करना, संयम करना, ज्ञान करना, उदारता करना, दया करना, धर्म करना, ये सब हां सकते हैं इस मनुष्यभव में ही। यदि इस मनुष्यभव को यों ही भोगों में गंवा दिया और भरकर छोटी गति में पहुंच गये फिर कल्याण का अवसर कहां रहा ?

धर्म के बिना नरभव की दशाओं को व्यर्थ गंवा देने का एक दृष्टान्त—एक सेठ थे। वे राजा के परम मित्र थे। पापों का उदय आया सो वे गरीब हो गये। बड़े दुःख भोग लिये तो एक दिन राजा से कह ही बैठा कि राजन् ! हम आजकल बहुत संकट में हैं। राजा ने कहा कि कल तुम २ बजे से ४ बजे तक हीरा जवाहरात के भण्डार में चले जाना, जितने रत्न तू बटोर कर ला सके सो ले आना। पहरेदार और खजांची को सूचना दी कि सेठ दो बजे आया सो २ बजे से ४ बजे तक जितने चाहे रत्न ले जा सकता है। हमने उसे ऐसी इजाजत दी है।... बहुत अच्छा। सेठ २ बजे पहुंच गया। सो बहुत बड़े महल में जवाहरात का भण्डार था। जब भण्डार में पहुंचा तो बड़े ही सुन्दर चित्रों और खिलीनों में उसकी दृष्टि पहुंच गई। खिलीने देखने में तो समय लगेगा, जरा देखना शुरू तो होना चाहिये। उन चित्रों के देखने में ही दो घण्टे का समय व्यतीत हो गया। ४ बज गये, पहरेदार ने भगा दिया। अब सेठ रोता हुआ राजा के पास पहुंचा। वह बोला महाराज हम दो घण्टे में कुछ नहीं ला सके। चित्र विचित्र खिलीनों को देखने में ही समय चला गया।... अच्छा भाई कल २ बजे से ४ बजे तक को अर्शाफियों के भण्डार में जाने की इजाजत देता हूं। दूसरे दिन पहुंच गया। देखा कि जहां पर अर्शाफियों का भण्डार है वहां पर एक बड़ा मैदान है। उस मैदान में सुन्दर-सुन्दर घोड़े बंधे हैं उनमें से एक बहुत सुन्दर था। सेठ घोड़े का शौकीन था। सोचा जरा इसकी चाल तो देखें। सो वह बैठा तो चाल बड़ी ही सुन्दर थी। वहां भी दो घण्टे यों ही व्यतीत हो गए। पहरेदार ने निकाल दिया। राजा के पास पहुंचा। राजा ने कहा अच्छा कल तुम्हें २ घण्टे के लिये चांदी के रूपयों के भण्डार में जाने की इजाजत देता हूं। जब वहां शुरू-शुरू में पहुंचा तो एक तरह का गोरखधन्धा आता है ना, सो गोरखधन्धा में फंस गया। कोई चीज फंसी थी सो निकाल दिया। अब पहरेदार कहता है कि इसे ज्यों की त्यों करो। ज्यों की त्यों करने में ही उसके दो घण्टे का समय व्यतीत हो गया। फिर पहरेदार ने निकाल दिया। अब फिर रोक सेठ राजा के पास गया। राजा ने कहा भाई अब तो एक तांबे के पैसों का भण्डार बचा है उसमें कल तुम्हें जाने की इजाजत दो बजे से ४ बजे तक के लिये देता हूं। वह वहां पहुंचा। देखा कि एक बहुत सुन्दर स्प्रिंगदार पलंग पड़ा हुआ है। सोचा कि जरा इसमें पड़कर देखे। तनिक पड़कर देखा तो आध मिनट में ही नींद आ गई। सो गया, जब दो घण्टे पूरे हो गये तो पहरेदार ने निकाल दिया। कुछ भी उसके हाथ न लगा यहां भी।

अपना शरण पाये बिना नरभव का व्यर्थ थापन—इसी प्रकार बाह्य दृष्टि वाले पुरुष अपने जीवन की चार अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था में धर्म का लाभ नहीं ले सकता। बचपन से खिलीने चित्रों में ही सारा समय चला जाता है। किशोर अवस्था में साइकिल, मोटर, घोड़ा के पीछे परेशान रहकर अपना समय गंवा देते हैं और और कलाकों के सीखने में अपना समय गंवा देते हैं। जब जवान हुए तो गोरखधन्धे में लग जाते हैं। अभी उस लड़के की शादी करना है, अभी उस लड़की की शादी करना है। इस प्रकार गोरखधन्धे उलझते ही रहते हैं सुलझते नहीं हैं। इसके बाद अब चौथापन आता है तो बैठे हैं, कुछ कर नहीं सकते हैं। यों ही जीवन व्यतीत हो जाता है। करने की चीज क्या है? सो भैया ! कुछ ज्ञान में प्रगति करो और तत्त्वज्ञान, प्रयोजनभूत ७ तत्त्वों के सम्बन्ध में अपना ज्ञान बढ़ाओ, अपने आपको शरण अपने आपसे ही मिलेगी। यदि सम्यक्त्व हो गया तो अपने को अपने से ही शरण मिलेगा और सारे संकट टल जायेंगे। ये भोग तो भव-भव में भोगते हुए चले आ रहे हो, कुछ भी

तो इन भोगों को भोगने से पूरा न पड़ेगा ।

तं तउ जहि ससख्ख मुणिज्जइ, तं तउ जहि कम्महणण खिज्जइ ।

तं तउ जहि सुरभत्ति पयासइ, पवयणत्थ भवियलह पभासइ ॥

स्वस्वरूपमनन में तप—जहाँ अपने आपका मनन किया जाता है, तप वहाँ होता है। जहाँ देवता भी भक्ति प्रकाशित करते हैं तप वहाँ है। जहाँ भव्य जीवों के लिये प्रवचन, उपदेश, अर्थ कथन किया जाता है तप वहाँ है। अपने लिये किसी से कुछ न चाहे, यह एक बड़ा तप है। अपने लिये घर न चाहे, इज्जत न चाहे, यह भी एक बड़ा तप है। जन्म मरण के चक्र में चलने वाले किसी पुरुष ने आपसे कह दिया कि बाबू साहब तो बड़े अच्छे हैं इससे कौन सी उन्नति होगी? सर्व प्रकार की इच्छाओं का निरोध करना सो तप है।

जेण तवे केवल उप्पज्जइ सासय सुवख णिच्च संपज्जइ ।

सम्यग्ज्ञान में उत्तम तप और उससे केवलज्ञान की उत्पत्ति—तप वहाँ है जहाँ केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवल ज्ञान उत्पन्न होने का अधिकार वहाँ है जहाँ सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान वहाँ है जहाँ पर प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र-स्वतंत्र ज्ञात है, अपने-अपने स्वतंत्र में बसे हुये नजर आ रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ है, परिणमते हैं। उनमें मेरा कोई अधिकार नहीं है। परिणमना भले के लिये है, यदि पदार्थ न परिणमते तो उनकी सत्ता नहीं रह सकती। कौनसा पदार्थ ऐसा है जिसमें उत्पाद व्यय न होता हो फिर भी उसका ध्रोव्य रहता है। इसलिये ऐसी निगाह रखो कि जो कुछ भी होता है वह भले के लिये ही होता है।

सर्वत्र भले का दर्शन—एक राजा और मन्त्री थे। मन्त्री को यह कहने की आदत थी कि जो कुछ होता है वह भले के लिये होता है। एक बार राजा मन्त्री के साथ जंगल में शिकार खेलने गया। राजा थे छिगा। उनके एक हाथ में ६ अंगुली थी। राजा जंगल में मन्त्री से पूछता है कि मेरे ६ अंगुली हैं सो यह कैसा है? कहा बहुत अच्छा है, यह भी भले के लिये है। उस राजा के गुरसा आ गया। सोचा कि मैं तो छिगा हूँ और यह कहता है बहुत अच्छा है। मन्त्री को कुएँ में डकेल दिया और आप आगे बढ़ गया। अब क्या हुआ? एक देश में राजा नरमेघ यज्ञ कर रहा था। उसमें बलि देने के लिये बढ़िया मनुष्य चाहिये था। सो राजा ने चार पंडों को अच्छा मनुष्य खोजने के लिये छोड़ा। उन चारों पंडों को वही राजा जंगल में मिल गया, राजा सुन्दर था ही। उसे चारों पंडे पकड़ ले गये और पकड़कर उन्हीं यज्ञ के पास एक खूँटे में बांध दिया। बलि देने की तैयारी हो रही थी कि एक पंडा ने देखा कि अरे इसके तो ६ अंगुली एक हाथ में हैं। उस यज्ञ में निर्दोष शरीर वाला मनुष्य चाहिये था। राजा की ६ अंगुली देखकर वहाँ से डंड मारकर उस राजा को भगा दिया। अब राजा रास्ते में सोचता है कि मन्त्री ठीक कहता था कि जो ६ अंगुली हैं तो बड़ा अच्छा है, उसकी बात ठीक हुई। राजा प्रसन्न होकर उस कुएँ के पास आया और मन्त्री को उस कुएँ से निकाल लिया। मन्त्री से कहा कि तुम ठीक कहते थे कि जो होता है सो भले के लिये ही होता है। मन्त्री ने पूछा क्या हुआ? राजा ने सारा किस्सा सुनाया, और कहा कि हमारे ६ अंगुली थीं इसलिये बच गये। अच्छा मन्त्री यह बताओ कि तुम्हें जो मैंने कुएँ में पटक दिया सो कैसा हुआ? बोला यह भी बहुत अच्छा हुआ। कैसे हुआ? महाराज यदि मैं साथ में होता तो मैं भी पकड़ा जाता। आप तो बच जाते ६ अंगुली की वजह से और हम ही फंसते। सो यह भी भले के लिये हुआ। सो इस जीवन में दुःखी होने का कोई काम नहीं है, चाहे धन आवे चाहे न आवे, इज्जत हो चाहे न हो, परिवार रहे चाहे न रहे पर सदा प्रसन्नता से रहना चाहिये। ये सब पदार्थ हैं, परिणमते रहते हैं। यही इनका स्वभाव है, जो होता है सब भले के लिये होता है। जहाँ वस्तु की स्वरूप सत्ता का बोध होता है तप वहीं होता है। तप के लिये परवस्तुओं की चाह का सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।

बारह विहु तउवरु दुगइ परिहरु तं पूजिज्जई थिरगणिणः ।

मच्छरमम छडिवि करणइ दंडिवि तंपि धइज्जइ गौरविणा ॥

तप की भावना व सेवा का आदेश—१२ प्रकार का तप उत्तम धर्म है, यह दुर्गति का परिहार करने वाला है, दुर्गति में तो यह जीव अनादि से ही घूमता चला आया है, इस मनुष्यगति को हम सुगति कह सकते हैं। देखो अपने मन की बात हम आपको बता देते हैं और आपके मन की बात हम मुन लेते हैं। किन्तु पशु-पक्षी कीड़े-मकोड़े कोई भी बताओ जो भावों का आदान-प्रदान करते हों? कोई भी तो ऐसे नहीं हैं। एक मनुष्य ही ऐसा है जो अपने भाव दूसरों को बता सकता है और दूसरों के भावों को जान सकता है। यदि उस मनुष्यभाव को इन विषयों की धुन में ही रहकर खो दिया तो बताओ कौनसा भव ऐसा है जहां हित का मार्ग मिल सकेगा? जैसे कोई खुर्चला अंधा भिखारी किसी नगर में जाना चाहता है, बता दिया लोगों ने कि यह नगर के किनारे की भीत है सो हाथ से इस भीत को पकड़ते हुये चले जाओ और जब दरवाजा मिले तो उससे घुस जाना। सो वह उस भीत के सहारे चलता जाता है। खूब चला और जहां दरवाजा आया सो अपना सिर खुजलाने लगा और पैरों से चढ़ना न बन्द किया, दरवाजा निकल गया फिर चक्कर लगाये। इसी प्रकार कई योनियों में चक्कर लगाते हुये यह आज मनुष्य जीवन का दरवाजा आया है इसे विषयों में ही खो दिया, इन विषयों की ही खाज खुजलाने लगा तो यह मनुष्यभाव भी चला जायगा व्यर्थ। इसलिये विवेक बनाओ, ज्ञान के लिए उद्यम करो इससे अपनी सफलता है। देखो ज्ञान से बड़ा विलक्षण आनन्द आता है, वहां विषयों का आनन्द जिनके नहीं रहा है इसीलिये वे बड़े पुरुष कहलाते हैं। तो उस ज्ञान तप की साधना करें और सभी तपों में उद्यमी रहें, ऐसी भावना भावों और प्रयोग करो।

इच्छानिरोध की आनन्दरूपता—जीव की दो परिस्थितियां होती हैं—(१) इच्छा सहित और (२) इच्छारहित। इन दो परिस्थितियों के अतिरिक्त आप और कौन सी परिस्थिति पायेंगे? इन दोनों स्थितियों के आधार में देखो कि आत्मा के सुख की स्थिति कौन है? इच्छासहित वाली स्थिति में आनन्द है या इच्छारहित वाली स्थिति में आनन्द है? तो आप यही निर्णय पायेंगे कि आनन्द तो इच्छारहित स्थिति में है। इच्छासहित स्थिति तो आत्मा के लिए दुःख रूप है। आचार्यों ने तो यहां तक कहा है—मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति। इत्युक्तवाद्धितान्वेषी कांक्षा न क्वापि योजयेत् ॥ अर्थात् जिसके मोक्ष में भी इच्छा है वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। इस कारण हित चाहने वाला पुरुष कहीं भी इच्छा न करे। इसकी रीति यह है कि पहिले तो इच्छा होती है मोक्ष के लिए। जब वह अभ्यस्त हो जाता है और अपने ब्रह्म स्वरूप के अनुभव में पारगामी हो जाता है उस समय उसे कोई भी इच्छा नहीं रहती। केवल ज्ञानस्वरूप आनन्दमय आत्मतत्त्व का भान रहता है। ऐसे योगी को मोक्ष होता है। तो इच्छा सर्वदुःख देने वाली चीज है। तब इच्छा का नाम है अतप और इच्छारहित का नाम है तप। अब बतलावो आनन्द तप करने में मिला कि न करने में? तप करने में। लोग कहते हैं कि तप में तो बड़ा क्लेश है किन्तु तप में क्लेश नहीं होता, कठिन चीज नहीं है तपश्चरण। तपश्चरण में तप आनन्द रहता है। तप का अर्थ समझे तब ना। इच्छा निरोधः तप। जहां इच्छाओं का अभाव है उसे ही तप कहते हैं। अब तप की जितनी भी परिभाषायें हैं या जितने भी तप के बाकी काम हैं उन सबमें इच्छा निरोध है तो वह तप है और इच्छा है तो वह तप नहीं है। तप बताये हैं १२ प्रकार के। अनशन, ऊनोदर, व्रतपरिच्छेदन, रसपरित्याग, विविक्षाशय्यासन व कायक्लेश—ये तो हैं १ वाद्य तप। तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्युसर्ग व ध्यान ये ६ हैं अन्तस्तप।

अनशन तप में इच्छानिरोध का तथ्य—१—अनशन मानने भोजन का त्याग करना, आहार न करना, उपवास करना, तो उपवास कब होता है? सुनो—मेरे आत्मा का स्वभाव अनशन का है याने भोजन न करने का है, यह तो ज्ञानस्वरूप है, आनन्दमय है, ऐसे अनशन स्वभावी आत्मतत्त्व का ध्यान रखते हुए जो आहार का

त्याग हो रहा है उसमें इच्छाओं का आभाव है, ऐसा उपवास तप कहलाता है। इच्छा के अभाव की बात न हो तो ऐसे तप को तो लंघन बताया गया है। जहाँ कषायें, विषय और आहार का त्याग होता है उसे तप कहते हैं, और वाकी तो लंघन है। तो तपश्चरण करने वाले को यह बुद्धि रखनी चाहिए कि मेरे आत्मा का तो केवल ज्ञानानन्द-स्वरूप है। इसमें तो आहार की कोई बात ही नहीं जग रही है। यह तो एक अमूर्त ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानरूप बर्तता रहे यही इसका काम है, ऐसा ध्यान में रहे तो देखो उपवास में क्लेश भी न होगा, और उपवास का सही फल भी मिलेगा। इच्छा का अभाव हो जायगा। भीतर में कषाय है, विकल्प है, इच्छा है तो वह तप नहीं है। एक साँप था और कटोरे में दूध पी जाता था बच्चा बैठा रहता था, बच्चा साँप को हाथ से पीटता रहता था पर वह साँप उस बच्चे की मार सह कर भी रोज-रोज दूध पी लिया करता था। यों थोड़े दिनों में ही वह साँप बड़ा मोटा हो गया उससे किसी दूसरे साँप ने पूछा कि भाई तुम इतने मोटे कैसे हो गये? तो उसने बता दिया कि भाई मैं तो रोज-रोज एक बच्चे के लिए रखा जाने वाला दूध पी लिया करता हूँ। दूसरे साँप ने कहा मुझे भी पिला दो... अरे भाई तुम न पी सकोगे।...क्यों?...देखो जब मैं दूध पीता हूँ तो वह बच्चा मुझे पीटता रहता है, पर मैं बराबर उसकी मार सहता रहता हूँ तुम उसकी मार न सह सकोगे...

अच्छा भाई हम उस बच्चे के १०० थप्पड़ तक माफ कर देंगे। आखिर ऐसा हुआ कि जब वह दूध पीने गया तो बच्चे ने थप्पड़ मारना शुरू किया, वह साँप मन ही मन गिनता रहा। पर १०१ थप्पड़ मारने पर साँप ने फुंकार मारी, बच्चा चिल्लाया, लोग जुड़े और सर्प मारा गया। कषाय विकल्प का यह फल मिला उसे। ऐसे ही यदि उपवास में चित्त में ऐसी बात आये कि आज तो हमारा अष्टमी का उपवास है, पर आने तो दो नवमी का दिन, फिर तो हम मनमानी चीजें खब खायेंगे तो बताओ उस उपवास में क्या फल मिला? उपवास में तो ज्ञान की बात सामने हो, स्वाध्याय करें, ज्ञान की बात सोचें, आत्मा की बात सोचें, आत्मा का ध्यान करें।

ऊनोबरादि तपों में इच्छा निरोध का तथ्य—दूसरा तप है—ऊनोदर तप। भूख से कम खावें, अधपेट भोजन करें। इच्छाओं का निरोध करें, अपने मन पर कंट्रोल करें। लोग नास्ता करते हैं तो उसका नाम नास्ता यों रखा कि नास्ता शब्द का अर्थ है—ना सता, इसमें ये दो शब्द हैं ना सता। इन दोनों का मिलकर नास्ता बना। याने थोड़ा भोजन सामने हो जिससे कि भूख मिटे नहीं वह तो है नास्ता। अब यह नास्ता कर लेना तो बात और है, क्योंकि वह घंटे भर बाद डटकर खायेगा, पर भूख से कम खाना बात और है। यह भी एक बड़त बड़ा तप है। तीसरा तप है—वृत्तिपरिसंख्यान—याने कुछ आखड़ी लेकर भोजन करना। कि ऐसा योग मिले तो आहार करना, वह तप तो योगियों से बनता है पर किसी किसी स्थिति में गृहस्थ भी इस तप को कर लेते हैं चौथा तप है रस परित्याग। आज भी बहुत से गृहस्थ ऐसे मिलते हैं कि जिनके मन में आया कि मुझे अमुक चीज खानी चाहिए तो वे झट उस चीज को उस दिन त्याग देते हैं। वे सोचते हैं कि मेरे मन में क्यों उस चीज के खाने कि इच्छा हुई? कोई अगर ऐसी डींग मारे कि हमारा तो उस चीज का आज त्याग है जो चौके अन्दर न होगी। तो क्या यह कोई त्याग है? हाँ, सही ढंग से ऐसा कोई त्याग करता है तो उससे भी लाभ है। करे तो कोई, मन में उस वस्तु का ख्याल ही न लाये। पांचवा तप है विविक्तशय्यासन—एकांत स्थान में उठना, बैठना। वास्तविक एकान्त तो अपने आत्मा का स्वरूप है। यहाँ कोई गड़बड़ नहीं। जो अपने आत्मा का स्वरूप है वह एकान्त है, वहाँ कोई प्रकार का हल्लागुल्ला नहीं। केवल एक ज्ञान स्वरूप है। ऐसे स्थान में आत्मा का ध्यान करके तृप्त रहना यह भी तपश्चरण है। छठवां तप है कायक्लेश। गर्मी में तपश्चरण कर रहे, प्राण कहेंगे कि ऐसा तपश्चरण क्यों किया जाता है? करके देख लो—बाहर में कपट और भीतर में आनन्द। ऐसी स्थितियाँ होती हैं तपश्चरण की। जिसको धुन हो अपने ज्ञान स्वरूप की, उसके लिए ये सब बातें विदित हो जाती हैं। तो तपश्चरण वही है जहाँ पर इच्छा नहीं रहती।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य व स्वाध्याय में इच्छा निरोध का तथ्य—अब अन्तरंग तपश्चरण देखे—पचतावा करना। कोई भूल हो जाय तो उस पर अन्दर में पश्चाताप होता है। तो बहुत से पाप वहाँ कट जाते हैं। पश्चाताप में बड़ी सामर्थ्य है। जो दोष करके भी पछतावा करने का भाव मन में नहीं रख पाता वह बड़ा दोष है। हो गया दोष, अगर उसका इतना बड़ा पछतावा मानी करता है तो जिसने प्रायश्चित्त कर लिया और उसके अनुकूल कर्म किया तो वह सफलता प्राप्त कर लेगा। दोष का पछतावा आने दो। पछतावा में जो निर्यलता होती है वह बड़ी विलक्षण होती है। जैसे कि प्रतिक्रमण करने का रिवाज हो गया मेरा पाप मिट्या हो। तो इस तरह से रिवाज में नहीं, वह तो भीतर से पछतावा है, तो वहाँ एक ऐसा आनन्द प्राप्त होता कि भव भव के बाधे अनेकों कर्म निकल आते हैं। दूसरा अन्तस्तप है विनय। इसमें मान कषाय का बहुत अधिक मर्दन होता है। कोई-कोई लोग तो ऐसे हैं कि जो भगवान के सामने भी सिर झुकाने में संकोच सा करते हैं, बस जरा झुके और चल दिए वह सींचता है कि देखने वाले लोग उसे क्या कहेंगे कि यह तो बड़ा वेबकूफ है। गुणियों से प्रेम करना, अपने को नम्र बनाना यह सब तप कहलाता है। तीसरा अन्तस्तप है वैयावृत्य, दूसरों की सेवा कोई सेवा ऐसी वाञ्छा रखकर करे कि मुझे तो इसके बदले में सुख प्राप्त होगा, धन वैभव की प्राप्ति होगी तो उसे उस वैयावृत्ति करने से लाभ क्या? यद्यपि लाभ तो मिलेगा वैयावृत्ति करने से, पर उस लाभ की वाञ्छा रखकर वैयावृत्ति न करना चाहिए। चौथा अन्तस्तप है स्वाध्याय। स्वाध्याय करना परम तप है। जिसमें आत्मा का ज्ञान होता हो वह स्वाध्याय है। स्वाध्याय में इच्छा का निरोध बसा हुआ है। पर ऐसा स्वाध्याय न करके आये, दो लाइन देख ली, चल दिये। एक भक्त ने एक पुस्तक खोली—मान लो प्रमेयकमल मार्तण्ड ग्रन्थ निकल आया तो एक दो लाइन पढ़कर देखा—सोचा कि अरे यह तो बहुत कठिन है सो उसे धर दिया, दूसरा ग्रन्थ उठाया, मानो अष्ट सहस्री ग्रन्थ निकल आया, उसे भी एक दो लाइन देखकर कठिन समझ कर धर दिया, फिर तीसरा ग्रन्थ उठाया—मानो राजवातिक निकल आया तो उसकी भी एक दो लाइन देखी और कठिन समझकर उसे भी धर दिया। तो झूझलाकर कह उठा कि अरे इन ग्रन्थों में यही तो ऐब है कि ये समझ में नहीं आते। तभी तो बंधे हुए रखे रहते हैं अरे भाई खुदकी गल्ती क्यों नहीं मानते? जरा कुछ ज्ञान का अभ्यास करो तो यहाँ कौन सी कठिन बात है जो समझ में न आये। यदि अपने आत्मा का उद्धार करना है तो एक यह संकल्प बनाओ कि मुझे तो मनचाही बात नहीं चाहना है, मुझे तो आत्म-हित की बात चाहना है। मुझे तो अपने आत्मा के अन्तः स्वरूप का दर्शन करके रहना है। मनपसंद बातों से आत्मा का कल्याण नहीं होता। वह तो एक मन को खूष रखने की बात है। उससे तो क्षोभ ही बढ़ेगा। अरे अपना ऐसा संकल्प बनाओ कि मुझे तो मनपसंद नहीं करना है, आत्मज्ञान करना है, वास्तविक ज्ञान प्रकट करना है। जब आप अपनी इतनी बड़ी उम्र में भी विद्यार्थियों की भांति किताब बगल में दबाकर पढ़ने जायेंगे तो इतने से ही आपको बड़ा लाभ मिलेगा। उस समय आप अपने की निष्पाप और निर्भार अनुभव करेंगे।

व्युत्सर्ग व ध्यान में इच्छा निरोध का तथ्य—पांचवां अन्तस्तप है व्युत्सर्ग—इस कायसे मसत्त्व त्याग दें। आप सब जानते हैं कि एक दिन यह शरीर जला दिया जायगा। शायद यह विश्वास तो सबको होगा। तो ऐसी बात आप सोचें मन में कि यह शरीर है। जो कुछ आदमियों के द्वारा ले जाया जायगा। इस शरीर को छोड़कर जाना होगा। इतनी बात चित्त में हो तो आपको शरीर से ममता न आयगी। छठा अन्तस्तप है ध्यान। चित्त के एकाग्रनिरोध को ध्यान कहते हैं। चित्त को स्वस्थ एकाग्र बनाये बिना शान्ति मार्ग के पात्र नहीं बन सकोगे। चित्त को ऐसे तत्त्व की ओर उपयुक्त रखो जिसके आश्रय से विकल्प विपदा दूर हो सके। वह तत्त्व है आत्म का सहज अभेद ज्ञायक स्वभाव। इस अन्तस्तत्त्व की चर्चा से इस अन्तस्तत्त्व के उपयोग से अपने आपको प्रसन्न बनाओ ध्यान तप आत्मा की कलुषताओं को जला देगा, आत्मा को पवित्र कर देगा। हमारा पुरुष अन्तस्तत्त्व की ओर उपयोग को

नगाये रखने का होना चाहिये। यह अन्तस्तप है। इसके माध्यम से जो चैतन्य में अपने आपका प्रतिपन्न होता है वह वास्तविक प्रज्ञान को प्रकट करता हुआ आत्मा को मंगलमय, परमानन्दमय बना देता है। तो इन सब तपों में इच्छा का निरोध बसा हुआ है इसलिए ये तप कहलाते हैं।

सर्वस्व न्योछावर करके भी शीघ्र ब्रह्मप्रकाश या लेने का सन्देश—तप करने के लिए, ऐसी ज्ञान साधना करने के लिए हमें जल्दी करना चाहिए। अपना जीवन व्यर्थ न गमावें। देखो—इस जीवन का जो समय गुजर गया वह पुनः लौटकर नहीं आता। आज तक जितनी उम्र बीत गई समझो उतना ही हम मरण के निवृत्त होते गए। इसलिए ज्ञान साधना का कार्य जल्दी कर लो, जिन्दगी बीती जा रही है। नहीं तो बाद में बस पछताना ही हाथ लगेगा। यह मनुष्य अपने वचन की उम्र को तो यों ही खेल खिलाणों में रमकर गवां देता है, किशोर अवस्था आने पर नाना तरह की कलाओं में उनझकर अपना सारा समय खो देता है। जवानी में यह अनेक प्रकार के गोरव धर्मों में फंसकर अपनी जवानी का समय गवां देता है और वृद्ध अवस्था तो बिल्कुल मृतक के समान है। बस अंधे उल्लू जैसे बनकर छाट में पड़े-पड़े अपनी उम्र व्यर्थ खो देते हैं। तो भाई बड़ी जिम्मेदारी है अपने आप पर। अपने को ज्ञान और वैराग्य में निरन्तर बढ़ते रहने के लिए तो जो कुछ भी करना पड़े तन, मन, धन बचन आदिक जो कुछ भी न्योछावर करने पड़े उनको न्योछावर करके भी अगर ज्ञानब्रह्म प्राप्त होता है तो यह तो प्राप्त यों ही गया समझिये किसे कहते हैं हल्की चीज देकर बड़ी चीज प्राप्त करना। विमुक्त ज्ञान करने में, इच्छा निरोध में आनन्द है। आप हर जगह अनुभव करें। हलुषा खाकर तो आप अपने को सुखी मानते हैं। तो खाने से सुख नहीं किन्तु खाने की इच्छा नहीं रही उस का सुख है। मान लो किसी ने मकान बनवाया और वह अपने को बड़ा सुखी मानता है तो कहीं सुख उस मकान में से निकलकर नहीं आता किन्तु भेरे को अब यह काम करने को नहीं रहा, इस बात का उसे सुख है। तो जहाँ विकल्प है, इच्छा है वहाँ कष्ट है। जरा यह भी तो विचार करो कि मैं तो ज्ञानधन हूँ, ज्ञान से ही भरा हुआ हूँ, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, जो है सो ही है। उसमें कोई अधूरापन नहीं। भेरे करने को क्या काम? जितने काम बाहर में सोचे जा रहे वे सब अज्ञान से सोचे जा रहे। लो भेरे करने को क्या पड़ा? कुछ काम है ही नहीं भेरे करने को। मैं ज्ञानधन हूँ, निरन्तर ज्ञान को करता हूँ, ज्ञान को भोगता हूँ, यह ही मेरी बात है। इस और उपयोग रहे तो इसे शान्ति मिलेगी। जहाँ इच्छाओं का निरोध है वहाँ शान्ति अवश्य है। तो तपश्चरण किसका नाम है? जहाँ कोई इच्छा नहीं, कोई लोभ नहीं।

शारीरिक, वाचनिक व मानसिक तप का निर्देश—गीता में तीन प्रकार के तपों में तीन श्लोक दिये हैं—१. शारीरिक तप, २. वाचनिक तप और ३. मानसिक तप। शारीरिक तप में कहते हैं कि देवता की साधुओं की गुस्वों की, बुद्धिमानों की, पूजा करना, अर्चना करना, सरलता रखना, ब्रह्मचर्य से रहना—ये सब चारित्र्य तप कहलाते हैं। जो ज्ञान ब्रह्म के दर्शन करने का अधिकारी बन सके। वाचनिक तप में कहते हैं कि ऐसा वचन बोलो जिसमें उद्वेग न हो। भाई अपने जीवन में एक यह ही धारणा बना लो कि अपनी श्रेष्ठ जिन्दगी में कोई ऐसे वचन न बोलेंगे कि जो मर्मभेदी हों, अस्मिमान भरी बात न बोलें। अरे जगत में कौन बड़ा बनकर रह रहा? जिसे आप छोटा समझते हैं कहीं बड़ी कभी आपके काम आ जाये। भाई किसे समझते हो कि छोटा है? और अपनी बात जाने दो, अब जिसे कीड़ा मकोड़ा समझते कि वह छोटा है—और यह मनुष्य बड़ा है। अरे मनुष्य भरकर बन जाय कीड़ा मकोड़ा और कीड़ा भरकर बन जाय आदमी तो फिर कौन बड़ा रहा और कौन छोटा? सब जीवों का समान स्वरूप है। गीता में मानसिक तप में बताया है कि मन की प्रसन्नता हो। मन प्रसन्न कैसे रहता है? जरा देखो—बढ़िया भोजन मिले, बढ़िया रूप देखने को मिले तो उस समय मन प्रसन्न नहीं रहता। विषकों के प्रसंग में जीव मानता है कि मेरा मन सुख हो रहा, मगर जिस समय पाँचों इन्द्रियों के जोड़ भोगता उस समय मन सुख है,

आकुलित है। मन में प्रसन्नता तो ज्ञान के बल पर आती है। मन में प्रसन्नता होना, सौम्यता होना, अपने आपको दण्ड देना, सन्तोष करना, अपने को बसा करना, स्वाध्याय का अध्याय करना, ये सब मानसिक तप कहलाते हैं।

उन्नति और अवनति के निर्णय की उपयोगिता—भैया ! कम से कम साल भर में अपना लेखा-जोखा तो लगाना चाहिए। दिन भर में आपने क्या काम किया, कितना अच्छा किया कितना बुरा किया ऐसा लेखा-रोज-रोज लगाना बतया है। रोज नहीं तो करीब १५ दिन में हिसाब लगा लो, महीने भर में लगा लो, महीने भर में नहीं तो साल भर में एक चिट्ठा तो अपने आत्मा का बना लो, साल भर में भी यदि आत्मचिट्ठा नहीं बनाते तो फिर यह आत्मा की फर्म फेल हो जायगी। अगर ज्ञान और वैराग्य के मार्ग में कुछ प्रगति करना है, संसार के जन्म मरण से छुटकारा पाना है तो इस काम के लिये उत्साह बनाओ। जिन बातों में अपने को असय मान रहा है, मोह ममता रागद्वेष बना रहा है, वे तो भयप्रद हैं और जिन ज्ञान वैराग्य की बातों में भय मान रहा है वह अभयपद है। तो भाव ही अपना देना सकते हो, सो उनमें ये रागद्वेष मोह ममता आदि न बनकर उनसे विरक्त रहने के भाव बनें। जब किसी बच्चे को गोद में लिए हुए आप खिला रहे हों तो उस समय आप उसके प्रति ऐसा भाव भी तो बना सकते कि थूँह भी एक जीव है; इसके साथ भी कर्म लगे हैं। यह भी एक दिन मेरे से बिछुड़ जायगा, इससे मेरा कोई नफ़ा नहीं...। जब देखिये बच्चे को गोद में खिलाते हुए भी आप धर्म पाल सकते हैं। मोह ममता रागद्वेष आदि का परिणाम जहाँ न रहे, जहाँ ज्ञान का शुद्ध स्वच्छ प्रतिभाष है वह है धर्म। चाहे ऐसा धर्म पूर्ण रूपेण कर न सकें अगर श्रद्धा में हल्की बात मत लावें। श्रद्धा मुनियों से कम न रखें, नहीं तो इस संसार से पार नहीं हो सकते। आप प्रेम करें तो भयवान से करें, गुणियों से करें, परन्तु श्रद्धा यह रखनी चाहिए कि राग की, प्रेम की कणिका भी पाप ही है। आप प्रेम विरोध मोह से दूर रहें व जो ज्ञान और वैराग्य की बात है उसके करने में प्रमादी न बनें। आप यदि चाहें कि हमें कुछ करना न पड़े, दूर-दूर ही रहें और हमारा कल्याण हो जाय, तो यह बात हो कैसे सकेगी? जैसे कोई बच्चा एक बार अपनी मां से बोल उठा कि मां जी मुझे तैरना सिखा दो। तो मां बोली—हां बैठ सिखा दोगे।... अगर मां एक बात है कि इस तरह से तैरना सिखाना कि मुझे पानी में घेर न रहना पड़े।... अब भला बतलाओ पानी में बिना कूदे तैरना कैसे सीखा जा सकता है? ठीक ऐसे ही समझिये कि बिना कुछ ज्ञानाभ्यास किए ज्ञान और वैराग्य की बात कैसे प्राप्त हो सकेगी? अपनी उन्नति के लिए मुख्य काम दो हैं—विनय और त्याग।

वास्तविक तप विधि में आनन्द का प्रवाह—भैया ! तप करें अगर तात्त्विक तप करें। कुतप मत करें। कुतप क्या है? अपने सत्कार की इच्छा से, मान की इच्छा से, पूजा की इच्छा से, फुट से तप करना सो कुतप है। जिसने भीतर में अपने ज्ञान का प्रकाश पाया है वह दम्भ की बात कर ही नहीं सकता। जोगियों से सत्कार मान आदिक के उद्देश्य से वह तप कर नहीं सकता, वह तो बस गुप्त ही गुप्त रहकर अपना कल्याण कर जाता है। किसी जमाने में ऐसे भी साधु हुए कि जिनको उस जमाने में कोई जानने वाला न था, अगर वे मुक्त हुए, तो गले ही किसी ने उनको नहीं जान पाया अगर उनका आनन्द क्या भगवान शेषशदेव के आनन्द से कम है? जिसे कोई नहीं जानता वह भी अगर मुक्त हो जाय तो उसे भी उतना ही आनन्द प्राप्त होता है जितना कि लोक प्रसिद्ध भगवान को आनन्द है। तो दम्भ आदिक से जो तपश्चरण होता है वह तो सब कुतप है। जो किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा के बिना तप होता है वह वास्तविक तप है। तपश्चरण में क्लेश नहीं है। इच्छा निरोधः तपः—इच्छाओं का निरोध करना सो तप है। जहाँ इच्छा का अभाव है वहाँ आनन्द ही आनन्द है। एक बार किसी पुरुष ने अपने मित्र को एक चिट्ठी लिखी कि मैं अयुक्त तारीख को १० बजे को ट्रेन से अयुक्त जगह जाऊंगा सो आप स्टेशन पर आकर मुझसे मिल लेना। अब क्या था, जब वह दिन आया तो सारे कार्य बड़ी जल्दी-जल्दी उसने कर डाले और

पौने १० बजे के करीब उस स्टेशन पर पहुंच गया। स्टेशन मास्टर से पूछा कि गाड़ी लेट तो नहीं है? ... हां आधा घंटा लेट है, बस मन ही मन बड़ा विकल हो रहा था अपने मित्र से मिलने के लिए। जब ट्रेन आयी तो सारे डिब्बों में दौड़-दौड़कर देखा, एक डिब्बे में मिल गया वह मित्र। कुछ बात की, पर एक दो मिनट बाद ही वह खिड़की से झांकने लगा कि कहीं गाड़ें ने हरी झंडी तो नहीं दे दी, सीटी तो नहीं दे दी। ... अरे भाई उस मित्र से मिलने से अगर तुम्हें सुख मिलता है तो बराबर मिलते ही रहो। क्यों खिड़की से बाहर झांकते? आखिर तुम्हें सुख ही तो चाहिए। पर नहीं, वह वहां से शीघ्र ही उतरने लगता है। तो वास्तव में बात वहां क्या थी कि उसे मित्र के मिलने से सुख नहीं मिला बल्कि मित्र से मिलने का कार्य अब नहीं रहा, इससे सुख मिला।

निरीह चर्या में ही कल्याण लाभ—एक कवि ने कहा है कि भोग न मुक्ता वयमेव मुक्ताः, तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः। कालो न यातो वयमेव याताः, तृष्णां न जीर्णां वयमेव जीर्णाः। अर्थात् मैंने इन भोगों को नहीं भोगा, किन्तु मैं ही स्वयं इन भोगों से भुग्न गया, मैंने तपों को नहीं तपा किन्तु मैं ही इन तपों से तप गया अर्थात् दुःखी हो गया (यहां कुतप की बात कह रहे हैं।) यहां लोग ज्ञान में आकर कह बैठते कि मेरा लड़का अब १७ साल का हो गया, पर भाई इसका अर्थ क्या यह नहीं है कि आपका पुत्र अब १७ वर्ष का कम हो गया याने जितना उसका सारा जीवन था उसमें १७ वर्ष कम हो गए। तो यह जीवन का समय क्या गुजरता जाता है बल्कि खुद ही गुजरते जाते हैं। ज्ञानार्णव में बताया है कि यावथावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति। तावत्तावन्मनुष्याणां, मोहग्रन्थिर्द्वीभवेत्। जैसे-जैसे यह आशा बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे मोह की गांठ बढ़ती जाती है, तो तपस्वरण करते बने तो करें, न करते बने तो उसकी महिमा समझें कि संसार से पार होने में तप का कितना बड़ा महात्म्य है? ज्ञान का ही महात्म्य है, इच्छानिरोध का ही प्रताप है कि इस संसार के आवागमन से छुटकारा प्राप्त होनेका मार्ग मिल सकता है। भागवत के पञ्चम स्कन्ध में वर्णन आया है कि जिन दिनों भोग भूमि खतम हो चुकी थी, कर्मभूमि का प्रारम्भ था उन दिनों सारी जनता भूखों रहने लगी थी। किसी को जीवन निर्वाह करने की कला ही न विदित थी, उस समय ऋषभदेव ने सभी को सभी प्रकार की कलाओं की शिक्षा दी थी। सभी को कष्टों से बचाकर एक सुख शांति के मार्ग में लगा दिया था, इसीलिए भगवान् ऋषभदेव को आदिम बाबा, आदि पुरुष या ब्रह्मा के रूप में लोगों ने माना। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत हुए, उन्हीं के नाम से अपने देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। उन भगवान् ऋषभदेव ने क्या किया, कैसा तप किया, इसका एक बहुत बड़ा वर्णन है। यहां यह बात समझना कि जिस आनन्द को भगवान् ऋषभदेव ने प्राप्त किया था वही आनन्द प्राप्त करने की सामर्थ्य हम आप सबमें है। यदि वैसे आनन्द चाहिए तो इन इच्छाओं का निरोध करो। समस्त बाह्य पदार्थों को अपने चित्त से हटावें, ज्ञान और वैराग्य में अधिकाधिक बढ़ें, केवल एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश का अनुभव हो, ऐसा संकल्प बनावें। इस ही में हम आपका हित है।



उत्तम त्याग धर्म

चाउ वि धम्मंगो करहु अभंगो णियप्रतिल भतिय जणहु ।
पत्तह सुपवित्तह तवगुणजुत्तह पइगइ संबलु त मणहु ॥

उत्तम त्याग का स्वरूप—त्याग भी धर्म का अंग है, शक्यनुसार शक्ति सहित इसका पालन करो व भक्ति से तपस्वी संतों की सेवा करो, परभव का यह संवश है। आज त्याग धर्म का दिन है। पदार्थों के सम्बन्ध में यथार्थ स्वरूप का निर्णय करके अपने आप सहज ही ममता छूटने और परका उपयोग न रहकर त्यागमय केवल ज्ञान मात्र निज स्वभाव का उपयोग होने को उत्तम त्याग कहते हैं। जीव, न तो किसी परजीव का ग्रहण करता है और न किसी परजीव का त्याग कर सकता है। सर्व पदार्थ बाहर की वस्तुयें हैं, वे क्या आत्म प्रवेशों में घुस सकती हैं, क्या एकमेक हो सकती हैं? किसी भी पदार्थ का इस आत्मा में प्रवेश नहीं है। और जब किसी भी पदार्थ को यह आत्मा ग्रहण नहीं कर सकती तो वह फिर त्याग क्या कर सकती है? सब चीजें पहिले से ही अपने आप छूटी हैं! केवल पदार्थों के संबंध में यह मेरा है—इस तरह का भाव कर लेने का नाम ग्रहण है और यह मेरा नहीं है—इस प्रकार का भाव कर लेने का नाम त्याग है। फिर जब हमारे ज्ञान की उत्कृष्ट सामर्थ्य नहीं होती है तो किसी प्रकार बाह्य वस्तुओं को त्याग कर दूरकर वहां से हटकर यथाशक्ति अपने आपके स्वभाव की उपासना में लगना भी त्याग है। त्याग का महत्त्व है। इससे सर्व संकट दूर हो जाते हैं। यहां यह जानो कि यह मैं आत्मा अरहंत और सिद्ध के समान केवल ज्ञाननहार हूं। इससे आगे मेरा कुछ कर्तव्य नहीं है। ऐसी दृष्टि होते ही सब संकट दूर हो जाते हैं। संकट क्या है? कुछ का मान रखा है वही संकट है। और इस विपरीत मान्यता को छोड़ दें सोई संकटों का विनाश है।

त्याग बिना संसार से पार होने का अभाव—एकसाधुमहाराज थे। वे उपदेश दिया करते थे कि त्याग से तो संसार समुद्र पार कर लिया जाता है। एक बार वह साधु किसी दूसरे गांध में जाने लगा तो रास्ते में नदी पड़ती थी। नात्रिक से कहा कि नदी से हमें पार कर दो। नात्रिक ने कहा महाराज दो आने लगे। साधु के पास पैसे कहां से आये? सोचा उस पार नहीं पहुंचते तो इस पार सही। वह बैठ गया। इतने में उनके भगत सेठ जी आये। बोले महाराज यहां कैमे बैठे हो? कहा भाई हमें उस पार जाना था, पर यह दो आने मांगता है। कहा हमें भी उस पार जाना है सो आप भी साथ में चलो। चार आने दिया और उस पार पहुंच गये। पार पहुंच जाने पर सेठ जी कहते हैं तुम तो कहा करते हो कि त्याग से संसार समुद्र भी पार कर लिया जाता है आप तो छोटी सी नदी भी नहीं पार कर पाये। साधु बोला कि नदी जो पार की गई है वह त्याग से ही की गई है। यदि आप अटी की चबन्नी त्याग न करते तो नदी कैसे पार करते? त्याग से तो गुजारा चल सकता है। पर मात्र ग्रहण से गुजारा ही नहीं चल सकता है। अच्छा खूब पैसे का संचय करो। संचय करके क्या पूरा पड़ेगा, शांति होगी, संतोष होगा, समता बनेगी? सो तो सोच लो, और देखो यहां त्याग से बहुत बढ़िया गुजारा होता है। तीर्थंकरों ने त्यागा, चक्रवर्तियों ने त्यागा, अनेक महापुरुषों ने त्यागा तो वे सदा के लिये सुखी हो गये। तो त्याग से तो पूरा पड़ जाता है पर ग्रहण से तो पूरा पड़ ही नहीं सकता। मिथ्यात्व मोह में तो व्यर्थ ही अनेक की गुलामी करना पड़ती है और है क्या? बच्चों के पुण्य का उदय बाप से अधिक है तभी तो बच्चों के दास बनकर बाप उनकी सेवा करते हैं। जिन-जिन के भोगने से यह सद्भी आयेगी उन सबके पुण्य के कारण आपके निमित्त से कमाई बन जाती है। यह त्याग धर्म, धर्म का अंग है और अग्रतप गुण करके सहित है। ऐसे पवित्र त्याग धर्म को हे भव्य जीवो! भक्ति पूर्वक पालना चाहिये।

आन्तरिक त्याग और बाह्य त्याग की आवश्यकता—उत्तम-त्याग सम्यग्दर्शन सहित अर्थात् आत्मा

के शुद्ध स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक पर वस्तु के सम्बन्ध में ग्रहण और त्याग दोनों के विकल्पों का त्याग किये रहने के स्वभाव वाले ज्ञान की विशुद्ध वृत्ति से बर्तना उत्तम त्याग है। जगत् का पदार्थ मेरा नहीं, मेरा स्वरूप ही मेरा है, परपदार्थ मुझ से भिन्न ही हैं। फिर मैं उन पदार्थों को छोड़ूँ क्या? वे तो अपने आप ही छूटे हुये हैं। हाँ, यह मेरा है, इस प्रकारका विकल्प जो है उसको छोड़ना है और उसको त्यागनाही उत्तमत्याग है। जिनके “परपदार्थ मेरे हैं” यह विकल्प नहीं रहता, रागादि भाव से भिन्न ज्ञान भाव की जिनकी दृष्टि रहती है, ऐसे ज्ञानी के बाह्य पदार्थों का त्याग स्वयमेव हो जाता है। मुनियों को कमण्डल और पीछी ज्ञानी श्रावक देता है, परन्तु उन साधुजनों के उनमें भी राग नहीं होता। देने वाला श्रावक भी इस श्रद्धा से भरा नहीं होता है कि मैं बाह्य वस्तु का देने वाला नहीं हूँ, मैं आत्मा तो ज्ञान मय हूँ, ज्ञान के अतिरिक्त और मेरा है ही क्या? मैं क्या चीज दे सकता हूँ ऐसी श्रद्धा वाला श्रावक तीर्थ (व्यवहार धर्म) की रक्षा के वास्ते उनके बाह्य साधन के लिये जो प्रयत्न करता है, जो बाह्य वस्तु का त्याग करता है, उसे भी उपचार से त्याग कहते हैं। वस्तुतः तो जगत् का साक्षी रहना, मात्र ज्ञातादृष्टा बना रहना, इस ही उत्तम त्याग कहते हैं। यह आत्मा तो सदैव किसी न किसी स्थिति में रहेगा ही। ऐसी आत्मा विषय कषायों के दृष्ट न उठायें, जो ऐसा चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे आत्मज्ञान पूर्वक आत्म स्वभाव में स्थिर होने का प्रयत्न करें और क्योंकि उपयोग सदैव आत्मस्थ रहना असम्भव है, अतः बाह्य में जब कार्य में लगना ही पड़ती है तब उसे चाहिये कि वह चारों प्रकार के संघ मुनि, आधिका, श्रावक और श्राविका, इनको आहार, औषधि, अभय व शास्त्र चारों प्रकार का दान दें।

दान से धर्म प्रवृत्ति—गृहस्थ को पूजा और दान दो चीजें करना बताया। यदि यह भी नहीं निरूते तो उसके गृहस्थ बने रहने में क्या रहा? यह परलोक सुधारने वालों के लिए आवश्यक बात है कि वे चारों प्रकार का दान दें। दान देना भी धर्म का अंग है, किन्तु जिसे किसी वस्तु का दान देना है, दान देने में जो विकल्प आता है कि मैं दान दे रहा हूँ वह रागरूप है और रागरूप होने से वह धर्म का भाव नहीं है। अतः दान देना वही उचित कहलाता है जहाँ मोह का भी त्याग बताया हो धन के त्याग का नाम भी उत्तम त्याग बताया यदि धन का त्याग करते समय उसके मोह का त्याग हो। पात्र-सुपात्र के लिये हमेंशा ऐसा उत्तम त्याग हो। पात्र-सुपात्र के लिए हमेंशा। ऐसा उत्तम त्याग करना चाहिये। उत्तम त्याग ऐसा है जो परमम में सुखी होने को पायेय (वहेवा) है। गृहस्थ जनों! धन की रक्षा करो, किन्तु उसमें मोह तो न करो, सत्य प्रतीति से तो न चिगो। बाह्य समागम तो कर्म का ठाठ है। है। इष्ट समागम पुण्य का विपाक है। पुण्य का जहाँ उदय नहीं है तो वह धन अपने हाथ में नहीं रह सकता। इसलिए त्याग धर्म का पालन करना चाहिये। देखो, लौकिक काम भी त्याग बिना नहीं होते। इसलिए यदि हम रागादिका त्याग करेंगे तो संसार-समुद्र से पार हो जायेंगे। मनुष्य आया तो कुछ नहीं लाया, जादेगा तो कुछ साथ नहीं ले जायेगा, जो कुछ यहाँ पाया है वह यहीं रह जायगा। बीच ही में तो सब कुछ मिला था और बीच ही में नष्ट हो जायगा। अतः इसका जितना भी सदुपयोग हो सके, कर लेना चाहिये। इस दत्तं निवचना तो है ही, सब बुद्ध छोड़कर जाना तो है ही, फिर ऐसा अवसर आया है कि हमारे पास चार पैसे हैं तो इसका उत्तम लाभ उठायें। क्यों नहीं इसको दान के उपयोग में लायें, छोड़ना बँसे भी है। भैया धन की तो तीन ही गति बताई है—या तो खा पी लो या दान कर लो, नहीं तो नाश होगा ही। लौकिक-दृष्टि से भी दान देने की शोभा, जायदाद की तरह है। सेठ हुकुमचन्द जी ने एक करोड़ का दान दे दिया। इस दान से तो यह देखा जा रहा है कि उनका यह दान उनकी जायदाद में ही शामिल हो गया। लोगों में यश है कि सेठ ने एक करोड़ दान किया तो ऐसी उक्ति का लक्ष्य बनना उनकी धर जायदाद है। वह दान करना मानी इसी भव में अपनी जायदाद बनाना व यश बढ़ाना है और परलोक में दान के फल से उत्तम फल होगा ही। दान से आत्मशत्रु भी पराजित हो जाते हैं। जो धन में मग्न था, राग था

वह दान देने से नष्ट हो जाता है, यह बड़ा भारी लाभ है और देवगति या भोगभूमिका सुख मिलता है यह आनुष्ङ्गिक लाभ है।

दानप्रकृति वाले महापुरुषों को दान न दे सकने की परिस्थिति पर विषाद—एक गरीब उदार कवि था दाने दाने को मुहताज। उसकी ऐसी प्रकृति थी कि उसको जो मिल जाता उसे वह मिखाणियों को दे देता था। वह कवि था। उसकी पत्नी ने कहा कि हम इतने दुःख पा रहे हैं। जाओ राजा भोग के दरबार में एक कविता बनाकर ले जाओ, देखो वह कवियों का बड़ा आदर करता है और कविता सुनाने वाले को लाखों रुपया दान देता है। वह दरबार में कविता ले गया और सुनाने लगा—

कुमुदवनमश्चि श्रीमदंभोजखड, त्यजति मुदमूलकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।

उदयमद्भिर्भिर्याति शीतांशुरस्त, हतविधिलचितानां हि विचित्रो विपाकः ॥

जिसका भावार्थ यह है कि कर्म का फल बड़ा विचित्र है। प्रभातकाल होते ही कमलिनियों का बन तो शोभारहित हो गया है और कमलों का बन शोभा सहित हो गया। हे प्रभात ! तेरे आते ही एक का नाश हो रहा है और दूसरे का उदय हो रहा है। सुबह होते ही उल्लू का हर्ष नष्ट हो गया और चकवा सुखी हो गया। प्रभात होते ही सूर्य का उदय हो रहा है और चन्द्रमा अस्त को प्राप्त हो रहा है। कर्म के प्रेरे हुये प्राणी का बड़ा विचित्र स्वभाव है। इस कविता पर प्रसन्न होकर राजा ने उसको एक लाख रुपया दिया। राजदरबार से चला तो भिखाणियों ने उसे घेर लिया, क्योंकि वे जानते थे कि वह जो कुछ धन उसके पास होता है, दान दे देता है। आदत ही ऐसी होने के कारण वह उन्हें दान देता गया और आगे बढ़ता गया और इस प्रकार बीच में ही सब रुपया समाप्त कर दिया। जब वह घर पहुँचा तो उसके चित्त पर उदासी छा रही थी। स्त्री ने पूछा कि आप उदास क्यों हैं ? राजा ने इनाम नहीं दिया क्या ? वह बोला कि इनाम तो मिला था, परन्तु मैं इसलिये दुखी हूँ कि—

दारिद्र्यानलसंतापः शान्तः संतोषचारिणः ।

याचकाश्चावितान्तर्दाहः केनोपशाम्यते ॥

अर्थात् दरिद्रता का संताप तो मैंने आसानी से नष्ट कर दिया और संतोष कर लिया, परन्तु याचक लोग आशा ले लेकर मेरे पास आते हैं और उसकी पूर्ति मैं नहीं कर सकता। उनकी आशा का इस प्रकार घात हो जाने से मेरे मन में आघात पैदा हो गया है, उसे कैसे शान्त करूँ, इसकी उदासी है ? इसी तरह बड़े-बड़े पुरुषों को बाह्य परिग्रहों से भूचर्चा नहीं होती और यही कारण है कि इतने तीर्थ और मन्दिर हमें दिखाई देते हैं, जिनकी उदात्त प्रकृति होती है वे जो भी बड़े-बड़े कार्य करते हैं आसानी से कर सकते हैं। दान देने का बड़ा उत्तम फल होता है। दान देकर विनय प्रकट करना चाहिये। दान दिया और लेने वालों पर अकड़ गये तो सब फल मटियामेट हो जाता। किसी को खाना खिलाया और कह दिया कि तेरे बाप ने भी कभी ऐसा खाना खाया है, तो खाना खिलाना सब व्यर्थ हो गया। प्रेम पूर्वक शुभ वचनों से दान देना चाहिये अथवा दान बड़ा दान होता है। प्राणियों को म्रय न रहे, वे निर्भयता में आत्म स्वरूप के संभाल का अवसर पा सकेंगे। यों अथवा दान ज्ञान दान का सहयोगी होता है।

ज्ञान की श्रेष्ठता—परपदार्थों से मोह भाव को दूर करके आत्मा के स्वरूप को पहिचान कर जो अनन्त संसार का विनाश कर देता है, उस ज्ञानदान के बराबर तो दान ही क्या है ? आज के युग में ज्ञानदान की प्रचुरता होनी चाहिए। नहीं तो वह समय शीघ्र आयेगा कि कल्याणार्थी आराम से रह नहीं सकते। हम लोगों को अपना साहित्य प्रचार करके दुनिया को दिखाना है कि आत्मा का हित कैसे हो सकता है ? आज अन्य लोगों ने अपना भौतिक साहित्य प्रचार करके दुनिया पर अपना रंग जमा रखा है। ऐसी हालत में यदि कुछ भी नहीं कर सके तो

बहुत दिनों के बाद खतरनाक हालत हो सकती है। आज साहित्य प्रचार और शिक्षा दान की आवश्यकता है। आज समय यह है कि विदेशों में भी हमारा कुछ उत्तम साहित्य का प्रचार हो और वह साहित्य उनके समझ में आ जावे। एक बार सुनते ही वे झट श्रद्धालु हो जाते हैं। यही कारण है कि विलायत जैसी जगहों में सत्य धर्म के केन्द्र बन गये, तत्त्व चिन्तन बन गये। अंग्रेजों जर्मनों में भी स्याद्वादानुगामी ही गये। विदेशों पर भी साहित्य प्रचार प्रभाव है, जिससे सारा जनसमाज सुखी रह सकता है। ज्ञानदान में ही शिक्षादान गर्भित है। धर्मशिक्षा बच्चों को पढ़ाने की आवश्यकता है ताकि वे धर्म को जानने वाले बनें और सदा उसकी रक्षा कर सकें।

शान्ति के अर्थ ज्ञान विकास की आवश्यकता—आजकल लोग अध्ययन का प्रयत्न नहीं करते और आचार्यों का व्यवहारानभिज्ञता आदि बताते हैं, उन्हें विद्या का यत्न करना था। एक आदमी जो संस्कृत नहीं जानता था, शास्त्र भण्डार में गया और शास्त्र निकालकर पढ़ने लगा, परन्तु पढ़ नहीं सका। दूसरा निकाला तो वह भी पढ़ नहीं सका। इस प्रकार जब वह कुछ भी नहीं पढ़ सका तो कहने लगा कि हमारा इसमें कोई दोष नहीं है, इन शास्त्रों का ही दोष है, जो हमारे पढ़ने में नहीं आते। अपना दोष नहीं बताया कि मुझे ही इनकी शिक्षा नहीं दी गई। इसी प्रकार आचार्यों ने जो कुछ कहा है बिल्कुल सत्य कहा है, परन्तु हम लोग उसको जानने का तो प्रयत्न करते नहीं और दोष मंत्रते हैं आचार्यों के सिर कि उन्हें व्यवहार का ज्ञान ही नहीं था। तभी तो उन्होंने ऐसी-ऐसी कठिन बातें लिख दीं जो आजकल पालन भी नहीं हो सकती। यदि संसार के जीवों के संताप को दूर करना है तो साहित्य प्रचार और शिक्षादान—इन दो बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। दावों में सर्वप्रधान दान ज्ञानदान है जो सम्यग्-गर्भ और रत्नत्रय की आराधना कराये, अर्थात् उन्हें ग्रहण कराये और से ममत्वरहित होकर आत्मभाव प्राप्त कराये, वह उत्तम त्याग है।

ज्ञानदान का पात्र को तात्कालिक फल—सबसे बड़ा दान ज्ञानदान है, जहाँ कर्तृत्वबुद्धि लगी हुई है मैंने यह किया, मैं उसको सुखी करता हूँ, मैं इसको दुखी करता हूँ, क्या उनको शान्ति है? शान्ति कसे मिलेगी? कर्तृत्वबुद्धि मिटाने से शान्ति मिलेगी। वस्तु के स्वतन्त्र स्वभाव का अनुभव हो कि हर वस्तु का स्वतन्त्र परिणमन है, वस्तु दूसरे का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है, सब पदार्थ अपने ही परिणाम से परिणमन करते हैं, कोई भी रंचमात्र कुछ भी नहीं कर सकता। इस प्रकार के अनुभव से शान्ति मिल सकती है और यह अनुभव ज्ञान की ही देन है। सम्यग्ज्ञान के अभाव में ही करने की चिन्ता लग जाती है कि मैं यह कर रहा था, यह करूँगा।

चाए आवागमणउ हरद, चाए णिम्मल कित्ति पवट्टइ ।

चाए वयरिय पणमिइ पाये, चाए भोगभूणि सुह जाए ॥

त्याग द्वारा बैरियों पर सत्य विजय—त्याग धर्म से अवगुणों का समूह दूर हो जाता है। त्याग धर्म से निर्मल कीर्ति विस्तृत हो जाती है। त्याग बिना यह जीव शांति से रह नहीं सकता। जिनके पास शरीर बल है वह शरीर से उपकार करता है तो महुनीय बनता है। जिसके पास धन है वह धन का त्याग न करे तो चाहे बड़ा भी धनिक हो जाय परलोक की दृष्टि में भी उसकी कुछ महत्ता नहीं रहती, और जिसकी लोक दृष्टि में भी महत्ता नहीं रहती उसे सुख ही क्या है। त्याग बिना शांति आ नहीं सकती है। किसी भी प्रकार यह गहो वंह निष्फल नहीं जाता। इस त्याग से बैरीजन भी चरणों में सिर नवाते हैं। एक राजा दूसरे राजा पर चढ़ाई करने जा रहा था। दूसरा शत्रु भी चढ़ आया। रास्ते में उस राजा को एक साधु के दर्शन हुये। राजा साधु के पास बैठ गया, कुछ उपदेश सुना। इतने में कुछ शत्रु की सेना की आवाज कानों में आने लगी तो राजा जरा सावधानी से तनकर बैठ गया। साधु कहता है राजन् ! यह क्या करते हो ? राजा बोला—ज्यों—ज्यों शत्रु मेरे निकट आ जाता रहा है त्यों त्यों मुझे क्रोध बढ़ रहा है। उस शत्रु को भस्म करने के लिये भीतर से प्रेरणा जग रही है। साधु बोला

उत्तम त्याग धर्म

राजन् ! तुम अचञ्चा कर रहे हो। यही करना चाहिये। जैसे-जैसे शत्रु निकट आये उस शत्रु को नष्ट कर देने का, उखाड़ देने का यत्न करना चाहिये, पर जो शत्रु तुम्हारे बिल्कुल निकट बैठा है, तुममें ही आ गया है उस शत्रु का नाश तो पहिले कर देना चाहिये। राजा बोला—वह कौन सा शत्रु है जो मेरे बिल्कुल ही निकट आ गया है? मुनि बोले—दूसरे को शत्रु मानने की जो कल्पना है वह कल्पना तुम्हारे में घुसी हुई है। यह बैरी तुम्हारे अन्दर है। उस बैरी को दूर करो। कुछ ध्यान राजा ने लगाया, समझ में आया। अरे जगत में मेरा बैरी कौन है? कोई इस जगत में मेरा शत्रु नहीं। मैं ही कल्पना कर लेता हूँ, चेष्टाएँ कर डालता हूँ। शत्रु का भाव छोड़ा, वैराग्य, जगा और वहीं साधु दीक्षा ले ली। शत्रु आता है, सेना आती है, राजा को शांत और वैराग्य मुद्रा में देखकर सब शत्रु चरणों में गिर जाते हैं। राजा अपने आत्मध्यान में लग गया। उत्तम ध्यान होने से बैरी जन भी चरणों में प्रणाम करते हैं। उत्तम त्याग के कारण भोगभूमि के मुख उत्पन्न होते हैं।

ज्ञान विकास की सदाचार से सफलता—भैया ! बाहर इसका है क्या? यह आत्मा कर क्या पाता है सिवाय भाव बनाने के? यह आत्मा आकाशवत् अमूर्त है, ज्ञानानन्द भाव मात्र है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपको ही कर पाते हैं चाहे जिस रूप परिणमे। किसी पदार्थ का कर्तृत्व किसी अन्य पदार्थ में नहीं हो सकता। यदि हो जाता तो कभी का-यह संसार मिट जाता। सौ बाहरी चीज मेरे में है ही नहीं। अब तुम सत्य ज्ञान करके उन विकल्पों को त्यागो और दुर्लभ मनुष्य जीवन को न्याय से बिताकर सदाचार से रहकर इसे सफल करो। एक लकड़हारा ऐसी ही शास्त्र सभा में कहीं पहुंच गया। वहाँ व्याख्यान में ५ पापों का वर्णन चल रहा था कि इनसे बड़ा अहित होता है। इनका त्याग करना चाहिये। उसकी समझ में आया तो सोचा कि मैं हिंसा और कुछ तो नहीं करता, गीली हरी लकड़ी काट डालता हूँ, सो अब नहीं काटूंगा, और झूठ तो मैं और बूछ बोलता नहीं था कभी-कभी लकड़ी का गट्टा ठहराने में दो-चार आने का हेर फेर कर डालता था सो अब यह भी हेर फेर नहीं बोलूंगा। बिल्कुल सत्य बात कहूंगा। चूंगी की कभी-कभी चोरी करता हूँ सो वह भी नहीं करूंगा। ब्रह्मचर्य में परन्त्री को तो स्वप्न में भी मैं कुदृष्टि से नहीं देखता, पर आज से अपनी स्त्री से भी ब्रह्मचर्यघात का त्याग है। मैं पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा। परिग्रह में मैं ८ आने रोज कमाता हूँ, सो २ आने धर्म में खर्च करूंगा, चार आने से गुजारा करेगे और २ आने जोड़ता रहूंगा, सो अदसर पड़ने पर काम आयेंगे। एक दिन वह लकड़हारा सेठ की हवेली के पास से गुजरा तो इम सेठ के रसोइया के लकड़ी न थी, सो लकड़ी लेने के लिए उस लकड़हारे को बुलाया। कहा भाई लकड़हारे ! लकड़ी बेचोगे। हां-हां लकड़ी बेचने को तो आए ही हैं। कितने में बेचोगे? ८ आने में। : आने लोगे? नहीं। ६ आने लोगे? नहीं। ७ आने लोगे? नहीं। अब चल दिया। वह थोड़ी दूर चला गया। इतने में रसोइया कहना है अचञ्चा लौट आओ, लौट आओ, वह लौट आया सो कहता है कि ७॥ आने लोगे? तो वह लकड़हारा कहता है अबे, तू किस बेईमान का नौकर है? अब यह बात सेठ ने सुन ली। बात तो कह रहा है नौकर से और बेईमान हमें बनता है। लकड़हारे को बुलाया सेठ ने और पूछा कि हमें बेईमान क्यों बनाता है? तू किस बेईमान का नौकर है ऐसा क्यों कहता है? अब लकड़हारे ने कहा सेठ जी सुनो, तुम जाते हो रोज शास्त्र सभा में। हम तो एक दिन शास्त्र सभा में पहुंचे। वहाँ पर ५ पापों के त्याग का व्याख्यान सुनकर यों त्याग कर बैठा। सब सुना दिया। हमने बेईमान इसलिये कहा कि हम जानते हैं कि जैसा मालिक होगा, जैसा बर्ताव करता होगा वैसा ही बर्ताव नौकर भी करेगा। तो जब इसने बुलाया अचञ्चा लौट आओ उसका अर्थ यह है कि हम जितने में बेचना चाहते हैं उतने में ही लेगा। फिर यह क्यों अन्य बात कहता है? हमने तो सत्यव्रत का नियम लिया है। आठ आने की ही लकड़ी हम तो बेचेंगे फिर शुरू से अन्त तक बोल दिया कि हमने ऐसा नियम लिया है। सेठ ने उसका खूब सत्कार किया और कुछ दूर तक पहुंचाने गया। उसका जीवन धन्य है जो इस तरह पापों से विरक्त रहता है। जीवन में सार क्या है सो बत-

लाओ ? गर्प्ये करने से क्या लाभ मिलेगा ? यहाँ वहाँ का आरंभ बढ़ाने में कौन सा तत्त्व मिलेगा ? अथवा मन संयत न कर लेने से इस आत्मा को क्या फायदा होगा ? यह तो अब भी अकेला है, आगे भी अकेला रहेगा। इसके पास तो जैसा ज्ञान होगा उसके अनुकूल ही सुख और दुःख चलेगे।

चारों दानों की उपयोगिता—शास्त्रदान भी ज्ञानदान है। शास्त्र प्रदान करना, उनमें बुद्धि बढ़ाना, उनकी वृद्धि करना, उनको पढ़ाना, पढ़ने को साहित्य देना, उनको प्रकाशित करना, सब शास्त्रदान में शामिल है। आज का युग यह कहता है कि धार्मिक विषयों की पाठशालायें बढ़ाई जायें और साहित्य का प्रचार खूब किया जाये। ज्ञानदान देने से केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। तीसरा दान औषधदान है। यह दान रोग का विनाश करने वाला है। चौथा दान आहार दान है। इस दान के देने से चारों दानों का फल प्राप्त हो जाता है। आहारदान तो दिया ही जाता है। इस दान के देने से जिसको भूख का रोग लगा हुआ था, जिससे कि उसके उदर में पीड़ा हो रही थी, वह शान्त हो जाती है इस प्रकार यह औषधदान भी हो गया। आहार लेने से उनका शरीर स्वस्थ हो गया, और वृत्त पढ़ने में लग गया, इस लिये ज्ञानदान भी हो गया। आहार देने से प्राणी को भूख से मुक्ति मिलने के कारण प्राणों को सुदृढ़ता मिली, इसलिये यह अभयदान हो गया। इस प्रकार एक आहार दान देने से सब दान एक साथ प्रगट हो गए।

चाउवि किज्जउ पिच्चजि विणये सुहययणे भासेप्पिणु पपये ।

अभयदानु दिज्जइ पहिलारउ जिमि णासइ परभवदुहयारउ ॥

विनय वचन में भी त्यागरूपता—कहते हैं विनयपूर्वक, प्रेम सहित वचन बोलकर सदा नियमपूर्वक त्याग करना चाहिये। अभी खर्च तो कर दें कितना ही दूसरों की सेवा में और वचन बोल दें अहंकार के तो वह सब किया कराया बेकार हो गया। दान दो, त्याग करो, पर विनय सहित वचन बोलकर त्याग करो। विनय और प्रेम के वचनों का बड़ा महत्त्व है। ऐसे वचन बोलने वाला स्वयं सुखी रहेगा और जिसके लिए बोलेंगे वह भी सुखी रहेगा तथा जो सुविधायें प्रेमपूर्वक वचन बोलने से दूसरों के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं, सो खोटे वचन बोलने से प्राप्त नहीं हो सकती हैं। एक मनुष्य हरिद्वार गया, वहाँ बीमार पड़ गया। दस्त लगने लगे। एक बुढ़िया थी झोंपड़ी में, उसने दया करके कहा कि आराम से कहीं भी ठहरो तुम्हारे भोजन के लिये हम रोज खिचड़ी बना दिया करेंगी, सो खा जाया करो और यात्रा का काम किया करो। खिचड़ी बन रही और वे देहाती महाराज पास बैठे। सो अकेले बैठे हुये में मन नहीं लगता, दूसरा कोई गप्पे करने वाला चाहिये। वह पूछता है बुढ़िया मां तुम अकेली हो ?...हां बेटा !...तो तुम्हारा ब्यग्रह करा दें क्या ? इतनी बात सुनते ही वह बोली कि मैं तो तेरी सेवा करती हूँ और तू अटसट बकता है। तो बुढ़िया मां तुम्हें खर्च कौन दे ?...भैया हमारा बेटा परदेश में रहता है सो वह जो कुछ भेजता है उससे गुजारा होता है। अरे मां अगर वह मर गया तो। अरे वह तो सेवा कर रही है और यह खोटे वचन बोलता जा रहा है। उसने कहा हट जाओ हमारी देहरी परसे। यहां पैर नहीं रखना। किसी से खोटे वचन बोलकर सुख पाया जा सकता है क्या ? जीवन में यही तो सब गुण हैं वचन प्रेमपूर्वक बोलना और जहां तक आपसे हो सके तन से, मन से, धन से जितनी आप दूसरों की भलाई कर सकते हैं करना। उसमें मत चूके। ये सब चीजें विनाशीक हैं। इनका मोह रखना ठीक नहीं है।

वैभव की पुण्यानुसारिता—भैया ! आप धन कमाने वाले नहीं हैं। धन तो जब तक आपके पुण्य का उदय है तब तक आता है और जब पाप का उदय होता है तब समाप्त हो जाता है। नारियल के पेड़ में फल लगते हैं। बताओ उस नारियल के अंदर पानी कहाँ से जाता है ? कहाँ बाहर से आता है क्या ? नहीं। आ जाता है। इसी तरह पुण्योदय से धन आ जाता है, पर कहां से धन जाता है ? यह स्पष्ट नहीं बता सकते। जैसे कंठ होता है,

हाथी उसे खा जाता है पर कैसे बँसा का बँसा ही निकल आता है। उसके अन्दर का जो रस होता है वह निकल जाता है। कँच फोफस हो जाता है। वह जरा भी फूटता नहीं। अरे रस कहां से खतम हो जाता है? इसी तरह जब पाप का उदय आता है तो धन अपने आप नष्ट हो जाता है। पता नहीं पड़ता कि कैसे चला गया? तो इस मायाचार में मोह करके यहां ही आकर्षित रहना यह तो अपने दुर्लभ मनुष्य जीवन को पाकर गंवा देने की बात है। चार प्रकार के दान कहे गये हैं—आहारदान, अभयदान, शास्त्रदान और औषधिदान, इनमें प्रेम रखो।

अभयदान की महिमा—अभयदान का ही प्रताप देखिये—पूर्वभव में विशल्या चक्रवर्ती की पुत्री थी। वह इतनी सुन्दर थी कि कहीं कोई लेकर भग जाय, कहीं से कोई भगा ले जाय। एक राजा उसे लिये जा रहा था। उसका रक्षकों ने पीछा किया। भयभीत होकर उसने पुत्री को जंगल में छोड़ दिया। पुत्री ने वहीं व्रत किया, तप किया, उपवास किया। कुछ हजारों वर्षों पुरानी कथा है। उस जंगल में एक अजगर ने उस पुत्री को अपने मुख में रख लिया। उसका पिता जंगल में ढूँढते ढूँढते पहुंचा, देखा कि आधा अंग अजगर ने अपने मुख में रख लिया है। उसने सोचा तलवार से आधा अंग काटकर निकाल ले चक्री की पुत्री संकेत करती है कि इसे मारो मत। वह समता परिणाम से मरी, देवगति में गई, फिर अभय दान के भाव के प्रताप से वह एक राजा के विशल्या नाम की पुत्री हुई। तपस्या के प्रताप से विशल्या के भव में इतना अतिशय था कि उसके नहाने के छोट कोई प्राप्त कर ले तो उसके रोग दूर हो जाते थे। अभयदान का भी बड़ा मसलत्व है। जैसे धर्मशाला बनवाना, ठहरने की व्यवस्था करना, कोई संकट आ जाय तो साहस देने वाले बचनों से उसको दूर करना, आदिक यही अभय दान कहलाता है, अभयदान से परभव सम्बन्धी समस्त दुःख दूर हो जाते हैं। विशल्या ने अभयदान पूर्वभव में अजगर को दिया था, जिसके फल से उसके शरीर के जल से छूते ही किसी रोगी का भयंकर रोग भी दूर हो जाता था जो अभयदान देता है उसको ऐसा ही फल मिलता है। चारों प्रकार के दान देना उपचार से उत्तम त्याग धर्म कहलाता है। जिसके मोह रहता है उसके उत्तम त्याग नहीं होता है। वह निरन्तर भयभीत रहता है वह अपने खुद के प्राण नहीं बचा सकता। जब मोही अपने प्राणों के बचाने का उपाय ही नहीं जानता तो अपने ज्ञानधन को बचाने का उपाय कैसे जान सकता है? मोही प्राणी मोह करते जाते हैं और दुःख से मुक्त होने की चिन्ता भी करते जाते हैं, परन्तु मुक्ति का उपाय नहीं करते।

मोह के त्याग से संकट का विनाश—एक बादशाह पशुओं की बोली जानता था। एक दिन वह छत पर खड़ा हुआ था। जहाँ घोड़े और बैल बंधा करते थे। उधर देख रहा था। घोड़े बैलो से कह रहे थे—वयों रे भोले मूर्खों, तुम्हें जरा भी अक्ल नहीं। तुम्हारे ऊपर राजा इतना सारा बोझ लदवाता है और तुम ले आते हो। बैल बोले कि लाना ही पड़ता है। आप उपाय बताओ जिससे न लाना पड़े। घोड़े ने बताया कि जब तुम्हें जोतने के वास्ते राजा के नौकर आयें तो तुम मरे के समान पड़ जाना। राजा जानवरों की बोली जानता ही था, अतः उसने यह बात सुन ली। जब नौकर बैलों को जोतने के वास्ते गये तो वे घोड़ों की सलाह के अनुसार पड़ गये। नौकरों ने यह बात राजासे कही। राजा ने आज्ञा दी कि घोड़ों को जोत ले जाओ। घोड़े जोते गये, परन्तु घोड़ें तो रईस पशु हैं, वे बैलोंके समान इतना बोझा लादकर नहीं ला सकते। बड़ी मुश्किल से किसी तरह लाये फिर राजा छत पर आया तो घोड़ों को बैलो से कहते सुना कि भाई बैलों तुम आज मरे से पड़े रहे सो ठीक है परन्तु राजा की आज्ञा हुई है कि जब बैल बीमार पड़ें तो उनकी इतनी पिटाई कीजिये कि वे याद रखें, चाहे इनकी मृत्यु ही हो जाये। राजा ने सोचा कि ये घोड़े तो बड़े बदमाश हैं। जब राजा रानी के महलों में गये तो उन्हें हंसी आ गई। रानी ने पूछा कि आप हंसे क्यों? राजा ने बहुत मना किया कि देखो, मत पूछो, परन्तु रानी न मानी तब राजा बोलने लगे कि मुझे पशुओं की

बोली समझ में आती है, मैंने घोड़ों की बात सुनी, वे बड़े ही बड़माश हैं । राजा ने घोड़ों और बैलों की बात रानी को बता दी । तब रानी जिद करने लगी कि मुझे यह पशुओं की बोली सिखाओ । तब राजा ने मना किया कि जिन्होंने मुझे यह बोली सिखाई है उन्होंने यह कहा है कि यदि यह बोली तुम किसी अन्य व्यक्ति को सिखाओगे तो तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी । अतः यदि मैं तुम्हें यह सिखाऊंगा तो मैं मर जाऊंगा । रानी फिर भी नहीं मानी और बहुत जिद की । तब राजा को वायदा कर लेना पड़ा । अब राजा बहुत दुःखी थे । जब सब जानवरों को यह बात मालूम हुई तो सबको शोक पैदा हो गया । वे कहने लगे कि आज राजा रानी को जानवरों की बोली सिखायेंगे और उनकी मृत्यु हो जायेगी । सारे के सारे जानवर इससे बहुत दुःखी थे । राजा एक स्थान पर जाकर चिन्ताग्रस्त हो गया । वह क्या देखता है कि सब जानवर तो दुःखी थे, परन्तु एक स्थान पर एक मुर्गा और एक मुर्गी खेल रहे थे और बड़े हंस रहे थे । दूसरे जानवरों ने उनसे कहा कि अरे कृतघ्नी तुम बड़े दुष्ट हो । राजा मर जायेगा, इससे सारे पशु तो दुःखी हैं और तुम सुख मना रहे हो । तब उन्होंने उत्तर दिया कि हम राजा के मरने से नहीं हंस रहे, जो भूखीता बह अपने आप करने जा रहा है उस पर हंस रहे हैं । यदि कोई हठ करता है तो उसके एक तमाचा उधर लगावे और एक तमाचा उधर लगावे, फिर देखें कोई कैसे हठ करता है ? राजा अपने आप प्राण दे रहा है और दुःखी हो रहा है । राजा के यह बात समझ में आई और उसने सोचा कि क्यों अपने प्राणों का घात करूँ ? रानी से कह दिया कि मैं तुम्हें बोली नहीं सिखाता, जो कुछ तुम्हें करना हो, कर लो । स्त्री के मोह में पड़कर राजा व्यर्थ ही अपने प्राण नष्ट करने वाला था ।

ज्ञाता के बाह्यस्वभाव के त्याग में शंका का अभाव—मैया ! कहा जाता है कि मोही अपने प्राणों की ही रक्षा नहीं कर पाता, तो फिर वह अपने अन्तरंग में रहने वाले ज्ञान की कहां से रक्षा करे ? आत्मा के जो शत्रु हैं, वे हैं मोह, राग, द्वेष आदि भाव । बाहर में कहीं कोई उसका शत्रु नहीं । ज्ञाता दृष्टा की अपनी दृष्टि बनाये तो यह शक्ति का मार्ग है और यही उत्तम त्याग है । ऐसे ज्ञानी जीव को बाह्य परिग्रह से कोई सम्बन्ध भी हो तो भी अन्तरंग में उनके प्रति मूर्च्छा न होने के कारण उनका त्याग ही होता है । इसलिये वह भी उत्तम त्याग है । एक मां ने अपने लड़के से पूछा कि बता तुझे धन का एक बड़ा पहाड़ मिल जाये तो तू उसे कितने दिनों में दान कर देगा ? उसने उत्तर दिया कि मैं तो उसे एक क्षण में ही दान कर दूंगा, पर उठाने वालों की गारंटी मैं नहीं करता कि वे कितने दिनों में उसे उठायें, उठाने वालों का ठेका मैं नहीं लेता । यह है उत्तम त्याग की बात । सारे बाह्य पदार्थों को छोड़कर आत्मा के स्वरूप पर दृष्टि करो । जहां पर का प्रवेश नहीं, एकांकी ज्ञानमय चैतन्य मूर्ति पर दृष्टि हो तो सब चीजों का त्याग हो गया । श्रद्धा ही से तो त्याग होगा । बाह्य में भी इनके आगे पड़े रहने से इनका त्याग ही तो रहता है, क्योंकि ये कुछ हमारी आत्मा में चिपक थोड़े ही रहे हैं । सब पापों से रहित रागद्वेष रहित अपने ज्ञान स्वभाव को पहिचानों, उसमें स्थिर रहो, जगत् का बाह्य पदार्थ कोई भी साथ नहीं देगा ।

उत्तम त्याग में दुर्विकल्पों का परिहार—आहार दान देने से धन, श्रद्धि आदि की वृद्धि होती है । उत्तम त्याग दुष्ट विकल्पों का त्याग कहलाता है । एक आदमी श्मशान भूमि में बैठा अपनी आत्मवृद्धि में लगा हुआ था । एक राजा वहां गया और कहा कि तुम इतना कष्ट क्यों पाते हो ? बताओ तुम्हें क्या चाहिये, मैं तुम्हें दूंगा । उसने कहा कि मुझे तीन चीज चाहियें । ऐसा तो मुझे जीना दो जिसके बाद मरना नहीं हो । ऐसी मुझे खुशी दो जिसके बाद रज्ज नहीं हो । ऐसी मुझे जवानी दो जिसके बाद बुढ़ापा न आये । इस पर राजा लज्जित होकर चला गया । इन बाह्य पादार्थों में क्या-क्या विकल्प फंसा रखे हैं ? इनका समागम सदा नहीं रहता । हमें बाह्य वस्तुओं में बखेड़ा करने की आवश्यकता ही नहीं है । अपने ज्ञान स्वभाव को देखो । इन दुष्ट विकल्पों का त्याग करने से ही उत्तम त्याग प्रगट होता है ।

समाज के अग्रगण्यों का उत्तरदायित्व—आज धर्म की इतनी अवनति क्यों है ? इसलिये कि बड़े-बड़े भाई त्याग धर्म में, भक्तिधर्म में आगे नहीं आते । उनकी देखादेखी छोटे-छोटे भी यही सोचकर कि यहां सुख नहीं होगा, आगे नहीं आते । बड़े-बड़े जो करते हैं उन्हीं का तो अनुसरण प्रायः लोग करते हैं । लोगों का यह सोचना प्राकृतिक है कि जो बड़े करते हैं उन ही बातों में ही लगे रहो, वहीं सुख होगा, वे केवल यही समझते हैं । इसलिये बड़े-बड़े लोगों, को पहले स्वयं आगे आना चाहिये । यदि बड़े लोग आगे नहीं आते हैं तो उनकी देखादेखी बच्चे भी उसी मार्ग पर जाते हैं, जिस मार्ग पर बड़े जाते हैं । इस प्रकार उनको कितना पाप लग रहा है ? धर्म के मार्ग पर उनके आगे न आने का कारण ही धर्म आज अवनति की ओर अग्रसर हो रहा है । धर्म के मार्ग पर लगने पर ही शांति मिलेगी । सम्पदा में रहने से शांति नहीं मिलेगी । शांति मिलेगी तो सम्यग्ज्ञान में मिलेगी । ज्ञानस्वभाव की वृद्धि में ही लग जाना यही उत्तम त्याग का मार्ग है ।

उत्तम त्याग व दान के फल में शान्ति सुख लाभ—भैया ! हमें इससे यह शिक्षा लेनी है कि संसार में जो दुःखी जीव हैं उनको दान दें जो ज्ञानी पुरुष हैं उनका विशेष सत्कार करें, सर्व जीवों पर आदर और श्रद्धा का भाव हो और चारों प्रकार का दान दें । इन बाह्य क्रियाओं के अतिरिक्त सबसे प्रधान बात तो यही है कि निज आत्मा का निःसङ्गस्वरूप पहिचान कर शाश्वत अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावमय निज का लक्ष्य रखें, इस लक्ष्य से उत्तम त्याग सिद्ध हो जाता है । पुराणों में और इतिहासों में देखा होगा कि कैसे-कैसे उदार और त्यागशील पुरुष होते हैं ? उदार रहें तो, अनुदार रहें तो, जिन्दगी तो सबकी व्यतीत होती है, किन्तु उदार पुरुष इस भव में शांत रहते हैं परभव में भी जो पुण्यबन्ध होता है उससे सुख होता है ।

सत्यदाणु बीजो पुण किञ्चिद् गिम्मलगाण जेण पाविज्जइ ।

ओसह दिज्जइ रोयविणामणुं कहविण पित्थइ वाहिपयासणु ।।

दान से पाप प्रक्षय—दूसरा दान शास्त्र दान है, उस शास्त्र दान से निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होती है और एक औषधि दान है । इस औषधि दान से रोगों का विनाश होता है । इस प्रकार अभयदान, शास्त्रदान और औषधिदान का यहां तक वर्णन हुआ इय गाथा में । आगे अब आहारदान के सम्बन्ध में कहते हैं । श्रावकों के सब कर्तव्यों में दो कर्तव्य प्रधान बताये हैं—(१) दान और (२) पूजा । आरंभ से और अन्य उपार्यों से जो धन कमाया जाता है तो उस धन की कमाई में जो पाप होते हैं उन पापों को धोने का, निर्मल बन सकने का उपाय है तो वह त्याग है, दान है, सेवा है, परोपकार है । धन तो रहेगा नहीं, यह तो जायगा, चाहे हम उसका बताव कैसे ही कर लें ।

विनाशिक धन का दान करके अतुल आत्मवेभव का लाभ लेने में विवेक—एक राजदरबार में सब लोग बैठे थे । राजा मन्त्री से पुछता है मन्त्री जी ! क्या बात है कि मेरे हाथ की हथेली में रोम नहीं है ? सो मन्त्री ने कहा—महाराज आपके हाथों से इतना दान हुआ कि दान देते-देते गेम घिस गये, इसी कारण रोम नहीं । वैसे तो हथेली में रोम होते ही नहीं हैं । पर यह मन्त्री की चतुराई की बात है । राजा बोला—मन्त्री जी तुम्हारे हाथ में भी रोम क्यों नहीं है ? कहा, महाराज तुम्हारी हथेली के रोम दान देते-देते घिस गये और हमारी हथेली के रोम आपसे लेते-लेते घिस गए । राजा ने पूछा दरबार में और कितने लोग हैं उन सबके भी हथेली में रोम क्यों नहीं हैं ? मन्त्री बोला, हां महाराज ! आपने दिया, हमने लिया और ये सब हाथ मलते ही रह गये, सो हाथ मलते-मलते रोम घिस गये इन सबके । सो अपने पास धन नहीं रहना है चाहे दान देकर जायें, दान करके जायें और चाहे यों ही हाथ मलते रहें । सो भैया ! जो कुछ भी है वह सब बिछुड़ जायगा । पर विवेकी पुरुष वह है जो प्राप्त हुई सम्पदा का विवेक पूर्वक उपयोग करे । यों यदि अपने त्याग के बाद आकिञ्चन्य किया तो आकिञ्चन्य जो आत्मतरव

है उसकी दृष्टि बनाई। आकिञ्चन्य भावना अमूर्त है, जीव को पार कर देने वाली भावना है। सो जगत में मेरा कहीं कुछ नहीं है, ऐसा निर्णय करके अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की उपासना करो और पदार्थ जो मिले हैं उनमें मुग्ध न होओ।

आहारे घणरिद्धि पविट्टइ, चउविह चाउजि एहु पविट्टइ।

अहवा दुट्टविप्यपहि चाए चारजि गहु मुणहु समवाये।।

आहार दान के लाभ—आहार दान से धन और ऋद्धि की प्राप्ति होती है। साधुजनों को भक्तिपूर्वक आहार दें, उनके धर्म की सिद्धि में सहयोग दें और उनके गुणों में अनुराग करें। इससे जो पुण्यबंध होता है उसकी तो कोई तुलना ही नहीं है। आहार दान धन और ऋद्धियों की वृद्धि का कारण है। ये चार प्रकार के दान हैं जो अनादि संतान से चले आ रहे हैं। भावपूर्वक उदारता के साथ दिया गया थोड़ा भी दान अगणित फल को देता है। और जो झूठमूठ की गप्पों का दान है उसका तो कोई महत्त्व ही नहीं है।

दान में छल करने का फल—एक बड़ा शहर था वहाँ के मन्दिर में आरती बोली जा रही थी, एक देहाती भी पहुंचा, सब सुन रहा था, देख रहा था। पहिली आरती बोली गई तो कोई लगाये १ मन धी और कोई लगाये २ मन। दो मन धी के मायने २ छटांक धी याने १ रुपया। कोई ४ मन धी बोले तो उसके मायने दो रुपया दे दो। तो जो अधिक बोले, उसको ही मिले। बोली में कोई चार मन बोले, कोई ५ मन। वह देहाती सोचता है अरे ये कितने दानी हैं? बड़ा दान करते हैं। वह तिल की गाड़ी ले गया था। उसने भी लगाया, हमारी १ गाड़ी तिली। अब जब समाप्त हो गया, लोग जाने लगे तो उसने मन्दिर के आगे गाड़ी खड़ी कर दी। कहा हमारी गाड़ी के तिल ले लो। लोगों ने कहा अरे तू बड़ा बेवकूफ है। जो धी बोला जाता है वह दिया नहीं जाता है। जितने मन धी बोला जाता है उसके आधे रुपये दिये जाते हैं। उस देहाती ने कहा यह तो नहीं होगा। हमने एक गाड़ी तिल बोल दिया तो ये तुम्हें लेने ही पड़ेंगे। ले लिया और पंचों ने बाजार में बेचकर रुपया कर लिया। अब उस देहाती ने सोचा कि मन्दिर में ये लोग रोज झूठ बोलते हैं। इनकी अक्ल ठिकाने करना चाहिए। सबसे कह दिया कि माइयो कल १२ बजे दिन का हमारे यहां सबका निमंत्रण है। चूल्हे का निमंत्रण है। अगर कोई अतिथि आ जाय तो उमका भी निमंत्रण है। सो अब उसने एक मैदान में चारों तरफ कनात लगा दिया और यहां वहां से बहुत सी गौली लकड़ियां जला दीं। खूब धूँवा हो रहा है। सब गांव वाले यह सोचते कि खूब पूड़ियां बन रही हैं। उनको विश्वास हो गया। तो ठीक ११॥ बजे ही सब पहुँच गये। सब लाइन में बैठ गये। पातल भी परोस दी। पातल परोसने के बाद में और कुछ तो परोसा नहीं और कहा आप लोग करिये भोजन। किसी ने कहा अरे क्या भोजन करें? अभी तो आपने कुछ परोसा ही नहीं। उसने कहा कि जैसी आपकी आरती है वैसा ही यह निमंत्रण समझ लो। सोचा यह दंड ठीक है। झूठ बोलने से क्या प्रयोजन? अगर १ रुपया देना है तो बोल दिया दो मन धी और अगर २ रुपये देना है तो बोल दिया चार मन धी। यह क्या है?

दानयोग्य वर्तमान जीवन को पाकर दान में प्रमादी न होने का अनुरोध—भैया! इस जीवन को बहुत सम्हाल कर रखना है। सत्य बोलना चाहिए जो प्रमाणिक बात हो उसे ही बोलना चाहिए। इस व्रत को अपनी शक्तिभर निमाने वा यत्न किया जाय। सबसे मूल बात तो यह है कि जब तक स्वपरविषयक भ्रमविष जगता है तब तक धर्म में कोई अक्ल नहीं आ पाती है। चार प्रकार के ये दान अनादि परम्परा से चले आ रहे हैं। अमेरिका में क्या औषधदान, आहारदान, शास्त्रदान, आदि नहीं दिये जाते? वहां भी ये दान दिये जाते हैं। पशुको में दान नहीं चलता। कोई गाय भूखी हो तो उसे दूसरा पशु अपने मुख से क्या भोजन दे सकता है? नहीं। मनुष्यभव ही ऐसा है कि जिसमें दान किया जा सकता है, त्याग किया जा सकता है। यदि इस भव में भी कुछ न कर सके अपने

कल्याण के लिये तो जैसे और भव बिताये वैसे ही यह भी एक भव बीत जायगा। गुप्त विकल्पों का त्याग करना त्याग धर्म कहलाता है। रागद्वेष अनुराग ये विकल्प ही तो हैं। रोगों का विकट बन्धन होता है। जिसके प्रति राग हो वही चित्त में हो और उसकी ही सुविधा, प्रसन्नता के लिये नाना यत्न किए जाना हो, इनसे भिलता क्या है? कुछ भी तो नहीं मिलता। उल्टे प्राणों का बन्ध ही होता है। यों ही भैया! हम अ.प तो अपने आप पर स्वयं ही संकट बना लेते हैं। कहीं माई से राग किया, कहीं स्त्री पुत्रों से राग किया, इस प्रकार से उनसे स्नेह करके हम और आप जाल बढ़ा लेते हैं और अपने मन माफिक कार्य नहीं होता है सो दुःखी रहते हैं। अपने प्रयोजन से प्रयोजन रहे क्योंकि गृहस्थी में थोड़ी आजीविका चाहिये, एक तो यह काम है। ज्यादा धन से कोई मतलब नहीं। गुजारे के लिये केवल थोड़ी सी आजीविका चाहिये। बतावो संकट हम आप पर क्या है? संकट तो बनावटी रहते हैं। पहिले तो संकट बनावटी रहते हैं, फिर वे बाद में मिटाये नहीं मिटते हैं। दूसरा काम आत्मोद्धार का है जो कि सर्व प्रमुख है।

दुवियहि दिज्जइ दाण, किज्जई माणु जि गुणियणहि।

दयभावी य जर्षंग, दंसण चित्तिज्जइ मणहि॥

त्याग एवं दान की भावना व आज्ञा का उपसंहार—इसमें दो बातें खास कही जा रही हैं। दान देने की दो पद्धतियां हैं—(१) दुःखी जनों पर दया करके दान देना और (२) दुःखी जनों को मानकर दान देना। बड़े पुरुषों का मान करना भी दान है, त्याग है, और देखो यह धन का त्याग करना दान है, अपनी प्रवृत्ति विनय-पूर्वक परिणामों से जितना अपने से बन सके दूसरों का उपकार करने की हो तथा आत्मदृष्टि करके अन्तः प्रसन्नता रहे, विकारों का परिहार हो। ऐसा व्यतीत हो यही गृहस्थों का उत्तम त्याग है। उत्तम त्याग का उत्कृष्ट पालन सकल संन्यास स्वरूप निज चित्प्रकाश की अभीक्षण उपासना करने वाले साधु संतों के होता है। हम सबका कर्तव्य है कि अन्तर से विचार का परिहार करके ज्ञानयोग बनाकर शान्ति के पात्र बनें।

त्याग का प्रयोजन स्वपरोपकार—आज उत्तम त्याग के सम्बन्ध में कुछ अपने-अपने विचार बाने हैं। त्याग क्या है? अपने और दूसरों के उपकार के लिए अपने धन आदि का उत्सर्ग करना, परिहार करना उसको कहते हैं उत्तम त्याग। जैसे दान किया जाता है तो उसमें प्रयोजन है अपना उपकार और दूसरों का उपकार। जो यह समझते हैं कि हम दूसरों के उपकार के लिए धन दे रहे हैं, त्याग कर रहे हैं तो उन्हें यह समझना चाहिए कि इसमें तो हम अपना भी उपकार कर रहे हैं। जैसे कोई पुरुष मान लो, अकेला हो, बड़ा धनिक हो, जिन्दगी में कभी त्याग भी न किया हो, मरते समय वह क्या सोचता है कि आखिर यह सब धन तो मेरे से छूट ही जायगा, चलो इसे किसी अच्छे काम में (धर्म के काम में) लगा दें तो देखिये उसके इस कार्य से दूसरों का भी भला होगा, पर साथ ही जो उसके मन में एक यह भाव बना कि यह धन व्यर्थ न जाये तो ऐसा जो एक मन में उद्वेग बना उसकी शांति के लिए वह प्रयत्न कर रहा है। प्रत्येक त्याग में यही बात है। जो दान करता है वह अपनी शांति के लिए करता है। यदि आप किसी भिखारी को दो रोटियां भी दे देते हैं तो यह नहीं है कि आपने सिर्फ उस भिखारी का ही उपकार किया। अरे आपके अन्दर उस भिखारी के प्रति जो उद्वेग जगा, उसको ही शांत करने का प्रयास आपने किया। तो वास्तव में उस जगह आपने अपना ही उपकार किया। तो त्याग में दोनों ही बातें शामिल हैं, अपना भी उपकार है और दूसरों का भी उपकार है। जहां उत्तम दाता हो और उत्तम पात्र हो वहां के दान की महिमा को कौन कह सकता है? उत्तम पात्र कौन? जो निष्परिग्रही हो, संसार की जो वाञ्छा न रखता हो और उत्तम दाता वह जो तत्त्वज्ञानी पुरुष हो, जो यह समझता हो कि मुझ को भी समागम मिले हैं वे सब विनाशिक चीजें हैं, ये ये मेरी वस्तु ही नहीं हैं। जहां त्याग का अहंकार ही उत्पन्न न हो कि यह मेरी चीज है और इसे मैं देने वाला हूं, अरे ये तो बाह्य वस्तु हैं, पुण्योदय से मुझे ये समागम प्राप्त हुए हैं, इनका सदुपयोग कर लेना चाहिए। कोई एक

नवाब साहब थे, वे जब दान किया करते थे तो उनकी दृष्टि नीचे की रहा करती थी। एक बार कोई पूछ बैठा कि "सीखी कहां नवाब जू देनी ऐसी देन। ज्यों ज्यों कर ऊंचा करो त्यों त्यों नीचे नैन।" आप जब दान करते हैं तो अगली दृष्टि नीचे की क्यों कर लेते हैं? तो उन्होंने कहा कि—"देने वाला और है देता रहत दिन रैन। लोगों को भ्रम है मेरा, तातैं नीचे नैन।" अरे भाई देने वाला तो और है, पर लोग समझते हैं कि ये दे रहे हैं इसलिए शर्मिन्दा होकर मैं अपनी दृष्टि नीचे की ओर कर लेता हूं। तो भाई दान, त्याग वही श्रेष्ठ है जहां नम्रता है, निरहंकारता है।

चतुर्विध दान की उपयोगिता—चार तरह के दान बताये गए हैं—(१) ज्ञानदान, (२) आहारदान, (३) औषधिदान और (४) अभयदान। आजकल तो लोग ज्ञानदान को सबसे हल्का मानते हैं, पर अभी उन्होंने इस ज्ञानदान की महिमा को नहीं समझा। अरे इन चार प्रकार के दानों में सबसे उत्तम दान है ज्ञानदान। किसी जीव को ज्ञान दिया और उसे ऐसा आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाय कि उसके सारे दुःख खत्म हो जायें, आत्मा में होने वाले ये रागद्वेषादिक विकार भाव खत्म हो जायें, अनादिकाल के बद्ध कर्मों से मुक्ति प्राप्त हो जाय, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्द का चतुष्टय प्राप्त हो जाय तो बताइये इस ज्ञानदान की महिमा का कौन वणन कर सकता है? इससे बढ़कर भी कोई चीज होती है क्या? आहार दान है पात्र को भक्ति पूर्वक आहार देना, दया से किसी भूखे को भोजन दे देना। औषधिदान है किसी बीमार रोगी को औषधि दे देना, अभयदान है किसी को भय से हटाकर आराम से बैठा देना। तो ये सभी दान स्वपर के उपकार के लिए हैं। मोह का विनाश हो, अच्छी जगह बुद्धि जगे तो यह उसका उपकार है। तो दान का नाम त्याग भी है। दान शब्द तो ऐसा बन गया है कि दान शब्द को सुनकर अहंकार को गुंजाइश है, अगर दान की जगह त्याग नाम रखा जाता तो शायद दान करने जैसा अहंकार का भाव न आता। लेकिन उसमें भी क्या पता? त्याग शब्द का भी प्रयोग होवे तो वह भी एक रुढ़ि बन जायगी। विभावों का, रागद्वेषादिका त्याग हो।

त्यागी की वृत्ति में समता देवता के दर्शन—त्याग की वृत्ति कैसी होती है, इसका चित्रण गीता के १४ वें अध्याय में किया है। वास्तविक त्याग वह है जो दुःख सुख में समान हो। सुख हो तो क्या है, दुःख हो तो क्या है? ये दोनों सुख और दुःख आत्मा के स्वभाव से भिन्न चीजें हैं, ये भिन्न चीजें हैं, ये विकार हैं। दुःख भी विकार, सुख भी विकार। लोग सोचते नहीं हैं, मानते हैं कि दुःख में बिगाड़ होता है और सुख में सुधार होता, पर जरा गम्भीरता से विचार करो तो सुख में बिगाड़ होता, दुःख में सुधार होता। सुख में तो आकुलता बसी है और दुःख में आनन्द बसा है। देखो तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित बात कह रहे हैं। जब आप भोग विषय करते हैं पञ्चेन्द्रिय का स्वादिष्ट भोजन करना, रूपदेखना आदिक तो उसप्रक्रिया में आपअन्दर में विना क्षुब्ध रहते हैं, आकुलित रहते हैं और कोई दुःख अज्ञात है, मान लो कोई अनिष्ट बात सामने आ गई तो आप अपने भीतर ऐसा बल बनाते हैं कि उससमय आपके दुःख बहुत हल्के हो जाते हैं, उस समय अपने आपके ज्ञानस्वभाव की झलक भी होती है। तो सुख दुःख में सुख को अच्छा मानना और दुःख को बुरा मानना यह अज्ञान की बात है। तत्त्वज्ञानी पुरुष तो सुख दुःख में समानता रखते हैं। जिसको ज्ञान का प्रकाश आ जाता है और यह विदित हो जाता कि दोनों में सार केवल एकब्रह्म ही है, उसे दुनिया की कोई परवाह नहीं, वह लोक कीर्ति को नहीं चाहता, उसके लिए यथा अपयथा में समता बुद्धि है वह इन बाह्य चोर्जों को अत्यन्त असार समझता है। इन बाह्य चीजों की आकांक्षा तत्त्वज्ञानी पुरुषों को नहीं रहती। तत्त्वज्ञानी पुरुष को तो ऐसा विचित्र आनन्द है अपने ज्ञान की उपासना का कि जिस आनन्द में वह तृप्त रहता है। कुछ परवाह ही नहीं करता। जो धीर धीर विवेकी निन्दा और प्रशंसा में समता की बुद्धि रखता है वह वास्तविक त्यागी पुरुष है। जो मान अभिमान में, शत्रु मित्र में समान बुद्धि रखता है, जो सर्व आरम्भ परिग्रहों का त्यागी है वही वास्तविक

उत्तम त्याग धर्म

त्यागी है। केवल त्याग ही त्याग नहीं, जिसने रागद्वेष का त्याग किया उसने शुद्ध ज्ञान का ग्रहण भी किया। तो जिसको शुद्ध ज्ञान प्रकाश का उपादान है उसका ही वास्तविक त्याग निम्नता है।

त्याग में अनुपम आराम— एक शेर था, उसे एक रोटी कहीं से मिल गई, उस रोटी को लिए हुए वह जंगल में जा रहा था, उसे देखकर उस रोटी को छीनने के लिए कई शेर उस पर टूट पड़े। वह शेर बड़ा दुःखी होने लगा। अब उसे क्या उपाय सूझा कि उस रोटी को फेंक दिया और १८-२० हाथ दूर जाकर बैठ गया। लो उसके सारे दुःख खत्म, और बाकी सभी शेर आपस में लड़ने लगे। तो देखिये उस शेर ने शान्ति पायी त्याग से। वहाँ एक विवेकी पुरुष पहुंचा और उस शान्त बैठे शेर के समक्ष बोला—ए बनराज ! तुम मुझे बहुत बड़ी शिक्षा दे रहे हो-व्या कि बस त्याग से ही शान्ति है। त्याग के बिना तो यहां भी किसी का काम ही नहीं चल सकता। अभी कोई भोजन करे, तो पेट भर जाने पर झक मारकर भोजन त्यागना पड़ता है। त्याग के बिना गुजारा नहीं। खूब रात भर बहिया चीज देखा, सनीमा, नाटक आदि देखा तो आखिर उसे आराम तभी मिलेगा जब उसे छोड़ेगा। आराम मिलेगा त्याग से। खूब गाना सुनते जावो, रात्रि के १२ बज गए तो कहने लगते कि भाई बस करो। अरे त्याग किए बिना किसी का गुजारा नहीं चल सकता। झक मारकर त्याग करना पड़ेगा। चाहे स्वेच्छा से त्याग करो, चाहे विवश होकर। त्याग उत्तम फलदायक वही होता है जो विवेकपूर्वक किया जाय। सत्बुद्धि उसके ही जग सकती है जो अपना जीवन न्याय नीति से बितायें। अन्याय से, पाप से कमाया हुआ धन पाप में ही जाता है। जीवन में एक सेसा निर्णय करें कि जब मरने पर हम कुछ साथ नहीं ले जाते, ये परिजन, मित्रजन आदि सब अपने-अपने कर्मों का फल भोगते तब फिर उनके पीछे अन्याय से, पाप कार्यों से भरा हुआ जीवन बिताने से क्या लाभ। अरे! अपना जीवन न्यायनीति से भरा हुआ बितायें। चहे चने खाकर ही जीवन बिनाना पड़े, पर अपनी न्यायनीति से च्युत न हो। गृहस्थों का न्याय-नीति से अपना जीवन बिताना यही उनका आदर्श त्याग है।

राजसादि कुदानों को त्यागकर सात्त्विक दान की वृत्ति का निर्देशन—यदि दान करते हुए में त्याग के प्रत्युपकार की भावना सो अर्थात् इसके बदले में मुझे कुछ मिलेगा, ऐसी भावना हो तो वह दान राजसदान कहलायगा, और अयोग्य देशकाल में अपात्रों को जो दान दिया जाय वह तामसदान कहलायगा और सद्भावना पूर्वक त्याग किया जाय तो वह वास्तविक दान है। जहां भीतर में रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक का त्याग हो तो वहां सब त्याग सही होते हैं, और भीतर में जहां कषाय हैं वहां ऊपरी-ऊपरी त्याग से काम न चलेगा। ये कर्म तो कषाय की बाट हेरा करते हैं। जहां कोई कषाय जगती है बस वहां कर्म बंधते हैं। कर्म का तो कषाय से सम्बन्ध है, हाथ-पैरादिक की क्रियाओं से कर्मबन्ध नहीं होता। कषायें हैं तो कर्मबन्ध होता है। जो दातार पुरुष होते हैं वे ऐसे गम्भीर होते हैं कि वे प्रत्युपकार नहीं चाहते। एक कवि की उक्ति में देखिये—मानो एक व्यक्ति ने किसी मधुमक्खी से पूछा कि ऐ मक्खी ! तू इतना अधिक शहद क्यों संचित करती है ? क्या करेगी इसका ? तो वह मक्खी कहती है कि देखो जो शहद मेरे काम आयगा वह तो आयगा ही, बाकी सारा का सारा शहद दूसरों के काम आयगा। देखिये—शहद यद्यपि अभक्ष्य चीज है, पर यहां बात जितनी बात के लिए कही जा रही है उतनी ही बात समझ लेना है। तो ठीक उस मधुमक्खी की ही जैसी दृष्टि उदार विवेकी सज्जन पुरुषों की रहती है। वे सोचते हैं कि पुण्य के उदय से धन आता है तो आने दो, जो हमारे काम आयगा सो आयगा। बाकी सब परोपकार में लगा दिया जायगा। देखिये धन का दान करने से कहीं वह कम नहीं होता। जैसे कुएं से कितना ही पानी निकालते जावो पर कम नहीं होता, उस निकले हुए जल की पूर्ति हो ही जाती है, ऐसे ही सच्चे ही सच्चे दिल से दान दिया जाने पर धन कम नहीं होता, किन्तु पुण्योदयानुसार उसकी पूर्ति हो ही जाती है। आगे भी पुण्यबन्ध होने के कारण उसकी पूर्ति अनायास ही होती रहती है भाई धर्म की ओर दृष्टि दो, धर्म के लिए तन, मन, धन, वचन सब कुछ

न्यौछावर करना पड़े तो खुशी—खुशी से न्यौछावर कर दो, एक यदि धर्म की दृष्टि पा लिया तो सब कुछ पा लिया ।

निःसङ्गता में उत्तम त्याग की झांकी—इन प्राप्त समागमों से, परिग्रहों से ममता न रखो, जितने भी पाप होते ? वे इन बाह्य पदार्थों की ममता से होते हैं । ज्ञानार्णव ग्रन्थ में बताया है कि “संगात्त्वामस्ततः क्रोधस्तस्माद्विसा तथाऽशुभम् । तेन श्वाश्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम् ॥” अर्थात् इस परिग्रह में ममता रखने से तो उसके कामना, इच्छा बनती है, उससे क्रोध बढ़ता है अशुभ कार्य होते हैं, उनसे नरकगति का पात्र बनना पड़ता है, नरकोके दुःख तो सभी लोक जानते हैं । तो इस परिग्रह से विरक्त होना ही एक उत्तम त्याग है । इस परिग्रह से ममता छूटे, शुद्ध ज्ञान से बढ़कर और क्या हो सकता है ? सहज ज्ञान होना मेरा मात्र मैं हूँ, मेरे सिवाय मेरा कहीं कुछ नहीं, मेरा वैराग्य, मेरा ज्ञान, मेरा शुद्ध आनंद शक्ति आदिक जो मेरा गुण है, मेरी शक्ति मेरा परिवार, मेरी रमणी सब कुछ वहीं मैं हूँ, यह ही मैं अपना माता-पिता हूँ यही मैं अपना गुरु हूँ । प्रभु की उपासना और किस लिए है ? इसलिए तो कि प्रभु का जैसा स्वरूप अपना समझें वैसा अपना शुद्ध ज्ञान रहे बाह्य वस्तुओं का ममत्व न रहे । त्याग विशुद्ध ज्ञानी से निभता है । भाई अपना कल्याण करना चाहते हो इस ममता का परिहार करना ही होगा । किसी से कुछ प्रत्युपकार की चाह करके दान मत करो । वह तो एक व्यापार जैसी बात हो गयी । त्याग की बात तो यह है कि जिससे ममता हटे, परिग्रह के प्रति ममत्व भाव न रहे इसी को त्याग कहते हैं इस त्याग की महिमा बड़ी विचित्र है । जहाँ ज्ञानप्रकाश हो, शुद्ध बोध हो वहाँ त्याग का माहात्म्य है । सही ज्ञान के बिना सही त्याग हो नहीं सकता ।

कषायोपशम में त्याग की पुष्टि—थोड़ी देर को एक बात कहते हैं कि कोई बड़े-बड़े त्याग न कर सके और मानो कोई कहे कि हमारे पास तो पैसा ही नहीं है तो हम क्या त्याग करें ? तो एक त्याग की बात वह जीवन में लावें । दूसरे लोग यदि मेरी बुराई करते हों, निन्दा करते हों, कुछ भी कहें तो भी हम उनको दुःखी न करें । यह त्याग कोई पैसा तो नहीं खर्च करता । ज्ञानार्णव में बताया है कि “परपरितोषनिकित्तं त्यजात् केचिद्धनं शरीरं वा । दुर्वचनबन्धनचर्वयं रुषन्तो न लज्जामः ॥ अरे अनेक लोग तो दूसरों को खुश करने के लिए, प्रसन्न करने के लिए धन भी देते हैं और कोई दुर्वचन बोलता है, गाली देता है तो उसके प्रति हम रोष करें । उसे सुख न दे सकें, मन्तुष्ट न कर सकें तो यह हमारे लिए लज्जा की बात है । अगर कोई गाली देकर खुश होता है तो वह अपने को खुश रखे । यह सोच लो कि कितना अच्छा हुआ जो हम किसी को खुश होने के काम तो आये । तो भाई त्याग तो वास्तव में भाव से त्याग है । सबके प्रति सुखी होने की जिसकी भावना है, किसी को दुःखी होने का मन में संकल्प नहीं रखता उसके तो सदा त्यागवृत्ति चलती है । त्याग ही एक ऐसा पवित्र धर्म है कि जिसके प्रताप से जीव संसार से मुक्त हो जाता है । बड़े-बड़े तीर्थंकर, बड़े-बड़े महापुरुष, उन्होंने क्या किया, सन्यास किया, त्याग किया, अपने ज्ञान ब्रह्म में रमण किया, अपने में सन्तोष हुआ, उनका निर्वाण हुआ । यहाँ जितना जो कोई सुख पा रहा है उसमें त्याग का बहुत कुछ हाथ है । न त्याग करे, न धन खर्च करे तो कहाँ से भलाई मिल पायगी ? त्याग बिना तो लोक में भी सुख नहीं है । परलोक की बात तो सही ही है कि त्याग बिना सुख ही नहीं सकता । तो त्याग करना ? अंतस्त्याग करना है । अपने आप में जो क्रोध, मान, माया, लोभ, विचार, विकल्प तरंग के भाव पैदा होते हैं इनको जानें कि ये प्राकृतिक हैं, प्रकृतिजन्य हैं, ये कर्म विपाक से उत्पन्न हुए हैं, परभाव हैं, ये मेरे नहीं हैं, ऐसा जानकर उनसे दूर रहें, यही है उत्तम त्याग, और इन ही कषायों को दूर करने के लिए बाह्य में जो परिग्रह का त्याग किया जाता है, वह भी त्याग कहलाता है । त्याग की भावना वास्तव में वहाँ आती है जहाँ यह विचार उत्पन्न हो कि यह सब बाह्य परिग्रह मेरा कुछ नहीं है इसमें मेरा कुछ भी पूरा नहीं पड़ने का । ये सब दिखने वाली चीजें तो मायामय हैं, अद्युव हैं, इनका तो भले काम में उपयोग कर लेने में ही अपनी भलाई है ।

उत्तम आकिञ्चन्य धर्म

आकिञ्चणु भावहु अप्या ज्जाबहु देहभिण्ण उज्जाणमऊ ।

णिव्वम गयवण्णउ मुहसंपण्णउ परम अतीदिय विगयमऊ ॥

आकिञ्चन्य धर्म की उपासना—आज आकिञ्चन्य भावना का दिवस है। मेरा अन्यत्र कहीं कुछ नहीं है—इस प्रकार का भाव हो तो आकिञ्चन्य है। इस जीव से बाहर कोई पदार्थ इस जीव को धारण नहीं है। एक अपने आकिञ्चन्य स्वरूप का दर्शन पाया तो सब कुछ पाया। इस आत्मा में ज्ञान आनन्द आदि भावों के अतिरिक्त और कुछ भी पिडरूप चीज नहीं पाई जाती। यह सबसे पृथक् स्वतंत्र चैतन्य तत्त्व है। उसकी उपासना से सब कुछ मिलता है और बाहर की उपासना में सब कुछ गवां दिया जाता है। बीतराग प्रभु की उपासना में भी स्वतंत्र चैतन्य तत्त्व की उपासना बनती है। देखो, जिस प्रभु की मूर्ति बनाकर हम पूजते हैं वह अकिञ्चन है। उनके पास कुछ नहीं है। है तो किसी के पास कुछ नहीं, पर यहां तो कल्पना में मानते हैं कि यह मेरा घर है, यह मेरी हकान है, मेरे लाखों का वैभव है, स्त्री है, पुत्र हैं पर प्रभु के पास क्या है? और चलो आगे तो प्रभु के पास क्या है? शरीर तक भी तो उस प्रभु के पास नहीं है, पर ऐसे आकिञ्चन्य प्रभु की जो उपासना करता है उसकी सर्वसिद्धि होती है और जो सकिञ्चन यहां के मोहीजनों की उपासना करता है उसे कुछ नहीं मिलता। केवल क्लेश ही भोगता है। जैसे समुद्र में पानी भरा होता है, पर समुद्र से नदी निकलते कभी सुना गया है? नहीं। पर्वतों पर पानी एक बून्द भी नहीं दिखता मगर उन पर्वतों से बड़ी-बड़ी नदियां निकलती हैं। इसी प्रकार जो अकिञ्चन है उसकी उपासना से आशाओं की सिद्धि होती है और जो सकिञ्चन है परिग्रही है उनकी उपासना से कुछ सिद्धि नहीं होती। ये इष्ट समागम मिल गये यह तो सिद्धि नहीं है, यह तो अधेरा है। इससे आत्मा का पूरा नहीं पड़ता, दुःख दूर हो सकते हैं तो अपने प्रभु के स्वरूप के दर्शन से ही दूर हो सकते हैं।

परिग्रहलालसा की विडम्बना का चित्रण—एक बार गुड़ भगवान के पास फरियाद करने गया। वे मोहियों के भगवान होंगे जिनके पास गया। गुड़ ने कहा भगवान हमारी रक्षा करो। क्या हो गया गुड़ साहब? महाराज! लोगों ने हम पर बड़ा उपद्रव ढा-रखा है। मैं जब खेत में खड़ा था तो लोग मुझे तोड़ तोड़कर खाते थे, कोल्हू में डूबे पेशा, लोगों ने हमें पिया। वहां से बचे तो हमें जलाकर गुड़ बना लिया। मैं जब सड़ गया तो मुझे सम्बाकू में फूट फूटकर खाया भुसा पर बड़ा अन्याय हो रहा है। उस भगवान ने कहा तुम्हारी कथा सुनकर हमारे मुंह में पानी आ गया है। तुम यहां से जल्दी माग जावो। नहीं तो तुम यहां बच नहीं सकते। सो भैया! इन बाह्य समागमों से सुख की आशा न करो, यह विराट व्यामोह है। भावना करो अपने आपकी जो देह से विविक्त है, ज्ञानमय है, ज्ञान ही जिसका स्वरूप है, उपमारहित है, इसके वर्ण नहीं, रूप रस आदिक नहीं। सुख से परिपूर्ण है, उत्कृष्ट है, इन्द्रिय रहित है, उस ज्ञान स्वरूप को देखो। इस स्वरूप में भव नहीं, संसार नहीं, क्लेश नहीं। जो होना है वह हो जाता है, उपाधिका निमित्त पाकर हो जाता है, वह परिणामन, किन्तु इस ज्ञान देव में विकार नहीं, इसके सहज अस्तित्व के कारण इसमें कोई फंद नहीं है। ऐसे मायारहित विभाव रहित आत्मा का ध्यान करो वही आकिञ्चन्य धर्म है। भैया! परिग्रह की लालसा और परिग्रह का सम्बन्ध केवल अपने क्लेशों के लिए ही होता है। और इसके खातिर महापुरुषों तक पर भी संदेह कर लिया जाता है। आजकल के हिसाबों में तो जैसे बैंक में अपने ५० हजार रुपया जमा कर दिया, थोड़ा ख्याल होने लगता कि कहीं यह बैंक फेल न हो जाय। जैसे अभी १ साल पहिले पंजाब बैंक के प्रति ऐसी खबर सुनाई दी तो लोगों ने अपने-अपने रुपये बैंक से निकालना शुरू कर दिया था। इससे बैंक को बहुत फायदा हुआ था। जब बैंक से सम्बन्ध न था तब तो बैंक पर कोई संदेह या शंका न थी, पर

जब परिग्रह का सम्बन्ध हो गया तो उसमें भी संदेह होने लगा ।

परिग्रह मूर्छा के कारण गुरुजनों पर संदेह करने का पाप करने की नौबत—पुराणों में कथा आई है कि—एक साधु ने किसी नगर के बाहर चातुर्मास किया । एक सेठ ने चार माह तक उस साधु के पास रहने की प्रतिज्ञा की । उमका लड़का कुपूत था । सो एक हंडे में रत्न जवाहरात भरकर एक पेड़ के नीचे गाड़ दिया इसलिये कि यह बरबाद न कर दे । सोचा कि चार माह तो अभी घर जाते नहीं हैं । पुत्र ने उसे गाड़ते हुये देख लिया था सो उसे खोद लिया कभी एकान्त पाकर । सेठ को कुछ पता नहीं, चार माह पूरे हो गये । साधु तो चला गया । अब उस सेठ ने हंडा खोदा तो न मिला । वह झट साधु के पास दौड़कर गया । सोचा कि मैंने तो चार माह तपस्वकी सेवा की और ये हमारा हंडा चुरा ले गये । पर वह कह न सकता था । कहने से डर लगता था । कहा महाराज कुछ कथा सुनावो । साधु जान गया । कहा अच्छा तुम्ही सुनावो । सेठ ने ऐसी कहानी कही जिसका यह तात्पर्य था कि हमने तो चार माह तक आपकी सेवा की और आप हमारा धन चुरा लाये । ऐसा तात्पर्य निकला । उम पर साधु ने ऐसी कहानी कही, जिसका अर्थ यह निकला कि भाई तुम्हें केवल भ्रम है । हम तो मात्र तुम्हारे कल्याण की ही बातें करते रहे । तुम्हारे भ्रम ही केवल हो गया । चार कथायें उसने कहीं व चार कथायें मुनि ने । कुपूत कथा सुन रहा था, उसके एकदम वैराग्य उत्पन्न हुआ । कहा पिताजी वह हंडा मैंने निकाला था । महाराज पर संदेह न करो । मुझे घर में अब नहीं रहना है । यह लो ताली और अब हम धर्म ध्यान में अपना समय बितायेंगे । वह साधु बन गया । अभी किसी को आपने कुछ उधार दिया तो आपको उसके आचरण पर संदेह होने लगता है । तो भीतर से परिग्रह का जो सम्बन्ध है यह धर्म ध्यान में अधिक बाधक होता है । और जिनका विश्वास ठीक है, जिनके हृदय में मलिनता नहीं आती उनके ऐसा साहस बना रहता है जिससे वे अपने आपके स्वरूप को कभी-कभी तक सकें और उसमें ही प्रसन्न रह सकें ।

स्वयं भिन्न परपदार्थोंके भिन्नत्वका प्रकाश होने में परमविश्वास—न किञ्चन यस्य स अकिञ्चनः, अकिञ्चनस्य भावः आकिञ्चन्यम् । मेरे से अतिरिक्त कुछ भी मेरा नहीं है, इस भावपूर्ण प्रत्यय को आकिञ्चन्य कहते हैं । इस भाव के फलस्वरूप सर्वप्रकर के परिग्रह के त्याग को भी आकिञ्चन्य कहते हैं । मैं जगत् में बाह्य पदार्थों को नहीं करता । सर्व पदार्थ अपने परिणमन से स्वयं परिणमन करते हैं मैं उनमें किंचित् भी सुधार बिगाड़ करने में समर्थ नहीं हूँ । स्त्री, पुत्र, धनादि की तो बात ही क्या है, यह शरीर जो कि बिल्कुल मिला हुआ सा प्रतीत होता है वह मेरे अधीन नहीं । मेरा जगत में कुछ भी बाह्य अर्थ नहीं । मेरा तो केवल यह आत्मा है और जगत् के कुछ भी पदार्थ मेरे नहीं हैं । इस प्रकार का विचार, प्रत्यय करके जो सब परिग्रह का त्याग कर देना है वह कहलाता है आकिञ्चन्य व्रत । लोग इन बाह्य संपदा वैभव आदि पदार्थों को पाकर अपने आपको सुखी मान रहे हैं, परन्तु इनका वियोग होने पर महान् दुःखी होना पड़ता है और यह भी निश्चित ही है कि जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग अवश्य होगा । जगत् के बाह्य पदार्थों से हमारा वियोग होगा ही, इसलिये हम क्यों उनकी परिणति में अपना मन लगावे ? जिस रूप जो पदार्थ परिणमन करता है करने दें—क्यों उनमें ममत्व करें ? जब वे हमसे छूटेंगे ही और हमें वियोगजन्य दुःख मानना ही पड़ेगा तो हमारा कर्तव्य है कि इससे पहले वे हमें छोड़ें, हम ही उन्हें छोड़ दें । भैया, हम परको छोड़ क्या दें वे तो छूटें ही हैं, प्रत्यक्ष भिन्न ही है । हां, जो हमने उनमें अपनत्वबुद्धि कर रखी है, ममत्व कर रखा है वह छोड़ दें तो वियोग के समय दुःख ही नहीं होगा । हमें तो केवल अपने ज्ञानस्वभाव का आदर करना चाहिये और उसकी आराधना करनी चाहिये । इस ज्ञान की प्राप्ति से जो फल मिल सकता है वह समृद्धशाली लोगों से नहीं मिल सकता । भगवान की जो उदार प्रकृति है, वह उत्कृष्ट है, उनकी वह उत्कृष्टता बड़े-बड़े समृद्धशाली लोगों के पास भी नहीं मिल सकती । बड़े-बड़े पर्वत जो बिल्कुल पत्थर के हैं, बड़ी-बड़ी नदियां उनसे ही निकलती हैं, परन्तु समुद्र

जो पानी से लवालब भरा हुआ है, नदियां उससे नहीं आतीं। वे तो पर्वत ऊंचा है इसलिए उससे ही निकलती हैं। आत्मा को जो समृद्धि प्राप्त होती है, वह अनादि अनन्त ज्ञान स्वभाव की खोज से प्राप्त होती है।

आकिञ्चन्य भाव के अभाव से दुःख भाजना—अब तक अपने आकिञ्चन्य के अभाव से दुःखी हैं, परपदार्थों में ममत्व कर करके, उनका सह करके महान् दुःखी हो रहे हैं। तनिक भी आकिञ्चन्य भावना भा लो, दुःख नहीं भिटे तो कहना कि शास्त्रों में झूठ बात है। जो अपने आप में यह भावना भावेगा वह नियम से सुखी होगा, कभी भी उसको दुःख नहीं होगा। अतः इन सब वस्तुओं को बाह्य वस्तु जानकर इनसे राग हटाना चाहिये। जगत् में लगने वाली ये सुन्दर वस्तुयें क्या हैं, सुन्दर का अर्थ ही क्या है? 'सु' उपसर्ग है, 'उन्दी क्लेदने धातु' है और उसमें 'अर्च्' प्रत्यय का अर्थ है, अर्थ यह हुआ—जो तड़फा तड़फाकर मारे, अच्छी तरह से क्लेद करे, दुःखी करे, उन्हें क्लेते हैं सुन्दर। इन सब सुन्दर पदार्थों से मैं जुदा हूँ। ये जगत् के बाह्य पदार्थ बिल्कुल भिन्न दिख रहे हैं, फिर भी भिन्नता की श्रद्धा नहीं करते। जिनको जगत् में रिश्तेदार, नातेदार मानते हैं वे भी हमसे भिन्न हैं। बस उनसे अपने को जुदा समझो। धन है, वह भी प्रत्यक्ष भिन्न है उसको भी भिन्न समझो। अपने शरीर से भी अपने आपको जुदा समझो। इसक बाद कर्मों से, कर्मण शरीर जो आत्मा के साथ सिद्ध न होने तक रहता है, उससे भी अपने आपको जुदा समझो। अपने आपसे अपने आपको दुःख नहीं होता, परन्तु परका संग होने से दुःख पैदा होता है। कर्मों के उद्वयसे उत्पन्न होने वाले रागद्वेष आदि भावोंसे भी अपने आपको जुदा समझो। जो छोटे-छोटे ज्ञान बन रहे अर्थात् मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्याय, थोड़े-थोड़े सुख बढ़ रहे, थोड़ी बुद्धि होती आई इनसे भी अपने आपको न्यारा समझो। मैं इतने थोड़े ज्ञानरूप पर्याय वा नहीं हूँ। जहाँ शुद्ध अवस्था को भी मैं प्राप्त हो जाऊंगा, वहाँ प्रगट होने वाली शुद्ध तरंग से भी मैं जुदा हूँ, फिर औपाधिक भाव की बात क्या कहूँ।

निज अन्तस्तत्त्व से अन्य का पार्थक्य—इस ज्ञान स्वभाव से ये सब पर अग्रुव तत्व जुदे हैं, परन्तु अग्रुव अनादि, अनन्त, ज्ञान स्वभाव ही मेरा है ऐसी श्रद्धा से ही अकिञ्चन भाव है। इस प्रकार जगत् से न्यारे इस आत्मा को जो भाता है उसके दुःख नहीं आ सकता। काम, क्रोध, माया, लोभ आदि विभाव कभी आत्मा को सता ही नहीं सकते। केवल परिग्रह ही इस जीव को दुःखी करने वाला है। इसलिये २४ परिग्रह, १० बाह्य और १४ अन्तरंग, इन सब परिग्रहों का त्याग करना ही आकिञ्चन्य कहलाता है। असल में दुःखदाई चीज तो अंतरंग परिग्रह हैं। जब तक इसका त्याग नहीं होगा, बाह्य त्याग से कोई लाभ नहीं। जिनके अन्तरंग परिग्रह नहीं रहता, उनके बाह्य परिग्रह भी नहीं रहता। बाह्य परिग्रह तो उनके स्वयं ही छूट जाता है। जितने भी लोग अन्तरंग परिग्रह के त्यागी बने, वे बाह्य परिग्रहों के त्याग सहित बने। जब अन्तरंग में मोह ही नहीं रहा तो बताओ—बाह्य के स्त्री, पुत्रादि, धनादि, वस्त्रादि को कौन संभाले? इनकी संभाल बरने वाला तो मोह परिणाम ही था। बाह्य अर्थों के ममत्व के त्याग की आवश्यकता है, यदि सुखी होना है तो। थोड़े दिनों का जीवन है, व्यर्थ इन विभावों की प्रेरणा में हम पाप कार्य के कर्ता हो रहे हैं। अतः इस अल्प से जीवन का ध्यान रखकर इन विभावों की प्रेरणा में नहीं पड़ना चाहिये, ऐसा जानकर आकिञ्चन्य व्रत का पालन करो।

आकिञ्चणु वउसंगहिणिवित्त, आकिञ्चणु चउसुज्जाणसत्ति ।

आकिञ्चणु वउवियलियममत्ति, आकिञ्चणु रयणत्तयपवित्तु ॥

निर्भार, कृतार्थ निजतत्त्व के ध्यान का आदेश—आत्मा शरीर - भिन्न ज्ञानस्वरूप है। इसके बिना अपना कोई कार्य ही नहीं सकता। ऐसे निरुपग्र सुख और ज्ञान से स्वयं परिपूर्ण, भय का जिसमें नाम नहीं, ऐसे निज ज्ञान स्वरूप आत्मा का ध्यान करो और बाह्य जगत् के पदार्थों से सम्बन्ध त्यागो। अपने को निष्परिग्रह देखो। परिग्रह से दुःख ही होता है, परिग्रह की मुर्छा त्यागो। लालच ऐसी ही चीज है यह बाह्य परिग्रह क्या-क्या नहीं

कराता । दस हजार रुपया सेंट्रल बैंक में जमा करा दो तो यह फिर रहता है कि कहीं बैंक फेल न हो जाये । ये बाह्य पदार्थ ऐसे ही हैं कि जहां जाते हैं वहां ही अविश्वास पैदा हो जाता है, और की बात जाने दो, अपरिग्रही गुरुओं पर भी परिग्रही का अविश्वास जम जाता है । समस्त परिग्रहों ये निवृत्ति होना सो आकिचन्य है । चारों प्रकार की ध्यान करने की शक्ति हो सो आकिचन्य व्रत है ।

अपनी यथार्थ परिपूर्णता के भाव से चिगने में अपदाओं की भरमारी—दुःख इस जीव को क्या है ? अधूरा तो कुछ होता है नहीं कि अभी कुछ बनना बाकी है । जितने भी सत् होते हैं वे सब पूरे हैं तो सत् है अधूरा कुछ नहीं है । एक परमाणु है वह भी पूरा का पूरा है । जीव है वह तो पूरा है ही । चींटी हो, कीड़ा हो, पेड़ हो, मनुष्य हो, देव हो और चाहे किसी भी परिणति में हो, प्रत्येक समय पूरे के पूरे ही है ये सब । ये ज्ञानमय पदार्थ हैं, इनका काम है जानते रहें । जैसे अरहंत और सिद्ध देव प्रति समय सर्व विश्व को जानते रहते हैं । यह उनका सही काम है । तो इसी प्रकार जानते रहना ही अपना काम है । इससे आगे बढ़े और किसी परिग्रह में थोड़ासा बोले तो वह विवृच जायगा । इसका बंधन बंधता चला जायगा । सर्व परिग्रहों से बाहर बने रहना, यही एक श्रेयस्कर है । ये सब श्रद्धा की बातें कही जा रही हैं । जो बाह्य पदार्थों में फंसे हैं उन्हें अनाकुलता तो कभी मिल ही नहीं सकती, क्योंकि श्रद्धा विपरीत है तो अनाकुलता गट कहां से निकले ? जैसे अजायब घर में केवल देखने की इजाजत है, किसी चीज को छुये, उठाये तो वह विवृच जायेगा, फंस जायगा दण्ड पायेगा । इसी तरह इस आत्मा का काम तो केवल जानना देखना है । इससे बढ़कर कोई इसमें बोले, रमे तो वह विवृच जाता है । सुख और शांति उसकी गायब हो जाती है ।

परसम्पर्क की विवृचन का फल महाक्लेश—एक साधु था, सो वह आराम से अपने में रस्त रहता था । एक दिन राजा आया, बैठ । साधु ने देखा और कहा राजन् ! क्या चाहते हो ? बोला—महाराज मेरे कोई लड़का नहीं है सो लड़का चाहता हूं । साधु ने कहा—अच्छा जावो, होभा । चला गया राजा । दो चार माह बाद में साधु को याद आई कि रानी के गर्भ में लड़का आ गया क्या ? इस समय रानी के गर्भ हो सकने का समय भी है । देखू संसार में कोई जीव मर रहा है क्या ? इस समय तो कोई नहीं मर रहा है । तो खुद मरो और चलो रानी के पेट में, नहीं तो बचन झूठा हो जायगा । मरा और पेट में पहुंचा । सो जब किसी बात में फंस जाता है तो यह संकल्प होता है कि अब तो ऐसा नहीं करेगे । बही संकल्प कर लिया कि अब नहीं बोलेंगे । थोड़ा सा बोल दिया तो इतना फंसे । निकला पेट से, सात आठ साल का हो गया और बोला नहीं वह । राजा को चिन्ता हुई कि बच्चा तो बोलता ही नहीं है । उसने घोषणा करा दी कि जो मेरे बच्चे को जो बोलना बता देगा उसको बहुत सा इनाम मिलेगा । राजपुत्र बगीचे में जा रहा था । वहां देखा कि एक चिड़ीमार जाल बिछाये था जब कोई चिड़िया नहीं मिली तो जाल लपेटकर जा ही रहा था । इतने में एक पक्षी एक पेड़ की डाली पर बोला, फिर चिड़ीमार ने जाल बिछाया और छिप गया । वह पक्षी आकर फंस गया । इतने में राजपुत्र बोला—'जो बोले सो फंसे ।' अब चिड़ीमार ने सोचा कि इस चिड़िया की क्या कीमत है ? चले महाराज से कहें कि आपका बच्चा बोलता है । वह गया और बताया । इतनी बात सुनते ही राजा बोला अच्छा जावो १० गांव तुम्हारे नाम कर दिये । राजपुत्र कुछ देर में आया पर बोला नहीं तो राजा को चिड़ीमार पर क्रोध आ गया बोला, मेरा पुत्र मूंगा है और यह चिड़ीमार भी मुझसे दिल्ली करता है । उसे फांसी का हुकम दे दिया । तख्ते पर खड़ा किया राजा ने कहा कि अन्त में जो कुछ तुझे खाना हो खा ले, जिससे मिलना हो मिल ले । कहा महाराज मुझे कुछ खाना नहीं है, केवल ५ मिनट के लिये आप अपने पुत्र से मुझे मिला दीजिये । मिला दिया । राजकुमार से चिड़ीमार बोला—भैया ! मुझे मरने की परवाह नहीं, पर लोग मुझे कहेंगे कि चिड़ीमार झूठा है, झूठ बोलता है । सो आप अधिक न बोलें उतना ही बोल दीजिए जितना

आपने बगीचे में बोला था। तो उससे न रहा गया। सारा किस्सा सुनाया, 'जो बोले सो फंसे।' मैंने पूर्व जन्म में राजा से बोला था सो फंस गया, और फिर चिड़िया ने बगीचे में बोल दिया तो वह फंस गई, यह चिड़िया राजा से बोल गया सो वह फंस गया।

लक्ष्यविशुद्धि व आकिञ्चन्य की धुन में विसंवाद व फलह का अभाव—भैया ! हम वस्तुस्वरूप पर दृष्टि दें, ज्ञानके मार्ग पर चलें, जितना निभा सकते हैं निभायें, पर लक्ष्य तो सबका एक होना चाहिये। किन्तु श्रेय है कि लक्ष्य सबका एक नहीं है। कल चोदस आयेगी, झगड़े होंगे। क्रिंतु अगर एक लक्ष्य हो कि हमें ज्ञानमार्ग में चलना है, संसार के क्लेश कैसे मिटें, इसका उपाय खोजना है, इससे दिमाग में पितूर न आयेगा और न झगड़े होंगे। परन्तु रागबुद्धि जब तक है तब तक अनेक प्रकार के विवाद होंगे। हमें ऐसे क्यों नहीं पूछा? हमारा सम्मान क्यों नहीं किया, इससे कितने ही तरह के झगड़े होंगे। यहाँ की तो नद्री कह रहे हैं। यहाँ के तो बड़े भले लोग हैं पर प्रायः ऐसा होता है। सब जगह प्रायः हिसाब-किताबों में झगड़े होते हैं। ये झगड़े क्यों होते हैं, उनका लक्ष्य एक नहीं है। जहाँ एक आत्महित का लक्ष्य हो जाय वहाँ धर्म के जगह पर कलह होने की कुछ गुंजाइश ही नहीं है। विवेक में तो वात्सल्य गुण बढ़ता है न कि विरोध भाव बढ़ता है। हमारा काम, आत्मा का काम केवल ज्ञातादृष्टा रहना है। यह काम स्वरसतः आत्मा में होता है। इससे अतिरिक्त संकल्प-विकल्प सब दोष है, कलंक है इस जीव पर। आकिञ्चन्य एक अमृत भावना है।

भैया ! सरकार की आपत्तियों के बीच, समाज की, परिवार की, आपत्तियों के बीच सर्वत्र इस आकिञ्चन्य भाव की दृष्टि हो जाय तो यह सद्भाव अचूक औषधि का काम करता है। यहाँ यह देखिये कि मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ, इसके साथ तो कोई जाल ही नहीं लगा है। ऐसी स्वरूप की दृष्टि समझने का कारण बनता है। यहाँ तो कोई रोड़ा ही नहीं है, कोई अटकव ही नहीं है, खुला हुआ मार्ग है सुखी एवं शांत होने का। सर्व संकट, सर्व जाल एक साथ समाप्त हो जाते हैं। परन्तु जब आत्मा के स्वभाव की दृष्टि नहीं होती है तब दृष्ट अनिष्ट रागद्वेष पक्ष सब धर कर जाते हैं, और जहाँ कुछ पक्ष पड़ गया घर में, पुत्रों में, मित्रों में, इज्जत में तो उस पक्ष में फिर क्लेश ही रहता है। वहाँ वस्तु स्वरूप का परिचय ही अपना भला कर सकता है।

पक्षभाव में बुद्धि की विपरीतता—एक हंस हंसनी थे। सफेद होते हैं हंस, चले जा रहे थे। रास्ते में हो गई शाम, सो कौवों के घर में ठहर गये। कौवों ने ठहरा लिया। जब सुबह हुई तो हंस हंसनी चले। कौवे आ गये सामने, कहा—कहाँ जाते हो? रातभर तुम्हें ठहरने दिया और हमारी स्त्री भगाए लिये जा रहे हो। हंस ने कहा यह तो हमारी स्त्री है। तुम तो काले हो और हमारी स्त्री गोरी है। तो कौवा बोलता है क्या यह जरूरी है कि काले पुरुष की स्त्री काली ही हो? हंसनी को छुड़ाने लगा, अब हंस क्या करे? कहा न्याय करा लो। न्याय करने को ५ कौवा बैठ गये। दो भये हंस की ओर और दो भये कौवे की ओर एक हो गया सरपंच। सब विरादरी के ही लोग थे। दो ने कहा कि यह कौवा की स्त्री है। दो ने कहा यह नहीं हो सकता है, यह तो हंसनी है। अब निर्णय रहा सरपंच पर जैसा निर्णय दे दे। थोड़ी देर में सरपंच कहता है कि यह स्त्री तो कौवा की है। जो कौवा लड़ रहा था वह बेहोश होकर गिर पड़ा। कौवे लोग पूछते हैं—तुम क्यों बेहोश हो गये? तुम्हारे तो पक्ष में मामला आया है। बोला—मैं इसलिये बड़ा दुःखी हुआ कि पहिले मैं अन्याय पर उतारूँ था। क्या कौवे यह नहीं जानते हैं कि यह कौवनी नहीं है, यह हंसनी है? अब जो सरपंच था वह भी अन्याय कर गया सो बड़ा विवाद हुआ है। भैया ! किसी प्रकार का पक्ष आ जाय तो वहाँ बुद्धि व्यवस्थित नहीं रहती है, क्योंकि ज्ञान का सम्बन्ध जब किसी राग और द्वेष के साथ होगा तो वहाँ शुद्ध स्वरूप की खबर कहां रह सकती है?

आत्मधर्म के पर्युषण में आत्मलाभ—पर्युषण पर्व की उपासना करना है तो चाहे किसी भी स्थिति

आये, पर शुद्ध स्वरूप का दर्शन बना रहे। सम सन्मार्ग पर चाहे न चल सकें, पर सत्यपथ के निर्णय से तो हम विचलित न रहें। मैं अकिंचन हूँ। देह भी मेरा नहीं है। मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसा जानकर आत्मा की श्रद्धा, आत्मा का ज्ञान और आत्मा का आचरण करो, यह अकिंचन्य भाव है। दसलाक्षणी का आज रिजल्ट है। ब्रह्मचर्य तो सिद्धि है। अकिंचन्य की साधना पर परम ब्रह्मचर्यकी सिद्धि निर्भर है। भैया! बाह्य पदार्थों से मनुष्य की महिमा नहीं होती। वहाँ वह जो कुछ भी कर डालता है केवल राग के कारण। जो भी काम करो अपनी आत्मा के कल्याण के लिये करो। जहाँ भगवान की पूजा करते हो, वहाँ भी वह तुम अपना ही काम कर रहे हो। जहाँ भक्ति करते हो वहाँ भी अपना ही काम करते हो। मैं अकिंचन हूँ। भगवान का आदर्श स्वतन्त्र सुखपूर्ण भाव की स्थिरता के लिये है। आत्मा स्वतन्त्र और महान् है। वह दूसरी वस्तुओं के कारण बड़ा नहीं हो सकता। कुबुद्धियों की दृष्टि में कुबुद्धि ही बड़ा हो सकता है परन्तु ज्ञानी की दृष्टि में तो ज्ञानीजन ही बड़े हो सकते हैं। वे ज्ञान को बड़ा मानते हैं, धन को बड़ा नहीं मानते। ज्ञानस्वभाव ही अमृत है, वह सदा रहने वाला है। इसलिये ज्ञानियों की दृष्टि केवल ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप की दृष्टि में रहती है। बड़े-बड़े पापी भी ज्ञानामृत पीकर पवित्र बन जाते हैं। एक निज आत्मा की श्रद्धा बिना कोई पवित्र एवं महान् नहीं बन सकता।

स्वयं के लिये स्वयं की महत्ता—एक पुरुष बड़ा पापी था। उसकी पत्नी ने उससे कहा कि देखो आप केवल एक काम करो और मैं तुमसे नृच्छ नहीं कहती। उसने एक बट्टी दी और वहाँ—देवता यह है, इसकी रोज पूजा कर लिया करो और पूजा करने के बाद पाप कर्म २४ घण्टों के लिये छोड़ दिया करो। पति ने सोचा यह तो बहुत सरल बात है सो वायदा कर लिया। उसको यह बुद्धि नहीं आई कि इस प्रकार तो मेरा पाप जिन्दगी भर के लिये छूट गया। खैर, वह रोजाना ही पूजा करने लगा और पूजा के बाद २४ घण्टों के लिये पाप छोड़ देता। चावलों से वह पूजा किया करता। एक दिन वह पूजा कर ही रहा था कि एक चूहे ने वे चावल खा लिये। तब वह सोचने लगा कि ये देवता बड़े नहीं हैं, बड़ा तो यह चूहा है जो ये चावल खा सकता है।

अतः वह नित्यप्रति चूहे की पूजा करने लगा। एक दिन बिल्ली चूहे पर झपटी, तब वह समझने लगा कि अब तो पूजा के योग्य यह बिल्ली है, अतः वह बिल्ली की रोजाना पूजा करता और बाद में २४ घण्टे के लिये पाप छोड़ देता। एक दिन कुत्ता आया और वह बिल्ली पर झपटा। तब वह समझा कि अब तो कुत्ता ही बड़ा है और कोई बड़ा नहीं है। यह समझकर कुत्ते की पूजा करने लगा और पूजा के बाद २४ घण्टे के लिये पाप छोड़ देता था। एक दिन जब वह खाना खा रहा था, वह कुत्ता रसोईघर में घुस गया तो उसकी स्त्री ने बेलन की मार दी। कुत्ता भाग गया। अब उसके विचार आया कि अब तो स्त्री ही कुत्ते से बड़ी है, इसलिये वह स्त्री की ही पूजा उन्हीं चावलों आदि उपकरणों से किया करता था। पूजा के बाद २४ घण्टों के लिये पापकर्म छोड़ देता था। कुछ दिनों बाद स्त्री को धमंड हो गया कि हमारी तो देवताओं की तरह पूजा होती है। एक दिन पति जब खाना खाने बैठा तो साग में उसे नमक अधिक लगा। उसने पत्नी से कहा कि आज साग में नमक अधिक कैसे हो गया? पत्नी ने कहा कि हो गया होगा, हाथ ही तो है। पति को गुस्सा आ गया और तीन-चार तमाचे स्त्री के मार दिये। स्त्री रोने लगी। तब वह सोचने लगा कि अरे, मैं ही तो संसार में बड़ा हूँ। मैं कहां-कहां भटका, बड़ा तो मैं ही हूँ। इसी तरह यह जीव भी संसार में न जाने कहां-वहां भटकता है? कुछ भी देखो, सुनो, कहीं भी जाओ, अपने आपमें यही ज्ञानस्वभाव आत्मा बड़ा मिलेगा। जगत् में कोई पदार्थ इससे बड़ा नहीं मिलेगा। यही सभी प्राणियों की व्यवस्था है। जैसे-जैसे अपने में अकिंचनभाव पैदा किया जायेगा बाह्य पदार्थों से ममत्तभाव दूर किया जायेगा। जैसे-जैसे इसी से ज्ञान भी बढ़ता जाएगा और महान होता जायेगा।

अपने को बाह्य की ओर से अकिंचन मानने में अपना महत्त्व—भैया! सब कुछ पाकर भी

अपने को ना कुछ समझो। धन पाया, कुटुम्बपाया, प्रतिष्ठा पाई, नाम पाया, रुब ही कुछ तो पाया परन्तु कहीं भी मुख शांति न मिली—सदैव उनके वर्तमान में, रक्षण में आकुलित ही तो बने रहे। अब जरा मन में यह श्रद्धा तो कर लो कि ये मेरे कुछ भी नहीं हैं, मैं तो अकिञ्चन हूँ। देखें कैसे सुख नहीं होता? अवश्य होगा। आकिञ्चन्य किसे कहते हैं? सर्व परिग्रह के त्याग का नाम आकिञ्चन्य है। मैं जगत् में बाह्य पदार्थों को नहीं करता, मेरा जगत् में कुछ भी बाह्य अर्थ नहीं, अपने आप ही कर्म को निमित्त मात्र पाकर उठने वाली तरंगें राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि ही मेरे नहीं हैं, जिनमें से मैं गुजर रहा हूँ। अपने आपके भी परिणमन से जो रहता है उसमें भी आत्मवृद्धि नहीं करते, ऐसे सम्यग्ज्ञानी परिग्रह का त्याग करके आकिञ्चन्य व्रत के पालक कहलाते हैं। यह धर्म आत्मा के शुभ ध्यान रूप होता है और इसकी शक्ति को प्रकट करता है। ममत्व परिणाम को त्याग करना ही आकिञ्चन्य व्रत है। अपने आपको जगत् का कुछ मानना दरिद्रता है और मेरा जगत् में कुछ नहीं है ऐसा मानना अपनी श्रीमत्ता है। एक जगह लिखा है कि दरिद्रता क्या है? दरिद्रता है असन्तोष। जहाँ सन्तोष है वहाँ श्रीमत्ता है जहाँ असन्तोष है वहाँ दरिद्रता है।

सदा सन्तोष कर प्राणी अगर सुख से रहा चाहे।

घटा दे मन की तृष्णा को अगर दुःख से बचा चाहे ॥

संतोष भाव से दरिद्रता का विनाश—एक फकीर को एक पैसा मिल गया। उसने उस पैसे को लेकर यह निश्चय किया कि जो सबसे गरीब होगा उसको यह पैसा दे दूंगा। वह गरीब को ढूँढने लगा। कोई भी ऐसा गरीब उसे न मिला। एक दिन एक नगर का बादशाह एक दूसरे राजा पर चढ़ाई करने और उसका राज्य छीनने जा रहा था। उस फकीर ने पूछा तो पता लगा कि वह किसी राजा का राज्य छीनने जा रहा है। उसने अपना पैसा उस बादशाह के हाँदे में डाल दिया। बादशाह ने जब देखा तो उससे पूछा कि तुमने मेरे पास यह पैसा क्यों डाला है? तो उसने उत्तर दिया कि—महाराज! हमें यह पैसा एक स्थान पर मिल गया था, हमने यह विचार कर रखा था कि जो सबसे अधिक गरीब आदमी हमको मिल जायेगा उसको यह पैसा दे दूँगे। आप ही हमको सबसे अधिक गरीब नजर आये। बादशाह ने पूछा कि हम कैसे सबसे अधिक गरीब आदमी हैं? हमारे पास इतना बड़ा राजपाट, इतने नौकर-चाकर, इतनी रानियाँ, इतनी बड़ी सेना आदि सब तो हैं। फिर हम कैसे गरीब हुये? तब वह फकीर बोला कि महाराज! इतना सब कुछ होत हुये भी आप एक गरीब राजा का राज्य हड़पने जा रहे हैं, फिर आप गरीब नहीं तो और क्या हैं? राजा की समझ में यह बात आ गई और उसने तुरन्त अपनी सेना को लौट जाने का आदेश दिया। उस फकीर के पैसे ने उसे धनी बना दिया। संतोषपना ही धनीपना है। इसलिये जो कुछ तुम्हें मिला है उसमें सन्तोष करो। जो कुछ तुम्हें मिलता है, उसके विभाग करके काम में लाओ। कुछ खाने के लिये रखो और कुछ धर्म में लगाओ। उसी में पूर्ण सन्तोष रखो। सन्तोष के सिवाय शांति का मार्ग और कोई नहीं है। यह आकिञ्चन्य व्रत मान लो रत्नत्रय का ही पिंड है। जहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य प्रकट होते हैं वहाँ ही उत्तम आकिञ्चन्य व्रत होता है।

आकुलता के समागमों से दूर रहने में ही आत्महित—इन्द्रियों के वश होकर जो अपने विषय कषायों में विकार उत्पन्न करता है, उन विभावों को संयमित करना, दूर करना, आत्मध्यान करना सो आकिञ्चन्य व्रत है। देखो भैया! इन्द्रियों के दास रहने में चाहे इस भव में सुखी हो लें, परन्तु परमव में दुर्गति से कौन बचायेगा? इसमें उत्तम यही है कि संयम कर लें, आत्म स्थिरता पा लें, और यदि विचार करके देखो तो भैया, इन्द्रिय के विषय यहाँ भी सुखदायी नहीं हैं। उनके प्राप्त होने से पहले आकुलता, उनके काल में आकुलता और उनके गद में आकुलता और जहाँ आकुलता है वहाँ सुख शांति कहाँ? एक बार एक राजा ने अपने दरबार में एक

प्रतिष्ठित साधु को जङ्गल से बुलाया। उस साधु ने सोचा कि नहीं जाऊंगा तो राजा उपद्रव करेगा। अतः चलना ही ठीक है, किंतु कुछ सोचकर अपना मुंह काला करके गया। राजा ने पूछा कि आप काला मुंह करके क्यों आये? साधु ने उत्तर लिया—प्रहाराज! इस तरह दरबारों में आने से, अपनी सेवायें इस तरह से कराने से इस भव में काला मुंह नहीं करूंगा, तो हमें परभव में काला मुंह करना पड़ेगा। इसलिये परभव के काले मुंह से डरकर मैं इसी भव में काला मुंह करके आया हूँ। राजा के दिल में यह बात बैठ गई और उसने उस दिन के बाद कभी किसी भी साधु को अपने दरबार में नहीं बुलाया। इसलिये जो यह ध्यानता है कि यह कुछ मेरा है, उसका कुछ भी नहीं रहता और जो कहना है कि जगत् का कोई पदार्थ मेरा नहीं है, वह महान् बन जाता है। उस महान् आत्मा का ममत्व धन में नहीं होता। उसका ममत्व अपने ज्ञान में ही होता है और उसकी वृद्धि की ही तृष्णा होती है अर्थात् न ममत्व होता है, न तृष्णा होती है। घेरे पास तो कुछ भी नहीं रहेगा, सभी लोग ऐसा समझें।

ज्ञान के पर में हठ बुद्धि का अभाव—ज्ञानी के पर में हठ बुद्धि नहीं होती। ज्ञानी जन कोई शास्त्र पढ़ रहा हो और कोई दूसरा आदमी उससे वह शास्त्र मांगे तो वह कभी नहीं कहेगा कि मैं पहले पढ़ लूँ, फिर दूँगा अभी नहीं देता। अज्ञानी जन तो ऐसी भी धारणा बना लेते हैं कि मैंने यह विद्या सीखी है, अब मैं दूसरों को नहीं सिखाता, यदि सिखा दूँ तो वह भी मेरी बराबरी करने लगे। ज्ञानी जन तो यह सोचते हैं कि मैं स्वयं ही ज्ञान से परिपूर्ण हूँ। बाह्य पदार्थ से मेरा ज्ञान पूरा नहीं होता। वह शास्त्र दे दिया तब कुछ क्षण तो विकल्प हटाने का अवसर मिल गया। भाइयो! ये जितन भी बाह्य वैभव हैं कोई तुम्हारा साथ नहीं देगे। इसलिये इनका सदुपयोग करो। इमको मिटना तो है ही। चाहे तुम इनको छोड़ जाओ, चाहे ये तुमको छोड़ दें, वियोग तो होना ही है। सयुक्त वस्तु का वियोग तो नियम से होता ही है। इसलिये अपने तत्त्वज्ञान को बढ़ाओ और जगत् के बाह्य पदार्थ मिले ही हैं तो इनका सदुपयोग करो। दुनिया के विषयों से अपना मन हटाने से आर्किचन्य व्रत होता है। केवल ज्ञाता द्रष्टा रहने की ही परिस्थिति स्वाधीन सुख है। मैं स्वाधीन सुख से सुखी हूँ। स्वाधीन आनन्द की प्राप्ति के अर्थ चारों कषाय मंद करे सत्यव्रत का पालन करे। अब इसके फल में क्या होना चाहिये? अपने उस आर्किचन्य ज्ञान-स्वरूप का दर्शन होना चाहिये जिसके लिये यह सब पहिले से उपाय किया गया है।

समस्त जीवन में धर्म का पालन का कर्तव्य—ममाज में तो प्रायः ऐसा देखा गया है कि दसलाक्षणी जब गुजर जायगी तो पूने के सुबह में सभाटा हो जायेगा। ज्यादा समय न बीतेगा; बात यह करना है कि जितनी धर्म की वास्तविक ऊँची परिणति आप दस लाखों में कर सकते हैं इतनी वर्ष के ११ मह २० दिन में नहीं की जा सकती है तो उसका चतुर्थांश तो करो। वह तो प्रगति के लिये सामूहिक कार्य-क्रम से नहीं होता। धर्म का सम्बन्ध केवल अपने एकत्व से होता है, अकेलेपन से होता है। सो जो शेष बचे हुए महीने हैं उनमें इन दस धर्मों का प्रयोग यथाशक्ति करो। इन दस दिनों में तो मानों पाठशाला में धर्म पालन की बात सीखी। अब जो कुछ सीखा उसको प्रयोग करके देख डालें। ऐसा यदि कुछ कर सके तो फल है और न कर सके तो जो था सोई चल रहा है।

आर्किचणु आउचियेहि चित्त, पसरंतउ इंदिय वणिवित्तु ।

आर्किचणु देहणेहचित्त आर्किचण जं दे भवसुइविरत्त ॥

आर्किचन्य व्रत में इन्द्रिय विषयनिवृत्ति—यह आर्किचन्य व्रत इन्द्रिय बन में फँलने वाले मन को आकुञ्चित करता है, बस करता है। मन बस में हो तो ये इन्द्रियां बस में हों, और देखो संस्कृत जानने वाले समझते हैं पुरुष-लिङ्ग, और नपुंसक लिङ्ग। यह पुस्तक नपुंसक लिङ्ग है। यह मन नपुंसक लिङ्ग है। मनः, मनसी, मनांसि ऐसे रूप चलते हैं। ये इन्द्रियां ये अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं। मन विषय नहीं कर सकता। विषयों में प्रवृत्त होती हैं ये इन्द्रियों के पीछे-पीछे फिरता है। इस मन में वह वृत्ति नहीं होती है जो मन में है। और यह नपुंसक मन न

उनम आकिञ्चन्य धर्म

इम मन की स्तोड जब इन्द्रियां को प्राप्त होती है, तब ये इन्द्रियां उद्वत हो जाती हैं। इस कारण ज्ञान के सांकल से इस मनरूपी हस्ती को बांधने का प्रधान उपदेश दिया जाता है। आकिञ्चन्य भाव वहां है जहां इन्द्रिय विषयों की निवृत्ति है। देह की ममता का जहां त्याग है वहां आकिञ्चन्य व्रत है। सीधी बात है सबको भूल जायें और स्वाधीन आनन्द भोग लें। यदि किपी का स्थाल बनायें रहें तो क्लेश भोग लें।

विशुद्ध भावों का प्रभाव—भैया ! सारभूत निर्णय इतना है जिसे प्रयोग करके देख लें। कांई किसी को पालता पोषता नहीं है, किन्तु दूसरों का पुण्य प्रबल है तो उसके पुण्य का काम तो होना ही चाहिये ना ? सो उसकी दासता करनी पड़ती है। बच्चा होना है, कुछ दिनों का ही पंदा हुआ है। वह बच्चा शुद्ध है, पवित्र है, उसमें विकार नहीं है। पूर्व जन्म का पुण्य लेकर आया है। ताजा पुण्य है सो उसके पुण्य में उसका पिता, मौसा, चाचा, फूफा सब-कोई उस बच्चे पर निगाह रखते हैं, उसको खुश रखते हैं, हंसते हैं, उस बालक की नोकरी बजाते हैं क्योंकि ताजा पुण्य है। जब बच्चा बड़ा हो जाता है, विषय कषाय आ जाते हैं तो फिर उसे कौन पूछता है ? वह झंझटों में पड़ जाता है। इस लोक में अगना कोई शरण नहीं है। केवल अपने आकिञ्चन्य भाव का स्वीकार करना ही शरण है। इतनी बात अगर आई तो फिर इस लोक में क्या होगा ? जो धर्म मार्ग में रहेगा उसके लिये तो अपने आप ही पर-इतनी बात अगर आई तो फिर इस लोक में क्या होगा ? जो धर्म मार्ग में रहेगा उसके लिये तो अपने आप ही पर-मार्थ, सम्मान, पोजीशन, महत्त्व सब बढ़ेगा। देखो—लकड़हारे, घसियारे लोग कितना काम करते हैं और जो बड़े पुरुष होते हैं, कोई ऊंचे अफसर होते हैं वे केवल २-४ घण्टे कुछ देख सुन लेते हैं, मुंह-मुंह का केवल काम है। उन घसियारे, लकड़हारों को तो शरीर का भी काम है। यों ही यहां समझिये महत्ता काम करने से नहीं है। महत्ता शुद्ध भावों में है। जिनके भाव ऊंचे हैं, ऊपर के ढंग है वे ऊंचे पुरुष कहलाते हैं, और जिनकी वृत्तियां निम्न श्रेणी की हैं, अनुदारता की हैं वे इन लौकिक जनों की श्रेणी में रहा करते हैं। पवित्रता बढ़ती है तो आकिञ्चन्य भाव से बढ़ती है। इस आकिञ्चन्य भाव के बिना निरन्तर चिंता बनी रहती है।

स्वप्न की तरह विभ्रम में विडम्बना—किसी को स्वप्न आया कि मुझे ३ हजार रुपयों की थैली मिल गई है। तीन हजार रुपयों का भैया कितना वजन होता है ३७। सेर वजन होता है। अपने कंधे पर ३७। सेर वजन का थैला लिए जा रहा है। स्वप्न की बात बता रहे हैं। स्वप्न में न जाने क्या बात है कि शरीर के श्रम का स्वप्न आया है तो शरीर थक जाता है। श्रम कुछ नहीं किया, उसी जगह पड़ा है। कंधे पर लादे जा रहा है। सो उसका कंधा बहुत दुःखने लगा, उसके मारे नींद खुल गई। नींद खुलने के बाद रुपया तो कुछ नहीं रहा, पर कंधा दुःख रहा है, पर पाया कुछ नहीं। केवल वेदना ही हाथ रही। इसी तरह ये सारे रुमागम है, मिलता कुछ नहीं, पर आंतरिक वेदना शब्द संस्कार साथ ही जायेंगे। और श्रद्धावान् पुरुष हैं उनका कहीं कुछ नहीं है। ऐसी जो श्रद्धा है उससे उनके महान बल है। उनका डर खत्म हो जाता है डर यह है कि आज सम्पत्ति है, कल न रहे तो क्या होगा, नये-नये कानन बन रहे हैं। जमींदारी की तरह ये मकान छुटा लेंगे तो ? नाना प्रकार के विकल्प बने हैं। घय होता है, और जिसने अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप का निर्णय कर लिया है कि मैं तो ज्ञान मात्र हूं। न रहेगा कुछ तो न सही, जो स्थिति आयेंगी उसमें ही गुजारा करेंगे मुझे बड़ा न मानना तो इससे कोई नुकसान नहीं है। मैं तो ज्ञानमात्र हूं ऐसा शुद्ध बल प्राप्त हुआ है तो दुःख नहीं होता है और जिसको यह ज्ञानबल प्राप्त नहीं है उसे अपने आपका पता ही नहीं रहता, वह सोच सोचकर दुःखी हो रहा है। संसार के दुःखों से विरक्त होने का नाम आकिञ्चन्य व्रत है।

आकिञ्चन्य भाव में विरक्ति का आदर्श—एक नगर का राजा मर गया। मंत्रियों ने सोचा कि अब किसे राजा बनाया जाय ? तय कर लिया कि सुबह के समय अपना राजफाटक खुलेगा तो जो फाटक पर बैठा हुआ मिलेगा उसको ही राजा बनायेंगे। फाटक खुला तो वहां मिले एक साधु महाराज। उस साधु का हाथ पकड़ कर ले गये। तुम्हें राजा बनना पड़ेगा !... अरे नहीं-नहीं, हम राजा नहीं बनेंगे !... तुम्हें राजा बनाना ही पड़ेगा। उत्तारो

यह लंगोटी और ये राजाभूषण पहिने। साधु कहता है अच्छा अगर हमें राजा बनाते हो तो हम राजा बन जायेंगे पर हमसे कोई बात न पूछना, सब काम-काज चलाना। हां-हां, यह तो मंत्रियों का काम है, आपसे पूछने की क्या जरूरत है? सब काम चला लेंगे। उसने अपनी लंगोटी एक छोटे से संदूक में रख दिया और राजवस्त्र पहिन लिये। दो चार वर्ष गुजर गये। एक बार शत्रु ने चढ़ाई कर दी। मंत्रियों ने पूछा राजन्! अब क्या करना चाहिये? शत्रु एकदम चढ़ आये हैं। अब हम लोग क्या करें? साधु बोला अच्छा हमारी पेट्टी उठा दो। सब राजाभूषण उतारकर लंगोटी पहिन लिया फिर कहा हमें तो यह करना चाहिये तुम्हें जो करना हो करो, ऐसा कहकर चल दिया। यह प्रकृति की बात है, गृहस्थों में भी साहस होता है। बहुत सी घटनाओं में अरे रहने दो, क्या है हमारा, जाता है तो जाने दो। गृहस्थों में क्या कम बातें पायी जाती हैं?

आकिञ्चन्य भाव में सत्य का आदर—मुजफ्फरनगर में, जो कि मेरठ के पास है वहां एक सलेखचंद जैन थे। उनकी दुकान थी मनहारी की। सो उस दुकान का सेलर्टक्स का मुकदमा पहुंचा। वकील थे राजभूषण जी, वे भी जैन थे। जज ने पूछा की तुम्हारी दुकान कितनी बड़ी है तो वकील कहता है कि ७ फुट लम्बी और ४ फुट चौड़ी है। सलेखचंद कहते हैं कि और एक हाल भी है वकील ने सोचा कि देखो हम तो मुकदमा सम्हालते हैं और यह कहता है कि एक हाल भी है। जज ने पूछा कि दुकान में रोज कितनी बिक्री होती है? वकील साहब बोले कभी ५० रुपये की और कभी ६० रुपये की तो फिर सलेखचंद बोले हां कभी ५० रुपये की कभी ६० रुपये की, कभी २०० रुपये की और कभी ५०० रुपये की भी। कोई बहुत दिन पहिले की बात नहीं है। अभी १० वर्ष पहिले की बात है। वे तो गुजर गये अब। जज कहता है कि वकील साहब तुम कितना ही धुमाकर रहो, पर यह तो सच ही बोलने वाला आदमी है। जो उसने हिसाब दिया उससे भी घटा करके उससे सेलर्टक्स लिया। ऐसे चमकते रत्न विरले ही होते हैं, जो सच्चाई को लिये रहते हैं। यह सब आकिञ्चन्य भाव का ही, प्रताप है कि जो मूलतः सच्चाई का भाव रहे।

तिणमित्त परिग्गह जत्थ णट्थि मणिराउ विहिज्जइ तव अवत्थि ।

अप्पापर जत्थ वियार सत्ति पयडिज्जइ जहि परमेट्ठिभत्ति ॥

आकिञ्चन्य धर्म की उपासना के अभाव में भ्रमजन्य विडम्बनायें—जहां तृणमात्र भी परिग्रह न हो नहीं ही आकिञ्चन्य ब्रत होता है। जहां आकिञ्चन्य ब्रत है वहां स्व और पर का भेदविज्ञान होता है। देखिये भ्रम का कुछ भी तो मामला नहीं और मामला उतना बड़ा बन गया कि मनुष्य था अब मरकर पेड़ हो गया। तो अब पसरे पत्ती-पत्ती डाली-डाली। पत्तों की तरह से पसरे जो उस पेड़ की नसें, डालें हैं उन रूप फेले। ज्ञान का तो विकास वहां कुछ है नहीं। कीड़े मकोड़े हो गए तो फिर इधर-उधर। वहां तो वित्कुल विवशता हो जाती है। इतने संकट इस जीव पर बढ़ गये हैं, किन्तु बात कुछ नहीं है। जैसे कमी कोई झगड़ा व्यर्थ का बन जाय तो उसमें मूल बात कुछ नहीं है, पर झगड़ा कितना बढ़ गया? इसी तरह मामला कुछ नहीं है पर के साथ, सब अपने-अपने स्वरूप में हैं, पर जो विकल्प किया, सो ऐसा गहरा मामला बन गया कि अब दुख हो रहा है।

भ्रम में संकटों का भोग—दीपावली के दिन थे। दीपावली को पुताई होती है, तो गेरुये रंग से भी पुताई होती है। तो एक सेठ जी थे। उनके घर में गेरुये रंग की पुताई हो रही थी। शाम को पुताई करके सेठ की लड़की ने गेरुये रंग से भरा लोटा सेठ जी के नीचे रख दिया। सेठ जी को सवेरे ही लोटा ले जाकर शौच जाने की आदत थी। सो सुबह वही लोटा लिया और शौच चले गये। सो वह गेरुये रंग का लोटा था। वह तो लाल-लाल होता है ना? जब शुद्ध करने लगे तो एकदम दिल में धक्का पहुंचा, हाय भेरे कितना खून निकल गया? जब और अधिक भ्रम हो गया तो सोचा हाय, यह तो लगभग आधा सेर खून निकल गया। जब भ्रम हो जाता है तो शक्ति

घट जाती है। सेठ जी तुरन्त घर पहुँचे। बड़े जोर से बीमार हो गये। अचानक की बीमारी कैसे ठीक हो? सेठ जी तो बीमारी में पड़े हैं। अब जब सूर्य चढ़ा तो लड़की ने पूछा, दहा वह गेरुये रंग का लोटा कहाँ है, जो हमने पुनाई करके आपकी खाट के नीचे रख दिया था। सेठ ने सोचा अरे वह गेरुये रंग का लोटा था? लो सब बीमारी खत्म हो गई। वह तो बीमारी भ्रम की थी, हाय खून निकल गया। जब जाना कि वह तो गेरुवा रंग था, तबियत अच्छी होने में देर नहीं लगी। तो केवल भ्रम करके और कल्पनायें करके ही तो इस जीव का दुःख हो जाते हैं, और तनिक ठीक बात ज्ञान की सही आ जाय तो ये सारे बनावटी संकट हैं, बनावटी बीमारियाँ हैं वे सब दूर हो जायें। ज्ञान होता है तो बीमारी खत्म हो जाती है, आत्मा में बीमारी कहाँ है? दुःख कहाँ है? ये तो सब बनावटी चीजें हैं। ज्ञानमात्र आत्मा की मुझे पहिचान होनी चाहिये फिर सारे दुःख मिट जाते हैं। जहाँ आकिञ्चन्य भाव का परिणाम आया वहाँ सारी वेदना समाप्त हो जाती है।

नैर्ग्रन्थ में आकिञ्चन्य धर्म—जहाँ तृणमात्र भी परिग्रह नहीं अथवा तृणमात्र में भी मूर्छा नहीं है, वहाँ ही आकिञ्चन्य व्रत है। कहा भी है—“फांस तनिक सी तन में साले, चाह लंगोटी की दुःख भाले” एक लंगोटी का धारण करना भी मोक्ष मार्ग को रोक दिया करता है। भैया! बिना मुनिलिङ्ग धारण किये मोक्ष हो ही नहीं सकता। जहाँ तृणमात्र भी परिग्रह नहीं, वहाँ अकिञ्चन्य व्रत है। ये नग्न दिगम्बररूप जो मुनि हैं वे आकिञ्चन्य व्रत की मूर्ति हैं। यदि सुखी होना है तो सब परपदार्थों को छोड़ो और अपने आपमें आकिञ्चन्य भावरूप अमृत को पाओ। कई लोग कहते हैं कि नङ्गा होना बुरा है, परन्तु वह बुरा तभी है जबकि उस नग्न हो जाने में विकार आ जाये। विकार नहीं आये और नग्न हो जाये तो वह बुरा नहीं है। अविकारी रूप से नग्न होकर बताओ और फिर कहो कि नग्न होना बुरा है। अविकारी रूप से जो नग्न दिगम्बर साधु होते हैं, वे वास्तव में साधु कहे जाते हैं। पहले जमाने में १०-१० वर्ष के बच्चे भी नंगे फिरा करते थे और ७-८ वर्ष की बच्ची नंगी फिरा करती थीं, परन्तु आज तो छोटे-छोटे बच्चों को भी नंगे नहीं फिरने दिया जाता। पहले तो उसके नंगे रहने में किसी प्रकार का विकार पैदा नहीं होता था, परन्तु अब वातावरण दूषित होने से विकार का भाव पैदा होने के कारण नंगे नहीं फिरने दिया जाता। बड़े-बड़े लोग कहते हैं कि नंगा होना बुरा है, यही भाव बच्चों में है। आज तो लोगों को विकार जरासी बात में हो जाता है। यह विकार आकिञ्चन्य भाव के अभाव में प्रकट होता है। नग्नरूप का दिख जाना, यह विकार का कारण नहीं। विषयेच्छा ही विकार का कारण है। जहाँ तृणमात्र भी परिग्रह नहीं, वहाँ ही आकिञ्चन्यव्रत होता है।

पर से भिन्न अकिञ्चन आत्मनिधिसम्पन्न ज्योति की उपासना में आकिञ्चन्य धर्म—जहाँ आत्मा और परका भिन्न-भिन्न विचार प्रगट हुआ वहाँ आकिञ्चन्यव्रत होता है। यदि आत्मा विषयवशार्थों के दुःख से मर रहा है तो सर्व पदार्थों को त्याग दो और अपने आपकी, आत्मा की रक्षा करो। सर्व पदार्थों से त्याग के बिना सुख हो ही नहीं सकता। आज की यह आकिञ्चन्य भावना परम अमृत भावना है। सुख इस भावना के मानने से ही मिलेगा। जहाँ परमेष्ठी की भक्ति की जाती है वहाँ आकिञ्चन्य व्रत के पालन करने वालों की ही स्तुति हुई और उनकी क्या स्तुति हुई? आकिञ्चन्यगुण की स्तुति हुई, उसकी रुचि हुई और रुचि होने से वहाँ ही आकिञ्चन्यव्रत होता है। आकिञ्चन्यव्रत का धर्म अकिञ्चन के ही उपजेगा, सकिञ्चन के नहीं उपजेगा। जगत् के अन्दर जो चाहेगा कि बाह्य वस्तु मेरी है, उसके हाथों में दुर्गति ही मिलेगी। जहाँ बाह्य वस्तुओं का त्याग किया जाता है वहाँ ही आकिञ्चन्य धर्म प्रगट होता है। जहाँ तुच्छ संकल्पों का त्याग किया जाता है, वहाँ ही आकिञ्चन्य धर्म प्रगट होता है। इसी आकिञ्चन्य भावना के प्रभाव से तीर्थंकर मोक्ष गये।

दस धर्मों के नामक्रम में स्वभावविकास के आविष्कार की पद्धति का दर्शन—ये दस धर्म क्या

है ? पहले क्रोध का त्याग कराया, फिर मान, माया, लोभ का त्याग कराया, फिर सत्य, संयम, तप, त्याग और आकिंचन्य बताये उससे क्या किया ? ब्रह्मचर्य पाया, आत्मा की स्थिति पाई, आत्मा का मर्म पाया, आत्मा का शुद्धरूप पाया। यह कैसे हुआ ? एक प्रयोग करो। एक आतशी शीशे का कांच लाओ। यदि उससे रई जलानी हो तो सूर्य के सामने कांच को इस तरह रखो कि सूर्य की किरणें उस पर केन्द्रित हो जावें, इसे ही संयम कहते हैं। संयम इस शीशे में आये तो शीशे से ताप पैदा होता है। उस ताप की गरमी से यह असर होता है कि उस रई में जो मलिनता है उसका त्याग होने लगा। त्याग से आकिंचन्य आया, अब रई में मलिनता कुछ भी नहीं रही, यह तो उसका ब्रह्मचर्य है। अब इस प्रयोग को अपने में घटाओ। क्रोध, मान, माया, लोभ के त्याग से सत्य अपनाओ और ज्ञान को केन्द्र में केन्द्रित करो। इस प्रकार संयम पैदा होगा, उस संयम से चैतन्य प्रतपन पैदा हो गया। उस तप से रागादि, द्वेष आदि आत्ममैलों का त्याग हो गया। इसके त्याग होने से आकिंचन्य रह जायेगा अर्थात् केवल आत्म-स्वभाव रह जायेगा और कुछ भी उसके पास नहीं रहेगा। ऐसे आकिंचन्य होने के बाद ब्रह्मचर्य में अपने आपकी शुद्ध स्वभावरूप उसकी स्थिति हो गई। इस प्रकार ब्रह्मचर्यमय धर्म आकिंचन्य से प्रगट हो जाता है। अतः आकिंचन्य धर्म का सदा आदर करना चाहिये। अर्थात् मैं दूसरों का नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं हैं, मैं एक ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा सदैव ध्यान रखना चाहिये।

जह छडिज्जन्द संकप्प दुट्ठ भोयण बंछिज्जइ जह अणिट्ठ ।

आकिंचण धम्मजि एम होइ तं झाइज्जइ णरु इत्तुलोइ ॥

संकल्पमात्र के त्याग में आकिंचन्य धर्म—जहाँ पर सदा के लिये दुष्ट संकल्पों का त्याग किया जाता है वहाँ आकिंचन्यधर्म है। जहाँ रुचिकर भोजन का त्याग है वहाँ पर आकिंचन्य व्रत है। सर्व दुःख अज्ञान से हो जाते हैं। कामना, काम करना, कितनी-कितनी तरह की परेशानियाँ हैं पर २४ घण्टे में लगभग १५ मिनट के लिये ऐसा आत्मस्वरूप का चिन्तन करो कि सबको भूल जाओ, यह समझो कि ये भिन्न चीजें हैं, असार हैं। इतना ज्ञान हो जाये तो सारी परेशानियाँ समाप्त हैं। आपका घर वही है, वैभव वही है, सब बातें वही हैं। सब कुछ करते हुये भी कभी १५ मिनट तो सबको भूलकर अपने आप उस प्रभुत्ता के दर्शन करो। इतना साहस बना लो तो क्या विगड़ता है ?

एहुज्जिपहावे लद्धसहावे तित्थेसर सिवणयरिगया ।

ते पुण रिसिमारो मयण वियारा वदणिज्ज एतेण सया ॥

इस आकिंचन्य धर्म के प्रभाव से तीर्थंकर मोक्षरूपी नगरों को प्राप्त हुए हैं। ऋषिजन सदा इस आकिंचन्य प्रभु स्वरूप की आराधना करते हैं। इसी कारण प्रभु और ऋषिजन सब मेरे बंदनीय हैं।

दुःख में सभारता के अनुभव का बोझ—दुःखी होते हुए मनुष्य अपने में अन्दर से कुछ बोझ का अनुभव करते हैं, यह बात किसी को छिपी नहीं है। किसी तरह से दुःख आया हो उसमें भीतर से यही महसूस किया जाता है कि मेरे पर तो बड़ा बोझ है। चाहे इष्ट वियोग का दुःख हो, चाहे अनिष्ट संयोग का दुःख हो, चाहे वेदना का दुःख हो, समस्त क्लेशों में यह जीव अपने को भारयुक्त अनुभव करता है। घर में और दुःख किस बात का ? आप अपने को ऐसा बोझ वाला अनुभव करते हैं कि मेरे पर इतने लोग लदे हैं। प्रयोजन यह है कि सब दुखों में बोझ की बात जरूर आती है। अब जरा अपने आप में यह निर्णय करना है कि बोझ यह मिथ्या है या सचमुच का है ? मैं क्या हूँ—यह निर्णय किये बिना हम शान्ति का मार्ग नहीं प्राप्त कर सकेंगे और न समस्या का सही हल कर सकेंगे। मैं क्या हूँ—इस यदि परखना है तो सभी पदार्थों के स्वरूप परखने की जो विधि है वह विधि यहाँ भी लगाओ। देखिये—चौकी का असली रूप क्या है ? इसे आप इस तरह समझिये कि अपने आप में जो कुछ हो, न उस पर रंग

ही, न कोई उस पर आवरण हो और अपने आप में जो कुछ हो बस वही चौकी का अदली रूप है, ऐसे ही आत्मा की भी बात देखिये—आत्मा में अपने आप स्वयं अपने ही सत्व से जो कुछ हो वही मेरा स्वरूप है। क्या है स्वरूप ? केवल एक ज्ञानज्योति, एक ज्ञानप्रकाश। इस देह देवालय में विराजमान जो परमब्रह्म है वह एक ज्योतिर्मय है, ज्ञानस्वरूप है, प्रतिभासमात्र है। जानना जिसका कार्य है बस वही मैं आत्मतत्त्व हूँ।

गृह, परिजन, देह, कर्म, कर्म फल के भार से रहित अन्तस्तत्त्व की भावना—मुझ पर घर का बोझ नहीं, घर तो ईंट पत्थर का है, वह मेरा नहीं। मुझ पर परिजनों का बोझ नहीं, अंदर से सोचो—परिजन दूसरे जीव हैं, अपने-अपने कर्म लिये हुए हैं, अपने उदय से उनका कार्य होता है। तेरीतो पहिचान ही नहीं उनसे। तूने मोह में मान रखा है कि मेरा इनसे परिचय है। जैसे जगत के अन्य जीवों से आपका कोई परिचय नहीं है ऐसे ही घर में बसने वाले जीवों का आपको कुछ परिचय नहीं है। आपने तो जैसा मन में आया वैसा सोच रखा है। इन परिजनों का भार भी इस आत्मतत्त्व पर नहीं है। शरीर में बंधे हैं आप, मगर थोड़ी देर को इस शरीर को भूलकर केवल एक विश्राम से बैठ जाये, खुद में, जब शरीर का पता ही न हो कि मेरे कोई शरीर लगा है, उस समय अनुभव करके देखो कि इस आत्म स्वरूप पर शरीर का भी बोझ नहीं है। अपने परमब्रह्म अंतस्तत्त्व की बात कही जा रही है जो सबके अंदर मौजूद है और जिसके दर्शन बिना धर्म के नाम पर कितने ही हाथ पैर पटक लो, पर धर्म न होगा कर्म न कटेंगे, कल्याणमय परमशिव अंतस्तत्त्व की बात कही जा रही है। इस पर शरीर का भी बोझ नहीं है पर देखते हैं तो एक बड़ा बोझ मालूम देता है। जब हम इनमें विशेष ममता रखते हैं तो और बोझ लगने लगने लगता। हमारा उपयोग जब शरीर में आता है तो उससे बोझ मालूम होता है। इस अमूर्त गगनवत् दिलीप अंतस्तत्त्व पर बोझ किस बात का ? इस पर कर्म का भी बोझ नहीं है, बन्धन है, निमित्तनैमित्तिक भाव है। कर्म के फल में जब कुछ अपना उपयोग लगाते हैं तो बोझ कर्म का होता ही है। हम कर्म के फल को न चाहें तो मुझ पर कर्म का बोझ अब भी नहीं है और रहा सहा जो बोझ है वह सब मिट जायगा। हम बोझल बनते हैं अपने विकल्पों द्वारा। जैसे एक दोहा है ना—‘हाले फूले ने फिरे, होत हमारो व्याव। तुलसी गाय बजायके देत काटमें पाव ॥’ याने अपने आप में विपत्ति ले लेना—यह बात अन्दर अन्दर चल रही है। हम कर्म के फल में रुचि बनाते हैं, तो कर्म का बोझ लद जाता है। एक जगह लिखा है कि लोगों को कर्म फल देते हैं, क्या फल है कर्म का ? जीवन न रहे या धन वैभव न रहे। दोनों बातों से लोग डरते हैं। मेरा जीवन मिट न जाय। मेरे धन वैभव में कहीं घाटा न आ जाय, दो बातों से डरते हैं, और यदि एक ऐसा ज्ञानामृत का पान हो जाय, ज्ञानप्रकाश में आ जाय, जिससे कि अपनी सम्हाल बन जाय कि मैं स्वयं पूर्ण हूँ, अपूर्ण हूँ ही नहीं, तो डर किस बात का ? मैं स्वयं आनन्दमय हूँ। डर तो है ही नहीं। इसका अन्तः परिचय बनता है तो यह हिम्मत बनती है कि जीवन जाय तो जाय। मेरी भावना में कह तो देते हैं कि लाखों वर्ष तक जीवू या मृत्यु आज ही आ जावे, और पैर में कहीं काट खाये चींटी तो झट घबड़ा जाते हैं, अरे चींटी का ख्याल क्यों करते ? बोलने की बात और है और अन्दर सामने की बात और है।

अकिञ्चन अतुलनिधिनिधान अन्तस्तत्त्व की भावना—मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, यह बात जब समायगी तब ज्ञानमय आत्मा अपने आपसे परिचित हो जायगा। ये दिखने वाले परपदार्थ मेरे कुछ नहीं लगते, ये कोई मेरे प्रभु है क्या ? जो आपका प्रेमपात्र हो ऐसा पुत्र भी आपके लिए कुछ नहीं है, आपके लिए शरणभूत नहीं है, बल्कि बरबादी का हेतुभूत है। उसका आश्रय करके राग होता है। हम प्रतिक्षण मरते जा रहे हैं, पर उस मरण की ओर दृष्टि नहीं करते। जहां पापमयी परिणाम बना, वहां पाप बना, जहां द्वेष हुआ वहां पाप बना, अपना जो ज्ञानज्योति स्वरूप है वह बरबाद हो रहा है, इस मरण की कुछ सुध नहीं लेता, और उस मरण का ख्याल कर रहे कि एक दिन होगा जब कि इस शरीर को छोड़कर जाना पड़ेगा। अरे उस मरण से भी इस रोज-रोज का मरण बड़ा भयंकर है। एक

बार का मरण कोई भयंकर नहीं है, उससे आत्मा की कोई हानि नहीं है। शरीर छूट गया, चला गया इससे कोई हानि नहीं। जैसे आपसे कहें कि आप वहाँ बैठ जाओ, तो आप झट वहाँ से उठकर बैठ जाते हैं, आपको इसमें कोई कष्ट तो नहीं होता, ऐसे ही आपसे कोई विधि कहे कि आप इस शरीर को छोड़कर इस शरीर में आ जाओ तो इसमें आपको क्या कष्ट ? मरण में क्या नुकसान ? लेकिन जो २४ घंटे रात दिन रागद्वेष मोह करके अपने प्रभु को मलिन कर रहा है वह मरण बरबादी का कारण है। तो जब तक अपने अकिंचन स्वरूप निःसंग स्वरूप सर्वभावों से रहित केवल ज्ञानज्योतिमात्र अपने आपके स्वरूप का निर्णय न होगा तब तक धर्म की बाह्य बातें कपोलवाद है। अनुभव करें अपने आपको कि मैं कृतार्थ हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, मेरे को कोई काम नहीं पड़ा, मेरे ये कोई क्लेश की बात नहीं। हिम्मत बनाओ कौसी भी समस्या आये तो उसका स्वागत करें आती विपत्ति तो आने दो, परिश्रम होते हैं तो होने दो। कदाचित् मरण भी हो जाये तो उससे क्या नुकसान है ? कुछ भी नहीं, उसे देखकर एक ज्ञान कर लें। हां हो रहा कर्म का विपाक है, उससे मेरा क्या नुकसान ? जब तक ऐसा भाव चित्त में न आये कि मेरा बाहर कहीं कुछ नहीं है, इस प्रकार की श्रद्धा जब तक न आये तब तक शान्ति नहीं मिलती।

निःसंगता में ही आत्महित—परिश्रम तो दुःख का हेतुभूत है—केवल एक मोहवश ऐसा मान रखा है कि परिश्रम से बड़ी इज्जत है अरे कुछ साधियों द्वारा प्रशंसा के शब्द गा दिए गए तो उससे क्या लाभ ? ये काम न देंगे, किन्तु एक अकिंचन निःसंग आत्मत्व की उपासना में वह इज्जत बनेगी कि तीन लोक का अधिपति हो जायगा। तो चित्त में आना चाहिए कि परमाणु मात्र भी मेरा कुछ नहीं है। घर-घर में दुःख है, मेरे को कम मिला, इनको अधिक मिला, मेरे को कम अच्छे कपड़े मिले, इनको खूब अच्छे कपड़े मिले। अरे ये सब व्यर्थ की बातें हैं। इनसे कुछ भी लाभ न मिलेगा। लाभ मिलेगा धर्म करने से, इससे शोभा है, बाहरी बातों से क्या शोभा ? तो ये सब परिश्रम बुद्धि के ही तो नुकसान हैं। अब आजकल तो कुछ स्त्रियां बाजारों में सफेद राख पोतकर (पाउडर लगाकर) और होठों में खून पोतकर (लाली लगाकर) घूमती हैं। जब कोई उन्हें देख लेते हैं तो उन्हें बड़ा भद्दा लगता होगा। भला बतलावो ये व्यर्थ के अटसट क्यों किए जा रहे हैं ? क्या दूसरों को प्रसन्न करने के लिए ? परिश्रम में, शरीर में जब तक ममताबुद्धि लगी है तब तक सदबुद्धि कहां से आये ? अपने आपको विचारो—अहमिको खलु सुद्धो दसणणाण-मइओ सदाऽऽह्वी। ज्वि अत्थि मज्झ किचिवि अण्णं पः माणुमित्तिपि। मैं एक हूँ, अकेला हूँ, सबसे निराला हूँ, ज्ञान-दर्शनमात्र हूँ, मेरा तो परमाणु मात्र भी कुछ नहीं, मुझ पर कोई भार नहीं। तत्त्वज्ञानी पुरुष जानता है कि ये जो रागद्वेषादिक भाव होते ये मेरी चीज नहीं, इनसे मुझ पर कोई बोझ नहीं, मैं तो रवभावतः एक अविकार निश्चल निष्काम ज्ञानाद्रष्टा हूँ। यह एक अमूर्त तत्त्व है।

आकिंचन्य प्रतीति सहित परमविराम का अनुपम फल—एक जगह गुणभद्र स्वामी ने कहा कि हे शिष्य ! देख मैं तेरे कान में एक बात कहूंगा ? अरे जोर से क्यों न कहोगे ? .. देख मर्म भरी बात चित्तलाने से हृदय में नहीं उतरती, गभीर दृष्टि से विचार—अकिंचनोहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः। योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्य परमात्मनः ॥ मैं अकिंचन हूँ। यह बाहरी रूप मेरा स्वरूप नहीं, मुझ में बाहरी चीज कुछ मेरी नहीं ऐसा जानकरतू विग्रामसे एक क्षण को बैठ नोजा, देख तू तीनलोक का अधिपतिहो जायगा। किसी कोबड़ा ज्ञानीबननाहो, तो बड़ा ज्ञानी कौन कहलाता जो तीन लोक काल की सत्र बातों को जानता है अगर आपको सबसे बड़ा ज्ञानी बनना है। कानो सर्वज्ञ बनना है तो आप विद्यार्थी सीख-सीखकर, ज्ञान अर्जन करके सर्वज्ञ नहीं बन सकते हैं। अभी इसे जाना, फिर इसे जाना ऐसा धीरे-धीरे पढ़ लिखकर सर्वज्ञ बन जाय सो नहीं बना जा सकता। तो कैसे बना जा सकता है ? सर्वज्ञ बनने का भाव छोड़ दो, यह बाहरी सब चीजों की बात भूल जाओ, केवल अपने आप में विश्राम से बैठ जाओ, ऐसा कर्मफलका विनाश होमा कि यह सर्वज्ञ बन जायेगा। तो जैसे स्वज्ञता बनने का उपाय थोड़ी-थोड़ी बातों का

सीखना नहीं हैं। इसी तरह तीन लोकका अधिपति बनना वैभवका रखना जोड़ना नहीं हैं, किन्तु सब वैभवोंको तिलाञ्जलि देकर अपने आपको आकिञ्चन निर्भर अनुभव करें, यही अधिपति होने का उपाय है। भागवत में एक निःसंगताका वर्णन है। द्वितीय स्कंध के ७ वें अध्याय के १० वें छन्द में वहाँ बताते हैं कि नाभेरसावृषभ आस सुदेविसृष्टयो वै चचार समस्यद्वोधचर्याम्। यत्पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति, स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः। ऋषभदेव, सुदेवी मरुदेवी के सुतः नाभिनन्दन जो निःसंग हो स्वस्थ हो, इन्द्रियाँ जिसकी प्रशान्त हैं जिनके परमहंसमय पदको ऋषिजन प्रणाम किया करते हैं वे इस तरह की दृष्ट्या में आचरण कर रहे कि सर्व पदार्थों में समान दृष्टि रखें। बड़े-बड़े पुरुषों ने सब कुछ पाकर छोड़कर निःसंग होकर, अपरिग्रही होकर अपने आप में अपनी सुविधा का अनुभव किया और यहाँ के सुभट उसकी खबर भी नहीं करते।

श्रम की भार—ये संभार सुभट बाह्य परिग्रहों की ओर ऐसा दीड़ लगाये है कि जैसे बहकाया हुआ लड़का भागता फिरता है। किसी ने बहका दिया कि रे बेटे तेरा कान कौवा ले गया तो वह बालक दीड़ता है और चिल्लाता है, अरे मेरा कान कौवा ले गया। अरे भाई वहाँ भागे जा रहे हो?—अरे मत बोली—मेरा कान कौवा ले गया।—अरे जरा टटोल कर देख तो सही, कहां तेरा कान कौवा ले गया? तेरा कान तो तेरे ही पास है? जब टटोल कर देखा तो कहा—अरे है तो सही मेरा कान मेरे ही पास। बस उसका रोना बन्द हो गया। ठीक ऐसे ही मंसारी प्राणी बाह्य पदार्थों के पीछे दीड़ लगा रहे हैं, उन्हें यह पता नहीं कि मेरा सारा वैभव तो मेरे ही पास है। इस अपने वैभव का पता न होने से यह बाह्य पदार्थों के पीछे दीड़ लगाता फिरता है और दुःखी होता है। कोई भी परपदार्थ इसके लिए बोझ नहीं बनता, पर यह ही उन परपदार्थों के प्रति नाना प्रकार की कल्पनाएँ करके अपने पर बड़ा बोझ मानता है। जैसे किसी सेठ का कोई नौकर ऐसी कल्पना कर ले कि मेरे ऊपर तो सेठ की सारी जायदाद का बोझ है तो वह घबडाता फिरता है, पर उसकी इस घबड़ाहट को देखकर लोग उसकी मजाक करते हैं। कहते हैं कि देखो इसका है कहीं कुछ नहीं, है तो सब सेठ सेठानी का, पर कैसा यह सारी जायदाद को अपनी मानकर उसको बोझ मानता है। ठीक यही हाल तो आप सबका है। घर के जिन दो चार जीवों के लिए आप रात दिन बड़ा श्रम कर रहे हैं उनकी आप नौकरी ही तो कर रहे हैं। तभी तो आपको रात दिन इतना अधिक श्रम करना पड़ता है। जब उनके पुण्य का उदय है तब आपको उनकी नौकरी तो बजानी ही पड़ेगी। पर आप अपनी कल्पनाएँ बनाकर उनके पालन-पोषण करने वाले बनते हैं और अपने ऊपर उनका बहुत बड़ा बोझ अनुभव करते हैं। आप कभी अपने को निर्भर नहीं अनुभव कर पाते। तो यह परिग्रह का ही तो संग है। परिग्रह का संग हम आपके लिए बहुत बुरा है। जब तक अपने आपको निःसंग नहीं अनुभव किया जायगा तब तक तो लोक व्यवहार में भी चैन नहीं मिल सकता।

अकिञ्चन, परविद्विक्त, ज्ञानदर्शनमय अन्तरतत्त्व की भावना—मैया! आत्मस्वरूप ही निःसंग है, अकेला है, इस पर दृष्टि देते हुए समय-पर में कहा है कि मेरा यहाँ परमाणुमात्र भी नहीं है। मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानमात्र हूँ। मेरा स्वरूप क्या? ज्ञानप्रतिभास स्वरूप। आत्मा का कोई काला, पीला, नीला, लाल आदिक वर्ण नहीं होते, खट्टा, मीठा, कड़वा आदिक रस नहीं होते, आत्मा में कोई गंध नहीं होते। वह तो आकाशवत् अमूर्त है। आकाश में और मुझ आत्मा में फर्क यह है कि मैं आत्मा जानता देखता हूँ और यह आकाश कुछ जानता देखता नहीं। जैसे यह खम्भा पड़ा है तो यह भी कुछ जानता देखता नहीं, न इसमें कोई रागद्वेषादिक विकार ही होता है, पर ऐसे ही इस आत्मा में भी स्वभाव से कोई रागद्वेषादिक विकार विषय कषाय आदिक के भाव नहीं होते। ज्ञानी पुरुष जानता है कि आत्मा में होने वाले ये विकारभाव इस मुझ आत्मा के नहीं हैं आत्मा तो इन सबसे निराला ज्ञानमात्र एक सत्त्व है, इस प्रकार के ब्रह्मस्वरूप की जब तक दृष्टि नहीं बनती तब तक आत्मा कल्याण का पात्र

नहीं है। बाह्य में जहाँ जो होता हो, हो, उनसे मेरा कुछ वास्ता नहीं। जो इस तरह से बाहरी परिणतियों की अनसुनी कर देगा वह सुखी रहेगा, शान्त रहेगा। मात्र ज्ञातादृष्टा रहो। एक जगह लिखा है कि जो स्वयं दृष्टा है उसे देखो, जो आप स्वयं हैं उसके दर्शन करें। मान लो आप यहाँ भेरठ में न पैदा होते, मान लो इंग्लैंड वगैरह किसी दूसरे देश में पैदा होते तो फिर यहाँ की वृद्ध भी चीज आपके लिए क्या थी? यहाँ के ये परिचित लोग फिर आपके लिए कौन थे? क्या इनमें फिर आप अपनी प्रशंसा की चाह करते? तो इस थोड़े से जीवन के लिए ऐसा ही समझलो कि हम यहाँ पैदा ही नहीं हुए, हमें यहाँ का कोई समागम क्लिप्त ही नहीं। अरे यहाँ तो यह सब व्यर्थ का झमेला है, सारभूत काम ये कुछ नहीं हैं। यहाँ किसी भी पुर पदार्थ की परिणति से रच भी श्रुद्ध न हों, किसी परपदार्थ की ओर आकर्षित न हों, किसी को अपने चित्त में न बसायें, ऐसा भाव अपना न बनायें कि मेरे प्रति बहुत अधिक लोगों का आकर्षण हो, सभी लोग मुझे बहुत-बहुत घेरे रहें, मेरी बहुत-बहुत पूछताछ करते रहें। अरे तुम तो अकिंचन स्वरूप हो, उसको तो तुम देखते ही नहीं, अपनी दृष्टि तो बाहर-बाहर ही लगा रहे तब तो फिर निश्चित है कि इससे तो इस आत्मा का अकल्याण है।

अन्तस्तत्त्व के लगाव बिना अनेक दोषों से आक्रान्त होने के कारण बिडम्बिता—देखो अपने आपके इस ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व की ओर न देखोगे तो बिडम्बिता बनेगी, पक्षपात होता रहेगा, रागद्वेष होगा, बहुत-बहुत बातें सोचनी पड़ेंगी, बड़ी हैरानी करनी पड़ेगी। राग के होते हुए प्रेम, विरोध के रहते हुए न्याय न रहेगा, वहाँ पक्षपात ही होगा। तो यही तो परिग्रह है। कोई यदि ऐसा सोचे कि परिग्रह तो बाह्य पदार्थों का नाम है सो बात नहीं है। जहाँ आत्मा में रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक विकार हो रहे हैं वे सब इस आत्मा के लिए परिग्रह हैं। आत्मा के लिए वास्तविक परिग्रह यही हैं, ये धन वैभव मकान महल आदिक कोई भी परपदार्थ इस आत्मा के लिए परिग्रह नहीं हैं। हाँ अगर इन बाह्य पदार्थों के प्रति ममता है, मूर्खा है, इनके प्रति व्यर्थ का भ्रम बना डाला है तो यही इस आत्मा का परिग्रह है। यहाँ तो धन वैभव मकान महल, सोना, चाँदी आदिक को उपचार से परिग्रह कहा गया है। क्योंकि उनका विषय करके, उनका आश्रय करके ये कषाय उत्पन्न होती हैं, ये विकार भाव उत्पन्न होते हैं। असली परिग्रह तो वह है जो इस आत्मा को निरन्तर शल्य की तरह दुःख देता है। ये कषायभाव इस आत्मा के लिए महान् परिग्रह हैं क्योंकि ये निरन्तर इस जीव को दुःख दिया करती हैं। तो अपने आत्मस्वरूप को अकिंचन देखो, मेरा संसार में कहीं कुछ नहीं है। मेरा तो केवल एक ज्ञान मात्र स्वरूप है और भी देखिये अकिंचन की सेवा करेंगे तो अपने आपका अतुल खजाना मिलेगा। समृद्ध (धनिक) पुरुषों की सेवा करने से इस आत्मा को लाभ कुछ न मिलेगा। व्यवहार में भी आप समझ रहे होंगे।

अकिंचन तुङ्ग से से सिद्धि की संभावता—आप सभी लोग जिन भगवान की पूजा करने आते हैं, उनमें ऐसी कौन सी विशेषता है जिससे आप उनके दर्शन करने आते हैं? अरे वे अकिंचन हैं। उनके पास स्त्री, पुत्र, धन, दौलत आदिक कुछ भी परिग्रही नहीं रहे। वे अकिंचन हो गए, उन्होंने अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूप को प्रकट कर लिया है। तो आप उस अकिंचन प्रभु की भक्ति करते हैं, पर उसमें ही इतनी शक्ति है कि आपकी मनचाही सारी वस्तुओं की प्राप्ति उनकी भक्ति से प्राप्त हो सकती हैं। यहाँ के धनिक जो बड़े-बड़े धन वैभव आरम्भ परिग्रह के बीज हैं उनसे आपको कुछ भी सारभूत बात नहीं प्राप्त हो सकती। अकिंचन से जो बात प्राप्त हो सकती है वह बड़े बड़े समृद्धशालियों से भी नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसी बात तो यहाँ भी देखने में आती है। विषापहारस्तोत्र में धनञ्जय कवि ने कहा है कि—“तुङ्गात्फलं यत्तर्काचिचनाच्च प्राप्यं समृद्धासु धनेश्वरादेः। निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रैः नैकापि निर्यातिघ्नुनी पयोधैः ॥ हे प्रभो! देखो जो तुङ्ग है (ऊँचा पर्वत है,) अकिंचन है, वहाँ जल की एक बूँद नहीं दिखती, फिर भी बड़ी-बड़ी नदियाँ उन पर्वतों से ही निकलती हैं, और जो समुद्र अथाह जल से भरा हुआ है उससे

कोई नदी निकलते हुए किसी ने न देखा होगा। तो ऐसे ही हे प्रभो ! आप ज्ञानानन्द के पुंज, गम्भीर हैं, तुङ्ग हैं, उच्च हैं, अकिंचन हैं। आपसे सब कुछ प्राप्त हो सकता है। अब जरा अपने आप पर दृष्टि दो। जो कुछ प्राप्त होता है वह सब भीतर के खजाने से निकलता है, बाहर से कुछ नहीं आता। अब आत्मा में ज्ञान और आनन्द गुण हैं, बस वही निकलता है हर जगह। चाहे विषयसुख में आनन्द मिले तो भी विषय से आनन्द नहीं निकलता, किन्तु आपके आनन्द स्वरूप से आनन्द निकलता है, मगर वह आनन्द मिला है तो आपको स्वरूप से निकलकर मिला है, न कि भोजन आदिक किसी विषय साधन से निकला। तो जो तुंग है, अकिंचन है उससे सब कुछ प्राप्त हो सकता है, लेकिन जो समृद्ध है, बाह्य परिग्रह में आसक्त है, परिग्रहवान है उसे कुछ भी नहीं प्राप्त हो सकता। अकिंचन्य भाव स्वयं अमृत है। अकिंचन्य सुधापान करके अमर, निराकुल सत्य समृद्ध प्रभु की उपासना में अद्वैत निधि प्राप्त हो, इसमें क्या आश्चर्य है अपना हित इसी में है कि अपने को बाह्य से अकिंचन और निज में स्वरूप समृद्ध अनुभव करें।



उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

ब्रह्मन्वत्तु दुद्धं धारिज्जइ बरु केडिज्जइ विसयासणिरु ।

तियसुखयत्तो मणकरिमत्तो तं जि भय्य रवसेहु थिरु ॥

ब्रह्मचर्य का अन्तर्वाह्य स्वरूप—अब आज उत्तम ब्रह्मचर्य का वर्णन है ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं? ब्रह्म माने आत्मा—आत्म स्वभाव है ज्ञानदर्शन और ज्ञानस्वभाव में ठहरना इसे कहते हैं ब्रह्मचर्य। रागद्वेष रहित निर्विकल्प ज्ञान स्वभाव निज आत्मतत्त्व ज्ञान स्वभाव में स्थिर रहना और वेदल ज्ञाताद्वैता ही बने रहना, यही उत्तम ब्रह्मचर्य कहलाता है ब्रह्मचर्य के घातक पापों पाप हैं। हिंसा से भी ब्रह्मचर्य नष्ट होता है। झूठ बोलने से चोरी से कुशील सेवन से और परिग्रह के कारण भी ब्रह्मचर्य नष्ट होता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए पापों पापों का त्याग बताया है ब्रह्मचर्य में इन पापों में से कुशील नामक पाप के त्याग की प्रसिद्धि है। कुशील के त्याग से ब्रह्मचर्य है। कुशील एक ऐसा बुरा पाप है जिसमें कामी पुरुषों का चित्त टिकाने नहीं रहता। उसे कुछ भी नहीं सूझता। वह शरीर को, उसके बीज को नष्ट करके भी अपने आपको सुखी करना चाहता है। कामीजन राग रङ्गरेलियों में आसक्त होते-होते अपने आपको सुखी समझते हैं। काम के बराबर जगत् में कोई व्याधि नहीं। काम-वासना की व्याधि नहीं। काम-वासना की व्याधि सबसे बड़ी व्याधि है कुशील आत्मा के भूल हित को जड़ से नष्ट कर देता है। इस पाप के समय आत्मा को निजस्वरूप की सावधानी नहीं रहती, ब्रह्मचर्य की समृद्धता नहीं रहती।

इसलिये कुशील के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

ब्रह्मचर्य की विशेषतायें—ब्रह्मचर्य का बड़ा महत्व है। ब्रह्मचारी सदाशुचिः। जिसके परद्रव्यविषयक रुचि नहीं रही है, कामवादा का तो निशान भी नहीं है, ऐसे आत्मसन्मुख दृष्टिवाले भव्य अंतरात्मा सर्वशक्तियों से रहित, सत्यानंदमय रहते हैं। कदाचित् कर्मोदय को निमित्तमात्र करके उदित स्वयं की आशक्तता के कारण गार्हस्थ्य-जीवन में किसी ज्ञानी की परिस्थिति हो तो वहां भी ये ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन रखते हैं और सतत यही प्रत्यय करते हैं कि वस्तुतः मैं निष्कर्मा हूँ, ये क्रियायें क्षणिक विभाव हैं और आसक्ति को दूर करने की भावना रखते हैं। इसके पालन करने वाले स्वदारसंतोषी गृहस्थ की संतान सुभग और बुद्धिमान होती है ब्रह्मचर्य कुशील के त्याग को कहते हैं। गृहस्थों का धर्म ब्रह्मचर्य अणुव्रत है कि अपनी स्त्री में ही सन्तोष रखना, अपनी स्त्री से मनमाना काम सेवन न करना, अपनी स्त्री के भोग में भी काम वासना का भाव अधिक न रखना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। गृहस्थ को कितनी बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—व्यर्थ मजाक न करना, जैसे कि प्रायः पति पत्नियों में हर्ष में रागमय बोलने की आदत पड़ जाती है तो वह भी बुरी बात है। हर्ष में तो धर्म की आदत होनी चाहिये, धर्मयुक्त वचन श्रोचना चाहिये। ज्ञानी पुरुष के सामने तो विषय का प्रसंग आ जाये तो वह ज्ञानी दुखी होता है। वह अन्तरङ्ग से दुखी होता है। गृहस्थों को बच्चों के समाने मजाक भी नहीं करनी चाहिये। अधिक समय ब्रह्मचर्य का भाव कंदर्प आदि अतिचारों से दूर रहने वाले ही रखते हैं।

सुशील माता के चरित्र का सन्तान पर सत्प्रभाव—गुजरात का जिक्र है कि एक राजा था। राजा पर मुगलों ने चढ़ाई कर दी। मुगलों की सेना से लड़ने के लिये राजा का लड़का गया। वह वीरता से युद्ध करता करता रहा। अवसर कि बात है कि युद्ध में उस राजा के लड़के का सिर कट गया। फिर भी उसके हाथ की तलवार ने बहादुरी से १०-११ मुगलों को मार दिया। मुगलों के राजमंत्री ने सोचा कि यह कितना बहादुर है, फिर वह तो ओर भी अधिक बहादुर होगा, जिसकी यह सन्तान है। जिस सन्तान ने मर जाने पर भी १०-११ सैनिकों को समाप्त कर दिया। यह बात जाकर उसने मुगल बादशाह से कही। बादशाह ने कहा कि उस राजा को हमारे राज्य में लाओ ताकि हम उसका विवाह अच्छी लड़की से कर देंगे, जिससे ऐसी ही बहादुर संतान हमारे राज्य में भी हो। वह मंत्री उस राजा के पास गया और बोला कि महाराज हमारे बादशाह ने बुलाया है। राजा ने पूछा कि क्यों बुलाया है? तो उसने कारण नहीं बताया। राजा उसके साथ हो लिया। रास्ते में राजा ने बहुत जिद्द की कि हमें कारण बताओ तो मंत्री बोला कि महाराज, आपके पुत्र के बल की प्रशंसा सुनकर हमारे राजा ने आपको अपने राज्य में बुलाया कि आपकी शादी राज घराने की किसी भी लड़की से कर देंगे ताकि आप उनके राज्य में रहकर वंसी ही संतान पैदा करें। तब राजा बोला कि अच्छा भाई, वहाँ हमारे लायक कोई लड़की भी मिलेगी? तो मुगल मंत्री बोला कि अच्छी से अच्छी लड़कियाँ, सुन्दर सुन्दर हमारे राज्य में हैं। तब राजा बोला कि मुझे सुन्दर लड़की नहीं चाहिये। मुझे ऐसी ही लड़की चाहिये जैसी कि मेरी रानी थी। तब मंत्री बोला कि महाराज आपकी रानी कैसी थी?

अब राजा ने अपनी रानी का चरित्र सुनाना प्रारम्भ किया कि जो राजपुत्र लड़ाई में मारा गया, जब वह केवल ६ मास का था और पानने में सो रहा था तो मैं रानी के कमरे में गया और कुछ राग भरी बात रानी से कहने लगा। तब रानी ने टोका कि इस बच्चे के सामने रागमिश्रित बात मत बोलो। यह परपुरुष है। तब मैंने कहा कि इतने छोटे से बच्चे के रहने से क्या होता है? ऐसी हम बातें कर ही रहे थे कि उस बच्चे ने शर्म से अपना मुँह झांक लिया। यह बात रानी ने देख ली और वह बोली कि देखो आप इसके सामने राग भरी बात करते थे, इसलिये इसको भी शर्म आ गई और इसने अपना मुँह चादर से ढांक लिया। यह कहकर अपनी जीभ निकालकर, उसे दाँतो

के बीच चबाकर मर गई। यह उसके शील की थोड़ी-सी कहानी है। सारी चर्या का तो कहना ही क्या? अतः यदि तुम्हारे राज्य में ऐसी ही शीलवती लड़की हो तो मैं उससे विवाह कर सकता हूँ, तब ही एसी बलवान सन्तान पैदा हो सकती है। मन्त्री अपना सा मुँह लेकर चला गया। इससे क्या निष्कर्ष निकला? सन्तान में बुद्धि का आना, बल का आना, ज्ञान का बढ़ना, योग्यता का आना, माता पिता के शील-स्वभाव पर निर्भर है। इसलिये बच्चों के आगे व्यर्थ मजाक न करो और असमय में भी व्यर्थ मजाक न करो। धर्म से रहो तो सन्तान और पति पत्नी सब पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

सम्यग्ज्ञानी के ब्रह्मचर्य की सुगमता—ब्रह्मचर्य आत्मा में लीन रहने का उपदेश करता है। इस समाधिभाव की प्राप्ति के लिये कुशील के त्याग करना पूर्ण आवश्यक है। सन्तोष धारण करने वाले गृहस्थजनों को सदा शील का पालन करना चाहिये इससे आत्मशील प्राप्त होता है। आज दशलाक्षणी का अन्तिम धर्म है ब्रह्मचर्य व्रत। आत्मा के ज्ञानरूप में लीन हो जाना सो ब्रह्मचर्य है, और इस लोक व्यवहार में कुशील अवस्था का त्याग कर देना सो ब्रह्मचर्य है। यह ब्रह्मचर्य विषयाशा का त्याग कर देने से सुगम सिद्ध होता है। विषयों से जीव का हित नहीं है। जैसे कोई अविनयी पुरुष डाकुवों के गुण्डों के गिरोह में फँस जाय तो वह बहुत लुट पिटकर पीछे पछतावा करता है। इसी प्रकार विषयों में आसक्त पुरुष विषयों में रमकर अपने तन मन वचन सब कुछ खोकर पछतावा करता है। जब जिन्दगी चली जाती है, तब याद आती है कि इस जीवन को यदि हमने धर्म में लगाया होता तो आज कुछ हमारे साथ रहता। यह शील, ब्रह्मचर्य यद्यपि दुर्धरव्रत है, पर ब्रह्मचर्य से कठिन तो कुशील की प्रवृत्ति है। कितनी बातें सहते, व्यभिचारीजन, कितने ही कष्ट सहते, कितने ही अपमान सहते, कितनी आशा प्रतीक्षा का मङ्गलेश सहा करते, किन्तु ब्रह्मचर्य में अपनी आत्मदृष्टि है, निजतत्त्व में रमण है। यह जीव स्त्री सुख में लीन होकर मनरूपी हाथी से भी कठिन मदोन्मत्त हो रहा है। हे भव्य जीवो! इस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो।

चित्त भूमि मयणुवि उप्पज्जइ तेण जु पीडउ करइ अकज्जइ।

तियहं सरीरइ णिदइ सेवइ णियपरणारि ण मूढउ वेयइ ॥

कामविकार की व्यर्थ अनर्थ माया—इस काम नाम है मनोज। यह कोई रोग नहीं है, यह कोई वेदना नहीं है। काम का भाव कोई हिसाब में नहीं आता है। जैसे कि बलिष्ठ भोजन कर लिया तो हिसाब लग जाता है कि आज तो पेट दर्द करेगा। यह हिसाब में सम्मिलित नहीं है, यह तो मन की ढील से जब चाहे उत्पन्न हो जाती है। बीमारी का तो हिसाब है अब इतना तेज बुखार आ गया, अब बढ़ रहा है, अब ६८ डिग्री से ६६ डिग्री हो गया, ६६ डिग्री से १०० डिग्री हो गया, मियादी बुखार है, ७ दिन में उतरेगा। पर ऐसी कोई चीज हो तो हिसाब लगे, यह काम तो कोई चीज स्वयं नहीं है। काम कोई शारीरिक दशा नहीं है, वह तो मनोज है। मन में संकल्प हुआ और मनगढ़न्त कष्ट सहने लगा, इस काम से पीड़ित होकर यह जीव अकार्य कर देता है। इस स्त्री के निन्द्य शरीर का यह मूढ़ राग करता है, और यह स्वस्त्री का, परस्त्री का कुछ विवेक भी नहीं करता। ऐसा यह मोह और मिथ्यात्व का मद होता है। होगा क्या इससे? संसार में रुलना, जन्म मरण का पाना। हाय, काम से वासित होकर जीव ने अपने को इस दुर्लभ नररत्न को पाकर भी इस दुःखमयी संसार में डुबो दिया।

ब्रह्मचर्यव्रत की अत्यावश्यकता—हे भव्य जीव! ब्रह्मचर्य व्रत महान् दुर्धरव्रत है। यदि कठिन चीज पर अपना वश हो जाये तो वह प्राणी सदा के लिये सुख का मार्ग पा लेगा। इन विषयों की आशा को दूर करके इस दुर्धर धर्म को अच्छी तरह से पालना चाहिये। अपनी स्त्री के अतिरिक्त सबको माता, बहिन, पुत्री समझो। स्त्रियाँ भी अपने पति के अतिरिक्त सभी पुरुषों को पिता, पुत्र, और भाई के समान समझें। ऐसी समझने की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, यदि उनमें उपयोग ही न जाये। ऐसे दुर्धर ब्रह्मचर्य धर्म को धारण करना चाहिये जिससे

कि विषयों की आशा ही पैदा न हो सके। विषयों के आसक्त सप्तम नरक के नरकी से भी पतित हैं। वे तो सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं, परन्तु भोगासक्त को सम्यक्त्व की गन्ध (आभास) भी नहीं हो सकती।

ब्रह्मचर्य सिद्धि के लिये असत्संगति और अभक्ष्य के त्याग की परम आवश्यकता—एक कवि ने एक वेश्यागामी का ऐसा चित्र खींचा है—वेश्या की नाचने गाने की सभा लग रही है, मंजीरे भी बज रहे हैं, मृदङ्ग भी बज रहे हैं, वेश्या नाच रही हैं, जितने बादमी उस सभा में बैठे हैं वे अपना सिर हिला रहे हैं। तो वह कवि कह रहा है कि...मृदङ्ग कहे धिक् है, धिक् है, मंजीरे कहे—किनको-किनको तब वेश्या हाथ पसार कहे, इनको, इनको, इनको, इनको। जितने भी व्यक्ति उस वेश्या की सभा में बैठे थे, उनकी उपमा दी गई कि मृदङ्ग तो कहता है धिक्कार है, मंजीरे कहते हैं कि किनको धिक्कार है? जब वेश्या उन बैठे हुये लोगों की तरफ हाथ पसार कर कहती है कि इनको धिक्कार है जो यहां अपना समय नष्ट कर रहे हैं। वेश्याओं के यहां जाने वालों का यही हाल है। यही सिनेमा देखने की बात है। लोग कहते हैं कि क्या होता है सिनेमा देखने में? आजकल के सिनेमा कहते हैं कि हमको शिक्षा का प्रसार करने के लिये ईश्वर ने भेजा है, परन्तु अच्छे से अच्छा सिनेमा होगा तो वहां भी खोटी बात अवश्य मिलेगी। धार्मिक सिनेमा भी कोई इन कम्पनियों में बनता है तो उसमें भी बीच बीच में ऐसी बात आ जाती है कि लोगों को पाप की ओर की रुचि उनमें मिल सके। जिनको अपने ब्रह्मचर्य को स्थिर रखना है, उन्हें सिनेमा को त्यागना चाहिये। अच्छी-अच्छी रीलें यदि बनाई जायें तो उनमें अश्लील बातें नहीं आनी चाहियें। ब्रह्मचर्यार्थी को बाजार की अभक्ष्य चीज के खाने का त्याग हो। कितनों ही में यह प्रथा चल गई कि अण्डे और मांस खाये बिना चैन ही नहीं पड़ता, परन्तु यह नहीं सोचा कि ये अण्डे और मांस हैं क्या? अण्डे जब गर्भ में आते हैं तो जीव आ जाता है। पहले तो रज-वीर्य में ही बहुत से जीव रहते हैं, फिर अन्य जीव के आने का कारण उसमें कठोरता आती है। पहले तो मांस जैसे ढीले ढाले से रहते हैं फिर कठोर हो जाते हैं। वह पंचेन्द्रिय जीव अण्डे हैं। मांस—उसमें भी जीव हैं और पकते हुये में भी जीव पैदा होते रहते हैं। उसमें तो हर समय जीव पैदा होते रहते हैं। इन अभक्ष्य चीजों का त्याग ब्रह्मचर्य धारण करने के लिये आवश्यक है। अनुचित आहार-विहार से मैथुन तपस कामभाव बढ़ता है। मैथुनप्रसङ्ग शरीर का राजा जा वीर्य है उसको समाप्त कर देता है। इसलिये अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य धारण करो। महीने में २५ दिन, २६ दिन, २८ दिन लगातार तीन महीने, ६ महीने जितने दिन अधिकाधिक हो सके, पूर्णतया ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिये।

कुशील की कुशीलता जानकर कुशील के त्याग का आदेश—मरठ में एक ३०-४० वर्ष की आयु का युवक था। पहले उसका कैसा चरित्र था, यह हम नहीं कह सकते। यही समझ लो कि हर एक काम में परफेक्ट था। जब से धर्म में लगन लगी तो वह मुझे कहता था कि २-३ वर्ष से आपके समागम कभी-कभी प्राप्त होते रहने के कारण हमारे जीवन में बहुत परिवर्तन हुआ। ऐसे जीव ने आजीवन महीने में २६ दिन का ब्रह्मचर्य रखा और उस मर्यादा में एक दिन भी उस कमरे में नहीं सोया जहां उसकी स्त्री सोती थी। जमीन पर भी सो जाता, काय-क्लेश भी महता और स्त्रीकाम केवल एक दिन रखा, सो उस दिन भी ब्रह्मचर्य का पूर्ण ध्यान रखता था। उसे अनुभव में आ गया कि कुशील बहुत नची चीज है। इससे दूर रहकर जो रह सकता है वह अपनी आत्मा का उत्थान करेगा। यह ब्रह्मचर्य व्रत वास्तव में तो ज्ञानी धारण करते हैं। अनादि, अनन्त, अहेतुक, ज्ञानस्वभाव को जानकर किसी प्रकार के विषयकषाय में विषयबुद्धि नहीं करना, यही ब्रह्मचर्य है। आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य यही है। इस दृष्टि से विषयकषायों में रत रहने वाला व्यभिचारी कहा जाता है। सबसे बड़ी बात विषयभोग के त्याग की होती है। इसके त्याग वाले को अन्य विषयों के त्याग अति सरल हैं।

कामविकार की चिडम्बना—यह काम का रोग और किसी तरह कुछ नहीं पैदा होता, मनका विकल्प

होने से ब्रह्मचर्य का घात होता है। यह काम मलोज है। पुरुष स्त्रियों के अत्यन्त निन्द्य शरीर का सेवन करता है और स्त्री भी पुरुषों के अत्यन्त निन्द्य शरीर का सेवन करती है। कामवासना के वशीभूत होकर कितने ही पार्श्व निजस्त्री और परस्त्री में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करते, छोटे से छोटा काम कर देते हैं। एक बार राजा भोज के सामने एक वेश्या अमरफल लाई। उस अमर फल की कथा यह है कि राजा कहीं से आ रहा था तो रास्ते में किसी ने वह अमरफल उसे भेंट किया था। उसने सोचा कि मेरी स्त्री मुझे सबसे प्यारी है इसलिये इस अमरफल को मैं उसे दूंगा। तब उसने महलों में आकर-उसे रानी को दे दिया और कह दिया कि इसे तुम खा जाओ, तुम अमर हो जाओगी और मैं सुखी हो सकूंगा। रानी का कोतवाल से प्रेम था, इसलिये उसने स्वयं न खाकर वह फल कोतवाल को दे दिया, परन्तु कोतवाल का प्रेम एक वेश्या से था। अतः उसने वह फल वेश्या को दे दिया। उसी अमरफल को वह वेश्या राजा को भेंट कर देती है। तब राजा विचार करता है और सब कुछ तुरन्त समझ जाता है। तब वह कहता है कि—

“यां चिन्त्यामि सतत मयि सा विरक्ता साप्यन्यमिच्छति जन्म स जनोऽन्यसक्तः।

अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या, धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥

अर्थात् जिस स्त्री का मैं विचार करता हूँ वह मुझ से विरक्त है, वह स्त्री जिसका विचार करती है (कोतवाल), वह स्त्री से विरक्त है और वह कोतवाल जिस वेश्या से प्रेम करता है वह वेश्या कोतवाल से विरक्त है। ऐसे कामियों का यही स्वरूप है। यह मनुष्य काम के वश में होकर अपना जीवन खो ता है। धिक्कार है उस स्त्री को, उस पुरुष को, इस काम को और इस वेश्या को और मुझे भी। धिक्कार ‘मन के द्वारे हार है’ की कहानी मात्र है।

कामी की तुच्छता का उदाहरण—एक सिपाही एक वेश्या से प्रेम करता था। उसके चक्कर में उसने अपना सारा धन उसे लुटा दिया। बहुत दिनों बाद जब वह सिपाही बुढ़ा हो गया तो वेश्या ने उसे उतार दिया और अपने यहाँ आने नहीं दिया। तब वह सिपाही वेश्या के सामने जो वृक्ष था उसके नीचे बैठ रहा वहाँ। किसी ने उससे पूछा कि तुम यहाँ बैठकर क्या लेते हो? तब वह उत्तर देता है कि मैं यहाँ इसलिये बैठा रहता हूँ कि मेरा इस वेश्या से प्रेम है, यह मुझे अपने यहाँ तो आने नहीं देती, कदाचित् किसी समय किसी काम से छत पर चढ़े तो उसके दर्शन ही हो जायें करेगे। वह इसी तरह वहाँ तपस्या करता हुआ बैठा रहता। ऐसे कुकर्मी लोग इसी तरह की पीड़ा सहते हुए बुरी मौत भरते हैं। छोटा भाव तो बिना शिक्षा दिये भी ग्रहण में शीघ्र आ जाता है।

कामभाव के उपसर्ग से बचने की सावधानी की आवश्यकता—आज का समय बड़ा नाजुक हो गया। ऐसे समय में माता पिता आदिक की चाहिये कि जब बच्चा अपनी जवानी के सम्मुख हो तब उस पर पूर्ण निगाह रखनी चाहिये, नहीं तो वह लावारिष सा हो जाता है और बुरी संगत में पड़ जाता है। कोई बच्चा कहीं भ्रष्ट हो जाता है और कोई कहीं। इस लिये उन पर पुरी निगाह रखने की आवश्यकता है, जिसे किसी प्रकार का उनके दिल में कुभाव पैदा न हो सके। २० वर्ष का जीवन इस प्रकार व्यतीत कर ले तो इनके संतान भी होगी तो ऐसी, जो अपनी धर्म निष्ठा चारित्र्य शक्ति के द्वारा हर प्रकार के मनुष्यों की रक्षा करने में समर्थ होगी। जितना आज मनुष्य परोपकार कर जाये व अपने आपको सम्यक्ज्ञान से जितना निर्मल बना ले वही ठीक है। ये सब चीजें यहाँ की यहाँ ही नष्ट हो जायेंगी। ऐसा सुना जाता है कि इस काम वासना के वश में होकर मनुष्य कहीं कुछ भेदभाव नहीं रखता। बड़े होकर भी कितने ही लोग तो यह कुटुम्ब के परिवार जनों में अपनी कुबुद्धि लगाते हैं, यह कहाँ तक उचित है? ऐसी बात शोभा नहीं देती। पहिले तो एक ईशा पुराण की सुनी जाती थी, अब कोई कहता है कि किसी-किसी घराने में भी होने लगा। धिक्कार है काम भाव को।

कामी की कुबुद्धि और दुर्गति—एक राजा के यहां उसकी सुन्दर लड़की थी। उसका लड़की पर दुर्भाव हो गया। तब उसने अपने दरबारियों से सलाह की कि राज्य के अन्दर जो सबसे बढ़िया चीज है उस पर विसका अधिकार होना चाहिये? कुछ लोगों ने कह दिया कि राजा का होना चाहिए। फिर उसने यही प्रश्न कुछ ज्ञानी लोगों से भी पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया—महाराज! परस्त्री, पुत्री, मां, बहिन आदि के सिवाय और जो बढ़िया चीज राज्य में है, उन पर राजा का अधिकार होता है। कथा आगे लम्बी है। प्रयोजन मात्र यह है कि कोई एक कथा ऐसी सुनी जाती थी, वहां भी विवेक से संभाल हो जाती थी। आज तो लोग विवेकियों का समागम न रखने के कारण अंधकार में जा रहे हैं। अधिक कष्ट न हो तो कम से कम इतना तो जनसमुदाय करे कि वे सत्पुरुषों की संगति का अधिक से अधिक लाभ उठाते रहें। सत्समागम वाले के कुबुद्धि आवे भी तो वह घर नहीं कर सकती। जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं करता, वह जीव नरकों में पड़कर महादुःख भोगता है। परस्त्री गामियों को वहां लोहे की गरम गरम सलाखों से चिपटाया करते हैं। नारकी अनेकों दुःख दिया करते हैं। काम का ऐसा खोटा फल हुआ करता है। ऐसा जानकह ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये मन वचन से भी इसका पालन करो। ब्रह्मचर्य का विरोधक केवल अपने पर ही अनर्थ नहीं करता, किन्तु सन्तान पर भी अन्याय करत है। माता-पिता के अल्प कुभाव से ही महा अनर्थ सम्भव हो जाता है।

माता के कुविकल्प का सन्तान पर दुष्प्रभाव—एक ब्राह्मण माता-पिता के एक लड़का था, उन्होंने अपने लड़के से कहा कि तू विवाह कर ले। पहले तो वह इन्कार करता रहा, फिर जब माना पिता ने जबरदस्ती की तो उसने कहा हम अन्धी लड़की के साथ विवाह करेंगे। उसकी शादी अन्धी लड़की से कर दी गई। उसके तीन लड़के पैदा हुए। तब उस अन्धी स्त्री ने अपने पति से कहा कि आप ब्राह्मण हैं और अनेक प्रकार के मंत्र विद्या आदि जानते हैं। हम चाहते हैं कि हमारी आंखें खुल जायें ताकि हम भी इस संसार को देख लें। ब्राह्मण ने कहा कि देखो तुम आंखें मन खुलाओ, परन्तु वह न मानी। तब ब्राह्मण ने उसकी आंखें खोल दीं। फिर उसके एक लड़का और पैदा हो गया। बहुत दिनों के बाद स्त्री ने पति से कहा कि आप हमारी आंखें क्यों नहीं खोलना चाहते थे तब ब्राह्मण ने कहा मेरी बात की परीक्षा करके देखो। आज के दिन तुम रोटियां मत बनाओ। जब लड़के रोटी मांगने आवें तो उनसे यह कहना कि तुम्हारा बाप हमें पीटता है, इसलिये हमने रोटी नहीं बनाई। स्त्री ने ऐसा ही किया। सबसे पहले बड़ा लड़का आया, उसने कहा माता जी भूख लगी है भोजन दो। तब माता ने उसको बताया कि तुम्हारे पिता मुझसे लड़ते हैं, मुझे पीट भी देते हैं, इससे चिन्ता में मैंने रोटी नहीं बनाई। तब लड़के ने उत्तर दिया कि आप माता हैं और वे पिताजी हैं हमको बीच में बोलने का अधिकार नहीं है, परन्तु हमें भूखे तो नहीं रखना चाहिये। दूसरा लड़का आया तो उससे भी उसी प्रकार मां ने कहा और उसने वैसे ही उत्तर दिया। तीसरे ने भी उसी प्रकार का उत्तर दे दिया। अब चौथा लड़का आया जो आंख खुलने के बाद पैदा हुआ था। स्त्री ने उससे भी वही बात कह दी तो उसने उत्तर दिया कि मां तुम रोटियां बनाओ, मैं बाप-फाप को अभी देखता हूँ कि वह तुम्हें कैसे मारता है? सबकी बातें स्त्री ने अपने पति से कही। तब पति ने पूछा कि यह बताओ कि जब चौथा लड़का तुम्हारे गर्भ में था तब तुम्हारे मन में क्या विकार आया था? तब स्त्री ने उत्तर दिया कि मेरे मन में कोई बुरा विकार तो नहीं आया, परन्तु एक दिन मैं छत पर खड़ी थी, नीचे दृष्टि पड़ी तो एक पहलवान जा रहा था। तब हमारे मन में यह विचार अवश्य आया कि पहलवान कंसा हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला है? इसके अतिरिक्त हमारे मन में कोई अन्य भाव नहीं आया। तब पति ने कहा कि बच्चे में तुम्हारे इस विचार का ही प्रभाव आया है, तभी वह यह बोलने को तैयार हो गया कि मैं बाप-फाप को देखता हूँ, अम्मा तुम रोटी बनाओ। इसीलिये मैंने तुमसे कहा था कि तुम अपनी आंखें मत खुलवाओ, परन्तु तुम न मानी और यह बच्चे का खयाल पैदा हो गया।

परिवार के हित में गृहस्थ की ब्रह्मचर्य विषयक जुम्मेदारी—तात्पर्य यह है कि संसार में गृहस्थों की बड़ी जुम्मेदारी है। यदि पूर्ण ब्रह्मचर्य से भी न रह सको तो कुछ ऐसी कोशिश करो कि भारत भूमि पर ऐसे लड़के तो पैदा नहीं हों जो भारग्रहण हो जावें। इसलिये देश और आत्मा को उठाने के लिये ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने की बड़ी आवश्यकता है। गृहस्थी में ऐसे नियम बना लेने चाहिये कि एक मास में इतने दिन ब्रह्मचर्य रखूंगा। स्त्री से पूछ लेना और जो सलाह बैठे सो कर लेना। गर्भ में बच्चा आये तब से लेकर दो साल तक भोग नहीं करना चाहिये। गर्भस्थ स्त्री से भोग नहीं करना और बच्चा पैदा हो उसके बाद भी दो वर्ष पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना। यदि ऐसा नहीं किया गया तो सन्तान पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। जिसको अपने शुद्ध स्वभाव का ज्ञान होगा, उसके मन में कभी दुःख पैदा नहीं होगा। मन गन्धी और गया कि पीड़ा होने लगी और जहां बुरे कर्मों की ओर दृष्टि नहीं होगी वहां पीड़ा चित्त में आयेगी ही कैसे? ब्रह्मचर्य अच्छी तरह से तभी निभेगा जब कि बुरे कामों की ओर दृष्टि नहीं होगी।

अध्रुव जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत की संभाल करके भव पार होने के उपाय बना लेने का अनुरोध—ब्रह्मचर्यव्रत से मनुष्य संसार-समुद्र से पार होता है। कुशील, परस्त्रीगमन, कामवासना, व्यभिचार आदि से न कोई कभी शान्ति पा सकता और न मोक्ष मार्ग का पालन कर सकता है। इस ब्रह्मचर्य के बिना तपस्या आदि करना सब व्यर्थ है। "जगत् चवेना काल का, कुछ मुख में वृद्ध गोद। विषय सुखन के राज में, मूर्ख माने मोद।" अर्थात् यह जगत् का चवेना है कोई तो काल के मुख में है, कोई काल की गोद में है और कोई हाथ में है। ये जगत् के प्राणी बहुत देर तक तो रह नहीं सकते, जीवन और यह समागम सब क्षणभंगुर हैं। फिर किसके लिये ये छोटे काम किये जायें? आजन्म ब्रह्मचर्य लोग यही सोच कर पालते हैं। ब्रह्मचर्यपालन में सन्देह क्या, जब मन ही में कोई बात नहीं आती। भूल की व्यथा तो कठिन है, पर व्यभिचार की व्याधि कठिन नहीं। मन का विकल्प दूर हो तो ब्रह्मचर्य का पालन हो जायेगा। इसके पालन में बड़ी से बड़ी स्थिरता रहनी चाहिये।

स्वात्मानन्दपद प्रवेशरूप ब्रह्मचर्य से सर्वसिद्धि—हे भव्यजीव! इस बाह्यस्पर्शन इन्द्रिय से आत्मा को बचाओ। ब्रह्मचर्य का आनन्द तो ज्ञानस्वभाव निज आत्मा में शान्ति से रिचर हो जाने में है। वहां ब्रह्मचर्य का परम माहात्म्य मालूम होता है। 'वैराग्य शतक' जो भर्तृहरिका बनाया हुआ है उसमें लिखा है कि—

कि वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः,

स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।

मुक्त्वैक भवदुःखमाररचनाविध्वंकालानलं,

स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वाणिग्वृत्तयः ॥

अर्थात् वेदों और शास्त्रों के पढ़ने से और घंटों व्रतों का कार्य करने से क्या? आत्मा में रागद्वेष दुःख की ज्वाला, जो जल रही है, उसको नष्ट करने में समर्थ यह ज्ञान दृष्टि ही है। इसके अतिरिक्त आत्मा किसी भी तरह शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। बाह्य में ये जो विषयकषाय होते हैं, जिनकी प्रवृत्तिमात्र से कोई शान्ति और दुःख चाहे तो नहीं सो सकता। शान्ति तो एक ज्ञान भाव की भावना से ही मिल सकती है। बाह्यस्पर्शन इन्द्रिय से आत्मा की रक्षा करो और अपनी आत्मा में ही परम ब्रह्मचर्य व्रत को देखो। इसका स्वरूप ज्ञानस्वभाव यह निज आत्मतरंग, धट-धट में विराजमान है। क्यों उस पर दृष्टि नहीं पहुँचती? इसलिये कि हम बाह्य पदार्थों का लक्ष्य कर करके आध्यात्मिक विचार भुला रहे हैं।

कामविजयी प्रभु की आराधना में उत्कर्ष—इन बाह्य पदार्थों से दृष्टि हटाई जाये तो आध्यात्मिक वैभव आ जाता है। एक स्थान पर ध्यान में मग्न जिनेश के प्रति कामदेव—रति बार्ते करते जा रहे थे—

कोऽयं नाथ जिनो भवेत्तव वशी, ऊं हूं प्रतापी श्रिये,
 ऊं हूं तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यावलेपकियां ।
 मोहजेन विनिजितः प्रभुरही तत्किकराः के वय,
 इत्येवं रतिकामजल्पविषयः सोऽयं जिनः पातु वः ॥

‘यह कौन है’ नाथ ! ऐसा रति के पूछने पर कामदेव बोला कि यह जिनेन्द्र है । रति पूछती है कि क्या ये भी तुम्हारे वश में हैं ? कामदेव ऊं हूं ये संकेत से इन्कार कर देता है । फिर रति कहती है तो फिर आज से तू अपना धर्म छोड़ दे कि मैं सारे जगत् को वश में किये हुए हूं । तब कामदेव बोला कि इन्होंने मोह को ही बीत लिया है अतः हृष किकर इनको क्या वश में कर सकते हैं ? इस तरह जिसके विषय में काम व रति जल्पना कर रहे हैं वह जिनेन्द्र हम तुम सबकी रक्षा करें । रक्षक यहां भी निज भाव ही है । ऐसे जिनेन्द्र की आराधना निर्विकार निर्विकल्प ज्ञानरूप परमात्मा की आराधना हमारे हित के लिये है । वैसे तो पुजारी सभी हैं, भक्त सब ही हैं, पूजा और भक्ति के बिना कोई नहीं रहता । कोई स्त्री का पुजारी है, कोई पुत्र का पुजारी है, कोई देश का पुजारी है तो कोई जिनेन्द्रका भगवान का पुजारी है, और कोई अपने निज ज्ञान स्वभाव का भक्त है । जिनके मिथ्यात्व का उदय होता है उनकी भक्ति छोटे विषयों में पहुंचती है और जिनके सम्यक्त्व का विकास होता है, उनकी भक्ति निज आत्मा स्वरूप और परमात्मा में रहती है । मैं जगत् के बाह्य पदार्थों से भिन्न निज ज्ञानस्वभावी चैतन्यस्वरूप आत्मा, यही मैं हूं, उसी में लीन होना सो उत्तम ब्रह्मचर्य कहलाता है । ज्ञानस्वभाव की दृष्टि स्थिर करना यह उत्तम ब्रह्मचर्य के पाने का अन्तःसाधन है । जो अपनी आत्मा में ही लीन है उसको यह ब्रह्मचर्य व्रत प्राप्त होगा । ज्ञान की ओर दृष्टि रखना, अन्य विकल्पों में न पड़ना ही ब्रह्मचर्य साधना का उत्तम उपाय है । आत्मानुभव से बढ़कर आनन्द है कहां ?

विषडइ गिरइ महादुह भुंजइ, जो हीणु जि बंभव्वउ भंजइ ।

इय जाणेप्पिणु मण-वय-काएँ, वंभचेरु पालहु अणुराएँ ॥

ब्रह्मचर्य भंग का फल दुर्गति जानकर ब्रह्मचर्य के पालन करने का आदेश—जो हीन पुरुष ब्रह्मचर्यव्रत का भंग करता है वह नरकों के महान् दुःखों को भोगता है याने दुर्गति को प्राप्त होता है । ऐसा जानकर हे भव्यजीवों ! मन वचन और काय से अनुरागपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो । धर्म का मार्ग सीधा सादा है । वस्तुस्वरूप का सम्यग्ज्ञान करो और अपने आत्मा के दर्शन करके प्रसन्न रहो । अपने पर कुछ बोझ मत मानो । हम आपने स्वयं बोझ मान लिया है, नहीं तो कोई बोझ नहीं है । स्त्री है तो उसका भाग्य, बच्चे हैं तो उनका भाग्य, जो अन्यजन हैं उनका अपना भाग्य । किनके बोझ लदा है ? ऐसा निर्णय मन में रखो । जो सहज होता है होने दो, पर अपने में विकल्प मत लावो । किसी का बोझ तुम पर नहीं लदा है । मेरे लिये तो केवल यह मैं ही हूं—ऐसा जानकर सबसे विरक्त होओ और अपने ब्रह्मचर्य का पोषण करो ।

तेण सहु जि लब्भइ भवपारउ, बंभय विणु वउ तउ जि असारउ ।

बंभव्वय विणु कायकिलेसो, विहल सयल भासियइ जिणेसो ॥

ब्रह्मचर्य बिना व्रत तप आदि की निष्फलता—ब्रह्मचर्य से यह जीव संसार से पार होता है । ब्रह्मचर्य के समान पवित्र और क्या धर्म है । जिसने ब्रह्मचर्य लिया उसने सब त्याग ही लिया । ये जो पहिले संस्कार चलते थे १६ संस्कार, गर्भ हो तब संस्कार, जन्म हो तब संस्कार, तो यह अदिक अच्छी परम्परा थी कि इस जीवन को साध लिया करते थे । जितने भी तप, व्रत हैं वे सब इस ब्रह्मचर्य से ही शोभा पाते हैं । अन्यथा सब व्रत, तप निष्फल हैं ।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

बाहिर फरसें दिवसुहरक्खउ परमवंबु आभितर पिक्खउ ।
एण उवाए लब्भइ सिवहरु हम रइधू वह भणइ विणययर ॥

निरन्तर ज्ञानोपयोग में ब्रह्मचर्यव्रत की सिद्धि—स्पर्शन इन्द्रिय के सुख से, इन्द्रिय के विषयों से आत्मा को दूर रखो, परमब्रह्म को निज रखो। इस उपाय से मोक्ष प्राप्त होता है। दौ बच्चे बनारस में पढ़ते थे। बड़ा बच्चा पढ़कर घर आया तो उसकी शादी कर दी। वह अपनी स्त्री के पास नहीं सोता था। स्त्री ने यह बात ननद से कह दी और ननद ने अपनी मां से कह दी। तब मां ने समझाया कि स्त्री के पास सोया करो, सोना चाहिये, इससे लड़का पैदा होता है। तब लड़के ने उत्तर दिया कि मां तू बड़ी झूठी है। झूठ बोलते तुझे शरम ही नहीं आती। देख हम और छोटा भाई ८ वर्ष तक बनारस में एक बिस्तर और एक रजाई में सोये तो भी कोई लड़का पैदा नहीं हुआ। मां को बच्चे का उत्तर सुनकर हंसी आ गई। इसलिये तो ज्ञानी कहते हैं कि अनजान बच्चों को ब्रह्मचर्य सिखाना भी बुरा है। न जानता हो तो बुरी बात जान जाये कि कुशील क्या होता है? हां, जो कुशील में है या कुशील के योग्य हो रहे हैं। उन्हें कुशील के दुर्गुण समझ में आये बिना कुशील से निवृत्ति नहीं होती। इसी तरह जो विभाव में रहते हैं उन्हें विभावों की अहितकारिता पहिचाननी चाहिए। सो अय्या! बच्चों को तो सिखाते हैं—राजा राणा छत्रपति... दिसे चाम चादर मढ़ी... आदि, परन्तु हम बड़ों ने ज्ञान की परवाह नहीं की। अब तो हम बड़ों को जगत् का स्वरूप समझना चाहिये और कुवासना में अपनी बुद्धि नहीं जाने देना चाहिये। ज्ञान का ही लक्ष्य रखना चाहिये। ज्ञानभाव में ब्रह्मचर्य निहित है और ब्रह्मचर्य में शेष सभी धर्म निहित हैं।

दशलक्षण धर्म की आज्ञावन आराधना से लाभ—इन दस लक्षण धर्मों के पालन करने से मनुष्य, जीवन का आदर्श प्राप्त करेगा। इसके पालन करने से वह आत्मा में लीन होता है और उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। आज दस लक्षण पूर्ण हो रहे हैं। प्रायः ऐसा रिवाज होता है कि दस लक्षण तक तो ठीक रहता है, फिर धर्म में कमी कर दी जाती है। परन्तु धर्म एक दिन में प्राप्त नहीं हो जाता और अन्तर्मुहूर्त में भी प्राप्त हो जाता है। इनकी उपासना बारहों महीना करने से इनकी प्राप्ति होती है। हमारी ही आत्मा में तो ये धर्म सब बिराजमान हैं, उन धर्मों के प्रतिनिधि ज्ञानस्वभाव पर हमें दृष्टि देनी चाहिये।

जिणणामहिञ्जइ मुणि पणमिञ्जई वहलक्खण पालीहणिर ।

ओ खेमसियासुय भव्वविणयजुय होलुवमण इह करहु थिर ॥

धर्मपालन में परम आनन्द का लाभ—जिसकी जिनदेव ने महिमा गाई है, मुनिजन जिसको प्रणाम करते हैं ऐसे दस लक्षण धर्म का उत्तम प्रकार से पालन करो। हे भव्य जीव अपने धर्म में इस मनको स्थिर करो। इन धर्मों का पालन करोगे और आत्मदर्शन आदि करोगे तो ऐसा करने से सहज जीवन स्थिर होगा, परमसुखशांतिमय परिणमन रहेगा। ये दस धर्म आत्मा के स्वभाव हैं। अतः आत्मा में आत्मा को पाते हुये इनकी रक्षा करनी चाहिये। इनके अतिरिक्त जगत् में कोई किसी की रक्षा करने वाला नहीं। रक्षा करने वाली तो केवल ज्ञानस्वभाव की दृष्टि है जो सबसे मौजूद है, इस दृष्टि को स्थिर करते हुये अपने चैतन्य स्वभाव की रक्षा करो। इसकी रक्षा ब्रह्मचर्यव्रत के पालन करने से हो सकती है तथा सब पापों से बचने से ही पूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। इन सब बातों के लिये व्यवहार-नय से सर्व परिस्थिति जानकर शुद्धनय से आत्मा के एकत्व का आलम्बन करना चाहिये। इसकी श्रद्धा ज्ञानाचरण पर्याय की निर्मलता का कारण है। जब आत्मीय सब गुण एकत्व अथवा निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त होते हैं अर्थात् द्रव्यस्वरूप (आत्मस्वभाव) के अनुसार चारित्र्य होता है तब स्वभाव व पर्याय समरस एक समान हो जाते हैं। यही परमकल्याण है। यही परमब्रह्मचर्य है। यही परमार्थ है। यही परम आनन्द है।

ब्रह्मचर्य का स्वरूप—शरण और अशरण के स्थान निराले-निराले परस्पर प्रतिपक्षी दो हैं—शरण तो है ज्ञानानन्द स्वरूप अन्तस्तत्त्व का दर्शन और अशरण है अपने स्वरूप दर्शन से च्युत होकर बाह्य में परभाव में किसी भी प्रकार की लगन शरण में पहुँचने का नाम है अशरण और अशरण की बात में जाने का नाम है अब्रह्मचर्य । यह परमार्थ की व्याख्या कही जा रही है । अपने स्वरूप में न रमकर किसी बाह्य पदार्थ में दृष्टि गड़ाना, उपयोग लगाना यह सब है व्यभिचार और अपने आपके स्वरूप में लीन होना इसका नाम है ब्रह्मचर्य यह है एक उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य की व्याख्या, और इसकी दृष्टि होने पर फिर जो भी कार्य बाह्य के भी किए जाते हैं, चूंकि दृष्टि का सम्बन्ध है इसलिए रूढ़ि नहीं है, उन अन्य कामों को व्यभिचार कहने की केवल परस्त्री सेवन, वेश्यासेवन आदि कुशील कार्यों को व्यभिचार कहने की पद्धति है । पर ब्रह्मचर्य का उत्कृष्ट स्वरूप क्या है, सो कहते हैं ज्ञानार्णवमें कि विन्दति परमं ब्रह्मायत्समालम्ब्य योगिनः । तद्ब्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्वीरधीरेय गोचरम् ॥ जो समता का आलम्बन करके योगीजन परमब्रह्मस्वरूप का अनुभव करते हैं उसका नाम है ब्रह्मचर्य । वास्तव में ब्रह्मचर्य का ध्यान करने वाले ये हैं हिंसा करने वाले, झूठ बोलने वाले, चोरी करने वाले, कुशील सेवने वाले और परिग्रह जोड़ने वाले । लोग इन सब कामों के करने वालों को व्यभिचारी नहीं कहते, सिर्फ कुशील पाप को व्यभिचार कहते हैं । उसका कारण यह है कि यह कामवासना एक बड़ा भयंकर पाप है । इस कामवासना के रहते हुए मन बड़ा क्षुब्ध रहता है, भीतर ही भीतर खोलता रहता है । उसे ब्रह्मस्वरूप के दर्शन करना बहुत दूर हो जाता है । इस कामवासना के पाप में बड़ी बेहोशी रहती है । इसके समान अन्य पाप में बेहोशी नहीं होती, इसी कारण इस कामवासना के पाप को व्यभिचार शब्द से कहा गया है ।

ब्रह्मचर्यसाधना का एक सुगम उपाय गुणवृद्धसेवा—जिन्हें ब्रह्मचर्य की साधना करनी हो उनका कर्तव्य यह है कि वे गुणवृद्धों की संगति करें, छोटे अभिप्राय वाले लोगों की संगति का त्याग करें । यहां वृद्ध शब्द का अर्थ बूढ़े से न लेना किन्तु गुणों में वृद्ध से लेना । ज्ञानार्णव में वृद्ध सेवा की बड़ी महिमा बतायी है । एक स्थल पर लिखा है—तपः कुर्वन्तु वा मा वा चेद्वृद्धान समुपास्ते । तीर्त्वा व्यसनकान्सारं, यान्ति पुण्यां गतिं नराः ॥ कहते हैं कि यदि वृद्धों की सेवा की जा रही हो—गुणों में वृद्ध, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र क्षमा नम्रता आदिक में बड़े हुए लोगों की सेवा में यदि बहुत रहा जाय तो वह तपश्चरण करे अथवा न करे, वह समस्त विपत्तियों के बन से तिरकर पवित्र गति में प्राप्त हो जायगा सत्संग का इतना महत्त्व है । रूढ़ि भी तो है, अगर प्रवचन सभा होती है तो कहते हैं कि भाई सत्संग हो रहा, वहाँ चलो तो सत्संग का क्या मतलब ? सुनने वाले भी अच्छे हैं, बोलने वाला भी अच्छा है । वहाँ चर्चा आत्मगुणों की है, इसलिये वह सत्संग कहलाता है । जहाँ प्रवचन सुनने वाले भी सज्जन समझदार, बोलने वाला भी सुलझी हुई बुद्धि का, ऐसे लोगों का जमाव हो तो उसका नाम है सत्संग । वहाँ क्या प्रवचन हो तो वह सत्संग कहलाता है । सत्संग में बहुत प्रभाव है । असत्संग मत करें । चाहे पाप के उदय कितने ही आयें, चाहे कष्ट कितने ही आयें मगर असत्संग मत हो । असत्संग से बड़ी विपदा होती है ।

मनका ऊधम मनोजता—आज का विषय है ब्रह्मचर्य । आत्मा की पवित्रता ब्रह्मचर्य से है । ब्रह्मचारी सदा शुचिः । साधुजन स्नान नहीं करते, मगर वे ब्रह्मचर्य के स्नान से अत्यन्त पवित्र हैं, अनादि से अब तक काम, क्रोध, मान, माया, लोभ में समय बिताया, लेकिन यह मोही प्राणी अफरा नहीं । अफरा कहते हैं—पेट मर जाय, सन्तुष्ट हो जाय, और इन सबमें भी काम रोग इतना गन्दा रोग है कि जिसकी कुछ जड़ भी नहीं । किसी को यदि भूख लगी है और वह तड़प रहा है—भाई दया करनी चाहिए, तो वह बता तो सकता है, फोड़ा हुआ है, रोग हुआ है, बुखार हुआ है, सिरदर्द है । हां भाई बेचारा दुःखी है । मगर कामवासना की बात देखो—वहाँ तो कोई बात ही नहीं है । केवल एक मन का ऊधम है । मनका ऊधम तो स्वयं अपवित्रता है । इसके लिए क्या करें ? अपने को

अच्छे कामों में बहुत-बहुत लगाये रहें सामायिक, पूजन, विधान, बन्दना, धन कमाने आदि में। धन कमाना भी गृहस्थों के लिये अच्छा काम है, कोई बुरा नहीं है यदि न्याय से कमायें, क्योंकि धर्म की भावना है, यहां करना पड़ रहा है, चित्त को ठाली न रखो, उसको किसी न किसी काम में लगाये रहो। यदि यह मन ठाली रहेगा तो इसे खुराफात सूझेगी। ब्रह्मचर्य सबके लिये उपकारी चीज है—बच्चे से लेकर वृद्ध तक। और बच्चों को तो ब्रह्मचर्य की क्या शिक्षा देना? वे तो स्वयं ब्रह्मचर्य की मूर्ति हैं। उनका तो प्रकृत्या ही सरल चित्त है। यदि ब्रह्मचर्य की रक्षा करने की बात-मन में आती हो तो इस मन को किसी न किसी अच्छे काम में लगाये रहो। बिना किसी काम के ठाली बैठना यह तो एक शत्रु है। बच्चों को ब्रह्मचर्य की क्या शिक्षा देनी, अरे उन्हें पढ़ने लिखने आदिक के कार्यों में लगाये रहो। बच्चे लोग पढ़ें लिखें, काम करें यह भी उनका एक तप है।

व्यभिचार की कठिनता व ब्रह्मचर्य की सुगमता व सुखदता—लोग कहते हैं कि ब्रह्मचर्य बड़ी चीज है, असिधारा है, पर बात क्या है? ब्रह्मचर्य सरल है और व्यभिचार कठिन है। व्यभिचारी पुरुष को न जाने कितना क्षुब्ध रहना पड़ता, उसमें न जाने कितनी बेचैनी है कितनी पराधीनता है और क्या है कि खुद खुद में रम रहे, पहले भी आनन्द, बाद में भी आनन्द। ब्रह्मचर्य में बुद्धि स्वच्छ है, प्रभु का स्मरण है, आत्म कल्याण है, वह सरल ही है, उसका आदर करना चाहिए। पर बात एक है कि सत्संग बिना ये सब बातें कठिन हो जाती है। आब-कल के जमाने में तो सत्संग और स्वाध्याय इन दो का बड़ा सहारा है। प्रयोजन क्या रखो, सत्संग त्रयों करना कि जो आनन्दधाम निजस्वरूप है उस स्वरूप में मेरा उपयोग बैठ जाय, बस सारे संकट समाप्त हो जायेंगे, प्रयोजन यह है। देखो जगत में जितने भी जीव हैं वे सब समान हैं, सबका एक स्वरूप है और जो स्वरूप है वही उनका धाम है और जो उनका धाम है उसमें पहुंचना ही धर्म है यदि किसी को कल्याण की तीव्र वाञ्छा हो, मेरे को तो कल्याण चाहिए, सुख चाहिए, शान्ति चाहिए, मुझे जाति, कुल, मजहब आदि की कुछ बात नहीं, सोचना है, मैं तो एक निष्पक्ष रूप से समझना चाहता हूं कि मेरा कल्याण किस में है? यदि निष्पक्ष बुद्धि हो जाय तो वह अपने आप अपना कल्याण कर सकता है। यह तो जाति कुल, समाज, मजहब आदि की एक रुढ़ि, परम्परा चली आयी है वह तो आत्म कल्याण में बाधक है। उसी कुल परम्परा में वे रचपच जाते हैं। यदि धर्म भी सच्चा हो तो उस रंगढंग के कारण भी उस सत्य धर्म की ओट हो जाती है। जिसे अपना धर्म चाहिए, शान्ति लाभ चाहिए तो उसकी एक यह दृष्टि रहे कि मैं तो एक आत्मा हूं, यह शरीर भी मैं नहीं, ये जाति, कुल, धर्म वाला भी मैं नहीं। ये तो व्यावहारिक चीजें हैं। मुझे इनमें नहीं अटकना है। मुझे तो मात्र आत्मतत्त्व पर दृष्टि रखना है। इसमें कोई कठिनाई नहीं, स्वाधीन बात है।

ब्रह्मचर्य साधना के लिये हेयत्याग व आदेयोपादान की आवश्यकता—इस ब्रह्मचर्य के घातको तो सभी लोग धिक्कारते हैं। यह ब्रह्मचर्य उत्तम चीज है। उससे मन खुश रहे, निःसंगता रहे, प्रभु के दर्शन हों, पर इसके लिए कुछ बाहरी विग्रह भी चाहिए। किस तरह से हम रहें, क्या करें, कुछ ऐसे निर्मित भी चाहिए। उन नियमों के झारे में प्रभुस्मृति तक भी कहती है कि देखो ब्रह्मचारी कितनी बातों का परिहार करें? मांस भक्षण, मांस खाने वाले से ब्रह्मचर्य नहीं बन सकता। एक तो वह आदत भी बुरी है, फिर कुछ पदार्थगत भी विशेषता है कि मांस एक कामोत्पादक चीज है। मद्य और मधु भी एक दोषकारी चीज हैं। देखो—जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन। जैसा पीवे पानी वैसी बोले बानी ॥ तो अभक्ष्य भक्षण के त्याग का बहुत ख्याल रखना चाहिए। मद्य, मांस, मधु ये तो अभक्ष्य हैं ही, साथ ही ऊमर, कठूमर, गूलर, पीपर आदिक भी अभक्ष्य हैं, इनका भी परित्याग करें। अभक्ष्य भक्षण से दूर रहे, मांस भक्षण के त्यागी में पात्रता होगी अच्छे-अच्छे विचारों के लिए तो अपना मन अभक्ष्य भक्षण का त्याग करके पवित्र रखना चाहिए। वृद्धसेवा करके पवित्रता रखनी चाहिए, सत्संगति में रहकर अपने को पवित्र

बनाना चाहिए। कुछ समय मनुष्यका जरा अच्छे संग में व्यतीत हो जाय तो जीवन तो जाना ही है मगर सतसंग से जो कुछ भीतरमें शुद्धभावना बनानी जायगी वह आगेभी काम देगी। लोग जो वह डालतेकि थोड़े दिनोंका जीवन है, इसमें खूब सुख भोग लो, अरे यह क्यों नहीं कहते कि थोड़े दिनों का जीवन है, उसमें ~~जुद्ध~~ वैराग्य बना लें, जिससे कि आगे भी काम आये। तो ब्रह्मचर्य के अनेक गुण हैं और गृहस्थों के लिए भी ब्रह्मचर्य के अनेक प्रभाव हैं। संतान खुश रहे, संतान सदाचारी भी रहे, यह सब ब्रह्मचर्य का ही तो प्रताप है। इसका प्रभाव खुद पर भी है, समाज पर भी है, संतान पर भी है, धर्म में समय बिताना, लगे रहना यह एक बहुत ही उपकार का काम है। प्रभु भक्ति है, पूजा है, ध्यान है। अपने चित्त को किसी न किसी अच्छे काम में फंसाये रहें, यह चित्त राक्षस है, दैत्य है, इसे खाली मत बैठने दो। परोपकार करो, स्वाध्याय करो, दीन दुःखियों की सेवा करो, तो वहाँ एक भीतर में प्रबोध होगा, विशुद्ध आनन्द होगा। जहाँ तक अपनी सामर्थ्य है तहाँ तक अपना और दूसरों का उपकार करें। अपना उपकार तो ज्ञान में है, अगर ज्ञान सीखें, ब्रह्मविद्या सीखें, आत्मज्ञान करें तो यह आत्मप्रभु का उपकार है।

दुर्लभ मानव जीवन का सदुपयोग करने का अनुरोध—यह मोह ही तो समस्त अनर्थों की जड़ है। मोह खतम हो जाये तो सारे ऐब खतम हो जायें, तो दुर्लभ मानव जीवन में इस मोह को ध्वस्त करने की चेष्टा करें। ऐसा दुर्लभ मानव जीवन का पाना बहुत कठिनाई की बात है। इसको पाने के लिए इन्द्र भी तरसते हैं। जब प्रभु तीर्थकर विरक्त होते हैं तो ऐसा वियोग होता है कि स्वर्गों से इन्द्र आते हैं और उनकी प्रशंसा करते हैं, उनकी वन में ले जाने के लिए पालकी बन में ले जाते हैं, वहाँ प्रभु दीक्षा लेते हैं। तो जब प्रभु विरक्त हुए, तो इन्द्र आये पालकी सजायी, और जब पालकी उठाने को तैयार हुए तो मनुष्य ने रोक दिया। मनुष्य बोले—इस पालकी को उठा कर हम लोग ले जायेंगे। तो इन्द्र बोले—अरे कीड़ों की तरह मनुष्यो, तुम पालकी नहीं उठा सकते। देखो जब ये प्रभु गर्भ में आये तब हम देवों ने इनका गर्भ कल्याणक बनाया, जब प्रभु ने जन्म लिया तब हम देवों ने इनका जन्म कल्याणक बनाया। अब हम देव लोग ही प्रभु का तप कल्याणक मनायेंगे, हमी लोग पालकी उठावेंगे। यों मनुष्यों और देवों में विवाद बढ़ गया। दोनों में यह तय हुआ कि चलो इसका न्याय किन्हीं ज्ञानी पुरुषों के मध्य में हो, जो देवों की भी सुने और मनुष्यों की भी। गए ज्ञानी पुरुषों के मध्य तो वहाँ उन्होंने यही निर्णय दिया कि देखिये—जो प्रभु की तरह प्रभु के साथ दीक्षा ले सके वही इस पालकी को उठाने का अधिकारी है। लो यह बात सुनकर देवों के होश उड़ गए। देखिये इन्द्र देवगति के जीव हैं, बड़े पुण्यशाली हैं लेकिन वे संघम नहीं पाल सकते। उन्हें भी मनुष्य का अवतार लेना पड़ेगा तब तपश्चरण करके मुक्त होंगे। इन्द्र सीधा मुक्ति न पायेंगे। तो उस समय इन्द्र मनुष्यों के आगे झोली फँलाकर कहते हैं कि ऐ मनुष्यों, तुम मेरा सारा इन्द्रत्व ले लो, पर अपना यह मनुष्यत्व मुझे दे दो। तो इतना किमती है यह मनुष्यत्व, इसे यों ही न गंवा दो। ज्ञान और वैराग्य का आदर इस मनुष्यत्व में कर लो। देखो जैसे गन्ना होता है ना, तो गन्ने का नीचे का हिस्सा तो चखा जा सकने वाला होता नहीं, उसमें तो जड़ें बहुत अधिक कड़ी होती हैं, और उसके ऊपर के ४-६ पोर भी चखने योग्य नहीं रहते, क्योंकि उनमें कुछ स्वाद नहीं होता, अब रहा बीच का हिस्सा, उसमें लग जाय कीड़ा तो वह चखने योग्य तो नहीं रहता, फिर भी उसे कोई चखे तो न तो उसे ही कुछ स्वाद आयगा और न गन्ना ही किसी काम का रह जायगा, गन्ना भी खराब हो जायगा। इससे अच्छा यह है कि उसे न चख करके उसे जमीन में बो दिया जाय तो फिर उससे नये-नये गन्ने उत्पन्न हो जायेंगे, ठीक ऐसे ही इस जीवन में तीन पन होते हैं—बचपन, जवानी और बुढ़ापा। बचपन में तो कुछ कल्याण किया नहीं जा पाता क्योंकि अज्ञानदशा रहती है, बुढ़ावस्था भी एक बेकार ही सी है। उसमें शरीर असमर्थ हो जाता है, फिर कल्याण का काम नहीं किया जा पाता। अब जो रही बीच की उम्र (युवावस्था) उसमें भी बन जाय विषयों का कीड़ा तो समझ लो कि सारा जीवन यों ही व्यर्थ खो दिया। अरे इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर, सब

प्रकार के समर्थ साधन पाकर अपना आत्म कल्याणक का कार्य कर लेना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिये वृद्ध सेवा का महत्त्व—अपने जीवन में यदि ब्रह्मचर्य की सिद्धि करना हो तो वृद्धसेवा करना बहुत आवश्यक है । अपने जीवन में सत्संग करें, असत्संग से दूर रहें । असत्संग के कारण तो हम आपकी बड़ी हानि है । जो संसार भोग विषयों से विरक्त हों, जिनको ज्ञान प्रिय है ऐसे पुरुष का सत्संग करें । किसलिए करें ? अपने सहज आनन्द का जो धाम है, ब्रह्मा है, निज स्वरूप है उसमें लीन होने के लिए, उसमें रमने के लिए सतत प्रयत्नशील रहें । यह सब भुक्त संगता में सुलभ है । अतः परं सूक्ष्मप्रमत्तमव्यक्तं निर्विशेषणम् । अनादि मध्य निघ्नं नित्यं वाङ्मनसः परम् । यह भागवत का श्लोक है । अताओ परमब्रह्म किसे दिखता ? अनुमान तक नहीं होता । वह ज्ञानगम्य है । वह तो विशेषण से भी नहीं पहिचाना जा सकता । वह तो एक अनुभव से ही समझा जाता है । जो आदि, मध्य, अन्तरहित है, थोड़ा जरा दो चार मिनट को धैर्य धारण करके सुनो, यदि कुछ उपयोग इतर लगाओगे तो बड़ी आसानी से बात समझ में आ जायगी, बात कुछ कठिन न लगेगी । देखो जो ॐ शब्द लिखा जाता है उसमें ५ भाग हैं ॐ-०-ॐ सबसे पहले ३ जैसा लिखा है । उसका अर्थ है अनेक व्यवहार । उसके बाद जो ॐ जैसा बीच में डण्डा है वह है प्रमाण का प्रतीक, उसके बाद जो ० है वह शून्य निश्चयनय का प्रतीक है । यह शून्य आदि मध्य अन्त रहित है ऐसा है परम-ब्रह्म अतः उसका वाचक भी ऐसा ही है निश्चयनय । तो दो नए हो गए—निश्चयनय और व्यवहारनय । इन ३ और शून्य (०) के बीच में जो डंडा सा लगा है वह है प्रमाण का संकेत करने वाला, अर्थात् न तो कोरा व्यवहार कार्यकारी होता और न बीरा निश्चय, अतः दोनों ही चाहिए । अगर व्यवहार और निश्चय दोनों एक साथ न जुड़े हों तब तो फिर कोई यह भी कह सकता कि अरे खूब मनचाहा जो चाहे करो जब चाहे खावो, यों तो फिर स्वच्छन्दता आ जाती है । व्यवहारनय, निश्चयनय व प्रमाण का उपयोग करके अब उनसे परे एक अनुभव में आ जावो—प्रमाणनय, निक्षेप कुछ न रहो, स्व-अनुभूति ही रहो तब क्या होगा ? उस अनुभूति का फल है कि सिद्ध बन जायगा । इस ॐ शब्द में जो ऊपर अर्द्धचन्द्र सा है वह है अनुभूति, ऊपर का शून्य है वह सिद्धि के स्वरूप का सूचक है । यों हम ब्रह्मस्वरूप में पहुँचने उसके लिए हमें जो कुछ भी करना चाहिए उसके करने में संकोच न करें । यदि एक सरसरी निगाह करके देखें तो यह सारा संसार, ये सब मनुष्य क्या हैं ? “जगत चवेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद । विषय सुखन के राज में, भूख माने मोद ॥ जैसे यहाँ बच्चे लोग चने चबाते हैं ना तो कुछ चने गोद की झोली में रखे रहते हैं, और कुछ चने मुख में रखकर चबाते रहते हैं, तो बताइये झोली में रखे हुए चनों की खैर कब तक है ? बस थोड़ी ही देर में उनका भी नम्बर आ जाता है, वे भी चबाये जाते हैं ठीक ऐसे ही हम आपका यह जीवन है सभी प्राणी काल के चवेना हैं-। कुछ लोग तो काल के गाल में आ चुके हैं । और कुछ आने वाले हैं यह काल किसी को छोड़ता नहीं है । तो भाई इस जीवन का भरोसा कुछ नहीं है, इस-लिए यहाँ किन्हीं बाहरी बातों से कुछ भोज न मानो । अद्भूत तेज है अद्भूत आनन्द है ब्रह्मस्वरूप के बोध में । बाकी सब सारहीन बातें हैं । तो ऐसा जो सारभूत तत्व है उसकी ओर दृष्टि दें । भय ! काम तो करने का एक है—क्या, कि इस भव दुःख की भार रचना का विध्वंस करके एक निज ब्रह्म से आनन्द पद में प्रवेश करें । बाकी तो सब फिजूल बातें हैं । यदि एक परमब्रह्मस्वरूप को ध्येय में न रखें तो ये वेद, स्मृति, पुराण शास्त्र आदिक पढ़ने से क्या लाभ है ? यदि कोई करने योग्य कार्य है तो यही एक काम है, बाकी तो सब एक रोजिगार हैं । जहाँ कुछ लेना-देना नहीं, मतलब नहीं । कभी सुखी होते, कभी दुःखी होते, कभी गरीब बनते कभी कंगाल बनते । यों यहाँ कोई सारभूत चीज नहीं है । यहाँ सारभूत चीज तो एक स्वात्मपद है ।

वसलक्षण धर्मों के क्रम में मुक्ति के उपाय का संदर्शन—देखो क्या-क्या बातें अभी तक आयी ? क्षमा, मार्दव, आर्जव शौच धर्म का पालन करें याने क्रोध, मान, माया लोभ इन चारों कषायों का त्याग करें

जब इन चारों कषायों का त्याग किया तो अब एक सच्चाई आई। अब क्या करना है? सो इसे यों समझो कि जैसे एक आक्सी कांच होता है, तो उस पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो उसके नीचे रखे हुए कागज के टुकड़े जल जाते हैं, तो जैसे कागज जलाने की शक्ति आयी किरणों के केन्द्रित करने से, ऐसे ही फँसे हुए उपयोग को ब्रह्म स्वरूप में केन्द्रित करना संयम है, और इप्रकार के नियमित रूप से संयम करने से उपयोग को केन्द्रित करने से तप परमार्थतपन प्रकट होता है। तप से मूल जलते हैं, तब अपने आपका आर्किकन्य स्वरूप प्रकट होता है। तो जब चारों प्रकार की कषायों का त्याग कर चुके तो अब क्या करें? अब संयमी बनकर संयम को अपनायें। हम अपने ज्ञान को इस ब्रह्म स्वरूप में जोड़ दें यही हुआ संयम। जैसे कि सूर्य की किरणों का जब संयम किया गया तो आधार में तप पैदा हुआ, ऐसे ही जब अपने अन्दर से चारों प्रकार की कषायें निकल गईं तो अन्दर से एक तप पैदा हुआ। उस तप से शब्द बचे हुए रागद्वेषादिक विकारों का त्याग हुआ। अब रह गये आर्किकन तो फिर यह ब्रह्म अपने आपके स्वरूप में लीन हो जायेगा। यही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

संसार संकटों से छूटने का निर्णय हो जाने पर छुटकारा पाने की अवश्यभावितता—यदि अपने आपके चित्त में यह जिज्ञासा हुई है, ऐसा संकल्प किया है कि मुझे तो संसार के दुःखों से छूटना ही है तो वह नियम से संसार के दुःखों से छूट जायगा। सच बात तो यह है कि अब तक चित्त में यह बात नहीं समायी कि मुझे तो संसार के दुःखों से छूटना है। आप लोग सोचेंगे कि यह क्या कहा जा रहा है? सभी लोग दुःखों से छुटकारा चाहते हैं और बताया यह जा रहा है कि अभी तक इन्होंने यह संकल्प ही नहीं किया कि मुझे तो संसार के संकटों से छूटना है। यदि संकल्प किया होता, मन में यह बात समायी होती कि मुझे संसार के दुःखों से छूटना है तो संसार में फिर उनका यह जन्म मरण न चलता। जिस चाहे घटना में अनेक प्रकार की कल्पनायें करके दुःख मानने लगते हैं, और भी अनेक संसार की घटनायें हैं जिनसे अपना कोई मतलब नहीं। बाह्य पदार्थ हैं, कर्म की चीज हैं। वे जैसे परिणम, जैसा वहां होता हो, उससे मेरा कुछ वास्ता नहीं। संसार में दुःख है क्या चीज? अपने आपके स्वरूप के ज्ञान से, श्रद्धानसे, रमण से च्युत होकर बाह्य पदार्थों की ओर उपयोग का लगना यह है सारा दुःख। दुःख नाम तो उसी का है कि जिसमें क्षोभ हो, अकुलता हो। बाह्य पदार्थों में जिनका उपयोग लगता है उनको नियम से दुःख है। चाहे वह पदार्थ रुच रहा है प्रेम राग, लेकिन उस प्रेम की मदिरा में ऐसा बेहोश है यह प्राणी कि वह अपने दुःख के कारण को नहीं पहिचानता। सब दुःखों की जड़ एक प्रेम ही तो है, और उस प्रेम में ऐसा मुग्ध है यह जीव कि अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया।

वस्तु स्वरूप के विरुद्ध विचार बनाने की विपदा का लेखा-जोखा देख लेने का कर्तव्य—भैया! खूब सावधानी से सुनो और अपने चित्त में उतारो कि मैंने अपने आपके श्रद्धान ज्ञान और आचरण से च्युत होकर किसी बाह्य पदार्थ में यह अभिलाषा रखी है कि इससे मेरा हित है, यह मुझे सुख देगा और उस ही ओर आकर्षण होता है। यह जो भीतर में उपयोग स्वसे हटकर बाह्य की ओर लगा है यही है विपदा, यही है संकट। पुण्य का उदय है तो कुछ लग रहा होगा ऐसा कि मेरे को क्या संकट है? ये तो मामूली सी बातें हैं? हां उदय है अच्छा। मिल गए हैं विषय साधन, मगर ये आग हैं, संकट हैं, क्लेश हैं। इनसे छुटकारा पाने का जो उपाय है वह है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य। चित्त में ऐसी भावना जगनी चाहिए और ऐसी हिम्मत बनाना चाहिये कि ये बाह्य पदार्थ, त्रिलोक सम्पदा, समस्त वैभव ये सब कुछ मेरे लिये कुछ नहीं हैं, मेरा उनसे कोई संबन्ध नहीं उनसे मेरे में कुछ आता जाता नहीं। भला वस्तु का स्वरूप तो परखो, प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में है, अपने स्वरूप में परिणमन करता है, अपने स्वरूप में ही सदा काल रहता है। यदि ऐसा न हो तो दुनिया में फिर कोई व्यवस्था ही न बन पायगी। जैसे देखो—कि यह घड़ी है और यह चौकी चौकी में है,

घड़ी घड़ी में है, सब आप जान रहे होंगे। घड़ी का कोई भी परिणमन चौकी में नहीं आता और चौकी का कोई परिणमन घड़ी में नहीं आता। ये दोनों ही चीजें अलग-अलग हैं, दोनों का अपना अपना अलग-अलग परिणमन है। तो ऐसे ही जगत में जितने भी जीव हैं वे सब स्वतंत्र हैं, उनका उनमें परिणमन है। ये भेरे में कुछ नहीं कर सकते।

दृष्टान्तपूर्वक वस्तुस्वातन्त्र्यका प्रकाश—कुछ ऐसा पूछा जा सकता है कि लो गुरु पढ़ाते हैं, मास्टर पढ़ाता है, लड़को को कुछ ज्ञान मिलता है। कैसे कहा जा रहा कि कोई किसी का कुछ नहीं करता। यहां भी गुरु आपका कुछ नहीं करते। मास्टर बच्चों का कुछ नहीं करता, गुरु को अपने में एक कृष्णा उत्पन्न हुई है तो वह अपने ह्याल के कारण अपनी चेष्टा करता है उन शिष्यों में ऐसी समझ है कि वे अपने आपकी समझ द्वारा अपने आपमें ज्ञान प्रकाश पाते हैं, हां ये मास्टर वगैरह निमित्त जरूर हुए, पर वे किसी में कोई जबरदस्ती नहीं करते। अगर मास्टर बच्चों को ज्ञान देने लगे तो १०, २०, ० शिष्यों को ज्ञान देने के बाद मास्टर तो कोरा रह जायेगा। पर ऐसा नहीं होता। कक्ष के अन्दर जितने भी विद्यार्थी हैं, सबकी बुद्धि अलग-अलग है। जिस बालक में जैसी योग्यता है उस रूप वह अपना विकास कर लेता है। तभी तो देखा जाता है कि कक्षा में कोई बालक बड़ा बुद्धिमान निकलता है और कोई कम। तो ऐसे ही आप सर्वत्र समझ लीजिये। इस लोक में आप सर्वत्र अकेले हैं, अकेले ही रहते हैं, अकेले ही अपने आप में परिणमते हैं, तो इसी तरह अपनी बात सोचो ना। जब जगत में किसी दूसरे जीव से मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं, केवल एक कारण कलापवश एक जगह सयोग हुआ है तो उससे मेरा क्या भला होगा? अपना भला होगा अपने रत्नत्रय धर्म से। परख लो बाहर में बहुत भटके अब तक, पर कहीं शान्ति न मिली। अब एक बार अपने आपके इस ज्ञान प्रकाशमय आनन्द स्वरूप निज आत्म उपवन में आयें और अपने आपमें परम विश्राम पायें। संसार के दुःखों से छूटना है तो विश्वास बनाओ अपने आत्म स्वरूप का। बात अंजल में यह है कि दुःख नाम की चीज तो यहां कुछ है नहीं, पर मानते सभी हैं बड़ा दुःख।

ज्ञान कला के उपयोग में क्लेश का अभाव—एक धटना है बदरवास नामक ग्राम की। वहां एक हलवाई था, वह बड़ा निर्माही प्रकृति का था। एक बार उसका लड़का अचानक ही गुजर गया, तो उसकी सहानुभूति प्रकट करने बहुत से लोग आये, सभी वहां आने पर रोने जैसी शकल बना लें। देखो यह भी सहानुभूति प्रकट करने की एक पद्धति है। मान लो कोई किसी दूसरे गांव से आ रहे हों, चाहे वे रेलगाड़ी में रास्ते में गप्पसप्प करते हुए, तास खेलते हुए आये, पर जब उसके घर के निकट या तस गांव के पास पड़ीस में आ जाते हैं, तो एक रोने जैसी शकल बना लेते हैं, तो ऐसे ही बहुत से लोग सहानुभूति प्रकट करने आये। सभी लोग तो रोते थे, पर वह हंमता था। वह जानता था कि अरे जो आया है वह तो एक दिन जायगा ही, फिर उसके पीछे रोने से फायदा क्या? यदि ऐसा भाव सम्यक्त्वपूर्वक हो तो ऐसी बात तत्त्वज्ञानी पुरुष में आ सकती है। एक तत्त्वज्ञानी पुरुष लोगों को तो ऐसा ही दिखता है कि वह कैसा बहुत से कार्यों में फंसा है, व्यक्त है, पर उसकी दृष्टि बड़ी निर्मल रहती है। वह किये जाने वाले उन समस्त कार्यों को एक शंझट समझता है। वह प्रधानता देता है अपने आत्महित के कार्यों को। उसकी दृष्टि बदल कर सकने वाला कोई नहीं है। आत्म स्वरूप के दृष्टिको ऐसी कला उसके उत्पन्न हुई है कि जिस कला के आधार पर वह समस्त दुःखों से छुटकारा पा सकता है।

दृष्टान्त पूर्वक अन्तस्त्व में मग्न होने की कला का स्मरण—जैसे जमुना नदी में तैरने वाला कछुवा पानी से ऊपर अपनी चोंच निकाले हुए तैरता रहता है। तो उसकी चोंच को चोंटने के लिए अनेक पक्षी

उस पर मंडराते रहते हैं। वह बेचारा कछुवा उन पक्षियों से हैरान होकर इधर उधर भागता फिरता है, दुःखी होता फिरता है। पर उसे कोई समझा दे कि अरे कछुवे, तेरे अन्दर तो ऐसी कला है कि जिसके उपयोग से तेरे सारे संकट दूर हो सकते हैं। वह कला क्या है? वस पानी में ८ अंगुल अपनी चौंच डुबा लो—फिर संकटों पक्षी भी तेरा क्या कर सकेंगे? ठीक ऐसे ही हम आप पर अनेक उपद्रव छाये हैं, बड़ी विपत्तियों से घिरे हुए हैं, पर इन सारी विपत्तियों से बचने के लिए एक जरा सा ही तो उद्यम करना है, वग, कि अपने ज्ञानसागर में जरा डुबकी तो लगा दें, वस सारे संकट एक माथ ही सन, पट हो जायेंगे। तो भाई इन समस्त संकटों से छुटकारा प्राप्त करने का सर्वप्रथम काम है आत्मविश्वास। अभी तक आपने अनेक पुरुषार्थकिए, बाहरी-बाहरी अनेक धारणायें बनाकर अनेक गर्व अनुभव किये-भेरे पास इतना वैभव है, भेरे पास इतने मकान हैं आदि, लेकिन तेरे ये सब अहंकार व्यर्थ के थे। जैसे कोई सांड घूरे को अपनी भीगी से उलीचता है और एक बड़ी अहंकार भरी मुद्रा बनाता है ऐसे ही यह मोही प्राणी भी जरा-जरा सी बातों में गर्व करता है। तो अभी तक न जाने कितने-कितने गर्व किए, पर वह तो एक घूरे का उलीचना जैसा रहा। उसमें इस जीव के लिए कोई बड़प्पन की बात नहीं है 'ऐसा व्यर्थ का गर्व भी करें और चाहें कि समस्त दुःखों से हमें छुटकारा प्राप्त हो जाय तो यह कैसे हो सकता है? बल्कि फल उसका यह मिलता है कि ज्यों-ज्यों दुःख से छुटकारा पाने का बाहर में पौष्य बनाते हैं त्यों-त्यों दुःखों में और बढ़ जाते हैं। लोग सोचते हैं कि देखो मैंने १० वर्ष पहिले ऐसा विचार किया था कि मेरी ऐसी स्थिति हो जाय, मेरे ये ये काम निपट जायें, फिर मैं इन सारे झंझटों से निवृत्त होकर आत्म साधना के कार्य में लगूंगा, पर वे उल्टा पाते क्या है कि अपने को पहिले से भी अधिक फंसा हुआ पाते हैं तो फिर भला बतलाओ इन संकटों से छुटकारा कैसे हो ?

संकट मुक्ति का उपाय ब्रह्मबोध—सर्व दुःखों से छुटकारा करने का सहज सुगम स्वाधीन उपाय यह है कि अपना स्वरूप समझें, अपने को सबसे निराला देखें और तृप्त रहें। यह भी सत्य बात है, और यही अनुभव करने के योग्य है। यह मैं ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ इसके अतिरिक्त अन्य परवस्तु मेरी कुछ नहीं। वस निज में ही अपना उपयोग लगावें, बाकी सारा बातों को भुला द। बाहर में कभी अपना बड़प्पन मत चाहो, किसी से अपनी प्रशंसा की भीख मत मांगो। अपने आप में प्रसन्न रहने का प्रयत्न करो। यह है दुःखों से छूटने का उपाय, ऐसी श्रद्धा को कहुँगे सम्यग्ज्ञान की किरण। ऐसा सम्यक्त्व पाकर फिर बाद में जो स्वयं में हो वह सब सम्यक् कहलायगा। सम्यक्त्व जब तक नहीं है तब तक आप कैसा ही निर्णय कर रहे, वे सब निर्णय मिथ्या हूँ। चाहे आप नदी को नदी जान रहे हैं, घर को घर, चौकी को चौकी आदि, लेकिन यह ज्ञान मिथ्या है, उनकाजिनको सम्यक्त्व नहीं है। सम्यक्त्व के बिना जो ज्ञान है उसमें प्रथम बात तो यह है कि उसमें रागद्वेष बढ़ते रहते हैं, तो मिथ्या कामबनाये जाते इसलिये ये मिथ्या हैं। दूसरी बात यह है कि वह व्यक्ति जान तो रहा सब, पर उनका वास्तविक स्वरूप नहीं समझ रहा। इसमें क्या शक्ति है, इसमें क्या गुण है, पर्याय है आदि, ये कोई बातें उसे नहीं मालूम हो पाती जिसके सम्यक्त्व नहीं है। सम्यग्ज्ञान सहित जो आचरण होगा, जो रमण होगा, अपने आपकी दृष्टि बनेगी वह तो एक अदभुत चीज होगी।

दुःख मुक्ति का उपाय परमार्थ ब्रह्मचर्य की वृत्ति—दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने का उपाय मात्र यही है कि दुःखरहित सबसे निराले ज्ञानमात्र, स्वयं उत्तर दायी, जिस पर किसी का भार नहीं, ऐसे इस परमात्म-स्वरूप को निरखें, और ऐसा ही ज्ञान बनाओ और ऐसा ही अपना उपयोग रमाओ, यह है दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पाना। इसके अतिरिक्त और क्या उपाय बतायें? जो भी अन्य उपाय बतायेंगे वे सब बाहरी-बाहरी उपाय होंगे, उन उपायों में आप थोड़ी देर को तो शान्ति अनुभव करेंगे, पर थोड़ी ही देर में वही का वही दुःख सामने बढ़ा हो जायगा। मान लो आपने किसी को घर दिला दिया, किसी का रोजगार लगा दिया, किसी का अन्य कोई काम बना दिया तो कहीं इतने मात्र से उसके दुःख तो न मिट जायेंगे और न कोई दुःख सदा के लिए मिटेगा। सर्व

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

[१२५]

दुःखों से छूटने का एक मूल उपाय है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति, जिसकी आप भावना कर रहे हैं। तो अब सोच समझकर अपने कदम सही दिशा की ओर बढ़ाओ। मुझे सही ज्ञानार्जन करना है, सम्यग्ज्ञान का प्रकाश पाना है, उसमें ही मेरा वास्तविक बहृष्यन है। तो अपने आपका कल्याण का उपाय बनाना चाहिए। अब अधिक न कह कर केवल इतना कहना है कि अपने आपके इस ज्ञानमूर्ति निज परम ब्रह्म का आदर करें तो नियम से नारे दुःख छूटेंगे। यही परम ब्रह्मचर्य सहज आनन्द का वाग है।

॥ धर्म प्रवचन समाप्त ॥



अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुत्लक मनोहर जी वर्मा
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

॥ शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः प्राप्स्यन्ति चापुरचल सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि अपतो निजमूलमत्र, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निकोपमाननयसर्वधिकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरमकर्तुं न भोक्तुं गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतज्ञहमसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, नित्यारिणामिकपरात्परजल्पमेकम् ।
यददृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्टयाम् ।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्र-पिन्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गमुविशाविकासभूमि, नित्यं निवारणमञ्जनमुक्तभीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्यायशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

आयन्ति यागकुशला निगदन्ति यद्वि, यद्दधानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहज परमात्मतत्त्व स्वस्मिन्नुभवति निविकल्पं यः ।

सहजानन्दसुबन्ध स्वभावमनुपर्यायं याति ॥